संस्कृत विद्यापीठ ग्रन्थमाला का 111 वाँ पुष्प

शुक्लयजुर्वेद (माध्यन्दिनसंहिता)

प्रथमदशक (1 - 10 अध्याय)

सान्वय 'अवधी' हिन्दीव्याख्या

प्रधान सम्पादक

प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय

कुलपति

व्याख्याकार

डॉ. रामानुज उपाध्याय

सम्पादक

डॉ. शिवशंकर मिश्र



श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ

(मानित विश्वविद्यालय)

नई दिल्ली-110016



संस्कृत विद्यापीठ ग्रन्थमाला का 111 वाँ पुष्प

शुक्लयजुर्वेद (माध्यन्दिनसंहिता)

प्रथमदशक (1-10 अध्याय)

सान्वय 'अवधी' हिन्दीव्याख्या

प्रधान सम्पादक

प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय

कुलपति

व्याख्याकार

डॉ. रामानुज उपाध्याय

सम्पादक

डॉ. शिवशंकर मिश्र



श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्

(मानितविश्वविद्यालयः)

नवदेहली-16

प्रकाशक:
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
(मानित-विश्वविद्यालय:)
कुतुबसांस्थानिकक्षेत्रम्
नवदेहली-११००१६

आई.एस.बी.एन : 81-87987-87-1

वर्ष : 2018

मूल्यम् : ₹ 460/-

मुद्रक:
अमरप्रिंटिंगप्रैस:
देहली-११०००९
दूरभाष: : 9871699565, 8802451208

प्रो. रमेशकुमारपाण्डेयः
कुलपतिः

Prof. Ramesh Kumar Pandey
Vice Chancellor



श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
(मानितविश्वविद्यालयः)
केन्द्रीय-स्वायत्तशासी-संस्था (मा.सं.वि. मन्त्रालयः, भारतसर्वकारः)
'ए' ग्रेड (नैक)
बी-4, कुतुबसांस्थानिकक्षेत्रम्, नवदेहली-110 016
Shri Lal Bahadur Shastri Rashtriya Sanskrit Vidyapeetha
(Deemed University)
A Central Autonomous Body (Ministry of HRD, Govt. of India)
'A' Grade (NAAC)
B-4, Qutub Institutional Area, New Delhi-110 016

पत्र.सं. :वीसी/2017/ दिनाङ्कः : 28.12.2017

नैवेद्यम्

वेदो हि ईश्वरस्य निःश्वासरूपत्वात्प्राणरूपत्वमिति को न जानाति भुवि । श्रुतिरप्याह - अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः। स चायं वेदः अस्माकमपि समेषां प्राणतत्त्वं येनानुप्राणिता वयं स्वात्मानं प्राणवन्तं मन्यामहे। अयञ्चेश्वरस्य शाब्दिको विग्रहो भगवतो व्यासकृपया साम्प्रतमपि चतुर्षु रूपेषु इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारेण जीवान् समुपकरोति। तत्रापि यजुर्वेदोऽयं यज्ञयागादिक्रियाकलापानुरोधेन मन्त्रघटितत्वादन्वर्थनामा भित्तिस्थानीयत्वेन परिगण्यते। अन्ये चित्रस्थानीया इति मनीषिणां मनीषा।

"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इति विधिवाक्यविचारसरण्यां मीमांसकानां मते वेदाध्ययनस्य द्विविधं प्रयोजनं स्वीकृतं दृष्यदृष्टभेदेन। तत्र गुरुमुखोच्चारणानुच्चारणरूपाक्षरराशिग्रहणजन्यपुण्यावाप्ति-रूपमदृष्टप्रयोजनं जानन्नपि "लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्टपरिकल्पनेति" सिद्धान्तसरणिमङ्गीकृत्य अर्थज्ञानरूपं दृष्टं प्रयोजनं स्वीकृतं तैश्च प्रबलत्वात् ।

"स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा" इति यास्कोक्तिरपि सुतरामर्थज्ञानस्य महत्त्वमुद्भावयति।

लौकिकसंस्कृतसाहित्येऽपि श्रीनीलकण्ठदीक्षितेन शब्दार्थयोर्मध्ये अर्थपक्षस्यैव गुरुतरत्वं सोल्लासमुपबृंहितं स्वशिवलीलार्णवमहाकाव्यस्य प्रथमसर्गे -

दिष्ट्याधिरूढाः कविताधिराज्यं धीरा रमन्ते न हि शब्दचित्रे ।
स्वर्गेऽपिगत्वाप्सरसां निवासे काणेव किं कापि गवेषणीया ॥ (1/39)

छात्रवत्सलतया सरणिमिमामनुसृत्य तेषां सुखेन वेदार्थावगमाय वेदविभागस्य सहाचार्येण आयुष्मता डॉ. रामानुज उपाध्यायेन शुक्लयजुर्वेदस्य माध्यन्दिनसंहितायाः प्रथमाध्यायतो दशमाध्याय-पर्यन्तं प्रतिमन्त्राणामन्वयमुखेन अवधीत्याख्या हिन्दीव्याख्या महीधरभाष्येण साकं संदृब्धा। एतदनुत्तमं ग्रन्थरत्नं प्रकाशयत् विद्यापीठमिदममन्दं मुदमनुभवति। ग्रन्थेनानेन तोषमेष्यन्ति वेदविदःसुधियोऽध्येतारश्चेत्यहं प्रत्येमि। एतदीयमनवद्यमुपस्थापनं विद्वत्सु प्रभूतसमादरो लभताम् इति भगवन्तं विश्वनाथं प्रार्थयमानो ग्रन्थकर्तुरनामयं जीवनं यशस्विनीं वैदुषीं च कामये ।

रमेशकुमारपाण्डेयः
(रमेशकुमारपाण्डेयः)

दूरभाष: 011-26851253, 26564003, Fax : 011- 26520255
E-mail : profrkpandey@yahoo.co.in, vcslbsrsv@yahoo.co.in

सम्पादकीय

संगच्छध्वं संवदध्वं (ऋ. 10/191/2)- मिलकर चलो और मिलकर बोलो। **स्वस्ति पन्थामनुचरेम** (ऋ. 5/51/21)- हम कल्याणमार्ग पर चलें। **भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम** (यजु. 25/21)- हम कानों से मङ्गलकारी वचन ही सुनें। **मा गृधः कस्यस्विद्धनम्** (यजु. 40/1)- किसी के धन पर न ललचाओ। **मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे** (यजु. 36/18)- हम सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें। **ऋतस्य पथा प्रेत** (यजु. 7/45)- सत्य के मार्ग पर चलो। **तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु** (यजु. 34/1)- मेरा मन उत्तम संकल्पों वाला हो। **स नो मुञ्चत्वंहसः** (अथर्व 4/23/1)- वह ईश्वर हमें पापों से मुक्त करे। **मधुमतीं वाचमुदेयम्** (अथर्व 16/2/2)- मैं मीठी वाणी बोलूँ। **सर्वमेव समस्तु नः** (अथर्व 19/9/14)- हमारे लिए सब कुछ कल्याणकारी हो। **मा नो द्विक्षत कश्चन** (अथर्व 12/1/24)- हमसे कोई भी कभी शत्रुता करने वाला न हो। **भद्रं मनः कृणुष्व** (सा. 15/60)- हे प्रभो! आप हमारे मन को कल्याण मार्ग में प्रेरित करें। **माध्वीर्गावो भवन्तु नः** (ऋ. 1/90/8)- हमारी इन्द्रियाँ मधुरतापूर्ण अर्थात् संयम सदाचारादि के माधुर्य से युक्त हों। इत्यादि आत्मकल्याण मूलक वचनपुञ्ज भगवान् वेद की महत्ता को प्रतिपद प्रतिष्ठित एवं महिमामण्डित करते हैं। वेद की महिमा का निर्वचन पृथ्वी को धारण करने की शक्ति के रूप में किया गया है। पृथ्वी जिन सप्ततत्त्वों से धारण की गयी है उनमें वेद का अन्यतम स्थान है-

गोभिर्वेदैश्च विप्रैश्च सतीभिः सत्यवादिभिः।
अलुब्धैर्दानशीलैश्च सप्तभिर्धार्यते धरा॥

भारतीय संस्कृति एवं सनातन पद्धति में वेदों की अद्‌भुत महिमा है। वेद विश्व की सर्वश्रेष्ठ ज्ञानसम्पदा हैं। भारतीय जनमानस में वेदों को ईश्वरीय सत्ता के ऊपर रखा गया है। ईश्वर को न मानने पर भी आप नास्तिक नहीं कहलाते, किन्तु वेद की निन्दा करते ही आप नास्तिक-

शिरोमणि बन जाते हैं। इसलिए महर्षि मनु ने नास्तिकता की एक विशिष्ट परिभाषा प्रदान की- **नास्तिको वेदनिन्दकः।**

अर्थात् जो व्यक्ति वेद के प्रामाण्य का खण्डन करता है, वह वस्तुतः नास्तिक है और जो व्यक्ति ईश्वर को न मानता हुआ भी वेद के प्रामाण्य का मण्डन करता है वह आस्तिक कहलाता है।

समस्त वैदिकसाहित्य मौखिक परम्परा से ही प्राप्त है, अतएव इसके लिये शब्द का प्रयोग किया जाता है। वेद किसी आप्तपुरुष की रचना नहीं है, अपितु ये अनादि और शाश्वत हैं। इनकी रचना किसी व्यक्ति विशेष न नहीं की, अपितु ऋषियों ने इनका दर्शन किया है, इसीलिए ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा भी कहा जाता है- **ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः।**

सहस्राब्दियों से निरन्तर अविच्छिन्न गति से वेद की ऋचाएँ अपने मूलस्वरूप में अत्यन्त शुद्ध रूप में अध्ययन-अध्यापन का विषय बनी हुयी हैं, किसी भी प्रकार का कोई मिश्रण ऋचाओं में नहीं हुआ यह वैदिक विद्वानों के परिश्रमसाध्य कण्ठपाठ का परिणाम है।

प्राचीन भारतीय महान् ऋषियों ने अपने तपःप्रभाव से जिन ऋचाओं एवं मन्त्रों का अपरोक्ष दर्शन किया, उन मन्त्रों के गूढ़ रहस्यों को समझकर मनन कर उनकी अनुभूति कर उस ज्ञान को जिन ग्रन्थों में संकलित कर संसार के समक्ष प्रस्तुत किया, उस सम्पूर्ण ज्ञानराशि को वेद कहते हैं। वेद भारतीय संस्कृति के स्रोत हैं, यह ज्योतिष, गणित, विज्ञान, धर्म औषधि, प्रकृति, खगोल प्रभृति सभी विषयों से सम्बन्धित ज्ञान का भण्डार हैं। वेद इसीलिए **सर्वज्ञानमयो हि सः** एवं **सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति** आदि वचन अक्षरशः सार्थक सिद्ध होते हैं।

वैदिक वाङ्मय के वर्गीकरण में यजुर्वेद द्वितीय वेद के रूप में प्रख्यात है। यजुर्वेद की भी शुक्लयजुर्वेद एवं कृष्णयजुर्वेद के रूप में द्विधा प्रसिद्ध है। शुक्लयजुर्वेद की प्रतिज्ञात 15 शाखाओं में सम्प्रति काण्वसंहिता एवं माध्यन्दिन संहिता ही समुपलब्ध होती हैं। माध्यन्दिन संहिता की महान् महिमा है इसका नामकरण आचार्य की संज्ञा की अन्वर्थसंज्ञा के रूप में है। कलियुग में इस संहिता की महत्ता का

प्रतिपादक यह वचन सर्वथा दृष्टव्य एवं ध्यातव्य है- **कलौ माध्यन्दिनी शाखा।**

आरम्भ से 10 अध्याय पर्यन्त समस्त मंत्रों की सान्वय अवधी-हिन्दी व्याख्या से मण्डित, मंत्रों के क्लिष्ट पदों की सरल, सुबोध, सुगम्य व्याख्या से विभूषित यह ग्रन्थ छात्रों अध्यापकों एवं वेदविद्याध्ययन परायण जिज्ञासुओं के लिए अत्यन्त प्रेरणादायी एवं सार्थक सिद्ध हो ऐसी मेरी मंगल कामना है।

डॉ. शिवशङ्कर मिश्र
सहाचार्य, मानविकी आधुनिकविज्ञान एवं शोधविभाग
श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली-16

प्रस्तावना

नमोऽस्तु तस्यै श्रुतये यां दुहन्ति पदे पदे।
ऋषयः शास्त्रकाराश्च कवयश्च यथामति।।

वेद परोक्षब्रह्म के प्रत्यक्ष शाब्दिकविग्रह रुप हैं, इसीलिए भगवान् वेदव्यास ने इन्हें स्वयम्भू नारायण पद से व्यक्त किया हैं।

वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम[1]।

व्यावहारिक दृष्टि से हमारे महर्षियों नें अपनी तपस्या द्वारा जिस शाश्वत ज्योति का परम्परागत शब्दरूप से साक्षात्कार किया वही शब्दराशि वेद हैं। ये नित्य तथा अपौरुषेय हैं।

द्वापर के अन्त में महर्षि व्यास ने अपनी दिव्य दृष्टि से मनुष्यों की मन्दमेधा का अनुभव कर ब्रह्मपरम्परा से प्राप्त एक वेद को यागीय दृष्टि से चार भागों में विभक्तकर यथाक्रम अपने चार प्रमुख शिष्यों को पैल, वैशम्पायन, सुमन्तु एवं जैमिनि को क्रमशः ऋग्यजुसामाथर्व संहिताओं का अध्ययन कराया। इनमें यागीय दृष्टि से यजुर्वेद का महत्त्व अधिक है, क्योंकि याग में अध्वर्यु नामक ऋत्विग् ही प्रमुख होता है जो यजुर्वेदीय होता है। होता आदि ऋत्विक् इसके अनुगामी होकर स्तोत्र शस्त्र आदि का पाठ यथावसर निर्दिष्ट होने पर करते हैं। यही कारण है कि वेद के प्रसिद्ध भाष्यकार आचार्य सायण कहते हैं– "अध्वर्युसम्बन्धि-नियजुर्वेदे निष्पन्नं यज्ञशरीरमुपजीव्य तदपेक्षितौ स्तोत्रशस्त्ररुपौ अवयवौ इतरेण वेदद्वयेन पूर्य्येते इत्युपजीव्यस्य यजुर्वेदस्य प्रथमतो व्याख्यानं युक्तम्।"[2] इसके अतिरिक्त, तैत्तिरीय भाष्य भूमिका में यजुर्वेद को सभी वेदों का आश्रय माना गया है– आनुपूर्व्यात् कर्मणां स्वरूपं यजुर्वेदे समाम्नातम्। तत्र तत्र विशेषापेक्षायामपेक्षितायां याज्या पुरोऽनुवाक्यादय ऋग्वेदे समाम्नायन्ते स्तोत्रादीनि तु सामवेदे। तथा सति भित्तिस्थानीयोऽयं यजुर्वेदः चित्रस्थानीयावितरौ।

---

1. श्रीमद्भागवत् – 6.1.40
2. ऋ.भा. भूमिका पृ.14

तस्मात् कर्मसु यजुर्वेदस्यैव प्राधान्यम्।[3] यजुर्वेद दो भागों में विभक्त है आदित्य परम्परा से प्राप्त मन्त्रसमुदाय को शुक्लयजुर्वेद तथा ब्रह्मपरम्परा प्राप्त मन्त्रों को कृष्णयजुर्वेद कहा गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ शुक्लयुजर्वेद से सम्बद्ध है। इसीलिए इसे ''आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूँषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येन आख्यायन्ते''[4] कहा गया है। दूसरी बात यह है कि कृष्णयजुर्वेद में कहीं हौत्र के मन्त्र है तो कहीं पर आध्वर्यव के, ऐसी अव्यवस्था दिखाई देती है। मन्त्रभाग एवं ब्राह्मणभाग साथ साथ पढे गये है परन्तु शुक्लयजुर्वेद का मन्त्रभाग एवं ब्राह्मणभाग दोनों भिन्न हैं। तथा प्रकरणानुरोधेन यागों का व्यवस्थित वर्णन है। यही शुक्लत्व का प्रमुख कारण है।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने भगवान् सूर्य से वेदाध्ययन कर इसे 15 शिष्यों को पढ़ाया। अध्यापन के कारण ही 15 शखाओं की प्रसिद्धि हुई। वर्तमान में शुक्लयजुर्वेद की केवल दो शाखायें प्राप्त होती हैं। काण्वसंहिता एवं माध्यन्दिनसंहिता। शुक्लयजुर्वेद के आदि प्रवक्ता महर्षि याज्ञवल्क्य हैं। इनके पिता अहर्निश अन्नदान किया करते थे जिसके कारण उनका नाम वाजसनेय था। इसी से यह संहिता वाजसनेयी भी कही जाती है याज्ञवल्क्य के शिष्यों में माध्यन्दिन अत्यन्त मेधा सम्पन्न थे, इन्होंने जिन यजुषों का प्रवचन किया वह माध्यन्दिन शाखा के नाम से प्रसिद्ध है। ''कलौ माध्यन्दिनी शाखा कलौ चण्ड़ी विनायकौ'' के वचनानुसार कलियुग में इसी संहिता के अनुसार सभी मांगलिक कृत्य, संस्कार, अनुष्ठान याग आदि सर्वत्र सम्पन्न किये जाते हैं।

इस संहिता में 40 अध्याय, 303 अनुवाक तथा 1975 कण्डिकायें हैं, जिसमें 39 अध्यायों में विविध श्रौतयागों का वर्णन एवं अन्तिम अध्याय में ईशावास्योपनिषत् है, जो उपनिषदों में प्रथमस्थानीय एवं अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस संहिताग्रन्थ पर दो भाष्यग्रन्थ उपलब्ध हैं आचार्य उव्वट का एवं आचार्य महीधर का जिसमें महीधरभाष्य का अध्ययनाध्यापन प्रायः सर्वत्र शिक्षा केन्द्रो में होता है।

इसके अध्यायगत विषयों को ध्यान में रखते हुए, प्रथम एवं द्वितीय अध्याय में दर्शपौर्णमास एवं पिण्डपितृयज्ञ का विधान है। इसी

3. तै. भा. भू. पृ. 7
4. श.ब्रा. 14.9.4.33

प्रकार तृतीय अध्याय में अग्न्याधान, उपस्थान, चातुर्मास्ययाग के मन्त्र वर्णित हैं। चतुर्थ अध्याय से आठवें अध्याय तक सोमयाग के प्रकृतिभूत अग्निष्टोम याग का वर्णन है। नवम एवं दशम में क्रमशः वाजपेय एवं राजसूय याग का वर्णन है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में केवल प्रथमदशक (1-10) के प्रत्येक मन्त्रों के अन्वय के साथ महीधरभाष्य सहित हिन्दी व्याख्या की गई है। मन्त्रार्थ जिज्ञासु छात्रों की सुगमता के लिए प्रथमदशक में प्रयुक्त यागों का अत्यन्त संक्षेप में परिचय दिया जा रहा है।

दर्शपौर्णमासयाग - यह याग समस्त कामनाओं की प्राप्ति के लिए किया जाता है। ''सर्वेभ्यः कामेभ्यः दर्शपूर्णमासौ''। (वैखा.श्रौ.सू. 14) दर्श का अर्थ अमावाश्या है। जिस दिन अपराह्ण में अमावाश्या तिथि प्राप्त होती है उसी दिन पिण्डपितृयज्ञ करने के बाद दूसरे दिन दर्शेष्टि की जाती है। इसी प्रकार पूर्णिमा तिथि के दूसरे दिन संगव काल में प्रतिपदा होने से पौर्णमासेष्टि सम्पन्न होती है। इस इष्टि में ब्रह्मा, अध्वर्यु, होता आग्नीध्र, यजमान एवं यजमान की पत्नी मिलकर कार्य करते हैं। इस प्रकार अमावाश्या एवं पूर्णिमा में सम्पन्न होने वाले याग का नाम दर्शपौर्णमास है। दोनो तिथियों में याग करने से ही फल प्राप्ति होती है। प्रत्येक मे तीन प्रधान याग होते हैं। इस प्रकार 6 यागों का यह समुदाय है जो समुदायापूर्व का एक उदाहरण भी है।

प्रस्तुत संहिता ग्रन्थ का प्रारम्भ 'दर्शेष्टि' याग के शाखाच्छेदन से होता है जिसमें वत्सापाकरण विधि सम्पन्न होती है। इसमें पलाश की शाखा से बछड़ो को गौओं से अलग किया जाता है जिससे गौएँ जंगल में जाकर स्वतन्त्ररुप से खाद्य पदार्थ ग्रहण कर सायंकाल घर आती हैं तथा देवताओं के निमित्त दी जानेवली दूध-दधि आदि हवियों को प्रदान करती हैं। इस प्रकार दूसरे अध्याय के 28 वें मन्त्र तक इस याग का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसके साथ ही आगे के 6 मन्त्रों में पिण्डपितृयज्ञ का विधान वर्णित है, जिसमें ओदन का पिण्ड बनाकर पितरों को समर्पित किया जाता है। इसका पाक दक्षिणाग्नि में होता है।

तीसरे अध्याय के प्रारम्भ में श्रौताधान के मन्त्र वर्णित हैं जिसमें सर्वप्रथम सपत्नीक यजमान अरणी मन्थन से अग्नि को प्रकट करके चातुष्प्राश्य संज्ञक'' ओदन का निर्माण कर पूर्व प्रक्षिप्त आज्य में अश्वत्थ की तीन समिधाओं को घृत में डुबोकर ''समिधाग्निम्'' आदि मन्त्रों से होम करता है। प्रथम मन्त्र से आरम्भ होकर आठ मन्त्रों तक अग्न्याधेय के मन्त्र वर्णित हैं। इसके बाद क्रमशः अग्निहोत्र बृहदुपस्थान, चातुर्मास्ययाग के दूसरे पर्व वरुण, प्रघास, अवभृथकर्म, पितृयज्ञ, त्र्यम्बकहवि प्रदान आदि विषयों से सम्बद्ध मन्त्र प्रयुक्त हुए हैं। चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ से 32 कण्डिका तक अग्निष्टोम याग का वर्णन है जो सोमयाग की प्रथम संस्था एवं प्रकृति याग के रूप में निर्दिष्ट है। यह अत्यन्त विशाल एवं गभीर याग है।

''अग्नेः स्तोमः स्तुतिर्यस्मिन् स अग्निष्टोमः।'' पूर्वाङ्ग एवं उत्तरांग सहित यह अग्निष्टोम याग पाँच दिन में सम्पन्न होता है। इसमें 16 ऋत्विज होते हैं, तथा चारों वेदों के मन्त्रों का प्रयोग होता है। इसमें **''यज्ञायज्ञिय''** अग्निष्टोम नामक साम का सबसे अन्त में पाठ होता है इसीलिए इसका नाम अग्निष्टोम है। इसमें विशेषरूप से सोमनाम की लता को कूटकर रस निकालकर प्रातः मध्यान्ह्र एवं सायंकाल, देवताओं को मन्त्रपाठपूर्वक प्रदान किया जाता जिसे सवन के नाम से जाना जाता है। सोमलता के महत्त्व को प्रस्तुत करते हुए सुश्रुतसंहिता आदि आयुर्वेदीय ग्रन्थों में यह कहा गया है कि सोमलता में 15-15 पत्तियाँ होती हैं जो शुक्लपक्ष में चन्द्रमा के कला की तरह वृद्धि को प्राप्त है तथा कृष्णपक्ष में क्रमशः घटती हैं। इस प्रकार पूर्णिमा को 15 पत्तियाँ सोमलता पर रहती हैं तथा अमावाश्या को केवल लता मात्र रहती है। सोम की अपेक्षा इसके रस का विशेष महत्त्व है। सोम देवताओं का अन्न है। सोमपान के सर्वप्रथम अधिकारी इन्द्र हैं। कुछ लोगों (पाश्चात्य विद्वानों) को भ्रान्ति है कि सोम पान से नशा होती है। वे कहते है कि, इन्द्र सोम पान करके ही असुरों पर विजय प्राप्त करता था। परन्तु यह सोम अमृत रूप है इसके पान से शारीरिक शक्ति मे वृद्धि एवं बुद्धि में पवित्रता (उत्तमता) आती है। यह ऋग्वेद के मन्त्रों से ज्ञात होता है। बात यह है कि सोम विषयक मन्त्रों के साथ मद् धातुका प्रयोग बहुधा देखा

जाता है जिसके अर्थज्ञान के अभाव में पाश्चात्यों ने इस प्रकार कहा परन्तु वेदो में मद् धातु का अर्थ तृप्ति, प्रसन्नता या स्तुतिपरक है। इसीलिए मदी हर्षे, मद् तृप्ति योगे इत्यादि धातु व्याकरण में प्रसिद्ध है। अस्तु।

इसी याग के मध्य में एक पशु याग भी होता है जिस पर समाज में विविध आक्षेप एवं यागों की भी निन्दा की जाती है। यही नहीं कुछ लोग वेदों पर भी अंगुलि निर्देश करते है उन्हें इस वेद में केवल पशुयाग के अतिरिक्त कुछ भी नही दिखता है। अन्य याग गौण है। इसके समाधान के लिए यथामति कुछ कहना अनिवार्य समझते हुए लिखा जा रहा है। पशुयाग करने का विधान त्रेतायुग में ही था इसके बाद क्रमशः श्रौतयागों के अनुष्ठान में न्यूनता आ गई। कलियुग में तो इसका अत्यन्त निषेध है। ऋषियों को यह ज्ञात था कि कलियुग में विधियों का लोप हो जायेगा, लोग स्वादवश पशुओं की हिंसा करने लगेंगे अतः इस अत्याचार की निवृत्ति के लिए इस वर्तमान युग में ऐसे यज्ञों का निषेध किया जो हिंसा युक्त थे। वस्तुतः "जनमेजयात् जनमेजयान्तम्" इस पुराणसिद्धान्त के अनुसार द्वापर के अन्त तक ही यज्ञों की प्रधानता रही।

दूसरी बात यह है "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" इत्यादि विधिवाक्यों में आलभेत का अर्थ स्पर्श करना है हिंसा करना नहीं। विवाह प्रकरण में "हृदयमालभेत" वाक्य में वर, वधू के हृदय का स्पर्श करता है। हिंसा नही। दूसरी बात यह है कि प्रकरणवश याग प्राप्त होने पर भी हिंसा का विधान नहीं है। अर्थात् निषेध में तात्पर्य है विधेय नहीं है। यदि पशुयाग का विधान होता तो उसी प्रकरण के प्राप्तमन्त्रों में तज्जन्य प्रायश्चित्त का विधान नहीं होता। जैसा कि **"यत्ते क्रूरं यदास्थित ....** .... अर्थात् हे पशो! यत्ते तव क्रूरं बन्धननिरोधादिकं क्रूरकर्म अस्माभिः कृतं तदाप्यायताम्। अथ च हे आपः इदं पशुसंज्ञपननिमित्तं पापं प्रवहत। आप तस्मादेनसः पापात् पवमानश्च मुञ्चतु। इस प्रकार तीन चार मन्त्रों में इस कर्मजन्य पापापनोदन के लिय प्रार्थना की गई है। इससे ज्ञात होता है लोगों में स्वाभविक इन्द्रियलोलुपता के कारण जो पशुवधादि अधिक हो रहे थे उनको मर्यादित करने के लिए ही महर्षियों ने इसे वर्षों में होने वाले याग से सम्बद्ध किया, क्योंकि ये याग अत्यन्त द्रव्य एवं समय

साध्य होते थे, अतः जब याग होगा तभी पशुयाग होगा। यही अभीष्ट रहा होगा। जैसे मधुमेह के रोगी को शर्करा के स्थान पर "शूगर फ्री लेने का निर्देश विधान के रुप में नहीं अपितु शर्करा त्याग में ही चिकित्सक का अभिप्राय होता है। कुछ दिनों के बाद उसका भी त्याग करा देता है। उसी तरह नित्य पशुवधादि रूप पापों को रोकने के लिए इसे यज्ञ जोड़ा गया है।" जिस प्रकार "पंचपंचनखाभक्ष्याः" इस वाक्य में नियमविधि नहीं है अपितु परिसंख्या विधि (निषेध) है, उसी प्रकार 'यागों में पशुयागविधायक' वाक्यों में भी परिसंख्या है नियम विधि नहीं है। अतः केवल ऐसे वाक्यों को लेकर वेदों पर–आक्षेप करना दुराग्रह के अलावा और कुछ भी नहीं है। इस प्रकार वैदिक यागों में पशु हिंसा का विधान कही भी नहीं है वैरिमरणानुकल व्यापारे हिंसा होती है यहाँ पशु वैरी नहीं है। अतः वेदों में पशु हिंसा का विधान कही नहीं है।

इस प्रकार मन्त्रों में प्रयुक्त सोमयाग के मुख्य मुख्य विधियों का उल्लेख प्रसंगानुसार इस ग्रन्थ में यथावसर किया गया है। यह अध्याय यहीं पूर्ण होता है। नवें अध्याय के 34 कंण्डिका तक वाजपेय याग से सम्बद्ध मन्त्र वर्णित हैं। इसके आगे दशवें अध्याय में राजसूय याग का वर्णन है। यह सोमयाग की पाँचवी संस्था है। "वाजपेयेन इष्ट्वा सम्राड् भवति" इस श्रुति के अनुसार सम्राट् की कामना से इसे करना चाहिए। इस याग को ब्राह्मण एवं क्षत्रिय दोनों वर्ण (आहिताग्नि) कर सकते हैं। शरद् में इसका अनुष्ठान किया जाता है। इस याग में सप्तदश संख्या का विशेष महत्त्व है। बात यह है कि इसके प्रधान देवता प्रजापति भी सप्तदश स्वरूप वाले हैं। इस प्रकार यहाँ दीक्षा, स्तोत्र दुन्दुभि आदि भी सत्रह होते हैं।

दशवें अध्याय के प्रारम्भ में राजसूय याग गत अभिषेक के लिए सत्रह प्रकार के जलों का ग्रहण एवं चरकसौत्रामणी याग का वर्णन है। राजसूययाग का अनुष्ठान सर्वप्रथम वरुण ने किया था। चक्रवर्ती क्षत्रिय राजा ही इसका अधिकारी होता है। "राजा स्वर्गकामो राजसूयेने यजेत् (आ.श्रौ. 18-8-1)

इस प्रकार इस "प्रथमदशक" में दर्शपौर्णमास से राजसूय याग पर्यन्त वर्णित यागों का अत्यन्त संक्षेप में परिचय छात्रों के लिए प्रस्तुत

किया गया। यदि इस ग्रन्थ के अध्ययन से मन्त्रार्थ जिज्ञासुजनों को स्वल्पलाभ भी हुआ तो लेखक अपने परिश्रम को सफल समझेगा।

प्रस्तुतग्रन्थ का प्रकाशन विद्यापीठ के यशस्वी कुलपति परम श्रद्धेय प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय जी की कृपा से ही संभव हो सका अतः उनके युगलचरणों में श्रद्धावनत होकर सादर प्रणाम करता हूँ।

यह पुनीत कार्य शोध एवं प्रकाशन विभाग के सहयोग के बिना संभव नहीं था। अतः शोधविभाग के अध्यक्ष प्रो. हरेराम त्रिपाठी जी को सादर प्रणाम करते हुए उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। इसी क्रम में शोध विभाग के आचार्य डॉ. शिवशंकर मिश्र जी ने इस ग्रन्थ का सम्पादकीय लिखकर हमें अत्यन्त उपकृत किया, एतदर्थ प्रणामाञ्जलि निवेदन करते हुए हृदय से कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। किसी भी कार्य की पूर्णता में संयोजक ही सूत्रधार के रुप में होता है, ऐसे इस कार्य के संयोजक अनुसन्धान विभाग के आचार्य डॉ. ज्ञानधरपाठक जी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

इस कार्य की सम्पूर्णता में जिन महानुभावों का प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सहयोग प्राप्त हुआ है उन्हें भी सादर नमन करते हुए हृदय से साधुवाद प्रदान करता हूँ।

डॉ. रामानुज उपाध्याय

वेदपुरुषाय नमः

प्रथम

हरिः ॐ। इषे त्त्वोर्जे त्त्वा व्वायवं स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणऽआप्प्यायध्वमघ्न्याऽइन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवाऽअयक्ष्मा मा वस्तेनऽईशत माघशंꣳसो ध्रुवाऽअस्मिन्गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून्पाहि ।।१।।

अन्वय : हे (पर्णशाखे) इषे त्वा (त्वाम्) (छिनद्मि) उर्ज्जे, त्वा (त्वाम्)(सन्नमयामि)। हे गोवत्साः (यूयं) वायवःस्थ। सवितादेवः वः श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयतु। (हे) अघ्न्या गावः, इन्द्राय भागम् आप्यायध्वम्। यूयं प्रजावतीः अनमीवाः अयक्ष्माः भवथ। स्तेनः वः मा ईशत अघशंसः मा (ईशत)। अस्मिन् गोपतौ ध्रुवा बह्वी स्यात। (हे पलाशशाखे) यजमानस्य पशून् पाहि।

—प्रस्तुतमंत्र में दर्शयाग के अंगभूत पलाशशाखाछेदन की विधि दी गई है जिससे वत्सापाकरणविधि सम्पन्न होती है।

व्याख्या : हे पलाशशाखे। प्रभूत वर्षा के लिए मैं तुम्हें शाखा से अलग करता (काटता) हूँ। रस या बल प्राप्ति के लिए तुम्हें संस्कृत करता हूँ। यहाँ वृष्टि का तात्पर्य अन्न से है क्योंकि अन्नोत्पत्ति में वृष्टि ही प्रमुख कारण है। अतः इन दोनों मंत्रों से अन्न एवं क्षीरादिरसजन्य बल की कामना की गई है। इसप्रकार अन्न एवं बल की प्राप्ति यज्ञ करनेवाले को प्राप्त हो। हे गोवत्सों! तुम वायुरूप हो या अन्तरिक्ष के अधिपति वायुदेव से सम्बन्धित हो। हे गौओ! प्रकाशमान सवितादेवता तुम्हें इस यज्ञ को पूर्णकरने के लिए प्रभूततृण से युक्त गोचारण भूमि पर भेज दे। हे अवध्य गौओं! तुम सब इन्द्रदेवता के लिए सम्पादित होने वाले दधि (हवि) के कारणभूत दूध को प्रदानकरो। (सभी गौओ में प्रचुर मात्रा में दूध की उत्पत्ति हो) हे गौओ! तुम उत्तम प्रजावाली अर्थात अनेक बछड़ों वाली, स्वल्परोगों से तथा यक्ष्मा (क्षय) आदि प्रबलरोगों से भी मुक्त रहो। तुम्हें चुराने में चोर समर्थ न होवें, मारने में भी समर्थ न होवें। हिंसक वृक, व्याघ्र आदि वन्य जीव भी तुम्हें मारने में समर्थ

न हों। इस गोपति (यजमान) के लिए विविध प्रकार के सुखों को प्रदान करते हुए आप यहाँ सुखपूर्वक निवास करें। हे पलाशशाखे; इस यजमान के पशुओं की रक्षा करो।

म० : अथ मंत्रार्थः क्रियापदाध्याहारेण। हे शाखे, इषे वृष्टयै त्वा त्वां छिनद्मि। इष्यते काङ्क्ष्यते सर्वैर्ब्रीह्यादिधान्यनिष्पत्तये सा इट्। श्रुत्या वृष्टिर्व्याख्याता। कर्मणि क्विप्। 'वृष्टयै तदाह यदाहेषे त्वा' (1/7/2/2) इति श्रुतेः। 'पर्णशाखां छिनत्ति शामीलीं वेषे त्वेत्यूर्जे त्वेति वा छिनद्मि इति वोभयोः साकाङ्क्षत्वात्सन्नमयामीति वोत्तर' (कात्या० 4/2/1-3) इति कात्यायनोक्तेः छिनद्मीति क्रियापदमध्याहर्तव्यम्। कात्यायनसूत्रस्यामर्थः- पलाशशाखा शमीशाखा वात्र विकल्पिता। तच्छेदने इषे त्वोर्जे त्वेति द्वौ मन्त्रौ विकल्पितौ। तयोः क्रियापदाकाङ्क्षत्वादर्थावबोधाय छिनद्मि इति पदमध्याहर्तव्यमित्येकः पक्षः। इष त्वेति छेदनार्थो मन्त्रः। ऊर्जे त्वेति संनमनार्थः। संनमनं ऋजूकरणं शाखालग्नधूल्याद्यपनयनम्। इदं पक्षान्तर- मित्यर्थः। ऊर्जे त्वा। शाखैव देवता। हे शाखे, त्वा त्वां संनमयामि ऋजूकरोमि। किमर्थम्। ऊर्जे 'ऊर्ज बलप्राणनयोः'। ऊर्जति सर्वान्मनुष्यपश- वादीन्बलयति पानादिना दृढशरीरान्करोति। यद्वा। प्राणयति प्रकर्षेण चेष्टयतीति व्युत्पत्तिद्वयेन वृष्टिगतो जलात्मको रस ऊर्जशब्देनोच्यते। तस्मै रसाय त्वामनुमार्ज्मि। 'यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह' (1/7/1/2) इति श्रुतेः। एतन्मन्त्रद्वयपाठेनाध्वर्युरिष्यमाणमन्नं बलकरमाज्यक्षीरादिरसं च यजमाने संपादयत्येव। 'इषे त्वोर्जे त्वेत्याहेषमेवोर्ज यजमाने दधाति' इति तित्तिरिवचनात्। कात्यायनः 'मातृभिर्वत्सान्संसृज्य वत्सं शाखयोपस्पृशति वायवः स्थ' (4/2/7) इति वायुर्देवता। 'वा गतिगन्धनयोः'। वान्ति गच्छन्तीति वायवो गन्तारः। हे वत्साः यूयं वायवः स्थ मातृभ्यः सकाशादन्यत्र गन्तारो भवत। मातृभिः सह गमने सति सायं दोहो न लभ्यत इत्यभिप्रायः। यद्वा। वायुसादृश्याद्वत्सानां वायुत्वम्। यथा वायुः पादप्रक्षालनष्ठीवनादिभिरुपहतां भूमिं शोषयित्वा पुनाति, एवं वत्साअप्यनुलेपनहेतुभूतगोमयादिदानेन भूमिं पुनन्ति तस्माद्वायुसा- दृश्यम्। अथवा नृणां यथा स्वनिवासाय गृहनिर्माणसामर्थ्यमस्ति एवं पशूनां तदभावान्निरावरणेऽन्तरिक्षे संचरणादन्तरिक्षमेव पशूनां देवता। तस्यान्तरिक्षस्य वायुरधिपतिः। स च वायुः स्वावयवानिव पशून्पालयतीति पशूनां वायुरूपत्वम्। तथा पालनाय पशून्वायवे समर्पयितुं वायुरूपत्वमापाद्य वायवः स्थेति मंत्रः

प्रवर्तते। तदुक्तं तित्तिरिणा 'वायवः स्थेत्याह वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षोऽन्तरिक्षदेवत्याः खलु पशवो वायव एवैतान्परिददाति' इत। यद्वा तृणभक्षणायाहनि तत्र तत्रारण्ये चरित्वा सायंकाले वायुवेगेन यजमानगृहे समागमनाय पशून्प्रवर्तयितुं वायुरूपत्वमुच्यते। कात्यायनः देवो व इति मातृणामेकां व्याकृत्यैन्द्रं भवति माहेन्द्रं वा' (4/2/9/10) इति। अस्यार्थः पूर्वसूत्राच्छाखयोपस्पृशतीति पदद्वयमनुवर्तते। वत्सानां मातरो या गावः सन्ति तासां मध्ये एकां गां व्याकृत्य पृथक्कृत्य देवो व इति मन्त्रेण शाखयोपस्पृशेत्। तथा सति गोसंबन्धि दधिरूपं हविरैन्द्रं माहेन्द्रं वा भवतीति। देवो व इति मन्त्रस्येन्द्रो देवता। 'षू प्रेरणे'। सुवति स्वस्वव्यापारे प्रेरयतीति सविता। देवः द्योतमानः परमेश्वरः। हे गावः, वो युष्मान् प्रार्पयतु प्रभूततृणोपेतं वनं गमयतु। किमर्थम्। श्रेष्ठतमाय कर्मणे। चतुर्विधं कर्म। अप्रशस्तम्, प्रशस्तं, श्रेष्ठम्, श्रेष्ठतमं चेति। लोकविरुद्धं बधबन्धचौर्यादिकमप्रशस्तम्। लोकैः श्लाघनीयं बन्धुवर्गपोषणादिकं प्रशस्तम्, स्मृत्युक्तं वापीकूपतडागादिकं श्रेष्ठम्। वेदोक्तं यज्ञरूपं श्रेष्ठतममिति तल्लक्षणम्। 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' (1/7/1/5) इति श्रुतेः। हे अघ्न्याः गावः, गोवधस्योपपातकरूपत्वाद्धन्तुमयोग्या अघ्न्या उच्यन्ते। तथाविधा यूयमिन्द्राय भागं इन्द्रमुद्दिश्य संपादयिष्यमाणदधिरूपहेतु क्षीरम्। आप्यायध्वं समन्ताद्वर्धयध्वम्। सर्वास्वपि गोषु प्रभूतक्षीरं कुरुत। 'ओप्यायी वृद्धौ'। वो युष्मानपहर्तुं स्तेनश्चौरो मा ईशत ईश्वरः समर्थो मा भूत्। अघशंसः अघेन तीव्रपापेन भक्षणादिना शंसो घातको। व्याघ्रादिरपि मा ईशत वो हिंसको मा भूत्। कीदृशीर्युष्मान्। प्रजावतीः बह्वपत्याः। अनमीवाः अमीवा ब्याधिः स नास्ति यासां ताः अनमीवाः कृमिदष्टत्वादिस्वल्परोगरहिताः। अयक्ष्माः यक्ष्मा रोगराजः। प्रबलरोगरहिताः। किंच यूयं गोपतौ गवां युष्माकं पत्यावस्मिन् यजमाने ध्रुवाः शाश्वतिकीः बह्वीर्बहुविधाः स्यात भवत। 'यजमानस्य पशूनित्यग्न्यगारस्यान्यतरस्य पुरस्ताच्छाखामुपगूहति' (का॰ 4/2/11) इति। हे पलाशशाखे। त्वमुन्नतप्रदेशे स्थित्वा प्रतीक्षमाणा सती यजमानस्य पशून् अरण्ये संचरतश्चोरव्याघ्रादिभयात् पाहि रक्ष। शाखया रक्षिता गावो निरुपद्रवाः सत्यः सायं पुनरागच्छन्तीत्याशयः। यद्यप्यचेतना शाखा तथापि तदभिमानिनी देवतामुद्दिश्यैवमुक्तम्। यथा शास्त्रज्ञा अचेतनेऽपि शालग्रामे शास्त्रदृष्टया विष्णुसंनिधिमभिप्रेत्य विष्णुं संबोध्य षोडशोपचारान्विदधत इत्युक्तं प्राक्॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया। इषे। इषेरिच्छार्थस्य कर्मणि क्विप्। कित्त्वादुपधाया गुणाभावः। तस्माच्चतुर्थ्येकवचनम्। इषशब्दगत इकारो धातुस्वरेण प्रातिपदिकस्वरेण चोदात्तः। स्वविधौ व्यञ्जनस्याविद्यमानत्वात्। चतुर्थ्येकवचनस्य प्रत्ययत्वादाद्युदात्तत्वे प्राप्ते 'अनुदात्तौ सुप्पितौ (पा॰ 3/1/4) इति तदपवादेनानुदात्तत्वे प्राप्तेऽपि 'सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः' (पा॰ 6/1/168) इतीकारोऽनुदात्तः। यद्यप्येकशब्देन द्वयोरुदात्तयोरन्यतरो यः कोऽपि वक्तुं शक्यते तथापि 'सति शिष्टस्वरो बलीयान्' (पा॰ 6/1/158) इति न्यायेन विभक्तिगत उदात्त एव प्रबलः ।। तथा सत्यनुदा- त्तादिकमुदात्तान्तमिदं पदं संपन्नम्। त्वा। युषेर्भजनार्थस्य 'युष्यसिभ्यां मदिक्' (उ॰ 1/144) इति मदिक्प्रत्ययान्तस्य युष्मच्छब्दस्य द्वितीयायां त्वेति रूपम्। तस्य प्रातिपदिकस्वरेण यद्यपि उदात्तः प्राप्तस्तथापि 'अनुदात्तं स्वमपादादौ' (पा॰ 8/1/18) इत्यस्य सूत्रस्य अनुवृत्तौ सत्यां 'त्वामौ द्वितीयायाः' (पा॰ 8/1/23) इति त्वादेशविधानादयं शब्दोऽनुदात्तः ।। ऊर्जे। 'ऊर्ज बलप्राणनयोः' अस्मात्क्विप्। ऊर्जति बलवन्तं प्राणवन्तं वा करोतीत्यूर्क् अन्नम्। 'ऊर्गित्यन्ननामोजयति सतः' (निरु॰ 9/27) इति यास्कः। स्वर इषेवत्। संहितायां तु 'उदात्तस्य स्वरितः' (पा॰ 8/4/66) इति त्वाशब्दस्य स्वरितत्वम्। मन्त्रद्वयस्य संहितायां ऊर्ज इति ऊकारस्य 'स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम्' (पा॰ 1/2/39) इति प्रचयाभिधायामेकश्रुतौ प्राप्तायां तदपवादकत्वेन 'उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः' (पा॰ 1/2/40) इत्यत्यन्तनीचोऽदात्तो भवति। अग्निमस्य त्वाशब्दस्य स्वरितत्वम्। एवमुदात्तादेषु संहितायां स्वरा ऊहनीयाः ।। वायवः वातेर्गत्यर्थात् 'कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्' (उ॰ 1/1) इत्युण्। सति शिष्टप्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तो वायुशब्दः। जसः सुप्तत्वादनुदात्तत्त्वम्। 'जसि च' (पा॰ 7/3/106) इति गुणेऽवादेशे च 'स्थानेऽन्तरतमः' (पा॰ 1/1/50 इति परिभाषया उदात्त एव जाते वायव इति मध्योदात्तं पदम् जसः स्वरितत्वं पूर्ववत् ।। स्थ। अस्तेर्लिटि शपो लुकि 'श्रसोरल्लोपः (पा॰ 6/4/111) इति ककारलोपः। 'तिङ्ङतिङः' (पा॰ 8/1/28) इति निघातः ।। देवः। पचादित्वादच्। 'चितः' (पा॰ 6/1/163) इत्यान्तोदात्तः ।। वः 'बहुवचनस्य वस्नसौ' (पा॰ 8/1/21) इत्यनुदात्तो वसादेशः सविता 'षू प्रेरणे'। 'ण्वुल्तृचौ' (पा॰ 3/1/133) इति तृच्। इडागमः चित्त्वादन्तोदात्तः।। प्र 'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' (फि॰ 4/12) इत्याद्युदात्तः। अर्पयतु 'ऋ गतौ'

हेतुमति च' (पा० 3/1/26)। इति णिच् 'अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुग् णौ' (पा० 7/3/36) इति पुक्। 'पुगन्त' (पा० 7/3/86) इति गुणः निघातश्च। श्रेष्ठतमाय। प्रशस्यशब्दात् 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' (पा० 5/3/55) इतीष्ठन् 'प्रशस्यस्य श्रः' (पा० 5/3/60) इति प्रादेशः। 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० 6/1/197) इत्याद्युदात्तत्वम्। ततः पुनः तमप्। तस्य पित्त्वादनुदात्तत्वम्। स्वरित्प्रचयाः पूर्ववत् ।। कर्मणे। करोतेर्मनिन् मित्तवादाद्युदात्तः। आ उदात्तः। प्यायध्वम् 'ओप्यायी वृद्धौ'। 'हेतुमति च' (पा० 3/1/26) इति णिच्। तस्य 'छन्दस्युभयथा' (पा० 3/4/117) इत्यार्धधातुकत्वात् 'णेरनिटि' (पा० 6/4/51) इति णिलोपः। निघातः ।। अघ्न्याः 'अघ्न्या अहन्तव्या भवन्त्यघ्नीति वा' (निरु० 11/43) इति यास्कः अघे नञि वोपपदे हन्तेः 'अघ्न्यादयश्च' (उ० 4/113) इति यगन्तो निपातः। संबुद्धित्वात् 'आमन्त्रितस्य च' (पा० 6/1/198) इत्याष्टमिको निघातः ।। इन्दाय 'इदि परमैश्वर्ये 'इन्धी दीप्तौ' वा। इन्दति इध्यते वा तेजोभिरिति इन्द्रः। 'ऋजेन्द्र' (उ० 2/29) इत्यादिना रन्प्रत्यायान्तो निपातः। नित्त्वादाद्युदात्तः। स्वरितप्रचयौ च ।। भागं 'भज भागसेवनयोः' 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' (पा० 32रु/19) इति घञ्। ञित्त्वादाद्युदात्ते प्राप्ते 'कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः((पा० 6/1/107 इत्यमा सहैकादेश 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' (पा० 8/2/5) इत्युदात्त एव। प्रजावतीः 'उपसर्गे च संज्ञायाम्' (पा० 3/2/99) इति जनेर्डप्रत्ययः ततष्टाप्। तेन सहैकादेशेऽप्युदात्तान्तः प्रजाशब्दः। तस्मात् 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' (पा० 5/2/14)। 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' (पा० 8/2/9) इति मस्य वः। 'उगितश्च' (पा० 3/1/6) इति ङीप्। मतुप्ङीपोरनुदात्तत्वात्प्रजाशब्दस्वर एव। 'वा छन्दसि' (पा० 5/1/106) इति पूर्वसवर्णदीर्घत्वम् ।। अनमीवाः 'अम रोगे'। 'अमेरीवः' इति इवप्रत्ययः। यद्वा 'शेवयह्वजिह्वाग्रीवाप्वामीवाः' (उ० 1/153) इत्यमेर्वन्प्रत्ययान्तो निपातः। तस्य 'नञो बहुव्रीहौ' (पा० 2/2/6) 'समासस्य च' (पा० 6/1/113!2-162) इत्यन्तोदात्ते प्राप्ते तदपवादेन 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (पा० 6/2/1) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते तदपवादेन 'नञ्सुभ्याम्' (पा० 6/2/172) इत्यन्तोदात्तत्वम् ।। अयक्ष्माः तद्वत् स्वरः ।। मा। निपातत्वादाद्युदात्तः ।। स्तेनः 'स्तेन चौर्ये'। स्तेनयति चोरयतीति स्तेनः। पचाद्यच्। चित्त्वादन्तोदात्तः। ईशत 'ईश ऐश्वर्ये। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः'

(पा॰ 3/4/6) इति लङ्। 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा॰ 6/4/74) इत्यडभावः। निघातश्च ।। अघशंसः 'अघ पापकरणे'। पचाद्यजन्तोऽघशब्दोऽन्तोदात्तः। अघं शंसति इच्छतीत्यघशंसः। 'शशि इच्छायाम्' अच्। 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ–' (पा॰ 6/2/2) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिखरत्वम् ।। ध्रुवाः 'ध्रुव स्थैर्ये'। 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा॰ 3/1/135) इति कः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तो ध्रुवशब्दः ।। अस्मिन् 'इणोदमुक्' इति इतेर्दमुक्। अन्तोदात्त इदंशब्दः तस्मात् ङेः स्मिन्। तस्य 'ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः' (पा॰ 6/1/171) इत्युदात्तत्वम् ।। गोपतौ 'गमेडोंः' (पा॰ 2/6/6 इति गोशब्दः प्रत्ययस्वरेणोदात्तः। गवां पतिरिति तत्पुरुषे 'पत्यावैश्वर्ये' (पा॰ 6/2/18) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ।। स्यात्। अस्तेः प्रार्थनायां लिङ्। 'तस्थस्थमिपां' (पा॰ 3/4/101) यासुट् सलोपोऽल्लोपश्च। 'तिङ्ङतिङः' (पा॰ 8/1/28)। बह्वीः। बहुशब्दात् 'वोतो गुणवचनात्' (पा॰ 4/1/44) इति ङीष्। 'वा छन्दसि' (पा॰ 6/1/106) इति जसः पूर्वसवर्णत्वम्। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। यजमानस्य 'पूङयजोः शानन्' (पा॰ 3/2/128) इति यजतेः शानन्। नित्वादाद्युदात्तः पशून् पश्यन्ति गन्धेनेति पशवः। 'अर्जिदृशिकमि' (उ॰ 1/27) इत्यादिना दृशेः कुप्रत्ययः पशादेशश्च। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्त ।। पाहि 'पा रक्षणे' लोट्। 'तिङ्ङतिङः' (पा॰ 8/1/28) एवमग्रे पदस्वरप्रक्रियोहनीया विस्तरभयान्नोच्यते ।।1।।

द्वितीया

व्वसोः : पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो घर्मोऽसि व्विश्वधाऽअसि। परमेण धाम्ना दृꣳहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत् ।।२।।

अन्वय : (हे दर्भमय पवित्र!) त्वं वसोः (यज्ञस्य) पवित्रमसि। (हे स्थालि!) त्वं द्यौरसि पृथिवी असि। (हे उखे!) त्वं मातरिश्वनः घर्मः असि, विश्वधा असि। परमेण धाम्ना दृंहस्व माह्वाः ते यज्ञपतिः मा ह्वार्षीत्।

व्याख्याः हे पवित्र! (दो या तीन कुशों को पवित्र कहते हैं) इन्द्रदेवता के हविरूप दूध के तुम शोधक हो। हे स्थालि! (यज्ञपात्रविशेष) जल से निर्मित होने से वृष्टिप्रदायक द्युलोकरूप हो। पृथिवी के

अवयवभूत मृत्तिका से निर्मित होने के कारण पृथिवी स्वरूप हो। वायु का संचार करने से (तुम्हारे उदर में वायु संचरण का स्थान होने के कारण) अन्तरिक्षलोक स्वरूप हो। तुम लोकत्रय रूप होने के कारण विश्व को धारण करने में समर्थ हो। तुम अपने तेज (शक्ति) से सुदृढ़ हो जाओं। हे उखे! तुम कुटिल (तिरछी) मत होना (अन्यथा दूध नीचे गिर जायेगा)। तुम्हारा यजमान भी कुटिल न हो, क्योंकि हविरूप दूध गिर जाने के कारण यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण नहीं होगा। अतः श्रद्धा एवं समर्पणपूर्वक यह कर्म सम्पन्न करें ऐसी प्रार्थना की गई है।

म० : 'वसोः पवित्रमिति पवित्रमस्यां बध्नाति कुशौ त्रिवृद्वा' (का० 4/2/15/16) इति। वासयति वृष्ट्यादिद्वारा स्थापयति विश्वमिति वसुः यज्ञः। 'यज्ञो वै वसुर्यज्ञस्य पवित्रमसि' (1/7/1/9) इति श्रुतेः। यज्ञशब्देन तदीयहविर्द्रव्यरूपं क्षीरं लक्ष्यते। हे दर्भमय पवित्र, वसोः इन्द्रदेवताया निवासहेतोः पयसः शोधकं पवित्रं, वसोः त्वमसि। अनेन मन्त्रेण पवित्रं कृत्वा पर्णशाखायां बध्नीयात्। द्वौ कुशौ कुशत्रयं वा पवित्रमुच्यते ।। 'द्यौरसीति स्थाल्यादानम्' (का० 4/2/19) इति। यस्यां स्थाल्यां क्षीरं प्रक्षेप्तव्यं तद्ग्रहणार्थोऽयं मन्त्रः। हे स्थाालि, मृज्जलाभ्यां निष्पन्नं त्वं द्यौरसि जलहेतुवृष्टिप्रदद्युलोकरूपासि। द्युसंबन्धात्तद्रूपत्वमस्यामुपचर्यते। तथा पृथिव्यसि पृथिव्याः सकाशादुद्धृतया मृदा निष्पन्नत्वात्पृथिवीरूपत्वम् ।। 'मातरिश्वन इत्यधिश्रयति' (का० 4/2/20) इति। गार्हपत्यादुदीचोऽङ्गारानिरुह्य तेषूखामधि श्रयति। हे उखे। त्वं मातरिश्वनः वायोः घर्मः दीपकोऽन्तरिक्षलोकोऽसि। मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति निश्वासवत्चेष्टां करोतीति मातरिश्वावायुः। घर्मः 'घृ क्षरणदीप्त्योः'। घर्मः दीपकः संचारस्थानप्रदानेन वायोदीपकोऽभिव्यञ्जको-ऽन्तरिक्षलोकः। हे स्थालि, तवोदरेऽप्यन्तरिक्षरूपस्यावकाशस्य वायुसंचारस्य सखावात्त्वमपि वार्योर्घर्मरूपासि ।। द्यौरसि पृथिव्यसीति पूर्वमन्त्रे लोकद्वयरूपत्वमुखाया उक्तम्। अत्र मातरिश्वनो घर्मोऽसीत्यन्तरिक्षलोकरूपत्व-मुच्यते। तस्मादेषां त्रयाणां लोकानां धारणात् त्वं विश्वधा असि विश्वं दधातीति विश्वधाः विश्वधारणसमर्थासि लोकत्रयरूपत्वात्। किंच परमेण धाम्ना उत्तमेन बहुक्षीरधारणसामर्थ्यरूपेण तेजसा हे उखे, त्वं दृंहस्व दृढा भव। त्वन्निष्ठस्य क्षीरस्य गलनं वारयितुम् अन्यथा भग्नायास्तव छिद्रेण क्षीरं गलेत्। 'दृहि वृहि वृद्धौ' इति धातुर्यद्यपि वृद्ध्यर्थस्तथापि दार्ढ्ये सति

भङ्गाभावेन चिरमवस्थानाद्दाढर्यं नाम कालवृद्धिरेव भवति। किंच। हे उखे, मा ह्वाः कुटिला मा भव। 'ह्वृ कौटिल्ये'। गलेत् अतः क्षीरधारणाय दाढ्र्यमकौटिल्यं चार्थ्यते। किंच ते यज्ञपतिः त्वत्संबन्धी यजमानः मा ह्वार्षीत् कुटिलो मा भूत्। त्वन्निष्ठक्षीरस्कन्दनेनानुष्ठानविघ्न एव यजमानस्य कौटिल्यम्। तच्च त्वदीयेन दाढ्र्येन कौटिल्य। भावेन च न भविष्यतीति प्रार्थ्यते ।।2।।

तृतीया

वसोः पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि सहस्रधारम्। देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा कामधुक्षः ।।३।।

अन्वय : (हे शाखापवित्र!) त्वं वसोः पवित्रमसि वसोः शतधारं सहस्त्रधारं पवित्रमसि। (हे क्षीर!) सवितादेवः त्वां वसोः शतधारेण पवित्रेण सुप्वा पुनातु। हे दोग्धः। काम् गाम् अधुक्ष :।

व्याख्या : हे दर्भमयपवित्र! तुम इन्द्र देवता के निमित्त निर्मित हविरुप दूध के शोधक हो। दोहन के बाद पवित्रगतछिद्रों में से सैंकड़ों–सहस्त्रों धाराओं के रूप में स्थाली में गिरने वाले दूध के तुम शोधक हो। हे क्षीर! सर्वप्रेरकसवितादेवता इस पवित्र से तुम्हें दोषरहित करें। हे गोप! तुमने किस गौ का दोहन किया है?

म॰ : 'वसोः पवित्रमिति पवित्रमस्यां करोत्युदग्वा' इति। अस्यामुखायां स्थापनीयस्य पवित्रस्य प्रागग्रत्वं सामान्यतः प्राप्तमिति सिद्धवत्कृत्वोदगग्रत्वं विकल्प्यते। हे शाखापवित्र, वसोः इन्द्रदेवतानिवासहेतोः पयसः शोधकं पवित्रं त्वम् असि। पवित्रेण व्यवधाने सति क्षीरेण सह स्थाल्यां पततां तृणपर्णादीनां प्रतिबध्यमानत्वात्पवित्रस्य क्षीरशोधकत्वम्। किंभूतं पवित्रम्। शतधारं शतसंख्या धारा यस्मिन्। तथा सहस्रधारं सूक्ष्मैः पवित्रच्छिद्रैः स्थाल्यां पतन्तीनां क्षीरधाराणां शतसहस्रसंख्याकानां सखावाच्छोधकत्वमाहर्तुम्। वसोः पवित्रमिति द्विरुक्तिः। अभ्यासे भूयांसमर्थ मन्यन्ते (निरु॰ 10/42) इति। 'देवस्यत्वेत्यासिच्यमाने जपति' (का॰ 4/2/23) इति। पयो देवता। दोहनादूर्ध्वं स्थाल्यां सिच्यमान हे क्षीर, सविता प्रेरको देवः पूर्वेक्तीरीत्या। शतधारेण वसोः पवित्रेण। त्वा त्वाम्। पुनातु शोधयतु। सुप्वेति पवित्रविशेषणम्।

सुष्ठु पुनातीति सुपूः तेन सुप्वा। नुडागमाभाव आर्षः।। कामधुक्ष इति प्रश्नः (4/2/24) इति एकस्यां गवि दुग्धायां दोग्धारं प्रत्यध्वर्युः पृच्छेत्। हे दोग्धः, विद्यमानानां गवां मध्ये त्वं कां गाम् अधुक्षः दुग्धवानसि ।।3।।

चतुर्थी

सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधायाः। इन्द्रस्य त्वा भागꣳसोमेनातनच्मि विष्णो हव्यꣳरक्ष ।।४।।

अन्वय : (सा) (गौ) विश्वायुः अस्ति सा विश्वकर्मा, सा विश्वधायाः श्च अस्ति। (हेक्षीर!) इन्द्रस्य भागं त्वां सोमेन आतंनच्मि। विष्णो! इंदं हव्यं रक्ष।

व्याख्या : हे गोप (जिस गाय (गौ) को तुमने दुहा है) वह ऋत्विज यजमान आदि की आयुवर्द्धक होने से विश्वायु नाम की है। जो दूसरी गौ तुमने दुही है वह विश्वकर्मा है! जो तीसरी गौ तुमने दुही है वह विश्वधाया है। हे क्षीर! (गोदुग्ध) इन्द्र के हविभाग को दही बनाने के लिए सोमवल्ली के रस से आतञ्चन (जामन) करता हूँ। हे विष्णो! आप इस हवि की रक्षा करें।

म॰ : प्रोक्ते 'सा विश्वायुरित्याह' (का॰ 4/2/25) इति पूर्वोक्तप्रश्नस्योत्तरे अमूं गामिति दोग्ध्रा प्रोक्ते सति सा विश्वायुरिति मन्त्रेण दोग्धारं प्रत्यध्वर्युर्ब्रूयात् या गौस्त्वया दुग्धा मया च पृष्टा सा विश्वायुः शब्देनाभिधेया। विश्वमायुर्यस्याः सा विश्वायुः। यजमानस्य संपूर्णआयुः प्रयच्छतीत्यर्थः। 'एवमितरे उत्तराभ्याम्' (का॰ 4/2/26) इति। यथा प्रथमा गौः पृष्टा एवमितरे द्वितीयतृतीये गावौ तद्दोहनादूर्ध्वं कामधुक्ष इति मन्त्रेण प्रष्टव्ये। दोग्धा तूत्तरेऽमूमितिं प्रोक्ते सा विश्वकर्मा सा विश्वधाया इति मन्त्राभ्यां क्रमेण तयोराशिषं ब्रूयात्। या द्वितीय। गौस्त्वया पृष्टा सा विश्वकर्मा, या तृतीया गौस्त्वया पृष्टा सा विश्वधायाः। 'डुधाञ् धारणपोषणयोः'। विश्वान्सर्वान्देवान्दधाति क्षीरदध्यादिहविर्दानेन पुष्णातीति विश्वधायाः। असुन्प्रत्ययो णिच्च। णित्त्वात् 'आतो युक् चिण्कृतोः' (पा॰ 7/3/33) इति युक। यद्वा। 'धेट् पाने'। विश्वानिन्द्रादिदेवान् क्षीरादिहव्यं धाययति पाययतीति विश्वधायाः। 'उद्वास्यातनक्ति। प्रागघुतशेषणेन्द्रस्य त्वा' (का॰ 4/2/32) इति। क्वथितं क्षीरमग्नेरुद्वास्यमन्दोष्णे तत्र प्रातःकालीनहोमावशिष्टेन दध्ना

दधिनिष्पत्तये आतञ्चनं कुर्यात्। हे क्षीर, इन्द्रस्य भागं त्वां सोमेन सोमवल्लीरसेन आतनच्मि दध्यर्थं कठिनीकरोमि। तञ्चतिः कठिनीकरणार्थः। यद्यप्यत्रआतञ्चहेतुर्दधिशेषस्तथापि भावनया तस्यैव सोमत्वं संपाद्यते। यथा कश्चित्पुमान्बन्धुत्वेन भावितो बन्धुर्भवति प्रातिकूल्येन भावितः शत्रुश्च। तदुक्तं वसिष्ठेन 'बन्धुर्भवति भावित बन्धुः परत्वे भावितः परः। विषामृतदृशैवेह स्थितिर्भावनिबन्धिनी।।' इति। भोज्यं वा विषत्वेन भावितं वान्ति करोति। अमृत्वेन भावितं जीर्णं सद्बलहेतुर्भवति। तथात्र दधिशेषस्य भावनया सोमत्वम्।। 'सोदकेनापि दधात्यमृण्मयेन विष्णो हव्यमिति' (का० 4/2/34) इति। हे विष्णो, इदं हव्यं क्षीरं रक्ष। सर्वत्र सृष्टौ पालने संहारे च ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा अभिमानिन्यो देवताः। अतो विष्णुं संबोध्य हविषो रक्षा प्रार्थ्यते ।।4।।

पञ्चमी

अग्नैव्व्रतपते व्व्रतं चंरिष्यामि तच्छंकेयं तन्मैं राध्यताम्। इदमहमनृंतात्सत्यमुपैंमि ।।५।।

अन्वय : व्रतपते हे अग्ने! (अहं) व्रतं चरिष्यामि, तत् शकेयम्। मे तद् राध्यताम्। इदम् अहम् अनृतात् सत्यमुपैमि ।।

व्याख्या : यज्ञादिव्रतरूप कर्मों। के पालक हे अग्ने! मैं आपकी कृपा से व्रत करने के लिए प्रस्तुत हूँ। मैं इसे पूर्ण करने में समर्थ होऊँ। ऐसी शक्ति दीजिए। मेरा यह व्रत निर्विघ्न पूर्ण हो। मैं (यजमान) इस मिथ्या भाषणरूप मनुष्यभाव से निकलकर उस सत्यस्वरूप देवभाव को प्राप्त करता हूँ। या अनृतभाषण (झूठबोलना) को त्यागकर सत्यभाषण रूप व्रतग्रहण करता हूँ। यह व्रतग्रहण की विधि है। कर्मानुष्ठानकाल में असत्य भाषण निषिद्ध है।

म० : 'अपरेणाहवनीयं प्राङ्तिष्ठन्नग्निमीक्षमाणोऽप उपस्पृश्य व्रतमुपैत्यग्ने व्रतपत इदमहमिति वा' (2/1/11) इति। हे वतपते, व्रतस्यानुष्ठेयस्य कर्मणः पते पालक हे अग्ने, त्वदनुज्ञया व्रतं चरिष्यामि कर्मानुष्ठास्यामि। तच्छकेयं तत्कर्मानुष्ठातुं शक्तो भूयासं त्वत्प्रसादात् तन्मे राध्यतां मदीयं तत्कर्म निर्विघ्नं सत् फलपर्यन्तं सिध्यतु। शकेराशीर्लिङ्यासुट्। '-लिङ्याशिष्यङ् (पा० 7/2/80)। गुणः शकेयम्। 'अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः'

(1/1/1/2) इति श्रुतिः। इदमहम्। अहं यजमानोऽस्मादनृतान्मनुष्यजन्मन उद्धृत्य सत्यं देवताशरीरम् उपैमि प्राप्नोमि। सत्यमनुष्ठीयमानकर्मरूपेण प्रत्यक्षमिति मन्वान इदमिति विशिनष्टि। अनृतं मनुष्यजन्म शीघ्रविनाशित्वात्। यथा स्वप्नगजादयो बोधमात्रेण शीघ्रं निवर्तमाना अनृता उच्यन्ते। सत्यं दैवजन्म बहुकालस्थायित्वात्। यथा जागरणगजादयः। श्रुतिरपि 'इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि' (1/1/1/4) इति। तन्मनुष्येभ्यो देवानुपावर्तत इति। यद्वा लोकप्रसिद्धे एव सत्यानृते ग्राह्ये। नानृतं वदेदिति कर्मण्यनृतनिषेधात्। अनृतवदनादुद्धृत्याहमिदं सत्यवदनमुपैमि। अत इदं सत्यवदनं कर्माङ्गत्वात्कर्मकाले पालनीयम् ॥5॥

षष्ठी

कस्त्वा॑ युनक्ति॒ स त्वा॑ युनक्ति॒ कस्मै॑ त्वा युनक्ति॒ तस्मै॑ त्वा युनक्ति। क॑र्मणे वा॒ं (युवाम्) व्वेषा॑य वाम् ॥६॥

अन्वय : (प्रणीतानामपांधारक हे पात्र!) त्वा (त्वाम्) कः युनक्ति। कस्मै त्वा युनक्ति। इति प्रश्ने उत्तरयति स त्वा युनक्ति। तस्मै त्वा युनक्ति। वाम् कर्मणे वाम् वेषाय (आददे)

व्याख्या : इस मंत्र में व्रतग्रहण के बाद अपांप्रणयन की विधि प्रस्तुत है। श्रौतविधि से लाये गये जल को धारण करने वाले हे पात्र! तुम्हें किसने नियुक्त किया है? किस कार्य के लिए नियुक्त किया है? इसके उत्तर में कहते है–उस प्रजापति ने तुम्हें नियुक्त (स्थापित) किया है। और प्रजापति (परमेश्वर) की प्रसन्नता के लिए तुम्हें स्थापित किया गया है। हे शूर्प तथा अग्निहोत्रहवणी (पात्रविशेष) निर्दिष्ट यज्ञकर्म की पूर्णता के लिए मैं तुम दोनों को ग्रहण कर रहा हूँ।

म० : एवं व्रतमुपेत्य ब्रह्माणं वृत्वापां प्रणयनं कुर्यात्। 'ब्रह्मन्नपः प्रणेष्यामि यजमान वाचं यच्छेत्याहानुज्ञात उत्तरेणाहवनीयं संप्रति निदधाति कस्त्वायुनक्ति (का० 2/3/2–3) इति। अत्र मंत्रः प्रयुञ्जानोऽध्वर्युर्यज्ञारम्भ-कर्मण्यात्मनः कर्तृत्वमपनीय प्रजापतेर्यज्ञकर्तृत्वं प्रश्नोत्तररूपाभ्यां मंत्रवाक्याभ्यां प्रतिपादयति। प्रणीतानामपां धाारक हे पात्र, त्वां कः पुरुषो युनक्ति आहवनीयस्योत्तरभागे स्थापयतीति प्रश्नः। तच्छब्दः प्रसिद्धार्थवाची। सर्वेषु वेदेषु जगन्निर्वाहकत्वेन प्रसिद्धो यः प्रजापतिरस्ति सः एव परमेश्वरः हे

पात्र, त्वां युनक्ति इत्युत्तरम्। पुनरपि कस्मै प्रयोजनाय त्वां युनक्ति इति प्रश्नः।। तस्मै प्रजापतये तत्प्रीत्यर्थं त्वा युनक्ति इत्युत्तरम्। सर्वकर्माणि परमेश्वरप्रीत्यर्थमनुष्ठेयानीति भगवद्गीतास्वर्जुनं प्रति भगवतोक्तम् 'सर्वकर्माण्यपि सदा' (18/56) 'ब्रह्मार्पणं' (4/24) इति च परिस्तीर्य द्वन्द्वशः पात्राण्यासाद्य शूर्पं चाग्निहोत्रहवणीं चादत्ते। 'कर्मणे हे अग्निहोत्रहवणि, हे शूर्प, वां युवां कर्मार्थमहमाददे इति शेषः। वेषाय च। 'विष्लृ व्याप्तौ'। घञ्। वेषो व्याप्तिः। सूचितकर्मसु व्याप्त्यर्थं च वां युवामहमाददे। शकटेऽवस्थितानां व्रीहीणां हविरर्थं पृथक्करणं प्रोक्षणार्थोदकधारणमित्यादयोऽग्निहोत्रहवणीव्यापाराः। व्रीहिनिर्वापधारणमुलूखले व्रीहिप्रक्षेपः पुनरुद्धरणं चेत्यादयः, शूर्पव्यापाराः।।6।।

सप्तमी

प्रत्युं॑ष्टꣳ रक्षः॒ प्रत्यु॑ष्टा॒ऽअरा॑तयो॒ निष्ट॑प्तꣳ रक्षो॒ निष्ट॑प्ता॒ऽअरा॑तयः। उ॒र्व॒न्तरि॑क्ष॒मन्वे॑मि ।।७।।

अन्वय : पात्रप्रतपनेन रक्षः प्रत्युष्टम्। अरातयः प्रत्युष्टा। रक्षोः निष्टप्तम् अरातयः निष्टप्ताः। (अहमध्वर्यु) उरु अन्तरिक्षम् अन्वेमि।

व्याख्या : शूर्प और अग्निहोत्रहवणी के तपाने से] राक्षस दग्ध (जल) हो गये। अदानशील (दान देने में अवरोध उत्पन्न करने वाले) या दान न देने वाले शत्रु आदि भी दग्ध हो गये। शूर्प आदि में छिपकर बैठे हुए राक्षस अच्छी तरह सन्तप्त हो गये। विघ्नकारी शत्रुगण भी पुरी तरह समाप्त हो गये। मैं विस्तृत अन्तरिक्ष का अनुसरण कर रहा हूँ। इसका तात्पर्य है कि प्रस्तुत प्रसंग में अध्वर्यु हविर्ग्रहण के लिए शकट पर आरोहण करता है। यही अन्तरिक्ष का अनुसरण अर्थात गमन है।

म० : 'प्रतपनं प्रत्युष्टं निष्टप्तमिति वा' (का० 2/3/11) इति। रक्षः राक्षसजातिः। प्रत्युष्टं प्रत्येकं दग्धम्। 'उष दाहे'। अनेनाग्निहोत्रहवणी-शूर्पयोः प्रतपनेनात्र स्थिता राक्षसा दग्धा इत्यर्थः। अरातयोऽपि प्रत्युष्टाः प्रत्येकं दग्धाः। 'रा दाने'। हविषो दक्षिणाया वा दानं रातिः। रातेः प्रतिबन्धका अरातयस्तेऽपि दग्धाः। अन्यथा न यज्ञसाधनमित्यर्थः। शूर्पादौ निगूढं रक्षो निष्टप्तं निःशेषेण तप्तं संतप्तम्। 'तप् संतापे'। अरातयश्च निष्टप्ताः। अनयोर्मन्त्रयोर्विकल्पः ।। 'गच्छत्युर्वन्तरिक्षम्' (का० 2/3/12) इति। उरु विस्तीर्णम्। अन्तरिक्षम् अवकाशम्। अन्वेमि अनुसृत्य गच्छामि।

गच्छतः पुरुषस्य पार्श्वयोरेव स्थितं रक्षोऽनेन मन्त्रेण निराक्रियत इत्याशयः ।।7।।

अष्टमी

धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं योऽस्मान्धूर्वति तं धूर्व यं वयं धूर्वामः। देवानामसि वह्नितमꣳ सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम् ।।८।।

अन्वय : (हे वह्ने!) (त्वं) धूः असि अतः धूर्वन्तं धूर्व। यः अस्मान् धूर्वति, तं धूर्व। यं वयं धूर्वामः तं धूर्व। (हे शकट) त्वं देवानां वह्नितमम् असि, सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम् असि।

व्याख्या : हे अग्नि! आप स्वाभाविक रूप से दहनशील है अतः हिंसा करने वाले शत्रुओं को नष्ट करें। जो हमारी हिंसा के लिए समुद्यत हैं। अर्थात् यज्ञ में विघ्न आदि करके यज्ञफल से वंचित करना चाहते हैं उन्हें आप नष्ट कर दें। हम जिन मानसिक आलस्यादि विघ्नों को नष्ट करना चाहते हैं उन्हें भी आप नष्ट कर हमें चैतन्य (सावधान) कर दें। हे शकट! तुम देवताओं के सम्बन्धी हो, अर्थात् तुम व्रीहिरुप हवि को देवताओं तक अच्छी तरह पहुँचा देते हो। अतः दंवहवि के वाहक हो। तुम अत्यन्त पवित्र धनधान्य से पूर्ण, देवताओं के अत्यन्त प्रिय एवं उनके आह्वाता हो। इस मन्त्र से बैलों के कन्धें पर रहनेवाले युग काष्ठ का स्पर्श किया जाता है, जिसमें अग्नि का निवास बताया गया है।

म० : 'श्रपणस्य पश्चादनस्तिष्ठति समङ्ग्गि धूरसीतिधुरभिमर्शनम्' (2/2/13/13) इति। अस्यायमर्थः। श्रपणस्य पुरोडाशपाकहेतोर्गार्हपत्यस्य पश्चादनः शकटं व्रीहियुक्तं तिष्ठति। तच्च समङ्ग्गि सम्यगङ्गानि यस्य तत्सर्वाङ्गोपेतं तस्य धुरं बलीवर्दवहनयोग्यं युगप्रदेशं धूरसीति मन्त्रेण स्पृशेदिति ।। अथ मन्त्रार्थः–व्रीहिरूपहविर्धारकशकटसंबन्धिनो युगस्य बलीवर्दवहनप्रदेशे कश्चिद्धिंसकोऽग्निः शास्त्रदृष्टोऽस्ति तं प्रार्थयते। 'अग्निर्वा एष धुर्यस्तमेतदत्येष्यन्भवति' (1/1/2/10) इति श्रुतेः। हे वह्ने, त्वं धूरसि–हिंसकोऽसि तुर्वीथुर्वी–दुर्वी धुर्वी हिंसार्था–ध्रुवते क्विप। यतो धूरति अतः धूर्वन्तं हिसन्तं पाप्मानंधूर्व विनाशय। किंच यः राक्षसादिर्यागविघ्नेन अस्मान् धूर्वति हिंसितुमुद्युक्तस्तमपि धूर्व विनाशय। यं च वयं धूर्वामः

तमपि धूर्व। यमालस्यादिरूपं वैरिणं वयमनुष्ठातारो धूर्वामो हिंसितुमुद्यतास्तमपि धूर्व विनाशय। शकटस्थिताग्र्यतिक्रमणनिमित्तमपराधामपह्नोतुमग्न्याधारभूता शकटस्य धूरनेन मन्त्रेण स्पृश्यते 'देवानामित्युपस्तम्भनस्य पश्चादीषाम्' (का० 2/3/14) इति। शकटस्य दीर्घकाष्टमीषा तदग्रस्य भूमिस्पर्शो मा भूदिति। तदाधारत्वनेन स्थापितं काष्टमुपस्तम्भनं तस्य पश्चाखागे तामीषां स्पृशेत्। देवानामसि। हे शकट, त्वं देवानां संबन्धि असि भवसि। किंभूतं वह्नितमम् 'वह प्रापणे'। वहतीति वह्नि अतिशयेन वह्नि, वह्नितमम्। व्रीहिरूपस्य हविषोऽतिशयेन प्रापकम्। तथा सस्नितमं 'ष्णा शौचे' अतिशयेन शुद्धम्। 'आदृगमहन–'(पा० 3/2/171) इत्यादिना किप्रत्ययः। यद्वा 'स्नै बेष्टने'। दाढ्र्याय चर्मादिभिरतिशयेन वेष्टितम्। पप्रितमम्। 'प्रा पूरणे' व्रीहिभिरतिशयेन पूरतिम्। जुष्टतमं। 'जुषी प्रीतिसेवनयोः'। देवानामतिशयेन प्रियं। जुष्टतमं 'जुषी प्रीतिसेवनयोः'। देवानामतिशयेन प्रियम्। देवहूतमम्। 'ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च' देवानामतिशये- नाह्वातृ। व्रीहिपूर्ण शकटं दृष्ट्वा देवा आहूता इव शीघ्रमागच्छन्ति ॥8॥

नवमी

अह्रुतमसि हविर्धानं दृꣳहस्व मा ह्वार्म्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत। विष्णुस्त्वाक्रमतामुरु व्वातायापहतꣳरक्षो यच्छन्तां पञ्च ॥९॥

अन्वय : (हे शकट) त्वम् अह्रुतम् अकुटिलम् असि। हविर्धानं दृंहस्व माह्वा ते यज्ञपतिः मा ह्वार्षीत्। विष्णुः त्वा क्रमताम्, वाताय उरु (भव) रक्षः अपहतम् पञ्च यच्छन्ताम्।

व्याख्या : हे शकट! तुम अकुटिल दृढ़ स्वभाव वाले हो, तुम हवि को धारण किये हुए हो, अतः तुम दृढ बनो कुटिल (टेढ़ा) न बनो। तुम्हारा यज्ञपति (यजमान) भी कुटिल न हो। यज्ञपुरुष विष्णु तुम्हारे उपर आरोहण करें। वायु संचरण के लिए तुम्हें विस्तृत करता हूँ। यज्ञ-विघातक तत्व दूर हो गये। हे पञ्चाङ्गुलियों! इस हवि को शूर्प में स्थापित करो।

म० : अह्रुतमसि। 'ह्वृ कौटिल्ये'। क्तप्रत्ययः। 'हुह्वरेश्छन्दसि' (पा० 7/2//31) इति निष्ठायां ह्रुआदेशः। अह्रुतम् अकुटिलम् असि। आरोहणेऽपि भङ्गभीतिर्नास्तीत्यर्थः। हविर्धानम्। 'डुधाञ् धारणपोषणयोः'। हविषो व्रीहिरूपस्य धारकं पोषकं भवसि। अतः दृंहस्व। मा ह्वार्मा ते

यज्ञपतिर्ह्वार्षीदिति पूर्ववद्याख्येयम्। 'विष्णुस्त्वेत्यारोहणम्' (का॰ 1/3/15) इति। हे शकट, विष्णुः व्यापको यज्ञः त्वां त्वां क्रमतां पादेनाक्रम्यारोहतु नाहं समर्थ इति भावः। 'प्रेक्षत उरु वातायेति हविष्यात्' (का॰ 1/3/16) इति। हे शकट, वाताय उरु भवेति शेषः। तदन्तर्वर्तिव्रीहिषु वायुसंचाराय विस्तीर्णो भव। शकटस्य व्रीहीणां तृणाद्याच्छादितत्वात्संकोचे वायुप्रवेशाभावा-दाच्छादनमपनीय यथा वायुः प्रविशति तथा संकोचं परित्यजेत्यर्थः। वायुरूपप्राणप्रवेशाद्धविः सप्राणं क्रियते मन्त्रेण। किंच वायुप्रवेशरहितं सर्वं वस्तु वरुणदेवत्यं भवति। वरुणश्च बन्धकारित्वाद्यज्ञनिरोधकस्तन्निवृत्त्यर्थमयं मन्त्रः। यद्वै किंच वातो नाभिभवति तत्सर्व वरुणदेवत्यमुरुवातायेत्याह वारुणमेवैतत्करोति' इति तित्तिरिवचनात् 'अपहतमिति निरस्यत्यन्यदविद्यमाने-ऽभिमृशेत् (का॰ 2/3/17-18) इति। व्रीहिभ्यो-न्यत्तृणादिकं यदि तत्र भवेत्तदनेन निरस्येत्। तृणाद्यभावे व्रीहीनभिमृशेदिति सूत्रार्थः। अथ मन्त्रार्थः-रक्षः यज्ञविघातकम्। अपहतं निराकृतं तृणादिकमेव रक्षउच्यते। 'यच्छन्तामि-त्यालभते' (का॰ 2/3/19) इति। पञ्च पञ्चसंख्याका अङ्गुलयो व्रीहिरूपं हविः यच्छन्तां नियच्छन्तु। अनेन पञ्चाङ्गुलियुक्तेनमुष्टिना व्रीहीन्गृह्णीयादित्यर्थ उक्तो भवति ॥9॥

दशमी

दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्। अ॒ग्नये॒ जुष्टं॑ङ्गृह्णाम्य॒ग्नीषोमा॒भ्यां॒ञ्जुष्टं॑ गृह्णामि ॥१०॥

अन्वय : (हे हवि) सवितुः देवस्य प्रसवे अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वा (त्वाम्) अग्नये जुष्टं गृहणामि, अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि।

व्याख्या : (हे हवि) सविता देवता की प्रेरणा से अश्विनी कुमारों की भुजाओं से, और पूषादेवता के हांथों से अग्निदेव एवं अग्नी षोम देवता के प्रिय तुम्हें ग्रहण करता हूँ। इस मन्त्र से देवता निर्देश पूर्वक चार मुट्ठी हवि (व्रीहि) ग्रहण किया जाता है।

म॰ : 'देवस्य त्वेति गृह्णात्याग्नेयं चतुरो मुष्टीनेवमग्नीषोमीयं यथादैवतमन्यत्' (का॰ 2/3/20-22) इति। हे हविः, सवितुर्देवस्य प्रसवे प्रेरणे सति तेन प्रेरितोऽहम् अग्नये जुष्टं प्रियं त्वां गृह्णामि। अग्नीषोमाभ्यां

व्यासक्तदेवताभ्यां च जुष्टं त्वां गृह्णाणि। काभ्याम्। अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां च। अंसमणिबन्धयोर्मध्यभागो दीर्घदण्डाकारो बाहुः। पञ्चाङ्गुलियुक्ता-ग्रभागो हस्तः। अश्विनौ हि देवानामध्वर्यू। पूषा हि देवानां भागधुक्। अतो ग्रहणसाधनयोः स्वबाह्वोरश्विबाहुभावना कार्या। हस्तयोस्तु पूषहस्तभावनेति भावः। सर्वात्मकस्यग्नेर्हविस्तादृशं मनुष्येण कथं ग्रहीतुं शक्यमिति सवित्रानु-ज्ञातोऽश्विबाहुभ्यां पूष्णों हस्ताभ्यां गृह्णामीत्यर्थः। किंच। 'सत्यं देवा अनृतं मनुष्याः' (1/1/2/17) इति श्रुतेः। देवानां सत्यरूपत्वात्तदनुस्मृतिपूर्वकं हविर्ग्रहणं फलपर्यवयासित्वात्सत्यं भवति। देवतास्मृत्यभावे तु मनुष्याणामनृत-रूपत्वात्तत्कृतमनुष्ठानं निष्फलत्वादनृतं भवतीति देवतास्मरणमित्यभिप्रायः। हविर्गृह्णन्तमध्वर्युं देवताः सेवन्तो मम नाम ग्रहीष्यतीति। अनामग्रहं हविषि गृहीते तासां मिथः कलहो भवेदिदं मदर्थमेव गृहीतमिति तत्कलहनिवृत्त्यर्थमग्नये जुष्टमग्नीषोमाभ्यां जुष्टमिति देवतानिर्देशपूर्वकं हविर्ग्रहणमित्यभिप्रायः ।।10।।

एकादशी

भूताय॑ त्वा॒ नारा॑तये॒ स्व॒रभि॒विख्ये॑षं॒ दृꣳह॑न्ता॒ं दुर्या॑ः पृथि॒व्या मुर्व॒न्तरि॑क्ष॒मन्वे॑मि पृथि॒व्यास्त्वा॒ नाभौ॑ साद॒याम्यदि॑त्याऽ उ॒पस्थेऽग्ने॑ ह॒व्यꣳर॑क्ष ।।११।।

अन्वय : (हे शकटावस्थित व्रीहिशेष!) भूताय त्वा (संपरिशेषयामि) न अरातये। स्वः अभिविख्येषम्। पृथिव्यां दुर्याः दृंहन्ताम्। उरु अन्तरिक्षम् अहं अन्वेमि। (हे हवि) पृथिव्या नाभौ त्वा (त्वां) सादयामि। अदित्याः उपस्थे (सादयामि)। हे अग्ने! हव्यं रक्ष।

व्याख्या : (हे शकट में अवशिष्ट व्रीहिशेष!) प्राणियों की तृप्ति के लिए तथा दूसरे यज्ञ में उपयोग के लिए तुम्हें बचाकर रख रहा हूँ, संचय करने के लिए नहीं। मैं यज्ञ को देख रहा हूँ, पृथ्वी पर वर्तमान जो गृह हैं (यज्ञशाला आदि) दृढ़ हो। अध्वर्यु इस मन्त्र का पाठ करके शकर से नीचे आता है। हे हवि पृथिवी की नाभि (मध्य) में तुम्हें स्थापित करता हूँ। जिस प्रकार सोते हुए बालक को माता अपने गोद में रखती है उसी तरह यह अदिति (पृथिवी) की गोद है। तुम पुत्र के समान स्थिर रहो। हे अग्नि! स्थापित इस हवि की रक्षा करो।

म॰ : 'भूताय त्वेति शेषाभिमर्शनम्' (का॰ 2/3/23) इति। हे

व्रीहिशेष शकटावस्थित, भूताय भवनाय यागान्तराणां ब्राह्मणभोजनस्य च पुनरपि सखावाय त्वा त्वां संपरिशेषयामीति शेषः। न अरातये अदानाय शेषयामि। 'स्वरिति प्राङीक्षते' (का॰ 2/3/24) इति। अहं स्वः अभिविख्येषं यज्ञं पश्येयम्। 'यज्ञो वै स्वरहर्देवाः सूर्यः' (1/1/2/23) इति श्रुतेः। यज्ञदिवसदेवसूर्याः स्वःशब्देनोच्यन्ते। स्वर्गहेतुत्वादपि स्वःशब्देन यज्ञः। 'ख्या प्रकथने'। अभिविख्येषम् अभितो विशेषेण ख्यापयेयं पश्येयमित्यर्थः। अनेन मन्त्रेण प्राङ्मुखो यज्ञभूमिं वीक्षते ।। 'दृꣳहन्तामित्यवरोहति' (का॰ 2/3/25) इति। पृथिव्यां वर्तमानाः। दुर्या गृहाः। दृꣳहन्ता दृढा भवन्तु। अनेन मन्त्रेण शकटादवरोहयेत्। दुरो द्वाराण्यर्हन्तीति दुर्या गृहाः। हविर्गृहीत्वोत्तरतोऽध्वर्योर्भारेण गृहक्षोभः संभाव्यते सोऽनेन मन्त्रेण वार्यते। 'गच्छत्युर्वन्तरिक्षम्' (का॰ 2/3/26) इति। व्याख्यातम्। 'श्रपणस्य पश्चात्सादयति पृथिव्यास्त्वा' (का॰ 2/3/27) इति। हे हविः, पृथिव्या नाभौ मध्ये त्वां सादयामि स्थापयामि। तस्यैव व्याख्यानं अदित्या उपस्थ इति उपस्थेऽङ्के। यथा सुप्तं बालं पुत्रं माता स्वाङ्के स्थापयति एवमिदं हविः अदित्या उपस्थे भूम्या अङ्के सादयामि। हे अग्ने, तव समीपे स्थापितमिदं हव्यं त्वं रक्ष। सुप्तं पुत्रमिव बाधकेभ्यः पालय ।।11।।

द्वादशी

पवित्रे॑ स्थो वैष्ण॒व्यौ॑ सवि॒तुर्वः॑ प्रस॒वऽउत्पु॑ना॒म्यच्छि॑द्रेण प॒वित्रे॑ण॒ सूर्य॑स्य र॒श्मिभिः॑। देवी॑रापोऽअग्रेगुवोऽअग्रेपुवोऽग्र॑ इ॒मम॒द्य य॒ज्ञं न॑य॒ताग्रे॑ य॒ज्ञप॑तिꣳसु॒धातुं॑ य॒ज्ञप॑तिन्देव॒युव॑म् ।।१२।।

अन्वय : हे पवित्रे (कुशद्वयरुपे) (युवाम्) वैष्णव्यौ स्थ, सवितुः प्रसवे अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः व उत्पुनामि। हे देवीः यूयम् आपः अग्रेगुवः अग्रेपुवः अद्य इमं यज्ञं अग्रे नयत। सुधातुं देवयुवं यज्ञपतिमग्रे नयत।

व्याख्या : हे दोकुशपवित्र! तुम यज्ञीय हो। तुम्हारा यज्ञ से सम्बन्ध है। हे दिव्य जल! सविता देवता की प्रेरणा से छिद्ररहित पवित्र से, तथा रविकिरणों के द्वारा मैं तुम्हें (पवित्र करता हूँ)। हे प्रकाशात्मक दिव्य जल! सर्वप्रथम तुम पृथिवी पर प्रवाहित होने वाले एवं सर्वप्रथम यज्ञीय संभारों को पवित्र करने वाले हो। अतः आज आरम्भ किये जाने

वाले इस यज्ञ को निर्विघ्न सम्पन्न करो। यज्ञपति (यजमान) को फलोपभोग के लिए प्रेरित करो। यह यजमान दक्षिणा देने वाला तथा देवताओं को हविर्भाग देने वाला है। अर्थात दक्षिणादि से यज्ञ को पुष्ट करने वाला तथा देवत्व को प्राप्त करने वाला है।

म० : कुशौ समावप्रशीर्णाग्रावनन्तर्गर्भौ कुशैश्छिनत्ति 'पवित्रे स्थ इति त्रीन्वा' (का० 2/3/32) इति। वैष्णेवे इति प्राप्ते वैष्णव्यविति लिंगव्यत्यय: 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० 3/1/85) इति स्त्रीत्वम्। हे पवित्रे शोधके कुशद्वयरूपे, युवां वैष्णव्यौ यागसंबन्धिनी स्थ: भवथ:। 'यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञिये स्थ:' (1/1/3/1) इति श्रुते:। हविर्ग्रहण्यामप: कृत्वा ताभ्यामुत्पुनाति 'सवितुर्व इति' (का० 2/3/33) इति। सवितु: प्रेरकस्य प्रसवे प्रेरणे सति हे आप:, व: युष्मान् उत्पुनामि उत्कर्षेण शोधयामि। केन अच्छिद्रेण छिद्रहीनेन पवित्रेण शोधकेन वायुरुपेण। 'यो वा अयं पवत एषोऽच्छिद्रं पवित्रम्' (1/1/3/6) इति श्रुते:। सूर्यस्य रश्मिभि: शुद्धिहेतुभिरुत्पुनामीति संबन्ध:। वायो: सूर्यरश्मीनां च पादप्रक्षालनाद्युपहत-भूमिशुद्धिहेतुत्वं प्रसिद्धम्। 'सव्ये कृत्वा दक्षिणेनोदिङ्गयति देवीराप:' (का० 2/3/35) इति। उत्पूताभिरखि: पूरितामग्निहोत्रहवणीं सब्यहस्ते स्थापयित्वा मन्त्रमुच्चारयन् दक्षिणहस्तेनोर्ध्व चालयेदिति सूत्रार्थ:। मन्त्रार्थस्तु–हे देवी: आप: द्योतनात्मिका आप:, यूयम् अद्य अस्मिन्दिने इमम् इदानीं प्रवर्तमानं यज्ञम् अग्रे नयत पुरत: प्रवर्तयत निर्विघ्नं समापयत। किंभूता आप:। अग्रेगुव: अग्रे गच्छन्ति इत्यग्रेगुव: पुरतो निम्नदेशं प्रति गमनशीला:। तथा अग्रेपुव: अग्रे पुनन्तीत्यग्रेपुव:। अग्रे यस्मिनपूर्वभागे गच्छन्ति तस्मिन्नपहतिनिवारणेन शोधनशीला:। यद्वा। अग्रे पिबन्तीत्यग्रेपुव:। प्रथमं सोमरसस्यपानकर्त्र्य:। गमे: क्विप्प्रत्यये 'गम:क्वौ' (पा० 6/4/40) इत्यनुनासिकलोपे पुनाते: पिवतेर्वा क्वौ 'ऊङ् च गमादीनाम्' (क० 6/4/40 वा० 2) इत्यूकार:। किंच यज्ञपतिं यजमानमग्रे नयतेत्युनवर्तते। फलभोगाय प्रेरयत। कथंभूतम्। सुधातुम् सुष्ठु दक्षिणादिना दधाति यज्ञं पुष्णातीति सुधातुस्तं यज्ञस्यपतिं पालयितारम्। एको यज्ञपतिशब्दो योगेन व्याख्येय एको रूढ्या। तथा देवयुवम्। 'यु मिश्रणे'। देवान् यौति यज्ञादिना मिश्रीकरोति देवयुस्तम्। क्विप्। 'अनित्यमागमशासनम्' इति तुगभाव:। यद्वा देवान्कामयते इति देवयुस्तम्। 'इदंयुरिदंकामयमान' ' (निरु० 6/31)

इति यास्कोक्तेः। 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा 3/1/8) इति क्यच् 'क्यचि च' (7/4/33) इतीत्वे प्राप्ते 'न छन्दस्यपुत्रस्य' (पा० 7/4/35) इतीत्वाभावः। 'अश्वाघस्यात् (पा० 7/4/37) इति अश्वाघयोरेवात्वविधानात् 'अकृत्वार्व-धातुकयोः' (पा० 7/4/25) इति प्राप्तो दीर्घो न भवति। ततः 'क्याच्छन्दसि' (पा० 3/2/170) इति उप्रत्ययः। देवयुशब्दस्यामि परे 'अमि पूर्वः' (पा० 6/1/106) इति कविकल्पेन 'तन्वादीनां वा इयङ्डुचङौ (पा० क० 6/4/68 वा० 1) इत्युवङ् ।।12।।

त्रयोदशी

युष्माऽइन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्ये यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्ये प्रोक्षिता स्थ। अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षाम्यग्नीषोमाभ्यां त्वाजुष्टं प्रोक्षामि। दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि ।।१३।।

अन्वय : (हे आपः) इन्द्रः वृत्रतूर्ये युष्मा (युष्मान्) अवृणीत्, यूयं वृत्रतूर्ये इन्द्रम् अवृणीध्वम्। यूयं प्रोक्षिताः स्थ, अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं त्वा अग्नये प्रोक्षामि। हे यज्ञपात्राणि! दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं, (शुद्धानि भवत)देवयज्यायै वः यदशुद्धाः प राजघ्नुः वः इदं तत् शुन्धामि। प्रोक्षणेन शुद्धं करोतीत्यर्थः।

व्याख्या : हे जल! इन्द्र ने वृत्र के साथ होने वाले संग्राम में तुम्हें वरण किया था और तुम भी उस संग्राम में इन्द्र को वरण कर चुके हो। हे जल! तुम प्रोक्षित हो गये हो। अग्नि एवं सोम देवता के प्रिय तुम्हें यज्ञ के लिए पवित्र करता हूँ। हे यज्ञपात्र! देवकार्य सम्पादन हेतु तुम शुद्ध हो जाओ। देवयजन के लिए तुम्हें उपयोगी बनाता हूँ। छेदन तक्षणादि के समय जो स्पर्शजन्य अशुचिता आ गई तुम्हारे अंगों में, उनको प्रोक्षण के द्वारा शुद्ध करता हूँ।

म० : हे आपः, इन्द्रः देवः वृत्रतूर्ये। तूर्यतिर्वधकर्मा। वृत्रवधे निमित्तभूते सति युष्माः युष्मान् अवृणीत। आकारश्छान्दसः। सहकारित्वेन प्रार्थितवान्। यूयम् अपि वृत्रतूर्ये निमित्ते तम् इन्द्रं अवृणीध्वं वृतवत्यः सहकारित्वेन। 'प्रोक्षिताः स्थेति तासां प्रोक्षणम्' (का० 2/3/36) इति। हे आपः, यूयं प्रोक्षिताः भवथ। असंस्कृता अन्यसंस्कारक्षमा न भवन्तीति

'हविश्चाग्नये त्वाग्नीषोमाभ्यां त्वेति यथादैवतमन्यत्' (का० 2/3/37/38) इति। अन्यदपि हविस्तंद्देवतोच्चारेण प्रोक्षणीयम्। अग्नये त्वां जुष्टं प्रोक्षामि अग्नीषोमाभ्यां त्वां जुष्टं प्रोक्षामि (का० 2/3/39) पात्राणि दैव्यायेति। कृष्णाजिनोलूखलादीनि पात्राणि प्रोक्षयेत्। हे यज्ञपात्राणि, यूयं शुन्धध्वम् शुद्धानि भवत। किमर्थम्। दैव्याय कर्मणे अग्न्यादिदेवतासंबन्धिने कर्मणे। तदेव कर्म विशिष्यते। देवयज्यायै देवसंबन्धिन्यै यागक्रियायै दर्शादिकायै। किंच। अशुद्धाः नीचजातयस्तक्षादयः वः युष्माकं संबन्धि यदङ्गं पराजघ्नुः पराहतं कृतवन्तः। छेदनतक्षणादिकाले स्वकीयहस्तस्पर्शरूपमशुचित्वं चक्रुः। तदिदं वः युष्माकमङ्गं शुन्धामि प्रोक्षणेन शुद्धं करोमि ॥13॥

चतुर्दशी

शर्मा॒स्यवं॑धूत॒ꣳ रक्षोऽवं॑धूता॒ऽअरा॑त॒योऽदि॑त्या॒स्त्वग॑सि॒ प्रति॒ त्वादि॑तिर्वे॑त्तु। अद्रि॑रसि वानस्प॒त्यो ग्रावा॑सि पृ॒थुबु॑ध्न॒ः प्रति॒ त्वादि॑त्या॒स्त्वग्वे॑त्तु ॥१४॥

अन्वय : हे कृष्णाजिन। त्वं शर्म असि। रक्षः अवधूतम्, अरातयः अवधूताः। त्वम् अदित्याः त्वगसि, अदितिः त्वां प्रतिवेत्तु। हे उलूखल। त्वं वानस्पत्यः तथापि अद्रिरसि ग्रावा असि, पृथुबुध्नः असि। अदित्याः त्वक् त्वां प्रतिवेत्तु।

व्याख्या : हे कृष्णजिन! तुम (उलूखल के धारणार्थ) सुख रूप हो। कृंष्णजिन में छिपें हुए राक्षस भी (झाड़ने से) भूमि पर गिरा दिये गये। शत्रुगण भी पराभूत हुए। हे कृष्णाजिन! तुम आदितिरूप भूमि-देवता के त्वक् हो। अतः अदिति भी तुम्हें अपना स्वीकार करें। हे उलूखल! यद्यपि तुम वनस्पतिनिर्मितं, स्थूलमूलभाग वाले हो, तथापि तुम पाषाण के समान दृढ़ हो। अदिति की त्वचारूप (कृष्णाजिन) तुम्हें, अदिति अपना समझे।

म० : 'शर्मासीति कृष्णाजिनादानम् (का० 2/4/1) इति। हे कृष्णाजिन, त्वमुलूखलस्य धारणार्थं शर्म सुखेहतुरसि। अजिनस्य चर्मेति मानुषं नाम शर्मेति दैवं नाम। 'अपेत्य दात्रेभ्योऽवधूनोत्यवधूतमिति' (का० 2/4/2) इति। रक्षः कृष्णाजिने गूढम् अवधूतम्। कृष्णाजिनकम्पनेन भूमौ पातितम्। एवमरातयोऽपि पातिताः। 'प्रत्यग्रीवमास्तृणात्यदित्वास्त्वगिति' (का०

2/4/3) इति। हे कृष्णाजिन, त्वम् आदित्याः भूमिदवतायास्त्वग्रूपम् असि। ततोऽदितिर्भूमिस्त्वा त्वां प्रतिवेत्तु प्रतिगृह्या मदीयेयं त्वगिति वेत्तु जानातु। पुरा यज्ञो देवेषु रुष्टः कृष्णमृगो भूत्वागमत्तदा देवा ज्ञात्वा तदीयां त्वचमुत्कृत्य जगृहुस्तस्माच्चर्मास्तरणमित्याभिप्रायः श्रुतावाम्रातः (1/1/4/1)। 'सव्याशून्ये निदधात्युलूखलमद्रिरसि ग्रावासीति वा प्रति त्वेत्युभयोः' (का॰ 2/4/4-5) इति। विकल्पितयोर्मन्त्रयोः प्रति त्वेति शेषो योजनीयः। हे उलूखल। त्वं यद्यपि वानस्पत्यः दारुमयस्तथापि दृढत्वात् अद्रिरसि पाषाणोऽसि। किंभूतः। पृथुबुघ्नः स्थूलमूलः। मुसलघातोपद्रवेण चाञ्चल्यराहित्याय मूलस्थूलत्वम्। हे उलूखल, तथाविधस्त्वं ग्रावासि दाढ्र्येन पाषाणसदृशोऽसि। अदित्यास्त्वक् अधस्तादास्तीर्णा कृष्णाजिनरूपभूमेर्या त्वगस्ति सा त्वां प्रति वेत्तु स्वकीयत्वेन जानातु ॥14॥

पञ्चदशी

अ॒ग्नेस्त॒नूर॑सि वा॒चो वि॒सर्ज॑नं दे॒ववी॑तये त्वा गृह्णामि बृ॒हद्ग्रा॑वासि वानस्प॒त्यः स इ॒दं दे॒वेभ्यो॑ ह॒विः श॑मीष्व सु॒शमि॒ शमी॑ष्व। ह॒वि॑ष्कृ॒देहि॒ ह॒वि॑ष्कृ॒देहि॑ ॥१५॥

अन्वय : हे हवि! त्वम् अग्नेःतनूरसि। वाचः विसर्जनं देववीतये त्वा (त्वाम्) गृह्णामि। हे मुसल! बृहद्ग्रावा वानस्पत्यः असि स देवेभ्यः इदं हविः शमीष्व सुशमि शमीष्व। हविष्कृद् एहि-2

व्याख्या : हे हवि तुम आहवनीय अग्नि के शरीर हो। यजमान के मौन व्रत को समाप्त कराने वाली हो। वाणी के विसर्जन स्थान हो। अपांप्रणयन के समय यजमान के द्वारा नियन्त्रित वाणी का हविरावपन के समय विसर्ग होता है। देवताओं की तृप्ति के लिए तुम्हें उलूखल में डाल रहा हूँ। हे मुसल! यद्यपि तुम काष्ठ से निर्मित हो तथापि दृढ़ता के कारण महान हो, देवकार्य के लिए तुम्हें ग्रहण करता हूँ, तुम इस हर्विर्द्रव्य के तुष (छिलका) आदि को दूर कर दो। यहाँ फलीकरण (सूप से पछोरने) के रूप में तण्डुल के संस्कार का प्रसंग है। हे हविर्द्रव्य का निर्माण करने वाले! इधर आओ।

म॰ : 'हविरावपत्येग्नेस्तनूरसीति' (का॰ 2/4/6) हे हविः, त्वं अग्नेः आहवनीयस्य तनूः शरीरमसि। यतस्तत्र क्षिप्तं हविरग्नीभवति अतो

हविः अग्नेस्तनूः। किंभूतं हविः। वाचो विसर्जनम्। अपां प्रणयनकाले नियमिताया यजमानवाचो हरिरावपनकाले विसर्गो भवति। तस्मादिदं हविर्वाचो विसर्जनम्। अतः देववीतये देवानां तर्पणाय। त्वा त्वां। गृह्णामि आवपामीत्यर्थः। 'बृहद्ग्रावेति मुसलमादत्ते' (का० 2/4/11) इति। हे मुसल, त्वं यद्यपि वानस्पत्यः दारुमयस्तथापि ग्रावासि दार्ढ्येन पाषाणसदृशोऽसि। तथा दीर्घत्वेन बृहन्महासि। 'स इदमित्यवदधाति' (का० 2/4/12) इति। हे मुसल, त्वं देवेभ्यः अग्न्यादिदेवोपकारार्थम्। इदं हविर्व्रीहिरूपं शमीष्व शमय। भक्षणविरोधितुषापनयनेन शान्तं कुरु। तस्यैव पदस्य व्याख्यानम्। सुशमि शमीष्व सुष्टु शान्तं यथा भवति तथा शमीष्व शमय। 'शमु उपशमे' व्यत्ययेन शपो लुक्। 'तुरुस्तशम्यमः सार्वधकुते' (पा० 7/3/95) इति ईडागमः। शान्तिर्द्विविध ा। बाह्यतुषापनयनादाद्या। सा प्रथमावघातेन स्यात्। अन्तःस्थित' मालिन्यस्यापनयनादन्या। सा फलीकरणेन भवति। तं द्विविधं तण्डुलसंस्कारं कुर्वित्यर्थः। 'हविष्कृदेहीति त्रिराह्वयति' (का० 2/4/13) इति यजमानः पत्नी वान्यो वा यो व्रीहीनवहन्ति स संबोध्याहूयते। हे हविष्कृत् हविः करोतीति हविष्कृत। एहि अत्रागच्छ त्रिवारमुक्तमर्थ देवा मन्यन्त इति त्रिराह्वानम् ।।15।।

षोडशी

कुक्कुटोऽसि मधुजिह्व इषमूर्जमावद त्वया वयꣳ संघातꣳसंघातं जेष्म वर्षवृद्धमसि प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्तु परापूतꣳ रक्षः परापूताऽ अरातयो पहतꣳ रक्षो वायुर्वो विविनक्तु देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना ।।१६।।

अन्वय : (हे शम्यारुपयज्ञायुधविशेष!) (त्वं) कुक्कुटः असि, देवानां मधुजिह्व (असि)। इषम् ऊर्जमा आवद। त्वया वयं संघातं संघातं जेष्म्। हे शूर्प! त्वं वर्षवृद्धमसि वर्षवृद्धं त्वां प्रतिवेत्तु। रक्षः परापूतम् अरातयः परापूता, रक्षः अपहतम्। वायुः वः विनिनक्तु। हिरण्यपाणिः सविता देवः व अच्छिेद्रेण पाणिना प्रतिगृभ्णातु।

व्याख्या : (हे शम्यारुपयज्ञायुध विशेष!) तुम असुरों को भय प्रदानकरने वाले तथा कुक्कुट पक्षी के समान तीव्र-शब्द करने वाले तथा देवताओं के लिए मधुरभाषी हो। तुम अन्न और बल प्रदान करने वाला

शब्द करो। हम तुम्हारी सहायता से ही राक्षसों के साथ युद्ध में विजय प्राप्त करेंगे। (हे शूर्प) तुम वर्षा के जल से वृद्धि को प्राप्त होने वाले तिनकों से निर्मित हो। हे हवि! (धान्य) वर्षा से बढ़ने वाले तुमको यह शूर्प अपना जाने। शूर्प द्वारा तुष=भूसी (धान की) के निकलजाने पर मानो शत्रु दूर किये गये। विघातक तत्व दूर हो गये! हे तण्डुलों! वायु तुम्हें तुषों से पृथक करे। सुवर्णालंकृतपाणियुक्त सवितादेवता तुम्हें अच्छिद्र हाथों से ग्रहण करे।

आग्नीध्र यहाँ शम्या (जो यज्ञपात्र है), उससे दो बार सिल पर और एक बार लोढ़े पर प्रहार करता हे। इसे हविनिर्माण के समय सिल के नीचे रखा जाता है।

म० : 'आहन्त्यन्तो दृषदुपले कुक्कुटोऽसीति त्रिः शम्यया द्विर्दृषदं सकृदुपलम्' (का० 2/4/15) इति। हे शम्यारूप यज्ञायुधविशेष, त्वं कुक्कुटोऽसि असुराणां। मधुजिह्वः चासि देवानाम्। असुराः क्व क्वेति तान्हन्तुमिच्छन्योऽटति सर्वत्र संचरति स कुक्कुटः। यद्वा कुकं कुत्सित्तशब्दं कुटति तनोतीति कुक्कुटः। यद्वा कुक्कुटाख्यपक्षिवद्ध्वनिविशेषमसुरभीत्यर्थ तनोतीति कुक्कुट इत्युपचर्यते। मधुजिह्वकनामा कश्चिद्देवानां भृत्यः। मधुमंधुरभाषिणी जिह्वा यस्य तद्रूप हे यज्ञायुध, त्वंसुरान्पराभवन्यजमानस्य इषमूर्जं चावद। अन्नं रसं च यथा समागच्छति तथा शब्दं कुरु। तव शब्देनासुरेषु पराभूतेषु तदीयमन्नं रसं च यजमानः प्राप्नोति। ततः त्वया कृत्वा वयं सङ्घातं सङ्घातं जेष्म असुरैः सह क्रियमाणं तं तं संग्रामं जेष्म जयेम। कदाचिदपि पराजयोऽस्माकं मास्त्वित्यर्थः। सम्यक् हन्यन्ते असुरा यत्रेति सङ्घातो युद्धम्। मनो राज्ञ एको वृषभ आसीत्तस्मिन्नसुरघ्नी वाक् स्थिता तस्मिन् शब्दं कुर्वति तं श्रुत्वैवासुरा म्रियन्ते। ततः किलाताकुलीना-मानावसुरयाजकौ मनुं गत्वा तेनैव ऋषभेणायाजयतामृषभ हते सा वाङमनोर्जायां प्रविष्टा। तौ पुनस्तयापि मनुमयाजयताम्। ततः सा वाग्यज्ञपात्राणि प्रविष्टेत्यसुरपराभवाय तद्वाक्प्रकटनार्थं शम्यया दृषदुपलहननमिति श्रुत्योक्तोऽ-भिप्रायः (1/1/4/14)। 'वर्षवृद्धमसीति शूर्पमादत्ते' (का० 2/4/16) इति। हे शूर्प, त्वं वर्षवृद्धमसि वर्षेण वृष्टया तखूतजलेन वृद्धं वर्षवृद्धम्। वर्षवृद्धवेणुशलाकानिर्मितत्वात् शूर्पस्य वर्षवृद्धत्वम्। 'प्रति त्वेति हविरुद्वपति' (का० 2/4/17) इति। हे हविः, वर्षवृद्धं शूर्पं त्वा त्वां प्रतिवेत्तु स्वकीयत्वेन

जानातु। ब्रीहिशूर्पयोर्वर्षवृद्धत्वाख्यातृत्वम्। 'परापूतमिति निष्पुनाति' (का॰ 2/4/18) इति। रक्षः परापूतं निराकृतम्। शूर्पेण तुषेषु परापूतेषु तद्गतं रक्षोऽपि तैः सह भूमौ पातितम्। अरातयः हविःप्रतिकूलाः आलस्यादिशत्रवश्च परापूता निराकृताः। 'अपहतमिति तुषान्निरस्यति' (का॰ 2/4/19) इति। रक्षः अपहतं दूरेऽपनीय मारितम्। भूमौ पतितान्दूरे निःसारयेत् 'वायुर्व इति विविनक्ति' (का॰ 2/4/20) इति। हे तण्डुलाः, वायुः शूर्पचालनोत्थः वः युष्मान् विविनक्तु सूक्ष्मकणेभ्यः पृथक्करोतु। 'देवो व इति पात्र्यामोप्या-भिमन्त्रयते' (का॰ 2/4/21) इति। हे तण्डुलाः, सविता देवः वः युष्मान् अच्छिद्रेण पाणिना अङ्गुलिविश्लेषहीनेन स्वहस्तेन प्रतिगृभ्णातु स्वीकरोतु। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा॰ 8/2/32) इतिहस्य भः। पात्रीप्रक्षेपसमये भूमौ पतनं मा भूदिति सवितुर्ग्रहणं प्रार्थ्यते। किंभूतः सविता। हिरण्यपाणिः हिरण्ययुक्तावङ्गुलीयाद्याभरणयुक्तौ पाणी यस्य स हिरण्यपाणिः। यद्वा दैत्यैः प्राशित्रप्रहारेण छिन्नौ सवितुः पाणी देवैर्हिरण्यमयौ कृताविति सवितुर्हि-रण्यपाणित्वमिति बहुवृचश्रुतौ कथा ॥16॥

सप्तदशी

धृष्टि॑र॒स्यपा॑ग्नेऽअ॒ग्निमा॒मादं॑ जहि॒ निष्क्र॒व्यादं॑ᳬ से॒धा दे॑व॒यजं॑ वह। ध्रु॒वम॑सि पृथि॒वीन्दृं॑ᳬह ब्रह्म॒वनि॑ त्वा क्षत्र॒वनि॑ सजात॒वन्युप॑दधामि॒ भ्रातृ॑व्यस्य व॒धाय॑ ॥१७॥

अन्वय : (हे उपवेष!) (त्वं) धृष्टिः असि। हे अग्ने! (गार्हपत्य) आमादम् अग्निम्, अपजहि, क्रव्यादम् अपसेध, देवयज्ञम् आवह। हे कपाल! त्वं ध्रुवमसि पृथिवीं दृंह, ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि त्वा भ्रातृव्यस्य वधाय उपदधामि।

व्याख्या : हे उपवेष, (यह पलाश शाखा निर्मित यज्ञीयपात्र है, जो हाथ के आकार का होता है। इसका प्रयोग आहिताग्नि खर के अग्नि को इधर उधर हटाने में करता है।) तुम अंगारों को इधर उधर चलाने में प्रगल्भ (अत्यन्त समर्थ हो) हो। हे गार्हपत्य अग्नि! कच्चे अन्नों (पदार्थों) को पकाने वाली लौकिक आमाद अग्नि को दूर करो। इसी प्रकार मृत शरीर के माँस को जलानेवाली (क्रव्यादग्नि) को भी दूर करो तथा (देवयाट) देवताओं के निमित्त यागयोग्य दिव्याग्नि का आवाहन

करों। हे कपाल! (जिस पर पुरोडाश का पाक होता है, ये मिट्टी के बने दो अंगुल ऊँचे अश्वशफ के समान वृत्ताकार होते हैं) तुम स्थिर रहो पृथिवी को दृढ़ रखो। ब्राह्मण, क्षत्रिय और सजातीय जनों से पूजित तुमको अंगारों पर रख रहा हूँ। जिससे मेरे पापादि नष्ट हो। यहाँ कपालोपधान की विधि प्रस्तुत है।

म॰ : 'मूलतः शाखां परिवास्योपवेषं करोतीति। धृष्टिरसीत्युपवेषमादायेति च' (का॰ 2/4/25)। पलाशशाखाया मूलदेशे छिन्नः काष्ठभाग उपवेषस्तमादत्ते। हे उपवेष, त्वम् धृष्टिरसि प्रगल्भोऽसि। 'ञिधृषा प्रागल्भ्ये'। तीव्राङ्गारान्प्राचः करोति' (का॰ 2/4/26)। इति तत्र त्रयोऽग्नयः सन्ति। एकः आमात् आममपक्वमत्तीत्यामाल्लौकिकोऽग्निः। द्वितीयः क्रव्यात् शवदाहे क्रव्यं मांसमत्तीति क्रव्यात् चिताग्निः। तृतीयो यागयोग्यः। तथाविधंस्त्रीनङ्गरान्गार्हपत्यात्प्राग्भागे पृथक्कृत्य तेषा मध्ये यागयोग्यताहीनौ द्वावग्नी आमात्क्रव्यात्संज्ञौ तौ वारयितुं गार्हपत्यं प्रत्युच्यते। हे अग्ने हे गार्हपत्य, आमादमग्निम् अपजहि परित्यज। 'व्यवहिताश्च' (1/4/82) इति। हे गार्हपत्य, देवयजं देवानां यागयोग्यं तृतीयमङ्गारम् आवह समीपमानय। देवा इज्यन्ते यस्मिन्नसौ देवयाट् तं देवयजम्। 'कपालेनावच्छादयति ध्रुवमसि' (का॰ 4/2/27) इति। देवयजमङ्गारं कपालेनाच्छादयेत्। हे कपाल, त्वं ध्रुवमसि स्थिरं भवति। अङ्गारोपरि वर्तमानमपि इतस्ततो न पतसि। पृथिवीं भूमिं दृंह दृढीकुरु। पुरोडाशपाकसमये त्वत्कृतव्यवधानेन। भूमेर्दाहकृतं शैथिल्यं न भविष्यतीत्यर्थः। किंच त्वाम् उपदधामि अङ्गारे स्थापयामि। किमर्थं। भ्रातृव्यस्य शत्रोरसुरस्य पाप्मनो वा वधाय हिंसार्थम्। 'व्यन्त्सपत्ने((पा॰ 4/1/145) इत्याद्युदात्तत्वाद्भ्रातृव्यशब्दः शत्रुवाची। किंभूतं त्वां। ब्रह्मवनि। 'वनषण् संभक्तौ ब्रह्मवनि। तथा क्षत्रवनि सजातवनीति पदद्वयं योज्यम्। सजाताः समानकुले जाताः यजमानस्य ज्ञातयस्तैर्वन्यते इति ।।17।।

अष्टादशी

अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व धरुणमस्यन्तरिक्षं दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय। धर्त्रमसि दिवं दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय।

विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्यऽउपदधामि चितं स्थोर्ध्वचितो भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम् ।।१८।।

अन्वय : हे अग्ने! त्वं ब्रह्म गृभ्णीष्व। हे द्वितीय कपाल, त्वं धरुणमसि, अन्तरिक्षं दृंह, ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि त्वा उपदधामि, भ्रातृव्यस्य वधाय। (हे तृतीय कपाल) धर्त्रमसि दिवं दृंह ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि त्वा उपदधामि। (हे चतुर्थ कपाल) विश्वाभ्य आशाभ्यः त्वा उपदधामि, यूयं चितः स्थ। हे कपालानि भृगूणाम् अंगिरसाम् तपसा तप्यध्वम्। तप्तानि भवेत।

व्याख्या : हे अग्ने! हमारे द्वारा अनुष्ठित उत्तमकर्म को तुम स्वीकार करो। हे द्वितीय कपाल! तुम पुरोडाश को धारण करने वाले हो अतः अन्तरिक्ष को दृढ़ करो। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं सजातीय वैश्य (यजमानकुलोत्पन्नपुरुषों) से पूजित, तुमको अंगार पर स्थापित करता हूँ शत्रु का वध करने के लिए। हे तृतीय कपाल! तुम पुरोडाश के धारक हो, द्युलोक को दृढ़ करो, ब्राह्मण क्षत्रिय एवं सजातीय वैश्य से पूजित तुमको अंगार पर शत्रुवध के लिए स्थापित करता हूँ। हे चतुर्थ कपाल! सम्पूर्ण दिशाओं को दृढ़ करने के लिए तुम्हें स्थापित करता हूँ। हे कपालों तुम लोग चयन किये गये हो, भृगु एवं अंगिरसवंशी ऋषियों के तप से सन्तप्त हो जाओ।

म॰ : 'सव्याङ्गुल्या शून्येऽङ्गारं निदधात्यग्ने ब्रह्मेति' (का॰ 2/4/30) इति। हे अग्ने, निधीयमानाङ्गाररूपं ब्रह्म प्रौढ़ कर्मास्माभिः क्रियमाणं गृभ्णीष्व गृह्णीष्व। नाशकरक्षोवधेनानुगृह्णीष्व। यद्वा ब्रह्म ब्राह्मणं मामनुगृह्णीष्व। अङ्गुलिदानासक्तं मा दृंहेत्यर्थः। 'धरुणमिति पश्चात्' (का॰ 2/4/31) इति पूर्वस्थापितकपालस्य पश्चाखागे द्वितीयं निदधाति। हे द्वितीय कपाल, त्वं धरुणं पुरोडाशस्य धारकम् असि। अतोऽन्तरिक्षं दृंह दृढीकुरु। पुरोडाशपाकोत्पन्नज्वालयान्तरिक्षलोकोपद्रवो यथा न स्यात्तथा कुरु। यद्यप्येतत् कपालं ज्वालान्तरिक्षयोर्मध्ये व्यवधायक्तं नास्ति तथाप्यन्तरिक्षदाढर्याय कपालदेवता प्राथ्र्यते। ब्रह्मवनीत्यादि पूर्ववत्। :पुरस्ताद्धर्त्रीभिति' (का॰ 2/4/32) इति। प्रथमस्य पूर्वभागे तृतीयं स्थापयेत्। हे कपाल, त्वं धर्त्र धारकम् असि। दिवं दृंह। ज्वालाग्रेण दाहाभावो द्युलोकस्य दाढर्यम्।

अन्यत् पूर्ववत्। (का० 2/4/33) विश्वाभ्यः इति। दक्षिणत इति। हे चतुर्थकपाल, विश्वाभ्यः आशाभ्य सर्वदिग्भ्यः सर्वदिग्दाढर्याय त्वा उपदधामि। एवं कपालत्रयोपधानेन यजमानो लोकत्रयं जयति। चतुर्थेन दिशो जयति। तद्गतः पुरोडाशो लोकत्रयरूपो भूत्वा देवताः प्रीणातीत्याशयः। 'समं विभज्य द्वे दक्षिणत एवमुत्तरतश्चित:स्थेति' (का० 2/4/34) इति। आग्नेयपुरोडाश-स्याष्टकपालत्वाच्चतुर्णां स्थापितत्वादवशिष्टानां चतुर्णा मध्ये द्वे द्वे दक्षिणोत्तरयोर्निदध्यात्। 'चित्र् चयने' क्विन्तस्य चित इति बहुवचनम्। हे कपालविशेषाः, यूयं चितः स्थ प्रथमकपालोपचयकारिणः स्थ भवथ। तथा ऊर्ध्वचितः स्थ ऊर्ध्वमुपहितानां द्वितीयादिकपालानामुपकारिणी भवथ। 'भृगूणामित्यांङ्गरसां भृगुनामकानामङ्गिरोनामकानां देवर्षीणां तपसा तपोरूपेणा-ग्निनानेन तप्यध्वं तप्तानि भवत। अस्याग्नेस्तदीयरूपत्वं भावयेदित्यर्थः ।।18।।

एकोनविंशी

शर्मा॑स्यव॑धूत॒ꣳ रक्षोऽव॑धूता॒ऽअरा॑त॒योदि॑त्या॒स्त्वग॑सि॒ प्रति॒ त्वादि॑तिर्वे॑त्तु। धि॒षणा॑सि पर्व॒ती प्रति॒ त्वादि॑त्या॒स्त्वग्वे॑त्तु दि॒व स्क॑म्भ॒नीर॑सि धि॒षणा॑सि पार्व॒ते॒यी प्रति॑ त्वा पर्व॒ती वे॑त्तु ।।१९।।

अन्वय : हे कृष्णाजिन! त्वं शर्म असि। रक्षः अवधूतम् अरातयः अवधूताः त्वम् अदित्याः त्वगसि। अदितिः त्वा प्रतिवेत्तु। हे शिले त्वं पर्वती घिषणा असि अदित्याः त्वक् त्वा प्रतिवेत्तु। हेशम्ये! दिवः स्कम्भनी असि, हे उपले! घिषणासि पार्वतेयी पर्वती त्वा प्रतिवेत्तु।

यहाँ अध्वर्यु कृष्णाजिन को उत्कर पर झाड़कर पुनः यथास्थान रखता है।

व्याख्या : हे कृष्णाजिन्! तुम सुखरूप हो। कृष्णाजिन में छिपे हुए राक्षस दूर हो गये। अदानशील शत्रु भी नष्ट हो गये। तुम इस भूमि देवता के त्वक् रूप हो। अतः भूमि-देवता तुम्हें अपनी त्वचा समझे। (हे शिले) तुम पर्वत से समुत्पन्न हुई हो और पर्वत के समान दृढ़ होकर इस पेषण कर्म को धारण करती हो। हे अदिति की त्वचा रूप! यह कृष्ण मृगचर्म तुम्हें आत्मीय समझे। हे शम्ये! तुम द्युलोक का स्तम्भन करने वाली हो। हे उपल! तुम पेषण कर्म करते हो। पर्वतपुत्री यह शिला,

तुम्हें आत्मीय (अपना) पुत्री समझे।

म॰ : 'कृष्णाजिनमादत्ते पूर्ववत्' (का॰ 2/5/2) इति यथावधातार्थं कृष्णाजिनप्रयोगस्तद्वदत्रापि। शर्मासि। अवधूतम्। अदित्याः। इति मन्त्रत्रयं व्याख्यातम्। 'तस्मिन्दृषदं धिषणासीति' (का॰ 2/5/3) तस्मिश्चर्मणि शिलां स्थापयेत। हे शिले पेषणाधारभूते, त्वं पर्वती पर्वतात्मिका तदुत्पन्न त्वं धिषणासि धियं बुद्धिं कर्म वा सिनोति व्याप्नोति ददाति वा धिषणा। ह्रस्वत्वमार्षम्। पर्वतवद्धारयन्त्यसि। अदित्याः भूमेः त्वक् कृष्णाजिनरूपा तादृशीं त्वा त्वां प्रतिवेत्तु त्वदवस्थानमनुजानातु। 'पश्चाच्छम्यापुपोहत्युदीची दिवः' (का॰ 2/5/4) इति। दृषदः पश्चाखागेऽधस्ताच्छम्यां स्थापयेत्। तां प्रत्युच्यते। हे शम्ये, दिवः द्युलोकस्य स्कम्भनीः। स्तम्भनकारिणी त्वम् असि। व्यत्ययेन द्वितीयाबहुवजनम्। पतनवारणायान्तरिक्षरूपेण स्तम्भनकारित्वम्। 'अन्तरिक्षेण होमे द्यावापृथिवी विष्टब्धे' (1/2/1/16) इति श्रुतेः। 'दृषद्युपलां धिषणासीति' पेषणव्यापारधारिकासि। किंभूता। पार्वतेयी पर्वत्या अधस्तनदृषदः पुत्री पार्वतेयी बालस्वरूपा। 'कनीयसी ह्येष दुहितेव भवति' (1/2/17) इति श्रुतेः। अतः पर्वती मातृसमा त्वां प्रतिवेत्तु पुत्री जानातु ॥19॥

विंशी

धा॒न्य॑मसि धिनु॒हि दे॒वान्प्रा॒णाय॑ त्वोदा॒नाय॑ त्वा व्या॒नाय॑ त्वा। दी॒र्घामनु॒ प्रसि॑तिमायु॑षे धां दे॒वो वः॑ सवि॒ता हिर॑ण्यपाणि॒ः प्रति॑गृभ्णा॒त्वच्छि॑द्रेण पा॒णिना॒ चक्षु॑षे त्वा म॒हीना॒ पयो॑ऽसि ॥२०॥

अन्वय : (हे हवि) त्वं धान्यमसि देवान् धिनुहि। प्राणाय उदानाय व्यानाय त्वा पिनष्मि दीर्घां प्रसितिम् अनु आयुषे धाम् (दधामि।) हिरण्य-पाणिः सवितादेवः अच्छिद्रेण पाणिना नः प्रतिगृभ्णातु चक्षुषे त्वा पश्यामि। हे आज्य! महीनां पयोऽसि।

व्याख्या : (हे हवि!) तुम धान्य हो, अतः अग्न्यादिदेवताओं को तृप्त करो। (हे तण्डुल) तुम्हारे प्राण, उदान एवं व्यान वायु की परिपुष्टि के लिए तुम्हें पीसकर चूर्ण बना रहा हूँ। [इसका अभिप्राय यह है कि देवताओं की हवि सजीव होती है अतः यहाँ प्राणादिदान से हवि को प्राणवान् (सजीव) किया जाता है] हे हविर्द्रव्य! यजमान की आयु

की वृद्धि के लिए दीर्घकर्मसन्तति के उद्देश्य से तुम्हें कृष्णाजिन पर स्थापित करता हूँ। हिरण्यहस्तसवितादेवता तुम्हें छिद्ररहित हाँथों से ग्रहण करें। यजमान की नेत्रशक्ति की वृद्धि के लिए तुम्हारी ओर देखता हूँ। हे आज्य। तुम गाय के दूध से उत्पन्न हो (निर्मित हो)।

म॰ : 'धान्यमसीति तण्डुलानोप्येति' (का॰ 2/5/5)। हे हविः, त्वं धान्यमसि। धिनोति प्रीणातीति धान्यम्। अतो देवान् अग्न्यादीन् धिनुहि प्रीणय। 'पिनष्टि प्राणाय त्वेति प्रतिमन्त्रमिति' (का॰ 2/5/6)। प्रकर्षेण अनिति सर्वदा मुखे चेष्टत इति प्राणः श्वासवायुः। उद् अनिति ऊर्ध्वं चेष्टत इत्युदानः उत्क्रान्तिवायुः। व्यनिति व्याप्य चेष्टते इति व्यानो व्यापको बलहेतुर्वायुः। हे तण्डुल, त्वा त्वां प्राणाय प्राणदानार्थं पिनष्मीति शेषः। एवमुत्तरमन्त्रयोर्योज्यम्। देवानां सजीवं हविर्भवतीस्येभिर्मन्त्रैर्हविषां प्राणादिदानेन सजीवत्वं क्रियत इत्यभिप्रायः। 'दीर्घामिति कृष्णाजिने प्रोहति' (का॰ 2/5/7) इति। प्रसयनं प्रसितिः। 'षिञ् बन्धने'। प्रबन्धः कर्मसंततिः। दीर्घामविच्छिन्नां प्रसितिमनु कर्मसंततिमनुलक्ष्य। आयुषे यजामनस्यायुरभिवृद्ध्यर्थं हे हविः, त्वां धां कृष्णाजिने दधामि। दधातेर्जुङि 'बहुलं छन्दस्यमाडयोगेऽपि' (6/4/75) इति अडागमाभावः। यजमानस्यायुर्वृद्धौ सत्यां कर्मसन्ततिः प्रवर्तत इति भावः। यद्वायमर्थः। पूर्वमन्त्रैर्हविषः प्राणादिदानेन सजीवत्वं कृतम्, अनेन पुनरायुर्दीयते हविषः। हे हविः, दीर्घां प्रसितिं कृष्णाजिनाख्यामनु त्वां धां धारयामि। कृष्णजिने प्रक्षिपामीत्यर्थः। किमर्थम्। आयुषे त्वदीयायुर्वृ-द्ध्यर्थम्। 'प्रसितिः प्रसयनात् तन्तुर्वा जालं वा' (निरु॰ 6/12) इति यास्कोक्तेरिह पिष्टग्राहकत्वात्प्रसितिशब्देन कृष्णाजिनमुच्यते। देवो व इत्यादिमन्त्रेशेषे व्याख्यातः। 'चक्षुषे त्वेतीक्षत इति' (2/5/8)। हे हविः, चक्षुषे यजमानस्य चक्षुरिन्द्रियपाटवाय त्वा त्वां पश्यामीति शेषः। यद्वा चक्षुषे त्वेतीक्षत इति' (2/5/8)। हे हविः, चक्षुषे यजमानस्य चक्षुरिन्द्रियपाटवाय त्वा त्वां पश्यामीति शेषः। यद्वा चक्षुषै तव चक्षुरादिवाह्येन्द्रियदानाय त्वामीक्षे। हविषः सजीवत्वे कृते चक्षुराद्यपेक्षा भवतीत्यनेन तत्क्रियते इति भावः। 'पिष्यमाणेषु निर्वपत्यन्यो महीनामित्याज्यम्' (का॰ 2/5/9) इति। हे आज्य, त्वं महीनां गवां पयोऽसि क्षीरमसि क्षीरोत्पन्नत्वाद्घृतं पयःशब्देनोच्यते। महीति गोनाम ॥20॥

एकविंशी

देवस्यं त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। संवपामिसमापऽओषधीभि : समोषधयो रसेन। सꣳरेवतीर्जगतीभिः पृच्यन्ताꣳ संमधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम् ।।२१।।

अन्वय : (हे हविः) सवितुः देवस्य प्रसवे अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वा संवमापि। आपः ओषधीभिः सम्पृच्यन्ताम्। ओषधयः रसेन सम्पृच्यन्ताम्। रेवती जगतीभिः, सम्पृच्यन्ताम्। मधुमतीः मधुमतीभिः सम्पृच्यन्ताम्।

व्याख्या : हे पिष्टहवि! सर्वप्रेरक सवितादेवता की प्रेरणा से अश्विनीकुमारों की दो बाहुओं से और पूषा के दोनों हाँथों से तुम्हें पात्र में रख रहा हूँ। उपसर्जनीसंज्ञक जल पिष्टरूप औषधि में मिल जाय। औषधियाँ रस से परिपूर्ण हो। जल औषधियों से सम्पृक्त होंवे। मधुर-जल मधुर-औषधियों से मिश्रित हो।

म० : 'पात्र्यां सपवित्र्यां पिष्टान्यावपति देवस्य त्वेति' (का० 2/5/10) इति। हस्ताभ्यामित्यन्तं व्याख्यातम्। एतानि पिष्टानि संवपामि पात्र्यां सम्यक् क्षिपामि। 'उपसर्जनीरानयत्यन्यः पवित्राभ्यां प्रतिगृह्णाति समाप इति' (का० 2/5/12-13) इति। पिष्टसंवपनीया आप उपसर्जन्यः। ता अग्नीदानयेदर्ध्वयुः पवित्राभ्यां प्रतिगृह्णीयात्। आपः उपसर्जनीरूपाः औषधीभिः पिष्टरूपाभिः संपृच्यन्ताम्। 'पृची संपर्के' संगच्छन्तां सम्येगेकीभवन्तु। तथा ओषधयः पिष्टाख्याः रसेन उपसर्जनीरूपेणोदकेन संपृच्यन्ताम्। आपो हि ओषधीनां रसः। तथा रेवतीः रेवत्यः आपः जगतीभिः पिष्टाख्याभिः संपृच्यन्ताम्। 'रेवत्य आपो जगत्य ओषधयः' (1/2/2/2) इति श्रुतेः। मधुमतीः माधुर्योपेता आपः मधुमतीभिः माधुर्योपेताभिः पिष्टरूपौषधीभिः संपृच्यन्ताम्। अपामोषधीनां परस्परं च प्रीति हेतुत्वात्संपर्को भवत्वित्यर्थः। ।।21।।

द्वाविंशी

जनयत्यै त्वा संयौमीदमग्नेरिदमग्नीषोमयोरिषे त्वा घर्मोऽसि विश्वायुरुरुप्रथाऽउरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथतामग्निष्टे त्वचं मा हिꣳसीद्देवस्त्वा सविता श्रपयतु वर्षिष्ठेऽधि नाके ।।२२।।

अन्वय : (हे जलपिष्टरुप-पदार्थद्वय!) जनयत्यै त्वा संयौमि (सम्यक् मिश्रीकरोमि) इदमग्नेः इदमग्नीषोमयोः सम्बन्धिभवतु। हे आज्य! इषे त्वा अधिश्रयामि। (हे पुरोडाश) त्वं घर्मः असि। विश्वायुः उरुप्रथाः उरुप्रथस्व। ते यज्ञपतिः उरु प्रथताम्। अग्निः ते त्वचं मा हिंसीत्। सविता देवः त्वा वर्षिष्ठे, अधिनाके श्रपयतु।

व्याख्या : हे जल तथा पिष्टरुप हवि पदार्थद्वय! मैं तुम्हें यजमान की सन्तानोत्पत्ति के लिए मिलाता हूँ। पीसी हुई हवि एवं उपसर्जनी संज्ञक जल को मिलाना संयवन है। यही क्रिया इस यजु से होती है। यह भाग अग्नि का है, यह अग्नीषोम का है। हे आज्य! वर्षा प्राप्ति के लिए मैं तुम्हें अग्नि पर रखता हूँ। हे पुरोडाश! तुम दीप्यमान प्रवर्ग्य हो और सम्पूर्ण आयु को देने वाले हो। स्वभावतः विस्तृत रूप से फैलने वाले हो अतः विस्तृत हो जाओ। यह यजमान भी पुत्र पशु आदि से विस्तृत अर्थात् सम्पन्न हो। अग्नि देवता तेरी त्वचा को न जलावें। सविता देवता द्युलोक में रहने वाले नाक नामाग्नि में तुम्हें पक्व करे।

म० : 'संयौति जनयत्यै त्वेति' (का० 2/5/14) इति। अपां पिष्टानां च मिश्रीकरणं संयवनम्। हे जलपिष्टरूपपदार्थद्वय, त्वां संयौमि सम्यक्मिश्रीकरोमि। 'यु मिश्रणामिश्रणयोः'। किमर्थम्। जनयत्यै यजमानस्य प्रजोत्पादनार्थम्। जलपिष्टयोर्यथामिश्रणं तथा शुक्रशोणितमिश्रणेन यजमानस्य प्रजोत्पत्तिर्भवति तदर्थ त्वां संयौमि। यद्वा जनयत्वै पुरोडाशोत्पत्त्यै त्वां संयौमि। 'संविभज्यासंहरिष्यन्नलभते इदमग्नेरिदमग्नीषोमयोरिति' (का० 2/5/15) इति। मिश्रीकृतस्य पिष्टस्यावदानाङ्कितं पिण्डद्वयं कृत्वा पुनरमेलयिष्मन् इदमग्नेः अग्नि संबन्धि भवत्विति प्रथमं पिण्डं स्पृशेत्। इदमग्नीषोमयोर्भवत्विति द्वितीयं स्पृशेत्। 'इषे त्वेत्याज्यमधिश्रयति' (का० 2/5/16) इति। हे आज्य, इषे इष्यमाणवृष्ट्यर्थं त्वामधिश्रयामीति शेषः आज्यप्रविलापनार्थं तत्पात्रस्याग्नौ स्थापनमधिश्रयणम्। 'घर्मोऽसीति पुरोडाशमिति' (का० 2/5/17)। हे पुरोडाश, त्वं घर्मोऽसि। 'घृ क्षरणदीस्योः'। धर्मशब्देन दीप्यमानः प्रवर्ग्य उच्यते। श्रप्यमाणतया दीप्यमानत्वात्प्रवर्ग्योऽसि। तथा विश्वायुः विश्वं कृत्स्नमायुर्यस्मात्स विश्वायुः। यस्माद्यजमानः सर्वमायुराप्नोति भावः। 'उरुप्रथा इति प्रथयति यावत्कपालमिति' (का० 2/5/20)। सर्वकपालेषु संश्लेषयितुं तं प्रसारयेत्। हे पुरोडाश। त्वं स्वभावतः उरुप्रथाः उरु विस्तीर्ण यथा तथा

।

प्रथते प्रसरतीत्युरुप्रथाः। अत इदानीमपि उरु प्रथस्व प्रख्यातो भव। किंच ते यज्ञपतिः तव यजमानः उरु विस्तीर्ण पुत्रपश्वादिभिः प्रथतां प्रख्यातो भवतु। 'अमिष्ट इत्यखिरभिमृशतीति' (का० 2/5/21)। हे पुरोडाश, अग्निः श्रपणाय प्रवृत्तः ते तव त्वचं त्वक्सदृशमुपरितनभागं मा हिंसीन्मा विनाशयतु। अतिदाहेन मषीभावो विनाशः सोऽत्र मास्त्वित्यर्थः। अवघातपेषणोत्थः श्रपणाजायमानश्च हविष उपद्रवो जलस्पर्शेन शाम्यतीति भावः। देवस्त्वेति श्रपणमिति' (का० 2/5/23)। हे पुरोडाश, सविता देवः वर्षिष्ठे अत्यन्तवृद्धे नाके द्युलोकवर्तिनि नाकनाम्नि अग्ने त्वा त्वाम् अधि अधिश्रित्य श्रपयतु पक्वं करोतु। मनुष्यस्य श्रपणे कर्तृत्वं मा भूदित्यभिप्रेत्य देवस्तेत्युच्यते। 'दिविनाको नामाग्नी रक्षोहा' इति तित्तिरिवचनान्नाको नाम स्वर्गस्थोऽग्निः ॥22॥

त्रयोविंशी

मा भेर्मा संविक्था॒ऽअत॑मेरुर्य॒ज्ञोऽत॑मेरु॒र्यज॑मानस्य प्र॒जा भू॑यात्। त्रि॒ताय॑ त्वा द्वि॒ताय॑ त्वैक॒ताय॑ त्वा ॥२३॥

अन्वय : (हे पुरोडाश!) मा भेः (त्वं भयं मा कार्षीः) मा संविक्था, चलनं मा कार्षीः यज्ञः अतमेरुः भूयात। यजभानस्य प्रजा अतमेरुः भूयात्। [हे पात्र्यङ्गुलिप्रक्षालनोदक] त्रिताय त्वा द्विताय त्वा एकताय त्वा (निनयामि)।

व्याख्या : हे पुरोडाश! तुम डरो मत चंचल मत हो। यह पुरोडाश ग्लानिरहित दुःखरहित हो। इसी तरह यजमान की प्रजा भी क्लेशरहित हो। हे पात्र्यङ्गुलि-प्रक्षालनोदक! मैं तुम्हें त्रित, द्वित और एकत-संज्ञक देवता के निमित्त प्रदान करता हूँ।

म० : 'मा भेरित्यालभत इति' (का० 2/5/24)। हे पुरोडाश, त्वं मा भेः भयं मा कार्षीः। मा संविक्थाः चलनं मा कार्षीः। 'त्रिभी भये' '-ओविर्जी भयचलनयोः' इत्यनयोः प्रयोगो। 'अतमेरुरिति शृतावभिवासयति भस्मना वेदेनोपवेषेण वेति' (का० 2/5/25)। यज्ञः यागहेतुः पुरोडाशः अतमेरुः भूयात्। 'तमु ग्लानौ' ताम्यतीति तमेरुः। औणादिक एरुप्रत्ययः। न तमेरुरतमेरुः। भस्माच्छादनेन ग्लानिरहितो भवतु। यजमानस्य प्रजा पुत्रपौत्रप्रपौत्रादिं अतमेरुः ग्लानिरहिता भूयात्। यजमानस्य प्रजायाः कदाचिद्दुःखं

मास्त्वित्यर्थः। 'पात्र्यङ्गुलिप्रक्षालनमाप्त्येभ्यो निनयत्यभितप्य प्रत्यगसर्थ्ंस्यन्दमानं त्रिताय त्वेति प्रतिमन्त्रमिति' (का॰ 2/5/26)। हे पात्र्यङ्गुलिप्रक्षालनोदक, त्रिताय त्रितनाम्ने देवाय त्वां निनयामीति शेषः। तथा द्विताय त्वा निनयामि। तथा एकताय त्वा निनयामि। पूर्वं कुतश्चिद्धेतोः भीतोऽग्निरपः प्राविशत्ततो देवास्तं ज्ञात्वा जगृहुस्तदाग्निना वीर्यमप्सु मुक्तं तत आप्त्या उत्पन्नास्त्रितद्वितैकतसंज्ञास्ते देवैः सह चरन्तो यज्ञे पात्रीप्रक्षालनजललक्षणं भागं लेभिरे (1/2/3/1) इति श्रुतिकथानुसंधातव्या ।।23।।

चतुर्विंशी

दे॒वस्यं त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्या॑म्पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्। आद॑देऽध्व॒र॒कृतं॑न्दे॒वेभ्य॒ इन्द्र॑स्य बा॒हुर॑सि॒ दक्षि॑णः स॒हस्र॑भृष्टिः श॒तते॑जा वा॒यु॑रसि ति॒ग्मते॑जा द्वि॒ष॒तो व॒धः ।।२४।।

अन्वय : सवितुः देवस्य प्रसवे, अश्विनोः बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् त्वा (त्वाम्) स्फ्यं देवेभ्यः अध्वरकृतं आददे। [हे स्फ्य] त्वं इन्द्रस्य दक्षिणो बाहुरसि। सहस्रभृष्टिः शततेजावायुः असि। तिग्मतेजाः द्विषतो वधः (असुरादीनां हन्ता असि।)

व्याख्या : हे स्फ्य! सविता देवता की प्रेरणा से अश्विनी कुमारों के बाहुओं से तथा पूषा के हॉथों से तुम्हें ग्रहण करता हूँ। देवों के निमित्त किये जाने वाले यज्ञ की पूर्णता हेतु तुम्हें ग्रहण करता हूँ। तुम इन्द्र के दक्षिण हॉथ हो, हजारों असुरों के विनाशक हो अत्यधिक प्रकाशमान तथा वायु के समान हो, और इस कर्म से द्वेष रखने वाले शत्रुओं के घातक हो।

म॰ : 'देवस्य त्वेति स्फ्यमादायेति' (का॰ 2/6/12) देवस्य त्वेति व्याख्यातम्। देवेभ्यो देवोपकारार्थं अध्वरकृतं अध्वरं करोति वेदिखननादिद्वारेणेत्यध्वरकृतं स्फ्यमहमाददे गृह्णामि। 'सतृणर्थ्ं सव्ये कृत्वा दक्षिणेनालभ्य जपतीन्द्रस्य बाहुरितीति' (का॰ 2/6/13)। हे स्फ्य, त्वमिन्द्रस्य दक्षिणो बाहुरसि। तेन बाहुना धृतत्वात्तत्समानवीर्योपेतत्वाद्वा स्फ्यस्य बाहुरूपत्वोपचारः। किंभूतः स्फ्यः। सहस्रभृष्टिः भृष्टिर्भर्जन पाकः। मारणमिति यावत्। सहस्रसंख्याकानां शत्रूणां भृष्टिर्यस्य स सहस्रभृष्टिः। तथा शततेजाः शतं तेजांसि यस्य सः बहुधा दीप्यमानः। किंच वायुरसि न केवलमिन्द्रबाहुसदृशः

किंतु वायुसदृशोऽप्यसि। अतएव तिग्मतेजाः तीक्ष्णतेजाः। यथा वायुर्वह्निं प्रदीप्य तीव्रां ज्वालामुत्पादयंस्तीव्रतेजा भवति एवं स्फ्योऽपि स्तम्बच्छेदरूपं कर्म कुर्वंस्तीव्रतेजा उच्यते। तथा द्विषतो बधः। हन्तीति वधः कर्मद्वेषिणामसुरादीनां हन्तेत्यर्थः ।।24।।

पञ्चविंशी

पृथिंवि देवयजन्योषंध्यास्ते मूलं मा हिंᳪसिषं व्रजं गंच्छ गोष्ठानं वर्षंतु ते द्यौर्बंधान देंव सवितः परमस्यांम्पृथिव्याᳪ शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं चं वयं द्विष्मस्तमतो मा मौंक् ।।25।।

अन्वय : हे पृथिवि! देवयजनिवेदि, ते ओषध्याः मूलं माहिंसिषम् मा विनाशयामि। [हे पुरीष] (स्फ्यप्रहारोत्पन्नामृत् पुरीषमुच्यते) त्वं गोष्ठानं व्रजं गच्छं। [हे वेदे] त्वदर्थं (ते) द्यौः वर्षतु। हे देवसवितः! परमस्यां पृथिव्यां शतेन पाशैः बधान, यः अस्मान् द्वेष्टि, यं च वयं द्विष्मः उभयविधम्। अतः तं मा-मा मुञ्च इत्यर्थः।

व्याख्या : हे देवयागसाधनभूते पृथिवि (वेदि)! तुम्हारी औषधि के मूल को मैं नष्ट नहीं करूँगा। हे पुरीष! (मृत्तिके) तुम गौओं के निवास स्थान में जाओं। हे वेदि! तुम्हारे लिए द्युलोकाभिमानीदेवता वृष्टि करें। हे सवितादेवता! जो हमसे द्वेष करता हे तथा जिससे हम द्वेष करते हैं, उनको सैकड़ों पाशों से बाँध दो और कभी भी उन्हें यहाँ से मुक्त मत होने दो।

म० : 'पृथिवि देवयजनीति तृणेऽन्तर्हिते प्रहरतीति' (का० 2/6/15-16)। हे पृथिवि हे देवयजनि, देवा इज्यन्ते यस्यां सा देवयजनी तस्या संबोधने हे देवयजनि, ते तव ओषध्यास्तृणरूपाया मूलमहं मा हिᳪसिषं मा विनाशयामि। 'व्रजं गच्छेति पुरीषमादत्ते' (का० 2/6/17) इति। स्फ्यप्रहारोत्पन्ना मृत् पुरीषमुच्यते। हे पुरीष, त्वं व्रजं गच्छ। व्रजन्ति गच्छन्ति स्थातुं गावो यत्र स देशो व्रजस्तं। किंभूतम्। गोष्ठानं गवां स्थानमिदानीमवस्थितिर्यत्र तं गोयुक्तं तदीयं स्थानं गच्छेत्यर्थः ।। 'वर्षतु त इति वेदिं प्रेक्षत इति' (का० 2/6/18)। हे वेदे, ते तुभ्यं त्वदर्थं द्यौ र्द्युलोकाभिमानी देवो वर्षतु जलसेकं करोतु। 'वृष सेचने' वर्षणेन खननजनितदुःखशान्तिरस्त्वित्यर्थः ।। 'बधानेत्युत्करे करोतीति' (का०

2/6/19)। स्फ्योत्खातां मृदमुत्करे त्यजेत्। हे देव सवितः, योऽस्मान्द्वेष्टि द्वेषं करोति वयं च यं शत्रुं द्विष्मस्तमुभयविधं शत्रुं परमस्यां पृथिव्यां बधान। परमा अन्तिमा पृथिवी। छान्दसः स्याडागमः। उत्करे क्षिप्तायां धूल्यां निगूढस्य शत्रोस्तत्र बन्धनं कुरु यत्र भूमेरन्तिमप्रदेशेऽन्धतामिस्रो नरकोऽस्ति। तथाच श्रुतिः 'अन्धे तमसि बधानेति यदाह परमस्यां पृथिव्याम्' (1/4/16) इति। कैर्बन्धानं कर्तव्यं तदाह। शतेन पाशैः शतसंख्याकाभिर्बन्धनरज्जुभिः। किंच अस्मादन्धतामिस्रान्नरकात्तं मा मौक् कदाचिदपि मा मुञ्च ।।25।।

षडिंशी

अपा॒ररुं॑म्पृथि॒व्यै दे॒व॒यज॑नाद्वध्यासं व्र॒जं ग॑च्छ गो॒ष्ठान॒ वर्ष॑तु ते॒ द्यौर्ब॑धा॒न दे॑व सवितः प॒रमस्यां॑ पृथि॒व्याᳩ॑ श॒तेन॒ पाशै॒र्यो॒स्मान्द्वेष्टि॒ यं च॒ व॒यं द्वि॒ष्मस्तम॒तो मा मौक्। अर॑रो दिव॒ं मा प॑प्तो द्र॒प्सस्ते॒ द्यां मा स्क॑न् व्र॒जं॰ मौक् ।।२६।।

अन्वय : (पृथिव्यै पृथिव्याः देवयजनात् (वेदिस्थानात्) अररुम् अपवध्यासम्। हे पुरीष! त्वं गोष्ठानं व्रजं गच्छ। हे वेदे। तुभ्यं द्यौः वर्षतु। हे देवसवितः। यः अस्मान् द्वेष्टि यंच वयं द्विष्मः तम् अस्यां पृथिव्यां परः शतेन पाशैः बधान। तम् अतः (अस्मात्) मा मौक्। हे अररो। दिवं मा पप्तः। (हे वेदिदेवते) ते द्रप्सः द्यां मा स्कन् मा गच्छतु गोष्ठानं व्रजं गच्छ।

व्याख्या : इस देवयजनस्थान (यज्ञवेदी) से अररु नामक असुर को नष्ट करता हूँ। हे पुरीष (स्फ्य से खोदी हुई मिट्टी।) तुम गोशाला में जाओ। हे वेदि! तुम्हारे लिए इन्द्र वर्षा करें। हे सविता देवता! जो हमसे द्वेष करता है तथा जिससे हम द्वेष करते हैं उनको सैकड़ों पाशों से बाँध दो तथा उनको यहाँ से मुक्त मत होने दो। हे अररु असुर! तुम द्युलोक को न प्राप्त होओ। अर्थात् हे अररु असुर तुम स्वर्गरूप फल को मत प्राप्त करो। द्युलोक का अर्थ स्वर्गफल है।

हे पुरीष तुम गोशाला में जाओं। हे वेदि! द्युलोकाभिमानी देवता तुम्हारे लिए वर्षा करे। द्वेष करने वाले शत्रुओं को पाशों से बाँध दो और यहाँ से मुक्त मत करो।

यहाँ यह अवश्य ध्यातव्य है कि यह स्तम्बयजुर्हरणविधि का स्वरूप है। क्योंकि स्फयग्रहणपूर्वक प्रहरणादि से लेकर पुरुष निवपनान्त कर्म स्तम्बयजुर्हरण संज्ञा से कहा गया है। विशेष प्रक्रियाज्ञान के लिए कात्यायन श्रौतसूत्र देखें–2-6-10

म॰ : 'अपाररुमिति द्वितीयं प्रहरतीति' (का॰ 2/6/21)। पृथिव्यै देवयजनात्पृथिव्याः संबन्धिनो देवयजनाख्याद्वेदिस्थानात् अररुम् अररुनामानमसुरमपवध्यासम् अपनीय यथा हतो भवति तथा करवाणि। अनेन मन्त्रेण द्वितीयवारं पूर्ववत्प्रहरेत्। व्रजं वर्षतु बधानेति मन्त्रत्रयस्य प्रयोगो व्याख्या च पूर्ववत् ।। 'अभिन्यस्यत्यग्नीदुत्करमररो दिवमितीति' (का॰ 2/6/22)। हे अररो असुर, दिवं द्युलोकं यागफलरुपं त्वं मा पप्तः मा गमः। स्वर्गे त्वया न गन्तव्यम्। 'पत्लृ गतौ' 'पतः पुम्' (पा॰ /1/19) इति लुङि पुमागमे रूपम् ।। 'द्रप्सस्त इति तृतीयमिति' (का॰ 2/6/23)। हे वेदिदेवते, ते तव पृथिवीरूपाया ते द्रप्स उपजीव्यो रसः द्यां द्युलोकं मा स्कन् मा स्कन्दतु मा गच्छतु। 'स्कन्दिर्गतिशोषणयोः। व्रजं गच्छेत्यादिमन्त्रत्रय-प्रयोगो व्याख्या च पूर्ववत् ।।26।।

सप्तविंशी

गायत्रेण त्वाच्छन्दसा परिगृह्णामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि जागतेन त्वाच्छन्दसा परिगृह्णामि। सुक्ष्मा चासि शिवा चासि स्योना चासि सुषदा चास्यूर्जस्वती चासि पयस्वती च ।।२७।।

अन्वय : [हे विष्णो!] गायत्रेण छन्दसा त्वा त्वां परिगृह्णामि। त्रैष्टुभेन-छन्दसा त्वा परिगृह्णामि। जागतेन-छन्दसा त्वा परिगृह्णामि। हे वेदे त्वं सुक्ष्मा च असि, शिवा च असि सुषदा च असि ऊर्जस्वती च असि पयस्वती च।

यहाँ पूर्वपरिग्रह एवं उत्तरपरिग्रह की विधि प्रस्तुत है।

व्याख्या : हे विष्णु गायत्री-छन्द द्वारा दक्षिण में, त्रिष्टुप-छन्द द्वारा पश्चिम में तथा जगती-छन्द द्वारा उत्तर में तुम्हें स्फ्य से ग्रहण (रेखा) करता हूँ। हे वेदि तुम सुन्दर हो कल्याणदायी हो तथा देवताओं के लिए सुखप्रद बैठने योग्य हो। तुम अन्न एवं दुग्धादि पदार्थों से युक्त हो। अर्थात् [तुम्हारे उपर अन्न एवं दधि आदि हवि रखी गयी है]

म० : 'पूर्वं परिग्रहं परिगृह्णाति दक्षिणतः पश्चादुत्तरतश्च स्फ्येन गायत्रेणेति प्रतिमन्त्रमिति' (का० 2/6/25)। यस्मात्प्रदेशादररुर्निष्काशितस्तत्र वेदेरियत्तां निश्चेतुं दक्षिणादिदिक्त्रये स्फ्येन रेखात्रयकरणं पूर्वः परिग्रहः। विष्णुदेवता मन्त्रत्रयस्य। 'ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य छन्दोभिरभितः पर्यगृह्णन्' (1/2/5-6) इति श्रुतेः। हे विष्णो, त्वा, त्वां गायत्रेण छन्दसा गायत्र्यादिच्छन्दस्त्रयरूपतया भावितेन स्फ्येन, दिक्त्रये परिगृह्णामि। एवं त्रैष्टुभेन जागतेनेत्युत्तरमन्त्रयोः। ततः छन्दोदेवताः दिक्त्रयेऽसुरेभ्यस्त्वां पालयिष्यन्ति। पूर्वस्यामाहवनीय एव पालाकोऽस्तीति भावः। प्रजापतिपुत्रा देवा असुराश्च पूर्वं स्पर्धां चक्रुस्तदा देवान्पराजयं प्राप्तन्मत्वा भूमिमसुरा विभेजुस्तदा देवा वामनरूपं विष्णुमग्रे कृत्वाऽसुरानागत्यास्मभ्यमपि भूम्यंशो दातव्य इति तानयाचिषुः। ततोऽसुरा असूयन्तोऽयं विष्णुर्यावति भूभागे शेते तावान्भवदीयोऽस्त्वित्यूचुस्ततो देवा बह्वेतदस्माकमित्युक्त्वा ते प्राञ्चं विष्णुं निपात्य गायत्रेणेत्यादिमन्त्रैर्यज्ञभूमिं जगृहुः। यज्ञो विष्णुः स यत्र तिष्ठति सैव यज्ञभूमिरिति तैर्विंदितत्वाद्वेरिति तखूमेर्नाम। (1/2/5/1-7) इति श्रुतिकथामनुसंधाय वेदिग्रहणं विधेयम् ॥ 'उत्तरं परिग्रहं परिगृह्णाति सुक्ष्मा स्योनोर्जस्वतीति' (का० 2/6/31)। वेदिखननात्पूर्वं क्रियमाणः पूर्वः परिग्रहः। पश्चात्क्रियमाण उत्तरपरिग्रहः। तत्रापि पूर्ववद्दिक्त्रये स्फ्येन रेखात्रयं कार्यम्। हे वेदे, त्वं सुक्ष्मासि शिवा शान्ता चासि। क्ष्मा शोभना भूमिः सुक्ष्मा। खननेनाश्मादिदोषनिवर्तनं भूमेः शोभनत्वम्। उग्रस्यासुरस्य निष्कासनेन शान्तत्वम्। गुणद्वयस्यान्योन्यसमुच्चयार्थौ चकारौ। एकोऽयं मन्त्रः। स्योना सुखरूपासि। स्योनमिति सुखनाम। सुषदा सुष्टु सीदन्ति देवा यस्यां सा सुषदा। सम्यगुपवेशनयोग्या चासि। चकारौ पूर्ववत्। द्वितीयोऽयं मन्त्रः। ऊर्जस्वती पयस्वती चासि। ऊर्ज-शब्दोऽन्नवाची। पयःशब्दस्तद्विकारदध्यादिवाची तदुभयवती। चौ पूर्ववत्। तृतीयो मन्त्रः ॥27॥

अष्टविंशी

पुरा क्रूरस्यं व्विसृपों व्विरप्शिन्नुदादायं पृथिवीञ्जीवदांनुम्। यामैरंयंश्चन्द्रमंसि स्वधाभिस्तामुधीरांसोऽअनुदिश्यं यजन्ते। प्रोक्षंणीरासांदय द्विषतो वधोऽसि ॥२८॥

अन्वय : हे विरप्शिन् विष्णो! अनुगृहाण विसृपः क्रूरस्य पुरा

जीवदानुं यां पृथिवीं स्वधाभिः उदादाय ऊर्ध्वं त्रृहीत्वा चन्द्रमसि ऐरयन्, धीरासःताम् अनुद्दिश्ययजन्ते प्रोक्षणीः आसादय। द्विषतः वधः असि।

व्याख्या : हे यज्ञवेदिरूप विष्णो! पृथिवी पर जब महान् युद्ध होने की संभावना हुई तब उसका सारभूत देवयजनभाग निकालकर वेद के सहित उस भाग को देवताओं ने चन्द्रमा में रख दिया। आज भी वह चन्द्रमा में काले धब्बे के रूप में दिखाई देता है। मनीषी याज्ञिकलोग उसी भावना से इस वेदि पर याग करते हैं। उसी चन्द्रस्थ सारभूत भाग को वेदी कहते हैं। हे आग्नीध्र! प्रोक्षणी जल को वेदी पर रखो। हे स्फ्य! तुम शत्रुओं के हिंसक हो।

म॰ : 'पुरा क्रूरस्येत्यनुमार्ष्टीति' (का॰ 2/6/32)। अत्रेयमाख्यायिका मन्त्रेऽभिप्रेता–कदाचिद्देवानामसुरैः सह संग्राम उपस्थितस्तदा देवैर्मिथे मन्त्रिते यदस्या भूमेरुत्कृष्टं देवयजनस्थलं तच्चन्द्रे संस्थाप्य युद्धं कुर्मस्तत्र यद्यप्यस्माकं पराजयः स्यात्तदा देवयजने यागं विधाय पुनर्दैत्यपराजयं करिष्याम इति संमन्त्र्य भूमेः सारभागं देवयजनं चन्द्रे स्थापयामासुस्तत् कृष्णवर्णमिदानीमपि दृश्यत इत्याख्यानमयं मन्त्रो ब्रूते (1/2/5/18)। पुरा क्रूरस्येति त्रिष्टुप् चन्द्रदेवत्या। विरपृशीति महन्नाम। विविधं रपति वेदत्रयरूपेण शब्दं करोतीति विरपृशी। यज्ञो वेदित्वं प्राप्तो विष्णुः संबोध्यते। हे विरप्शिन् विष्णो परमेश्वर, त्वं शृणु। अनुगृहाणेति शेषः। क्रूरशब्दोऽत्र संग्रामवाची। 'संग्रामो वै क्रूरम् (1/2/5/19) इति श्रुतेः। विविधं सर्पन्ति योधा यस्मिन्निति विसृप् तस्येति क्रूरविशेषणम्। पञ्चम्यर्थौ षष्ठ्यौ। विसृपो नानायोध युतात्क्रूराद्युद्धात्पुरार्थद्देवाः जीवदानुं जीवं ददातीति जीवदानुस्तां जीवस्य ध ात्री सारभूतां यां पृथिवीमुदादाय ऊर्ध्व गृहीत्वा स्वधाभिः वेदैः सह चन्द्रमसि इन्दौ ऐरयन्प्राक्षिपन्स्थापयामासुः। धीरासः धीरा मेधाविनः। तामु। उ एवार्थे। तामेव चन्द्रस्थां पृथिवीमनुदिश्य दर्शनेन संपाद्य सैव भूमिरस्यां वेद्यां विद्यत इति भावयित्वा यजन्ते यागं कुर्वन्ति। स्वधाशब्दो यद्यप्यन्नवाची तथाप्यत्रान्नहेतुभूता वेदत्रयी कथ्यते। 'यां चन्द्रमसि ब्राह्मणा दधुः' (1/2/5/19) इति श्रुतेः। ब्रह्मणा वेदेन सहेत्यर्थः। अनेन मन्त्रेण खातायां वेद्यां लोष्टकृतवैषम्यनिवृत्तये समीकरणरूपं मार्जनं कुर्यात्। प्रोक्षणीरासादयेति अग्नीध्रंप्रति प्रैषः। प्रोक्ष्यन्त आभिरिति प्रोक्षण्य आपस्ता आसादय वेद्यां स्थापय। 'द्विषतो वध इति स्फ्यमुदञ्चं प्रहरतीति' (का॰ 2/6/42)। हे

स्फ्य, त्वं द्विषतः शत्रोर्वधोऽसि हिंसकोऽसि ।।28।।

एकोनत्रिंशी

प्रत्युंष्टꣳ रक्षः प्रत्युंष्टाऽअरांतयो निष्टंप्तꣳरक्षो निष्टंप्ताऽ अरांतयः। अनिंशितोऽसि सपत्नक्षिद्वाजिनंन्त्वा व्वाजेध्यायै संमांर्ज्मि। प्रत्युंष्टꣳरक्षः प्रत्युंष्टाऽअरांतयो निष्टंप्तꣳरक्षो निष्टंप्ताऽअरांतयः। अनिंशितासि सपत्नक्षिद्वाजिनींन्त्वा व्वाजेध्यायै संम्मांर्ज्मि ।।२९।।

अन्वय : रक्षः प्रत्युष्टम्, अरातयः प्रत्युष्टाः, रक्षः निष्टप्तम् अरातयः निष्टप्ताः [हे स्रुक्] त्वम् अनिशितः असि। सपत्नक्षित् वाजिनं वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि। रक्षः प्रत्युष्टम् अरातय प्रत्युष्टाः, रक्षः निष्टप्तम् अरातयः निष्टप्ताः।

व्याख्या : [स्रुवा को तपाते हुए] अध्वर्यु कहता है—विघ्नकारी तत्व दग्ध हो गये। शरीरगत आलस्यादि शत्रुगण भी दग्ध हो गये। हे स्त्रुक! तुम घृतादिस्पर्श के कारण अत्यन्त तीक्ष्ण नहीं हो फिर भी शत्रुनाशक हो। अन्नादियुक्त राष्ट्र को और भी अन्नसम्पन्न बनाने के लिए तुम्हें पवित्र (शुद्ध) करता हूँ। स्रुव सम्मार्जन के बाद जूहू उपभृत् ध्रुवा नामक यज्ञोपकरणों का सम्मार्जन करे। इसी प्रकार इन यज्ञीय उपकरणों में छिपे हुए प्रतिबंधकतत्त्व पूर्णतया जल गये है। पात्रों को अग्नि पर तपाने के बाद वेदि पर रखा जाता है। हे स्रुक्। तुम हम पर तीक्ष्ण मत होना। तुम शत्रुओं के नाशक हो। अतः तुम्हारी शुद्धि करता हूँ।

म० : 'स्रुवं प्रतप्य पूर्ववदिति' (का० 2/6/45)। यथा शूर्पाग्निहोत्रहवण्योः प्रत्युष्टमिति प्रतपनं कृतं तथा स्रुवस्यापि कार्यमित्यर्थः। मन्त्रो व्याख्यातः ।। 'वेदाग्रैरन्तरतः प्राक्संमाष्टर्यनिशित इतीति' (का० 2/6/46)। हे स्रुव, त्वमनिशितोऽसि। 'शो तनूकरणे'। नितरां शितस्तीक्ष्णीकृतो निशितस्तथा न भवतीत्यनिशितः। यतः सपत्नक्षित्। 'क्षिणु हिंसायाम्'। सपत्नानस्मच्छत्रून्क्षिणोति हिनस्तीति सपत्नक्षित्। अतएव त्वां संमार्ज्मि सम्यक् शोधयामि। 'मृज् शुद्धौ'। किंभूतं त्वाम्। वाजिनं वाजोऽन्नमस्यास्तीति वाजिनं यज्ञद्वारा अन्नहेतुत्वादन्नवन्तम्। यद्वा वाजो यज्ञस्तद्वन्तम्। 'यज्ञो हि देवानामन्नम्' (5/1/1-2) इति श्रुतेः। वाजं यज्ञाख्यमन्नमर्हतीति वाजिनम्।

अर्हार्थे इनृप्रत्ययः। किमर्थं संमार्ज्मि। वाजेध्यायै 'ञिइन्धी दीप्तौ' इन्धनं इध्या दीप्तिः। वाजस्येध्या वाजेध्या तस्यै वाजेध्यायै यज्ञस्य दीप्त्यै प्रकाशनार्थम्। शोधितेन स्रुवेणाज्ये गृहीते हुते च सति अग्निर्दीप्यते। तद्दीप्याहुतिफलभूतमन्नं प्रकाशितं भवतीत्यर्थः ।। 'प्रतप्य प्रतप्य प्रयच्छत्यनिशितेति स्रुचा' (का० 2/6/47-48) इति। अनिशितेति मन्त्रेण प्रतप्य प्रतप्य वेद्यां स्थापनार्थमध्वर्यवे प्रयच्छतीति सूत्रार्थः। प्रत्युष्टमिति व्याख्यातम्। अनिशितेत्यपि व्याख्यातम्। स्रुवस्य पुंस्त्वादादौ स्रुवसंमार्जनम्। स्रुचां स्त्रीत्वात्पश्चात्। 'योषा वै स्रुग्वृषा स्रुवः' (1/3/1/9) इत्यादिश्रुतेः। जुह्वादीनां स्रुचां स्त्रीलिङ्गत्वात्तद्विशेषण-योरनिशितावाजिनीमित्यनयोः स्त्रीत्वं विशेषः ।।29।।

त्रिंशी

अदि॑त्यै रास्ना॑सि॒ विष्णो॑र्वे॒ष्पोऽस्यू॒र्जे त्वाऽद॑ब्धेन त्वा॒ चक्षु॒षाव॑-पश्यामि। अ॒ग्नेर्जि॒ह्वासि॑ सु॒हूर्दे॒वेभ्यो॒ धाम्ने॑ धाम्ने मे भव॒ यजु॑षे यजुषे ।।३०।।

अन्वय : (हे योक्त्र!) त्वम् अदित्यै रास्नासि (हे दक्षिणपाश!) विष्णोः वेष्पोऽसि (हे आज्य) उर्ज्जे त्वा (उद्वासयामि) अदब्धेन चक्षुषा त्वाम् अवपश्यामि। अग्नेः जिह्वा असि, देवेभ्यः सुहूः। मे धाम्ने धाम्ने यजुषे यजुषे भव।

व्याख्या : हे योक्त्र! [यजमान-पत्नी की कमर में बाँधी गई डोरी को योक्त्र कहते हैं] तुम पृथिवी की करधनी हो। हे दक्षिणपाश! तुम यज्ञ के समान विस्तृत हो। हे आज्य! बल प्राप्ति के लिए तुम्हें पतला कर रहा हूँ। मित्र की दृष्टि से देखता हूँ। तुम अग्नि की जिह्वा हो, देवताओं के हविर्भाग हो। मेरे प्रत्येक स्थान पर प्रत्येक यज्ञ में अभीष्ट फल को प्रदान करो।

म० : 'पत्नीꣳ संनह्यति प्रत्यगुदक्षिणत उपविष्टां गार्हपत्यस्य मुञ्जयोक्त्रेण त्रिवृता परिहरत्यधोवासोऽदित्ये रास्नासीति' (का 2/7/1) इति। हे योक्त्र, अदित्यै अदित्या भूम्यास्त्वं रास्नासि रशना भवति ।। 'दक्षिणं पाशमुत्तरे प्रतिमुच्योर्ध्वमुदूहति विष्णोर्वेष्प इति न ग्रन्थिं करोतीति' (का० 2/7/2-3) हे दक्षिणपाश, त्वं विष्णो र्यज्ञस्य वेष्योऽसि व्यापकोऽसि। 'विप्लृ व्याप्तौ' ।। 'ऊर्जेत्वेत्याज्यमुद्वास्येति' (का० 2/7/4) हे आज्य

त्वामुद्वासयामीति शेषः। किमर्थम्। ऊर्जे उत्तमरसलाभाय। विलापितं घृतं सुस्वादु भवति। 'पत्नीमवेक्षयत्यदब्धेनेतीति' (का॰ 2/7/4। दभ्नोतिहिंसार्थः। हे आज्य। अदब्धेन अनुपहिंसितेन चक्षुषा त्वामवपश्यामि। अवाचीनं यथा तथाधोमुखी सती पश्यामि। किंच हे आज्य, त्वमग्नेर्जिह्वासि। यदाज्यमग्नौ हूयते तदा जिह्वेव ज्वालोत्पद्यतेऽतस्त्वमग्नेर्जिह्वा। किंभूतम्। देवेभ्योऽर्थाय सुहूः सुष्ठु हूयन्ते इति सुहूः। पुंस्त्वं छान्दसम्। यद्वा जिह्वाविशेषणम्। सुष्टु हूयन्ते देवा आहूयन्तेऽनया सा सुहूर्जिह्वा। ज्वालां दृष्ट्वा आयान्तीत्यर्थः। अतो मे मम धाम्ने धाम्ने भव। तथ यजुषे यजुषे च भव। धाम स्थानम्। फलेन युज्यत इति यजुःशब्दो यागवाची। धाम्ने धाम्ने तत्तद्यागफलोपभोग-स्थानसिद्ध्यर्थं भव। यजुषे यजुषे तत्तद्यागसिद्धये योग्यं भवेत्यर्थः ।।30।।

एकत्रिंशी

सवितुस्त्वा प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। सवितुर्वः प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभि-। तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि धाम नामासि प्रियन्देवानामनाधृष्टन्देवयजनमसि ।।३१।।

अन्वयः हे आज्य! सवितुः प्रसवे, अछिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्यरश्मिभिः त्वांम् उत्पुनामि। सवितुः प्रसवे अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः वः उत्पुनामि। (हे आज्य!) त्वं तेजः असि, शुक्रम् असि, अमृतमसि धामनामा असि, देवानां प्रियम्, अनाधृष्टं देवयजनम् असि। अतस्त्वां गृह्णामि।

व्याख्या : हे आज्य! सविता देवता की प्रेरणा से छिद्ररहित पवित्र (कुशद्वय) से एवं सूर्य की किरणों से तुम्हें पवित्र कर रहा हूँ। (हे प्रोक्षणी जल!) सूर्य की आज्ञा में वर्तमान रहता हुआ मैं छिद्ररहित पवित्र से तुम्हें शुद्ध कर रहा हूँ। इसी प्रकार सूर्य की किरणों से तुम्हें शुद्ध कर रहा हूँ आज्य को देखते हुए हे आज्य! तुम तेज प्रदाता होने से स्वयं तेजोरूप हो, दीप्तिमान हो, अमृतस्वरूप हो, देवों के अत्यन्तप्रिय, अतिरस्कृत तथा याग के साधन हो। अतः मैं तुम्हें ग्रहण करता हूँ।

म॰ : 'सवितुस्त्वेत्याज्यमुत्पुनातीति' (का॰ 2/7/7)। सवितुर्देवस्य प्रसवे आज्ञायां वर्तमानः संस्त्वामुत्पुनामि शोधयामि। व्याख्यातमन्यत्।

'प्रोक्षणीश्च पूर्ववदिति' (का॰ 2/7/8)। सुवितुर्वः। वो युष्मानुत्पुनामीति व्याख्यातम्। 'आज्यमवेक्षते तेजोऽसीति' (का॰ 2/7/7)। हे आज्य, त्वं तेजोऽसि। शरीकान्तिहेतुत्वात्तेजस्वत्वम्। शुक्रमसि दीप्तिमदसि। स्निग्ध रूपत्वाद्दीप्तिमत्त्वम्। अमृतमसि विनाशरहितमसि। बहुदिवसावस्थानेऽप्योदना-दिवत्पर्युषितत्वादिदोषाभावादविनाशित्वम् ।। 'स्रुवेणाज्यग्रहणं चतुर्जुह्वां धाम नामेति सकृन्मन्त्रं' (का॰ 2/7/11-12) इति। हे आज्य, त्वं धाम स्थानमति। धीयते स्थाप्यते चित्तवृत्तिर्देवैरत्रेति धाम। तथा नाम नामयति आत्मानं प्रति सर्वाणि भूतानीति नाम। आज्यं दृष्ट्वा सर्वेऽप्यतुं नमन्ति। तथा देवानां प्रियमिष्टमनभिभूतम्। गतसारत्वदोषेणातिरस्कृतम्। देवयजनं देवा इज्यन्तेऽनेनेति यागसाधानम् ईदृशं त्वमसिअतस्त्वां गृह्णामीति वाक्यशेषः ।।31।।

श्रीमन्महीधरकृते वेददीपे मनोहरे।

शाखाद्याज्यग्रहान्तोऽयमध्यायः प्रथमोऽगमत् ।।1।।

इति प्रथमोऽध्यायः पूर्णः

अथ द्वितीयोऽध्यायः

तत्र प्रथमा

कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्टं प्रोक्षामि बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ।।१।।

अन्वय : [हे इध्म] त्वं कृष्णोऽसि आखरेष्ठः। अग्नये जुष्टं त्वां प्रोक्षामि। हे यज्ञवेदि त्वं वेदिरसि बर्हिषे जुष्टां त्वां प्रोक्षामि। (हे दर्भ) त्व बर्हिः असि स्रुग्भ्यः जुष्टं त्वां प्रोक्षामि।

व्याख्या : हे इध्म! (काष्ठ खण्ड) तुम कृष्णमृगरुप यज्ञ हो। अत्यन्त कठिन वृक्ष से उत्पन्न हो। अग्नि के प्रिय तुम्हें जल से पवित्र करता हूँ। (हे यज्ञवेदि) तुम सभी समीहित वस्तु को प्रदान करने वाली हो। प्रजारुप अत्यन्तप्रिय बर्हि को धारण करने वाली हो अतः तुम्हें जल से पवित्र करता हूँ। हे दर्भ (कुश) तुम बर्हि हो, तुम्हें स्त्रुकादि पात्रों के लिए पवित्र करता हूँ।

म॰ : 'इध्मं प्रोक्षति विस्रथ्ंस्य वेदिं च बर्हिः प्रतिगृह्य वेद्यां

कृत्वा पुरस्ताद्ग्रन्थिं कृष्णोऽसीति प्रतिमन्त्रम्' (का॰ 2/7/19) इति ।। इध्मं विस्रंस्य प्रोक्षेत्। वेदिं च प्रोक्षेत्। बर्हिरादाय वेधां पूर्वग्रन्थिं कृत्वा प्रोक्षेत्क्रमान्मन्त्रत्रयेणेति सूत्रार्थः ।। कृष्णोऽसि। हे इध्म, त्वं कृष्णोऽसि कृष्णमृगरूपो यज्ञोऽसि। इध्मपूलकस्य यज्ञसाधनत्वाद्यज्ञत्वोपचारः। किंभूत। आखरेष्ठः। आ समन्तात् खरे कठिने वृक्षे तिष्ठतीति आखरेष्ठः। यद्वा खं स्वर्गं राति ददातीति खरः आहनीयस्तत्रासमन्तात्तिष्ठतीत्याखरेष्ठः। अन्तोदात्तः कृष्णशब्दो वर्णवाची, अयं तु कृष्णशब्द आद्युदात्तत्वान्मृगवाची। यज्ञः कदाचिद्देवेभ्योऽपक्रान्तः स्वगोपनाय कृष्णमृगो भूत्वा वने यज्ञियतरुमध्ये प्रविश्य कुत्रचित्कठिने वृक्षे तस्थौ। तदेतदभिप्रेत्य कृष्णोस्याआखरेष्ठ इति द्वयमुच्यते। 'यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम स कृष्णो भूत्वा चचार' (1/1/4/1) इत्यादि श्रुतेः। 'स्थे च भाषायाम्' (पा॰ 6/3/20) इति स्थे परपदे भाषायां सप्तम्यां अलुग्निषेधाद्वेदेऽलुक्। 'पूर्वपदात्–' (पा॰ 8/3/106) इति षत्वम्। अतोऽग्नये जुष्टं प्रियं त्वां प्रोक्षामि। शुध्यर्थं जलेनेति शेषः। 'वेदिरसीति वेदिं प्रोक्षति'। त्वं वेदिरसि। विद्यते लभ्यत इति देविः। –विद्लृ लाभे'। देवैरसुरेभ्यो लब्धत्वाद्वेदिः। अतो बर्हिर्जुष्टां बर्हिषो धारणोपयोगितया प्रियां त्वां प्रोक्षामि। पृथ्वीरूपाया वेदेः प्रजारूपस्य बर्हिषो धारकत्वं युक्तम्।। बर्हिरसीति बर्हिःप्रोक्षणम्। हे दर्भ, त्वं बर्हिरसि प्रभूतत्वाद्वेदिबृंहणसमर्थोऽसि। अतः स्रुग्भ्यो जुष्टं स्रुचां धारणात्प्रियं त्वां प्रोक्षामि ।।1।।

द्वितीया

अदि॑त्यै॒ व्युन्द॑नमसि॒ विष्णो॑ स्तु॒पो॒ऽस्यूर्ण॑म्रदसन्त्वास्तृणामि स्वासु॒स्थान्दे॒वेभ्यो॒ भुव॑पतये॒ स्वाहा॒ भुव॑नपतये॒ स्वाहा॑ भू॒ताना॒म्पत॑ये॒ स्वाहा॑ ।।२।।

अन्वय : (हे प्रोक्षणशेषोदक!) त्वम् अदित्यै व्युन्दनमसि, (हे प्रस्तर दर्भमुष्टिरूपः।) त्वं विष्णोः स्तुपोऽसि। देवेभ्यः स्वासस्थां त्वाम् ऊर्णम्रदसं स्तृणामि। भुवपतये स्वाहा। भुवनपतये स्वाहा। भूतानां पतये स्वाहा।

व्याख्या : हे प्रोक्षण से बचे हुए जल! तुम वेदी रूप पृथिवी को आर्द्र (गीला) करने वाले हो। (हे प्रस्तर) दर्भमुष्टि तुम यज्ञ की शिखा रूप हो। हे वेदि! देवताओं को सुखपूर्वक बैठने के लिए ऊन के समान

आरामदायक (मुलायम) कुशाओं को तुम पर रख रहा हूँ। अग्नि के तीन भाईयों (भुवपति भुवनपति तथा भूतानांपति के उद्देश्य से यह हवि प्रदान करता हूँ।

म॰ : 'शेषं मूलेषूपसिञ्चत्यदित्यै व्युन्दनम्' (का॰ 2/7/20) इति। हे प्रोक्षणशेषोदक, त्वमदित्यै अदित्या भूम्याः व्युन्दनमसि विशेषेण क्लेदनमसि ।। 'बर्हिर्विस्रꣳस्य पुरस्तात्प्रस्तरग्रहणं विष्णोरिति' (का॰ 2/7/21) इति। हे प्रस्तर दर्भमुष्टिरूप, त्वं विष्णोर्यज्ञस्य स्तुपोऽसि। 'ष्ट्यै स्त्यै शब्दसङ्घात्योः'। औणादिको दुप्प्रत्ययः। दर्भसङ्घातरूपत्वात्केशसङ्घातरूपा शिखेव भवसि ।। 'वेदिꣳस्तृणात्यूर्णम्रदसमिति' (का॰ 2/7/22) इति। हे वेदे, त्वां स्तृणामि बर्हिषा छादयामि। किंभूतां त्वाम्। ऊर्णम्रदसमूर्णमिव मृदुतरामतिशयेन मृदुर्भ्रदीयसी। ईयलोपश्छान्दसः। यथा प्रभोरुपवेष्टुं भूमिः कम्बलादिनाच्छाद्यते काठिन्याभावाय तथा दर्भैराच्छादिता वेदिर्मृदुः स्यात्। पुनः किंभूतां त्वां देवेभ्यः स्वासस्थां देवोपकाराय सुखेनासितु स्थानभूतां सुखेन आसेनासनेन स्थीयते यस्यां सा स्वासस्था ताम्। 'स्कन्नमभिमृशति भुवपतये स्वाहेति' (का॰ 2/7/22) इति। एतन्मन्त्रत्रयस्यात्रोत्कर्षः। भुवपत्यादयस्त्रयोऽग्नेर्भ्रातरः। स्वाहाशब्दो निपातो देवान्प्रति दानवाची। 'स्वाहाकारं च वषट्कारं च देवा उपजीवन्ति' इति श्रुतेः। हविर्ग्रहणकाले परिधिभ्यो बहिर्यद्धविः स्कन्नं तद्भुवपत्यादिभ्यः। अग्नेर्भ्रातरो वषट्कारभयाद्भूमिं प्राविशं-स्तद्दुःखेनाग्निरपि पलाय्योदके प्राविशत्ततो देवैरानीय स्वाधिकारे स्थाप्यमान एवमवदद्यदेतैर्मंखातृभिर्मा परिधत्तैषां च यज्ञभागः कल्प्यतामिति। ततस्तेऽग्ने-र्भ्रातरः परिधयो जातास्तेषां च स्कन्नं हविर्भागः कृत इति कथा ।।2।।

तृतीया

गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिडऽईडितः। इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः। मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण धर्मणा विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिडऽईडितः ।।३।।

अन्वय : (आदौ) हे परिधे! विश्वावसु (नामा) गन्धर्वः विश्वस्य अरिष्ट्यै त्वा त्वाम् परिदधातु। त्वं यजमानस्य परिधिः असि।

(हे द्वितीय परिधे) इन्द्रस्य दक्षिणो बाहुरसि। विश्वस्य अरिष्ट्यै। त्वांपरिदधत् अग्निरिड–ईडितः। (हेतृतीयपरिधे!) मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणा उत्तरतः त्वां परिधत्ताम् विश्वस्य अरिष्टयै। यजमानस्य परिधिरसि अग्निरिड ईडितः।

व्याख्या : [इस मन्त्र में परिधि निधान की विधि प्रस्तुत है] हे परिधि! विश्वावसु नामक गन्धर्व तुम्हें आहवनीय के सभी स्थानों में (पश्चिम, दक्षिण, उत्तर दिशा में) स्थापित करें जिससे तुम्हारी किसी प्रकार की क्षति न हो। अन्यथा असुर प्रविष्ट होकर हिंसा करते हैं। हे प्रथम परिधि। (हे प्रथम परिधि!) तुम यजमान की असुरों से रक्षा करने के लिए पश्चिम दिशा में स्थापित हो। आहवनीय के प्रथम भ्राता भुवपति नामक अग्निरूप भी तुम्हीं हो। तुम स्तुति के योग्य हो। इसीलिए होता आदि ऋत्विजों द्वारा तुम्हारी स्तुति की जाती है। हे द्वितीय परधि–तुम इन्द्र की दक्षिण भुजा हो। यजमान की रक्षा के लिए दक्षिण दिशा में स्थापित हो। भुवनपति रूप अग्नि भी तुम्हीं हो। तुम स्तुत्य हो। इसीलिए ऋत्विजों द्वारा तुम्हारी स्तुति होती है। हे तृतीय परिधि! मित्र एवं वरुण देवता सभी की रक्षा के लिए तुम्हें उत्तरदिशा में स्थापित करें। तुम अग्नि के तृतीय भ्राता भूतपति हो। तुम स्तुति के योग्य हो इसीलिए तुम्हारी स्तुति होता आदि आदि ऋत्विजों द्वारा की गई है। यहाँ सर्वप्रथम पश्चिम दिशा में परिधि रखी जाती है।

म० : 'परिधीन्परिदधाति मध्यमदक्षिणोत्तरान् गन्धर्व इति प्रतिमन्त्रम् (का० 2/8/1) इति। आदौ पश्चात् हे परिधे, विश्वावसुनामा गन्धर्वः त्वां परिदधातु आहवनीयस्य पश्चात्सर्वतः स्थापयतु। विश्वस्मिन्सर्वस्मिन्देशे वसतीति विश्वावसुः। द्युलोकस्थं सोमं रक्षितुं तत्पार्श्वे सर्वत्र गन्धर्वोऽवसदिति श्रुत्यन्तरकथा। किमर्थं स्थापयतु। विश्वस्यारिष्टयै। 'रिष हिंसायां' रेषणं रिष्टिः अरिष्टिःस्तस्यै। आहवनीयस्थानरूपस्य विश्वस्य हिंसापरिहाराय। परिध्यभावेऽसुराः प्रविश्य हिंसन्ति। किंच त्वं यजमानस्य परिधिरसि। न केवलमग्नेः परिधिः यजमानमप्यसुरेभ्यो रक्षितुं पश्चिमदिशि स्थापितोऽसि। किंच अग्निरिडः ईडितश्चासि। आवहनीयस्य प्रथमो भ्राता भुवपतिनामा–ग्निरूपस्त्वमसि। ईडितश्चासि। आवहनीयस्य प्रथमो भ्राता भुवपतिनामाग्नि–रूपस्त्वमसि। ईड्यते स्तूयते इतीड् स्तुतियोग्यः। अतएव ईडितः स्तुतो

होत्रादिभिः। 'ईड स्तुतौ'। दक्षिणं परिधि परिदधाति। इन्द्रस्य बाहुरसि। हे द्वितीय परिधे, त्वमिन्द्रस्य दक्षिणो बाहुरसि। रक्षणसमर्थत्वादिन्द्रबाहुत्वोपचारः। विश्वस्येत्यादि व्याख्यातम्। अत्राग्निशब्देन भुवनपतिनामा। द्वितीयो भ्राता। तृतीयमुत्तरं परिधि परिदधाति। मित्रावरुणौ। हे तृतीयपरिधे, मित्रावरुणौ वाय्वादित्यौ ध्रुवेण स्थिरेण धर्मणा धारणेन उत्तरस्यां दिशि त्वां परिधत्ताम् परितः स्थाप्यताम्। विश्वस्येत्यादि पूर्ववत्। अत्राग्निर्भूतानापतिस्तृतीयो भ्राता ।।3।।

चतुर्थी

वीतिहौत्रं त्वा कवे द्युमन्तꣳ समिंधीमहि। अग्नें बृहन्तंमध्वरे ।।४।।

अन्वय : हे कवे! अग्ने! वीतिहोत्रं द्युमन्तं बृहन्तं त्वा (त्वाम्) अध्वरे समिधीमहि।

व्याख्या : हे कवे अतीत, अनागत तथा दूरवर्ती पदार्थों के युगपत् ज्ञाता अग्निदेव! होमकर्ता को समृद्धि देने वाले, हवि के अभिलाषी प्रकाशस्वरूप, महान ऐश्वर्य वाले तुम्हें इस हिंसारहित यज्ञ में समिधा से प्रज्वलित कर रहे हैं।

म॰ : 'प्रथमं परिधिꣳ समिधोपस्पृश्य वीतिहोत्रमित्यादधाति' (का॰ 2/8/2) इति। इयमृक् अग्दिदेवत्या गायत्रीच्छन्दस्का। हे कवे क्रान्तदर्शिन् हे अग्ने! अध्वरे यागे निमित्ते त्वां वयं समिधीमहि अनेनेध्मकाष्ठेन दीपयामः। अतीतानागतदूरवर्तिपदार्थानां यस्य युगपज्ज्ञानं स कविः। किंभूतं त्वाम् वीतिहोत्रम्। 'इण् गतौ' इतिर्गतिः व्याप्तिः पुत्रपौत्रपशुधनादिभिः समृद्धिरित्यर्थः। वीतये समृद्धैय होत्रं होमो यस्य स वीतिहोत्रस्तं यत्र होमे कृते समृद्धिप्राप्तिः स्यादित्यर्थः। यद्वा वीतिरभिलाषो होत्रे होतृकर्मणि यस्य तम्। तथा द्युमन्तम्। द्यौः कान्तिरस्यास्तीति द्युमान् तं स्वत एव द्युत्युपेतम् तथा बृहन्तं महान्तम् ।।4।।

पञ्चमी

समिदंसि सूर्यस्त्वा पुरस्तांत्पातु कस्यांश्चिदभिशंस्त्यै। सवितुर्बाहू स्थऽऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्यऽआ त्वा व्वसंवो रुद्राऽआंदित्याः संदन्तु ।।५।।

अन्वय : (हे द्वितीय इध्मकाष्ठ!) त्वं समिदसि। सूर्यः कस्याश्चित् अभिशस्त्यै त्वां पुरस्तात् पातु। (हे तृणे) युवां सवितुः बाहू स्थ। देवेभ्यः स्वासस्थम् ऊर्णम्रदसं त्वां स्तृणामि। वसवः रुद्राः आदित्याः त्वा स्तृणामि, वसवो रुद्राः आदित्या त्वा (आ) समन्तात् सदन्तु सर्वतः प्रसारयन्तु।

व्याख्या : (हे इध्मकाष्ठ!) तुम अग्नि के प्रज्वालक (दीप्तिकर्ता) हो। (हे आहवनीय!) भगवान सूर्य पूर्व दिशा में सभी हिंसाओं से तुम्हारी रक्षा करें। हे तृणद्वय! तुम दोनों प्रस्तर के धारण द्वारा सविता देवता के बाहुद्वय हो। देवों के सुखपूर्वक उपवेशन के लिए ऊन के समान मुलायम तुम्हें मैं बिछाता हूँ। वसु, रुद्र तथा आदित्य ये तीनों सवनों के देवता तुम्हारे उपर सूखपूर्वक बैठें।

म॰ : अनुपस्पृश्य द्वितीयं समिदसीति (का॰ 2/8/3) इति।। हे इध्मकाष्ठ, समिदसि अग्नेः समिन्धनं दीपनमसि।। 'सूर्यस्येति जपत्याहवनीयमीक्षमाणः' (का॰ 2/8/4) इति।। हे आहवनीय, सूर्यः पुरस्तात्पूर्वस्यां दिशि कस्याश्चिदभिशस्त्यै सर्वस्या अभिशस्तेर्हिंसायाः सकाशात्त्वा त्वां पातु रक्षतु। चतुर्थी पञ्चम्यर्थ। या काचिद्धिंसा प्रसक्ता तां सर्वां परिहरत्वित्यर्थः। इतरदिक्रये परिधित्रयं रक्षकं पूर्वस्यां तदभावात् सूर्यः। तथाच श्रुतिः 'गुप्तै वा अभितः परिधयो भवन्त्यर्थतत्सूर्यमिव पुरस्ताद्गोप्तारं करोति' (1/3/4/8) इति। 'बर्हिषस्तृणे तिरश्च्यो निदधाति सवितुरिति' (का॰ 2/8/5) इति। तृणद्वयं प्रस्तरस्थापनार्थ तिर्यग् निदध्यात्। हे तृणे, युवामुभे सवितुर्देवस्य बाहू स्थः। प्रस्तरधारणेन सूर्यस्य बाहू इव भवथः।। 'तयोः प्रस्तरꣳ स्तृणात्यूर्णम्रदसमिति' (का॰ 2/8/10) इति। ऊर्णमिव मृदुं देवभ्यो देवानां स्वासस्थं सुखेनासनेन स्थीयते यत्र तादृशं त्वां स्तृणामि। 'अभिविदधात्या त्वा वसवः' (का॰ 2/8/11) इति। प्रस्तरंप्रति पाणी निदधाति। वसवो रुद्रा आदित्याः सवनत्रयाभिमानिनस्त्रयो देवाः त्वामासद्न्तु आसादयन्तु सर्वतः प्रसारयन्तु।।5।।

षष्ठी

घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्नां प्रियꣳ सदऽआसींद घृताच्यस्युपभृन्नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्नां प्रियꣳसदऽआसींद घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्नां प्रियꣳ सदऽआसींद प्रियेण धाम्नां

प्रियꣳसदꣳऽआसीद। ध्रुवाऽअसदन्नृतस्य योनौ ता विष्णो पाहि पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं पाहि मां यज्ञन्यम् ।।६।।

अन्वय : (हे जुहू) त्वं जुहूः नाम्ना घृताची असि। प्रियेणधाम्ना इदं प्रियं सदः आसीद। हे द्वितीयपात्र। उपभृत् नाम्ना घृताची असि। स इदं प्रियेण धाम्ना प्रियं सदः आसीद। अधितिष्ठ हे तृतीय पात्र ध्रुवा नाम्ना–घृताची असि। स इदं प्रियेण धाम्ना प्रियं सदः आसीद। (हे हवि!) प्रियेण धाम्ना प्रियं सदः आसीद। हे विष्णो! ऋतस्य योनौ असदन् ताः, पाहि (एतानि हवींषि) यज्ञं पाहि, यज्ञपतिं मां यज्ञन्यं (अध्वर्युं) च पाहि।

व्याख्या : (हे जुहू) नामक यज्ञपात्र तुम जुहू नाम से प्रसिद्ध तथा घृत से पूर्ण हो अतः तुम देवों के प्रिय तेजोरुप घृत (आज्य) के साथ इस प्रस्तर नामक आसन पर स्थित होओ। (हे द्वितीयपात्र) तुम उपभृत नाम से पुकारे जाते हो और घृत से पूर्ण हो ऐसे तुम देवों के अत्यन्त प्रिय तेजोरूपघृत के साथ इस प्रिय आसन पर स्थित होओ। (हे तृतीययज्ञपात्र) तुम्हारा नाम ध्रुवा है तुम भी देवों के प्रियतमधाम आज्य के साथ इस प्रस्तर पर स्थिर होओ। हे हवि, तुम भी आज्य के साथ इस प्रिय आसन पर स्थिति होओ। हे विष्णु आप सत्य स्वरूप हैं। यज्ञवेदि में जो हवि रखी गई है उसकी रक्षा करें। आप यज्ञ यज्ञपति (यजमान) तथा यज्ञ के निर्वाहक मेरी (अध्वर्यु) भी रक्षा करे।

म० : 'सव्याशून्ये जुहूं प्रतिगृह्य निदधाति घृताचीत्येवमितरे उत्तराभ्यां प्रतिमन्त्रम्' (का० 2/8/12–13) इति। हे जुहु, त्वं घृताची असि। घृतमञ्चति प्राप्नोतीति घृताची घृतपूर्णा भवसि। नाम्ना च जुहूः। हूयतेऽनयेति जुहूः। 'क्विपि द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे च जुहोतेर्दीर्घश्च' (पा० क० 3/2/178) इति द्वित्वं दीर्घश्च। सा त्वं प्रियेण धाम्रा देववल्लभेनाज्येन सह इदं प्रियं सदः प्रस्तरलक्षणमासीद अधितिष्ठ। 'एतद्वै देवानां प्रियतमं धाम यदाज्यम्' (2/3/2/17) इति श्रुतेः। प्रियधामशब्देनाज्यम्। उपभृतं सादयति। उप समीपे स्थित्वा बिभर्ति आज्यं धारयतीत्युपभृत्। व्याख्यातमन्यत्। ध्रुवा सादयति। 'ध्रुव स्थैर्ये'। यथा होमार्थं जुहूपभृतोश्चलनं तद्वदस्याश्चलनाभावेन स्थिरत्वान्नाम्रा ध्रुवा। अन्यद्वयाख्यातम्। 'प्रियेण धाम्नेति हवीꣳषि वेद्यां कृत्वा' (का० 2/8/19) इति। हे हविः, संबोध्य वचनम्। 'ध्रुवा असदन्निति

सर्वाण्यालभते' (का० 2/8/19) इति। ऋतस्यावश्यंभाविफलोपेतत्वेन सत्यस्य यज्ञस्य योनौ स्थाने ध्रुवाणि यानि हवींषि असदन्नतिष्ठन्। हे विष्णो व्यापक यज्ञपुरुष, ता तानि हवींषि पाहि रक्ष। यज्ञं च पाहि यज्ञपतिं च पाहि। 'पाहि मामित्यात्मानम्' (का० 2/8/20) इति। यज्ञं नयतीति यज्ञनीः तं यज्ञन्यमध्वर्यु मां पाहि ॥6॥

सप्तमी

अग्ने॑ वाजजि॒द्वाजं॑ न्त्वा सरि॒ष्यन्तं॑म्बाज॒जित॒ꣳ संमा॑र्ज्मि। नमो॑ दे॒वेभ्यः॑ स्व॒धापि॒तृभ्यः॑ सु॒यमे॑ मे भूयास्तम् ॥७॥

अन्वय : हे वाजजिद् अग्ने! वाजं सरिष्यन्तं वाजजितं त्वां सम्मार्ज्मि। देवेभ्यो नमः, पितृभ्यः स्वधा। हे जुहूपभृतौ मे सुयमे (साधु नियते) भूयास्तम् (भवतम्)।

व्याख्या : हे अन्नजेता अग्निदेव! अन्न सम्पादन के हेतु भूत तथा अन्न प्रतिबन्ध के निवारक आपको शुद्ध करता हूँ। जो देवगण अनुष्ठान को अनुगृहीत कर रहे हैं, ऐसे देवों को नमस्कार हो। पितरों को तृप्त करने वाली यह हवि पितरों को प्राप्त हो। हम उन्हें भी प्रणाम करते है। हे जुहु और उपभृत (यज्ञपात्र) तुम दोनों स्थिर बने रहो, जिससे कि तुझमें स्थित आज्य गिरने न पावें। यहाँ तीन बार आहवनीय के मध्य में प्राक्संस्थ सम्मार्जन करते हुए अध्वर्यु अंजलिबद्ध होकर देवताओं तथा पितरों को प्रणाम करता है।

म० : 'इध्मसन्नहनैरनुपरिधिं संम्माष्ट्र्यग्ने वाजजिदिति त्रिस्त्रिः परिक्रामम्' (का० 3/1/13) इति। वाजमन्नं जयतीति वाजजित्। तत्संबुद्धौ हे वाजजित् हे अग्ने, त्वामहं संमाज्मि शोधयामि। किंभूतं त्वाम्। वाजं सरिष्यन्तमन्नमुद्दिश्य जयोपेतम्। अन्नप्रतिबन्धनिवारकमित्यर्थः। 'अपरमा हवनीयादञ्जलिं करोति देवेभ्य इति' (का० 3/1/15) इति। ये देवा अनुष्ठानमनुगृह्णन्ति तेभ्यो नमस्करोति। 'स्वधा पितृभ्य इति दक्षिणत उत्तानम्' (का० 3/1/15) इति। प्राङ्मुखेनादौ देवानत्यर्थमञ्जलिः कृतः। इदानीं पितृनत्यर्थं दक्षिणामुख उत्तानमञ्जलिं कुर्यात्। ये पितरः पालकाः सन्ति तेभ्यः स्वधाऽस्तु। स्वधाशब्दो निपातः पितृनुद्दिश्य देयद्रव्यस्य दाने वर्तते। अतो यद्देयं तद्दास्याम इत्यर्थः। अनेन मन्त्रद्वयेन देवाः पितरश्चोपचर्यन्ते।

'सुयमे म इति जुहूपभृतावादाय' (का० 3/1/16) इति। हे जुहूपभृतौ मे मदर्थं सुयमे सुष्टु युवां भूयास्तं भवतम्। यथा युवयोः स्थितमाज्यं न स्कन्दति तथा धारयतमित्यर्थः ॥7॥

अष्टमी

अस्कन्नमद्य देवेभ्यऽआज्यꣳ संभ्रियासमङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषं वसुमतीमग्ने ते च्छायामुपस्थेषं विष्णो स्थानमसीतऽइन्द्रो वीर्यमकृणोदूर्ध्वोऽध्वरऽआस्थात् ॥८॥

अन्वय : अद्य देवेभ्य आज्यम् अस्कन्नं सम्भ्रियासम्। विष्णोः अंघ्रिणा त्वा मा अवक्रमिषम्। हे अग्ने ते वसुमतीं छायाम् उपस्थेषम् (सेवेय) विष्णोः यज्ञस्य त्वं स्थानमसि। इन्द्र इतः वीर्यम् अकृणोत अध्वर ऊर्ध्वम् आस्थात्।

व्याख्या : आज देवताओं के निमित्त दिये जानेवाले हविरूप घृत को भूमि पर बिना गिराये ही अच्छी तरह जुहूएवं उपभृत में स्थिर करता हूँ। हे विष्णुरुप यज्ञपुरुष! मैं अपने पॉव से आपका अतिक्रमण न करूं। हे अग्ने! धन प्रदान करने वाली तुम्हारी छाया का आश्रय लेता हूँ, क्योंकि तुम विष्णु (यज्ञ) के स्थान हो। इन्द्र इसी यज्ञस्थान से बल प्राप्त करके शौर्य कर्मो का सम्पादन करता है। अतः यह यज्ञ भी विध्नाभाववश उन्नत होकर स्थिर है। यहाँ यजति एवं जुहोति स्थान पर गमनागमन की विधि बताई गयी है।

म० : तथा सति अद्यास्मिन्ननुष्ठानदिने देवेभ्यो देवोपकारायाज्यं युवयोः स्थितं घृतम् अस्कन्नं भूमौ यथा न स्कन्दति तथा, संभ्रियासं सम्यक् पोषणं करोमि धारणं वा। आशीर्लिङि उत्तमे रूपम्। 'दक्षिणतिक्रा-मत्यङ्घ्णा पादेन त्वा त्वाम् अहं मा अवक्रमिषम् मा कार्षम्। पादेनातिक्रमणदोषो में मा भूदित्यर्थः। 'वसुमतीमित्यवस्थाय' (का० 3/1/19) इति। हे अग्ने, ते तव छायां छायावत्समीपवर्तिनी वसुमतीं भूमिम् अहमुपस्थेषम् उपतिष्ठेयं सेवेय। उपपूर्वस्तिष्ठतिः सेवार्थः। स एवमेवोपकारः कथ्यते। हे वसुमति, त्वं विष्णोर्यज्ञस्य स्थानमसि। अत्र स्थित्वा यागः कर्तुं शक्यत इत्यर्थः। आहवनीयसमीपवर्तित्वादस्या भूमेर्यज्ञस्थानत्वम्। यद्वा अयमर्थः। हे अग्ने, ते तब वसुमती धनवतीं धनप्राप्तिकरीं छायामाश्रयं उपस्थेयं सेवेयव

छायाशब्द आश्रयवाचकः। युष्मत्पादच्छायायां वसामीति यावत्। यतस्त्वं विष्णोर्यज्ञस्य स्थानमसि। 'इत इन्द्र इति जुहोति' (का० 3/2/1) इति। पूर्वमन्त्रे यज्ञसंबन्धि यत्स्थानमुक्तं तदेव देवानां विजयहेतुत्वादितःशब्देन परामृश्यते। देवयजनव्यतिरिक्तभूमिरसुराधीनत्वेन तत्र देवानां पराजयेऽपि यज्ञप्रदेशः पराजयरहितः। तदेवोच्यते मन्त्रेण। इत इन्द्रः। इन्द्र इतोऽस्माद्देवय-जनस्थानात् उद्युक्तः सन्निति शेषः। वीर्यमकृणोत वीरस्य कर्म वीर्य शत्रुवधरूपमकरोत्। अतएवाध्वरो यज्ञ ऊर्ध्वमास्थात् उन्नतः स्थितः। इन्द्रेण वीर्ये कृते शत्रुकृतविघ्नाभावादध्वरस्यौन्नत्यम् ॥8॥

नवमी

अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्यमवतां त्वान्द्यावापृथिवी अव त्वं द्यावापृथिवी स्विष्टकृद्देवेभ्यऽइन्द्र आज्येन हविषा भूत्स्वाहा संज्योतिषा ज्योतिः ॥९॥

अन्वय : हे अग्ने! होत्रं वेः (विद्धि)। दूत्यं वेः। द्यावापृथिवी त्वाम् अवताम्। त्वं द्यावापृथिवी अव। इन्द्रः आज्येन हविषा भूत् स्वाहा, ज्योतिषा ज्योतिः सम् (संगच्छताम्)।

व्याख्या : हे अग्ने! आप अपने कर्तव्य होतृकर्म (देवताओं का आवाहन रूप) कर्म एवं दौत्यकर्म (हवि देवताओं को पहुँचाने) दोनों को भलीभँति जानिए। द्यावापृथिवी आपकी रक्षा करें और आप भी इनकी रक्षा करें। इन्द्र हमारे द्वारा प्रदत्त आज्यहवि से देवताओं को तृप्त करने वाले हों। यह आहुति इन्द्र के लिए सुहुत हो। इस प्रदीप्त अग्निरुप ज्योति से यह घृत रूप ज्योति मिल जाय।

म० : तस्मात् हे अग्ने, होत्रं वेः होतुः कर्म विद्धि। लङि अडभावे रूपम्। दूत्यं दूतकर्म च वेः विद्धि। होतृत्वं दूतत्वं चाग्नेः कर्म। तथाच श्रुतिः 'उभयं वा एतदग्निर्देवानाᳪहोता च दूतश्च' (1/4/5/4) इति। ईदृशं त्वां द्यावापृथिवी अवतां पालयताम्। हे अग्ने, त्वमपि द्यावापृथिवी लोकद्वयदेवते अव पालय। इत्थमन्योन्यपालने सति इन्द्रः आज्येन हविषास्माभिर्दत्तेन देवेभ्यो देवार्थं स्विष्टकृत् भूत्। सुष्टु इष्टं करोतीति स्विष्टकृत् तादृशो भवतु। अडभावश्छान्दसः। यद्यस्माभिरिज्यते तत्तदिष्टं सर्वं वैकल्यरहितं करोत्वित्यर्थः। स्वाहा सुहुतम् अस्तु। इन्द्रंदेवमुद्दिश्य इदमाज्यं दत्तमित्यर्थः। स्वाहेति निपातो

देवोद्देशेन दाने वर्तते 'जुह्वा ध्रुवां समनक्ति संज्योतिषा' (का॰ 3/2/2) इति। संगच्छतामित्यध्याहारः। ज्योतिषा ध्रुवास्थिताज्यरूपज्योतिषा सह ज्योतिर्जुह्वासिच्यमानरूपं ज्योतिः संगच्छताम् ।।9।।

दशमी

मयीदमिन्द्रंऽइन्द्रियं दधात्वस्मान्रायो मघवानः सचन्ताम्। अस्माकंꣳ सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिषऽउपहूता पृथिवी मातोप मां पृथिवी माता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात्स्वाहा ।।१०।।

अन्वय : हे इन्द्र! इदम् इन्द्रियं मयि दधातु। रायः मघवानः अस्मान् सचन्ताम्। अस्माकम् आशिषः सन्तु आशिषः नः सत्याः सन्तु। पृथिवी माता उपहूता माता माम् उपह्वयताम्। आग्नीध्रात् अग्निः स्वाहा।

व्याख्या : हे ऐश्वर्यवान् इन्द्रदेवता आप अपेक्षित बल (इन्द्रिय सामर्थ्य) को मुझमें स्थापित करें। तथा अनेकविध धन एवं ऐश्वर्य से हमें सम्पन्न करें। हमें पूज्य देवताओं एवं गुरुजनों के आशीर्वाद प्राप्त होते रहें। तथा वे आशीर्वाद सत्य हो। मेरे द्वारा आराधित पृथिवीमाता अपनी शरण में हमें आश्रय दें तथा हमें यह ह विशेष भक्षण की अनुमति प्रदान करें। अग्निसन्दीपनादिकर्म करने से मैं अग्नरुप हो गया हूँ। यह पुरोडाशशेष भाग जठराग्नि में सुहुत हो।

म॰ : 'आशासने मयीदमिति यजमानो जपति' (का॰ 3/4/21) इति। प्रधानयागानन्तरं पुरोडाशशेषप्राशनसमये होतरि आशिषं प्रयुञ्जाने सति यजमानो जपति। इन्द्रः परमेश्वर इदमिन्द्रियं मयि दधातु। इदम् अस्मदपेक्षितम् इन्द्रियं वीर्य मयि यजमाने स्थापयतु। किंच रायो धनानि दैवमानुषभेदेन द्विविधानि, मघवानः धनवन्तश्चास्मान्यजमानान् सचन्तां सेवन्ताम्। 'षच् सेवने'। किंच अस्माकं यजमानानामाशिषोऽभीष्टार्थस्याशंसनानि सन्तु विद्यन्ताम्। किंच नोऽस्माकमाशिषः पूर्वोक्ता सत्या अवितथाः सन्तु। मघमिति धननाम तद्विद्यते येषां ते मघवानः। अस्त्यर्थे वन्प्रत्ययः (पा॰ 5/2/109)। 'एकैकमाहरति द्यावापृथिव्योरुपह्वानेऽग्नीध्रे षडवत्तम्। प्राश्नात्युपहूता पृथिवीति' (का॰ 3/4/18-20) यदा होता द्यावापृथिव्योरुपह्वानं करोति तदोभयोः पुरोडाशयोरेकैकमंशं षडवत्ते षडवत्ते कृत्वाग्नीध्रे ददाति स चोपहूतेति मन्त्रेण तत्प्राश्नातीति सूत्रार्थः। उपहूता येयं पृथिवी दृश्यते सा

जगतो माता निर्मात्री मयोपहूता अभ्यनुज्ञाता। सा च पृथिवी माता मातृत्वेनास्माभिर्भाविता सती मामुपह्वयतामनुजानातु। हवि:शेषभक्षणायाज्ञां ददातु। अहं चाग्नीध्रात्। अग्नीध्र इदं कर्माग्नीध्रं तस्माद्धेतोरग्नि: सन् तं भागं प्राश्नामीति शेष:। स्वाहा सुहुतमस्तु जाठरेऽग्नौ ।।10।।

एकादशी

उप॑हूतो॒ द्यौष्पि॒तोप॒ मान्द्यौष्पि॒ता ह्व॑यताम॒ग्निराग्नी॑ध्रा॒त्स्वाहा॑। दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्या॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्या॒ प्रति॑गृहाम्य॒ग्नेष्ट्वा॒स्ये॒न॒ प्राश्ना॑मि ।।११।।

अन्वय : उपहूत: द्यौ: पिता, पिता द्यौ: मा उपह्वयताम। आग्नीध्रात् अग्नि: स्वाहा। सवितु: देवस्य प्रसवे अश्विनों: बाहुभ्यां पूष्णों हस्ताभ्यां त्वा प्रतिगृह्णामि। अग्ने: आस्येन त्वा प्राश्नामि।

व्याख्या : यज्ञ में आहूत हुआ द्युलोक जगत् का पालक होने से पिता है, वह पिता (द्यौ) मुझे हविशेष–अन्नभक्षण करने की अनुमति प्रदान करे। अग्नि के प्रज्वलन कर्म के द्वारा मैं अग्नि के समान होकर उस अन्नभाग का भक्षण करता हूँ। यह जठराग्नि में उत्तम आहुति के रूप में हो। सविता देवता की प्रेरणा से अश्विनी कुमारों की बाहुओं और पूषा के दोनों हाथों से प्राशित्र रुप प्रसाद को ग्रहण करता हूँ। हे प्राशित्र, अग्नि के मुख से तुम्हारा भक्षण करता हूँ। यहाँ प्राशित्र भक्षण का प्रसंग है जो ब्रह्मा का भाग है।

म० : द्वितीयं प्राश्नाति। एवं द्यौ: पिता जगत्पालक उपह्वयतामित्यादि समानार्थम्। देवस्य त्वा। इत:प्रभृति 'ओंप्रतिष्ठ' (ख० 13) इत्यन्तं ब्रह्मत्वम् तस्याङ्गिरसो बृहस्पतिर्ऋषि:। 'देवस्य त्वेति प्रतिगृह्णाति' (का० 2/2/16) इति। ब्रह्मा देवस्य त्वेति प्राशित्रं गृह्णाति। मन्त्रो व्याख्यात:। प्रतिगृह्णामि स्वीकरोमीति शेष:। 'अग्नेंष्ट्वेति प्राश्नाति दन्तैरनुपस्पृशन्' (का० 2/2/18) इति। हे प्राशित्र अग्ने: आस्य, ते बह्निदेवताया मुखेन त्वा त्वां प्राश्नामि भक्षयामि ।।11।।

द्वादशी

ए॒तन्ते॑ देव सवितर्य॒ज्ञं प्राहु॒र्बृह॒स्पत॑ये ब्र॒ह्मणे॑। तेन॑ य॒ज्ञम॑व॒

तेनं युज्ञपतिंन्तेन् मामव ।।१२।।

अन्वय : (हे) देव सवितः! एतं यज्ञं ते (तुभ्यं) प्राहुः (कथयन्ति) बृहस्पतये ब्रह्मणे च प्राहुः। तेन यज्ञम् अव। तेन यज्ञपतिं, तेन माम् अव (रक्ष)।

व्याख्या : हे दिव्यगुणसम्पन्न सवितादेव! यह यज्ञादि अनुष्ठान आपके लिए ही किया जाता है-ऐसा सभी वेद, शास्त्र ऋषि मुनि आदि कहते हैं। आप वाणी के पति और यज्ञ में ब्रह्मरुप है। अतः आप इस यज्ञ की, यजमान की तथा मेरी (मानुष ब्रह्मा) रक्षा कीजिए।

म॰ : 'एतं त इति समिदामन्त्रितः प्रसौति' (का॰ 2/2/21) इति समिधमाधातुमनुज्ञाप्रदानाय बोधितो ब्रह्मा मन्त्रेणानुजानीयात्। एतं त इत्यादिः ओंप्रतिष्ठेत्यन्तो मन्त्रः। दानादिगुणयुक्त, हे सवितः प्रसवितः, एतं यज्ञमिदानीं क्रियमाणमिमं मखं ते तुभ्यं त्वदर्थ प्राहुर्यजमानाः कथयन्ति। अनुज्ञापयन्तीत्यर्थः। किंच त्वया प्रेरितो देवानां यज्ञे यो ब्रह्मा तस्मै ब्रह्मणे बृहस्पतये च प्राहुः बृहस्पतिर्वै देवानां ब्रह्मा तदधिष्ठित एवायं मानुषो ब्रह्मत्वं करोति। किंच तेन हेतुना त्वदीयत्वेन मामव रक्ष। तथा तैनेव हेतुना यज्ञपतिं यजमानं चाव रक्ष। तथा तेनैव हेतुना मां ब्रह्माणमव पालय ।।12।।

त्रयोदशी

मनों जूतिर्जुषतामाज्यंस्य बृहुस्पतिर्युज्ञमिमं तंनोत्वरिंष्टं युज्ञꣳसमिमन्दंधातु। विश्वेंदेवासंऽइह मांदयन्तामोऽप्रतिंष्ठ ।।१३।।

अन्वय : (हे सवितः!) जूतिः मनः आज्यस्य (घृतं) जुषताम् बृहस्पतिः इमं यज्ञं तनोतु इमं यज्ञम् अरिष्टं सन्दधातु। विश्वेदेवासः इह मादयन्ताम् ओम् प्रतिष्ठ।

व्याख्या : (हे सविता देवता!) शीघ्रगतिशील आपका मन इस यज्ञीय-आज्य का सेवन करे। बृहस्पतिदेव इस यज्ञ का विस्तार करें तथा इसे निर्विघ्न पूर्ण करें। सभी देव यहाँ आकर प्रसन्न हों (तृप्त हों) इस प्रकार प्रार्थित सवितादेवता हमें अनुज्ञा प्रदान करे, तथा समिधादान काल में यज्ञमान को जाने की प्रेरणा प्रदान करें।

म॰ : किंच। मनः आज्यस्य जुषताम्। कर्मणि षष्ठी। मनः घृतं

सेवताम्। हे सवितः, त्वदीयं चित्तं यज्ञसंबन्धिन्याज्ये स्थापयेत्यर्थः। किंभूतं मनः। जूतिः। अवतेर्गतिकर्मणो जूतिरिति क्तिन्प्रत्ययान्तो निपातः। स्त्रीत्वं छान्दसम्। अतीतानागतवर्तमानकालगतपदार्थेषु गमनशीलं हि मनः। जवते शीघ्रं गच्छतीति जूतिः। किंच बृहस्पतिरिमं यज्ञं तनोतु विस्तारयतु ब्रह्मत्वात्। तत् इमं यज्ञमरिष्टं हिंसारहिंत कृत्वा संदधातु। इडाभक्षणेन हि मध्ये यज्ञो विच्छिन्न इत्येवमुच्यते। किंच विश्वेदेवासः सर्वे देवाः इह यज्ञकर्मणि मादयन्ताम्। 'मद तृप्तौ' चुरादेः। तृप्यन्ताम्। एवं प्रार्थितः सविता देवः ओंप्रतिष्ठेत्यनुज्ञां प्रयच्छतु। ओमित्यङ्गीकारार्थः। तथास्तु। प्रतिष्ठ प्रयाणं कुरु। समिदाधानकाले यजमानस्याभिप्रेतं प्रयाणमवगम्य सविता देवोऽङ्गीकृत्य प्रयाणे प्रेरयतीत्यर्थः ।।13।।

चतुर्दशी

एषा तेंऽअग्ने समित्तया वर्धस्व चा चं प्यायस्व। वर्धिषीमहिं च व्वयमा चं प्यासिषीमहि। अग्नें वाजजिद्वाजंन्त्वा ससृवार्ठ्ठंसम्म्वाजजितर्ठ्ठं संमार्ज्मि ।।१४।।

अन्वय : हे अग्ने! एषा समित् ते (तव) तया वर्धस्व आप्यायस्व च। वयं च वर्द्धिषीमहि आप्यासिषीमहि। हे वाजजिद् अग्ने! वाजं ससृवांसं वाजजितं त्वां सम्मार्ज्मि।

व्याख्या : हे अग्निदेव! यह प्रदीप्त करने वाली समिधा (काष्ठविशेष) आपके लिए है। इससे आपकी वृद्धि हो तथा आप सन्तुष्ट हों। हमलोग भी आपके अनुग्रह से धनपुत्रादिरुप समृद्धि को प्राप्त कर सन्तुष्ट हों। हे अन्नजेता अग्निदेव! हवि के प्रति गमन करने वाले बलशाली आपका प्रोक्षण करता हूँ।

म० : 'एषा त इति होतानुमन्त्रयते' (का० 3/5/2) इति। ब्रह्मत्वं समाप्तम्। अतः प्राकृतमार्षम्। इयमनुष्टुबग्निदेवत्या। हे अग्ने, एषा ते तव समित् समिन्धनहेतुः काष्ठविशेषः। तया समिधा त्वं वर्धस्व वृद्धिं गच्छ। आप्यायस्व च। अस्मानपि सर्वतो वृद्धिं प्रापय। तथाच सति त्वत्प्रसादाद्वयं वर्धिषीमहि वृद्धिं प्राप्नुयाम प्यासिषीमहि च। अस्मदीयपुत्रपश्वादीन्सर्वतो वृद्धान्करवाम। 'संमार्ष्टि पूर्ववदपरिक्रामर्ठ्ठं सकृत्सकृत्ससृवार्ठ्ठंसम्' (का० 3/5/4) इति। 'पूर्वमग्ने वाजजिदिति' (ख० 7) मन्त्रेण यथेध्मसन्नहनैरग्नेः

संमार्गः कृतस्तथात्रापि संमार्ष्टि। तत्र परिक्रम्य त्रिस्त्रिः कृतः। अत्र तु परिक्रमणं विनैकैकवारमिति विशेष इति सूत्रार्थः। मन्त्रो व्याख्यातः। इयान्विशेषः। हे अग्ने, त्वां संमार्ज्मि। किंभूतं त्वाम्। वाजं ससृवांसमन्नमुद्दिश्य गतवन्तमन्नं संपादितवन्तमित्यर्थः। अन्यत् पूर्ववत् ॥14॥

पञ्चदशी

अ॒ग्नीषोम॑यो॒रुज्जि॑ति॒मनु॒ज्जे॑षं॒ वाज॑स्य मा प्रस॒वेन॒ प्रोहा॑मि। अ॒ग्नीषोमौ॒ तमप॑नुदतां॒ यो॒ऽस्मान्द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मो वाज॑स्यैनं प्रस॒वेनापो॑हामि। इ॒न्द्रा॒ग्न्योरुज्जि॑ति॒मनूज्जे॑षं॒ वाज॑स्य मा प्रस॒वेन॒ प्रोहा॑मि। इ॒न्द्रा॒ग्नी तमप॑नुदतां॒ यो॒ऽस्मान्द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मो वाज॑स्यैनं प्रस॒वेनापो॑हामि ॥१५॥

अन्वय : अग्नीषोमयोः उज्जितिम् अनु उज्जेषम्। वाजस्य प्रसवेन मां यजमानं प्रोहामि। अग्नीषोमौ तम् अपनुदताम् यः अस्मान् द्वेष्टि यंच वयं द्विष्मः।

व्याख्या : अग्नि एवं सोमदवेता के निर्विघ्न हवि स्वीकार कर लेने के बाद मैंने उत्कृष्ट विजय को प्राप्त कर लिया है। अन्न प्रदान की प्रेरणा के लिए अपने को उत्साहित करता हूँ। जो शत्रु हमसे द्वेष करते हैं, तथा जिनसे (आलस्यादि) हम द्वेष करते हैं इन उभयविध शत्रुओं को अग्नि और सोम नष्ट करें तथा पुरोडाश देवता की प्रेरणा से मैं इन्हें दूर करूँ। इन्द्र और अग्निदेव के निर्विघ्न हवि स्वीकार कर लेने के बाद मैंने अत्यधिक प्रसन्नता के कारण उत्कृष्ट विजय को प्राप्त कर लिया है, पुरोडाशादि अन्न प्रदान की प्रेरणा के लिए अपने को उत्साहित करता हूँ। जो शत्रु हमसे द्वेष करते हैं, तथा जिनसे (आलस्यादि) हम द्वेष करते हैं इन उभयविध शत्रुओं को इन्द्र और अग्नि दूर करें तथा पुरोडाश देवता की प्रेरणा से मैं इन्हें दूर करूँ।

म० : 'जुहूपभृतौ व्यूहत्यग्नीषोमयोरिति' (का० 3/5/17-18) इति। तत्र जुहूं प्राचीं प्रेरयति यजमानः। व्यूहनं परस्परविपरीतत्वेनापनोदनम्। अग्नीषोमयोर्द्वितीयपुरोडाशदेवतयोरुज्जितिमनु अविघ्नेन हविःस्वीकाररूप-मुत्कृष्टं जयमनुसृत्याहमुज्जेषमुत्कृष्टं जयं प्राप्तवानस्मि। वाजस्यान्नस्य पुरोडाशादेः प्रसवेनाभ्यनुज्ञया जयं प्राप्तवानस्मि। वाजस्यान्नस्य पुरोडाशादेः

प्रसवेनाभ्यनुज्ञया मां प्रोहामि मां यजमानं जुहूरूपधारिणं प्रोत्साहयामि। यद्यप्यूहतिधातुर्वितर्कार्थस्तदाप्युपसर्गवशादुत्साहार्थः। अन्यत्पूर्ववत्। उपभृतं प्रतीचीं प्रेरयति। यः शत्रुरसुरादिस्मान्द्वेष्टि अस्मदीययज्ञविनाशाय द्वेषं करोति। यं च वयं द्विष्मः। यमालस्यादिरूपमअस्मदीयानुष्ठानविरोधिनं शत्रुं द्विष्मः विनाशायोद्योगं कुर्मः तदुभयविधं शत्रुमग्नीषोमौ देवायापनुदतां निराकुरुताम्। किंच। अहमप्येनं द्विविधं शत्रुमुपभृद्रूपं वाजस्य प्रसवेन पुरोडाशदेवताया अभ्यनुज्ञयापोहामि निराकरोमि। उत्तरो पुरोडाशदेवताया अभ्यनुज्ञयापोहामि निराकरोमि। उत्तरौ मन्त्रौ दर्शदेवताविषयौ समानार्थौ ।।15।।

षोडशी

वसुंभ्यस्त्वा रुद्रेभ्यंस्त्वाऽऽदित्येभ्यंस्त्वा संजानाथां द्यावापृथिवी मित्रावरुंणौ त्वा वृष्ट्यांवताम्। व्यन्तु व्वयोऽक्तꣳ रिहांणा मरुतां पृषंतीर्गच्छ व्वशा पृश्निंर्भूत्वा दिवं गच्छ ततों नो व्वृष्टिमावंह। चक्षुष्पा अंग्नेऽसि चक्षुंर्मे पाहि ।।१६।।

अन्वय : (हे मध्यमदक्षिणोत्तर परिधयः) वसुभ्यः रुद्रेभ्यः आदित्येभ्यः त्वा (अनज्मि)। हे द्यावापृथिवी! (गृह्यमाणं प्रस्तरं) सञ्जानाथाम् सम्यक अवगच्छतम्। मित्रावरुणौ वृष्ट्या त्वा अवताम्। अंक्तं रिहाणा वयः व्यन्तु। (हे प्रस्तर!) मरुतां पृषतीः गच्छ वशापृश्निः भूत्वा दिवं गच्छ। ततः नो वृष्टिमावह। अग्ने! चक्षुष्पा असि। में चक्षुः पाहि।

यहाँ प्रस्तर होम का विधान है।

व्याख्या : हे मध्यम-दक्षिण-उत्तर परिधियों! वसुरुद्र और आदित्य देवताओं की प्रसन्नता के लिए तुम्हें घृत से सिक्त करता हूँ। हे द्यावापृथिवी! आप दोनों गृह्यमाण इस प्रस्तर को अच्छी तरह जानो। हे प्रस्तर! मित्र ओर वरुण देवता जलवर्षण (वृष्टि) से तुम्हारी रक्षा करें। घृतसिक्त प्रस्तर का आस्वादन करते हुए पक्षीरुप गायत्र्यादिछन्द प्रस्तर को लेकर गमन करे। हे प्रस्तर! तुम ! तुम मरुतदेवों के वाहन अश्वों के समान गतिशील हो जाओ। स्वाधीन एवं अनेकविध अन्नों से युक्त हवि द्युलोक को प्राप्त हो। वहाँ से हमारे कल्याण के लिए वृष्टि प्रदान करो। हे अग्ने! तुम अपने तेज से समस्त प्राणियों की रक्षा करने वाले हो। अतः मेरे नेत्रों की रक्षा करो। यहाँ आह्वनीय के तीनों ओर रखी हुई परिधियों

पर जुह्वा से आज्य लगाने की विधि है। जिसे परिध्यञ्जन कहा गया है।

म० : 'जुह्वा परिधीननक्ति यथापूर्वं वसुभ्य इति प्रतिमन्त्रम्' (का० 3/5/24) इति। हे मध्यमपरिधे, वसुभ्यः वसुदेवताप्रीत्यर्थं त्वा त्वामनज्मीति शेषः। एव दक्षिणोत्तरपरिधि मन्त्रौ व्याख्येयौ। परिधित्रयाञ्जनेन सवनत्रयदेवताः प्रीयन्त इति भावः। 'संजानाथामिति प्रस्तरादानम्' (का० 3/6/3) इति। हे द्यावापृथिवी द्युलोकभूलोकदैव्यौ, युवां संजानाथां गृह्यमाणं प्रस्तरं सम्यगवगच्छतम्। किंच हे प्रस्तर, मित्रावरुणौ प्राणापानवायू वृष्टया जलवर्षणेन त्वा त्वामवतां रक्षताम्। 'वायुर्वै वर्षस्येष्टे' (1/8/1/44) इति वर्षाधीशोवायु स च अध्यात्मगतः प्रणोदान रूपो मित्रावरुण शब्दाभ्यामुच्यते। स च प्रस्तर रूप यजमानो भवतु। यजमानो वै प्रस्तर श्रुतेः। 'अनत्तेनं व्यन्तु वय इत्यग्रं जुह्वामुपभृति मध्यं मूलमितरस्याम्' (का० 3/6/4-7) इति। इतरस्यां ध्रुवायाम्। वयः पक्षिणः व्यन्तु। 'वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसन-स्वादनेषु'। पक्षिरूपापन्नानि गायत्र्यादीनि छन्दांसि गच्छन्तु। प्रस्तरमादायेति शेषः। किंभूताः वयः। अक्तं रिहाणाः। अक्तं घृतलिप्तं प्रस्तरं लिहानाः आस्वादयन्तः। रलयोरैक्यम् ।। 'मरुतामिति नीचैर्हृत्वा तृणमादायानुप्रहरिति' (का० 3/6/8) इति। एकं तृणं प्रस्तरात्पृथक्कृत्य प्रस्तरं नीचैर्हस्त्वाग्नौ प्रक्षिपेदिति सूत्रार्थः। मरुतामिति प्रस्तरदेवत्या बृहती कपिर्दृष्टा। चतुर्थः पाद आग्नेयः। हे प्रस्तर, त्वं मरुतां पृषतीर्गच्छ। मरुन्नामकानां देवानां संबन्धि नीः पृषतीर्वाहनरूपा अश्वाश्चित्रवर्णा गच्छ प्राप्नुहि। वायुवाहनवद्वेगेन गच्छेत्यर्थः। अन्तरिंक्षे वशापृश्निर्भूत्वा। वशा स्वाधीना पृश्निरल्पतनुर्गौर्भूत्वा दिवं गच्छ। कामधेनुवत्तृप्तिकरी भूत्वा स्वर्गं गच्छेत्यर्थः। ततः स्वर्गप्राप्तेरनन्तरं नोऽस्मदर्थ। वृष्टिमावह भूलोके वृष्टिमानय। यद्वा। 'इयं वै वशापृश्निर्यदिदमस्यां मूति चामूलं चान्नाद्यं प्रतिष्ठितं नेनेयं वशापृश्निः' (1/8/3/15) इति श्रुते र्वशापृश्निशब्देन भूमिरुच्यते। वशापृश्निर्भूत्वा पृथिवी भूत्वा दिवं गच्छ। पृथिवीसंवबन्धिभागानादाय द्युलोकं तर्पयेत्यर्थः। हे प्रस्तर, त्वमन्तरिक्षं गत्वा तत्रस्थान्मरुतः सवाहनान्संतर्प्य स्वर्गं गत्वा देवांश्च संतर्प्य पृथिव्यां वृष्टिं कुर्वित्याहुतिपरिणामः सूचित इति भावः। 'चक्षुष्पा इत्यात्मानमालभते' (का० 3/6/15) इति। हे अग्ने, त्वं यतश्चक्षुष्पा असि। चक्षुः पातीति चक्षुष्पाः। ज्वालयान्धकारं निवर्त्य चक्षुःपालकोऽसि। अतो मे मम चक्षुः पाहि पालय। प्रस्तरप्रहरणप्रसक्तं चक्षुष उपद्रवं परिहरेत्यर्थः ।।16।।

सप्तदशी

यं प॑रि॒धिं प॒र्यध॑त्था॒ऽअग्ने॑ देव प॒णिभि॒र्गुह्य॑मा॑नः। तं त॑ ए॒तमनु॒ जोषं॑ भराम्ये॒षनेत्त्वद॑पचे॒तया॑ताऽअ॒ग्नेः प्रि॒यम्पाथोऽपी॑तम् ॥१७॥

अन्वय : हे अग्ने देव, पणिभिः गुह्यमानः यं परिधिं पर्यधत्थाः ते तम् एतं (परिधिं) जोषम् अनुभरामि (वह्नौक्षिपामि)। एष त्वत् न इत अपचेतयाते मा अपचेतयतु हे परिधी अग्नेः प्रियं पाथः अपीतम् (अपिंगच्छतम्)

व्याख्या : हे अग्निदेव! पणियों (असुरों) द्वारा छिपाये जाने पर जिस परिधि को (असुरों के उपद्रवनिवारणार्थ) आपने पश्चिम दिशा में स्थापित किया था आपकी उस प्रिय परिधि को आपके पास प्रसन्नता पूर्वक लाता हूँ। अग्नि में समर्पित कता हूँ। यह परिधि आप से सर्वथा अलग न हो। हे परिधि! तुम अग्नि के प्रिय हव्य रुप को प्राप्त करो।'' यहाँ संस्त्रवाहुति का प्रसंग है।

म० : 'परिधीननुप्रहरति यं परिधिमिति प्रथमम्' (का० 3/6/17) इति। एकादशिनस्त्रयोऽष्टकश्च विराड्रूपः प्रथमोऽष्टकः। यं परिधिम्। त्रिष्टुब्विराड्रूपा आग्नेयी यजुरन्ता। अग्नेः प्रियमिति यजुः देवलदृष्टा। हे अग्ने देव! आहवनीय, पणिभिरसुरैः गुह्यमानः। 'गुहू संवरणे' संव्रियमाणः संरुध्यमानः सन् त्वं यं परिधिं पश्चिमदिशि पर्यधत्थाः। असुरोपद्रवनिवारणाय परिहितवानसि स्थापितवानसिं। ते तव जोष प्रियं तमेतं परिधिमनुभरामि वह्नौ प्रक्षिपामि। अनुर्भिन्नक्रमः। हरतेर्हस्य भः। एष परिधिः त्वत् त्वत्तः सकाशात् न इत्। इत् एवार्थे। नैव अपचेतयातै मा अपचेतयतु। त्वत्तोऽपगन्तुं मा जानात्वित्यर्थः। त्वय्येव तिष्ठतु। 'चिती संज्ञाने' णिजन्ताल्लेट् तस्यात्मनेपदे प्रथममैकवचनं तान्तम्। 'टित आत्मनेपदानाम्' (पा० 3/4/71) इति तस्यैकारः। 'वैतोऽन्यत्र' (पा० 3/4/96) इति लेडेकारस्य पाक्षिक ऐ 'लेटोऽडाटौ' (पा० 3/4/94) इत्याडागमः। गुणायादेशौ अपपूर्वः। अपचेतयातै अपचेतयतु। एष परिधिस्त्वत्तोऽपगतचित्तो मास्त्वित्यर्थः। 'इतरौ च युगपदग्नेः प्रियमिति' (का० 3/6/17) इति दक्षिणोत्तरौ परिधी युगपत्प्रक्षिपेत्। हे परिधी, अग्नेः प्रियं पाथः युवामपीतमपिगच्छतम्। पाथ इत्यन्ननाम। (नि० नै० 9/7) आहवनीयस्याभिप्रेतमन्नमपिगच्छतम्। अग्नेरन्नत्वं भवद्भ्यां प्राप्यतामित्यर्थः ॥17॥

अष्टादशी

सु॒ꣳस्र॒वभा॑गा स्थे॒षा बृ॒हन्तः॑ प्रस्तरे॒ष्ठाः प॑रि॒धेयाश्च दे॒वाः। इ॒मां वा॒च॑म॒भि विश्वे॑ गृ॒णन्त॑ आ॒सद्या॒स्मिन्ब॒र्हिषि॑ माद॒यध्व॒ꣳ स्वाहा॒ वाट् ॥१८॥

अन्वय : हे विश्वेदेवा! संस्रवभागाः इषा बृहन्तः प्रस्तरेष्ठाः परिधेया च स्थ। विश्वेदेवा इमां वाचम् अभिगृणन्तः अस्मिन् बर्हिषि आसद्य मादयध्वं स्वाहा वाट्। (हविर्दानार्थकः)

व्याख्या : हे विश्वेदेवो! आप संस्रवरुप (सूक्तवाक के बाद आह्वनीय में आज्याहुति) आज्य भागवाले है। अन्न से महान तथा प्रस्तर (दर्भमुष्टि) पर स्थिर रहने वाले है। परिधि से सम्पन्न है। आप सभी लोग मेरी इस स्तुतिरुप वाणी को स्वीकार करते हुए इस यज्ञ में पधारकर तृप्ति को प्राप्त करें तथा मेरी इस आहुति को स्वीकार करें।

म॰ : 'संस्रवभागा इति सꣳस्रवान् जुहोति' (का॰ 3/6/18) इति वैश्वदेवी त्रिष्टुव्यजुरन्ता। स्वाहा वाडिति यजुः। सोमशुष्म ऋषिः। हे विश्वेदेवाः, यूयं संस्रवभागाः स्थ। विलीनमाज्यं संस्रवः स एव भागो येषां ये संस्रवभागाः। तथाविधा भवथ। तथा इषा संस्रवलक्षणेनान्नेन बृहन्तो महान्तः स्थ। किंच ये प्रस्तरेष्ठाः प्रस्तरे तिष्ठन्तीति प्रस्तरेष्ठाः प्रस्तरस्थायिनः। ये च परिधेयाः परिधिभवाः सन्ति ते विश्वेदेवा इमां मदीयां वाचमभिगृणन्तः सर्वत्र वर्णयन्तः। अयं यजमानः सम्यक् यजतीत्येवं सर्वेषां देवानां मध्ये कथयन्तो यूयमस्मिन् बर्हिषि या आसद्योपविश्य मादयध्वं तृप्यध्वं मोदध्वं वा। स्वाहेति वाडिति वाडिति च शब्दौ हविर्दानार्थौ। सर्वथा दत्तमित्यादरं दर्शयितुं शब्दद्वयप्रयोगाः। यद्यपि 'स्वाहाकारेण वा वषट्कारेण वा' इति श्रुतेर्वषट्कारो दानार्थः तथापि देवानां परोक्षप्रियत्वात्प्रत्यक्षत्वपरिहाराय वाडितिशब्दः प्रयुक्तः ॥18॥

एकोनविंशी

घृ॒ताची॑ स्थो धु॒र्यौ॑ पातꣳ सु॒म्ने स्थः॑ सु॒म्ने मा॑ धत्तम्। यज्ञ॒ नम॑श्च त॒ऽउप॑ च य॒ज्ञस्य॑ शि॒वे संति॑ष्ठस्व॒ स्वि॒ष्टे मे॒ संति॑ष्ठस्व ॥१९॥

अन्वय : [हे जुहूपभृतौ!] (युवां) घृताची स्थः। धुर्य्यौ पातम्, युवां सुम्ने स्थ, मा (मां) सुम्ने धत्तम्। हे यज्ञ! ते नमः उप (वृद्धिः) च यज्ञस्य शिवे सन्तिष्ठस्व में स्विष्टे सन्तिष्ठस्व।

व्याख्या : हे जुहू उपभृत (यज्ञपात्र) तुम दोनों घृत से युक्त हो, शकटधुर को वहन (ढोनेवाले) करनेवाले बैलों की रक्षा करो। तुम सुखरुप हो; मुझे भी सुख प्रदान करो। हे यज्ञ! तुम्हें नमस्कार है। तुम्हारी नित्य वृद्धि हो, यह यज्ञ अन्यूनातिरिक्त भाव से सम्पन्न हो जिससे सभी का मंगल सम्पादन हो। मेरे इस प्रिय याग में विराजमान रहो। यज्ञीय कर्मो में जो न्यूनता या अतिरिक्ता आ जाती है उसे दूर करने के लिए उप एवं नम शब्द का प्रयोग होता है। इसीलिए आज भी वैदिक लोग याग के अन्त में 'यन्यूनमधिकंकृतम्। तेन सर्वेण सर्वात्मा प्रसनोऽस्ते सदामम' कहते हैं।

म॰ : 'घृताची इति धुरि निदधाति' (का॰ 3/6/19) इति। जुहूपभृतौ शकटधुरि निदध्यात्। हे जुहूपभृतौ, युवां घृताची स्थः। घृतमञ्चतः प्राप्नुत इति घृताच्च्यौ। पूर्वसवर्णदीर्घः। तथाविधे युवां धुर्यावनऽवाहौ पातं रक्षतम्। धुरं वहतस्तौ धुर्यौ। किंच युवां सुम्ने सुखरूपे स्थः भवथः तस्मान्सुम्ने सुखे मा मां धत्तं स्थापयतम् । 'यज्ञ नमश्च त इति वेदिमालभते' (का॰ 3/6/21) इति। अस्य मन्त्रस्य शूर्प यवान्कृषिरुद्दालवान् धानान्नर्वानिति पञ्च ऋषयः यज्ञो देवता। हे यज्ञ, ते तुभ्यं नमः अस्तु। उप उपचयो वृद्धिश्च तेऽस्तु। चकारावन्योन्यसमुच्चयार्थौ। नमउपशब्दाभ्यां यज्ञस्य यदतिरिक्तं यच्च न्यूनं जातं तत् पूर्णं जायते। तथाच श्रुतिः 'स यदतिरेचयति तन्नमस्कारेण शमयति अथ यदूनं करोत्युपचेति तेन तदन्यूनं भवति' इति। किंच। यज्ञस्य शिवे संतिष्ठस्व अन्यूनातिरिक्तं प्रयाणं कुर्वित्यर्थः। यद्वै यज्ञस्यान्नूनातिरिक्तं तच्छिवं तेन तदुभयं शमयति' इति श्रुतेः। मे मम स्विष्टे संतिष्ठस्व। साधु इष्टं स्विष्टम्। शोभने यागे तिष्ठसि। प्राप्तिं कुर्वित्यर्थः ।।19।।

विंशी

अग्नेऽदब्धायोऽशीतम पाहि मां दिद्योः पाहि प्रसित्यै पाहि दुरिष्ट्यै पाहि दुरद्मन्या अविषं नः पितुं कृणु। सुषदा योनौ स्वाहावाड्ग्नये संवेशपतये स्वाहा सरस्वत्यै यशोभगिन्यै स्वाहा ।।२०।।

अन्वय : अदब्धायो, अशीतम हे अग्ने! मा (मां) दिद्योः पाहि, प्रसित्यै पाहि दुरिष्ट्यै (दुरिष्ट्याः) पाहि, दुरद्मन्याः पाहि, नः पितुम् अविषम् आकृणु। सुषदा योनौं (आकृणु)। स्वाहा वाट्। संवेशपतये अग्नये स्वाहा। यशो भगिन्यै सरस्वत्यै स्वाहा।

व्याख्या : यजमानों के कल्याण करनेवाले सर्वत्रव्यापक हे अग्निदेव! आप वज्रायुध से तथा बन्धनकारी जाल से हमारी रक्षा करें। अशास्त्रीय याग से, दूषित भोजन से भी हमारी रक्षा करें तथा हमारे अन्न जलादि भोज्यवस्तु को विष से रहित करें। मुझे सुखदायक गृहादि सुविधाओं से सम्पन्न करें, आपके लिए यह हवि आदरपूर्वक सम्प्रदत्त है। अग्नीषोमरुप संवेश (संयुक्त भाव के पालक अग्निदेव को) तथा पुरुषों को यश ऐश्वर्य प्रदान करने वाली वागरुपा सरस्वती देवी को यह हवि समर्पित है। यहाँ दक्षिणाग्नि में होम का प्रसंग है।

म० : 'स्रुक्स्रुवं प्रगृह्णात्यग्नेऽदब्धायो' (का० 3/7/17) इति। दभ्नोतिर्हिंसाकर्मा (निघं० 2/19/1)। आयुरिति मनुष्यनाम (निघं० 2/3/17)। अदब्धोऽनुपर्हिंसित आयुर्मनुष्यो यजमानो यस्य सोऽदब्धायुः। 'अश् भोजने'। अश्नाति भुङ्क्ते इत्याशी। यद्वा 'अशू व्याप्तौ' अश्नुते व्याप्नोतीत्यशी। अतिशयेनाशी अशीतमः। दीर्घश्छान्दसः। हे अदब्धायो अहिंसित यजमान, हे अशीतम भोक्तृतम, यद्वा व्यापकतम, हे अग्ने गार्हपत्य! मा मां दिद्यो वज्रात् पाहि शत्रुप्रयुक्ताद वज्रायुधात् पाहि। दिद्युरिति वज्रनाम (निघं० 2/20/1) प्रसित्यै प्रसितेर्बन्धनहेतुभूताज्जालान्मां पाहि। 'प्रसितिः प्रसयनात्तन्तुर्वा जालं वा' (निरु० 6/12) इति यास्कः। दुष्टा इष्टिर्दुरिष्टः अशास्त्रीयो यागस्तस्मान्मां पाहि। दुरद्मनी। अदनमद्मनी दुष्टा अद्मनी दुरद्मनी दुर्भोजनं ततो मां पाहि। चतुर्थ्यः पञ्चम्यर्थे। 'भीत्रार्थानाम् इति पंचमी। किञ्चनः अस्माकं पितुमन्नमविषंकृणु। हविर्विषरहितं कुरु। योनिरिति गृहनाम' (निघं० 3/4)। सुष्ठु सद्यते स्थीयते यस्यां सा सुषदा तस्या सुषदा। विभक्तेराकारः। सम्यगवस्थानयोग्ये गृहे मां स्थापयेति शेषः। यद्वा गृहे स्थितानां नोऽस्माकं पितुमविषं कुरु। स्वाहा वाडिति पदे व्याख्याते। 'दक्षिणाग्नौ जुहोत्यग्नय इति सरस्वत्या इति च' (का० 4/7/18) इति। स्त्रीपुंसयोरभिलाषपूर्वकमेकत्र शयनं संवेशः। तस्य पतिर्योऽग्निस्तस्मै स्वाहा हविर्दत्तम्। जीवतः पुरुषस्य प्रशंसा यशः तस्य यशशो भगिनी वाग्रूपा सरस्वती तस्यै हविर्दत्तम् ।।20।।

एकविंशी

वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः। देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित। मनसस्पतऽ इमन्देव यज्ञश्ं स्वाहा वाते धाः ।।२१।।

अन्वय : (हे कुशमुष्टिनिर्मितपदार्थ) (त्वं) वेदोऽसि, हे देव वेद। येन त्वं देवेभ्यः वेदः अभवः, तेन मह्यं वेदो भूयाः। ज्ञापको भव गातुविदो देवाः गातुं वित्वा गातुम् इत। मनसस्पते इमं यज्ञं स्वाहा वातेधा।

व्याख्या : हे कुशमुष्टिनिर्मितपदार्थ वेद तुम ऋगादि वेदरूप हो, हे देवतास्वरूप वेद, जिस तरह तुम देवताओं के लिए वेद-(भूत भविष्य, वर्तमान का ज्ञान कराने वाले) हुए हो उसी प्रकार मुझे भी ज्ञान-प्रदान करने वाले बनो। हे यज्ञ को जानने वाले देवों, हमारा यज्ञ प्रारम्भ है, ऐसा जानकर आप हमारे यज्ञ में पधारे। हे मन के प्रवर्तक परमेश्वर, यह अनुष्ठीयमान यज्ञ आपको अर्पण करता हूँ। आप इस यज्ञ को वायु में स्थापित करें। यहाँ समिष्टयजुसंज्ञक होम का विशेषरूप से विधान है।

म० : 'पत्नी वेदं प्रमुञ्चति वेदोऽसि' (का० 3/8/1) इति। हे कुशमुष्टिनिर्मित पदार्थ, त्वं वेदोऽसि। ऋगाद्यात्मकोऽसि यद्वा वेत्तीति वेदः ज्ञातासि। हे देव द्योतनात्मक वेद, हे वेद, येन कारणेन त्वं देवेभ्यः। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। देवानां वेदोऽभवः ज्ञापकोऽभूः तेन कारणेन मह्यं मम वेदो भूयाः ज्ञापको भव ।। 'समिष्टयजुर्जुहोति देवा गातुविद इति' (का० 3/8/4) इति। इयं विराट्छन्दस्का वातदेवत्या मनसस्पतिदृष्टा ऋक्। अस्याः पूर्वार्धेन देवता विसृजति। 'गै शब्दे'। गीयते नानाविधवैदिकशब्दैः प्रतिपाद्यते इति गातुर्यज्ञः तं विदन्ति जानन्तीति गातुविदः। हे गातुविदः यज्ञवेत्तारो देवाः, गातुं वित्त्वा विदित्त्वा। 'विद् ज्ञाने'। अस्मदीयो यज्ञः प्रवृत्त इति ज्ञात्वा। गातुमित् यज्ञं प्रत्यागच्छत। यद्वा गातुर्गन्तव्यो मार्गः तं गच्छत। अस्मदीययज्ञेन तुष्टाः सन्तः स्वमार्गं गच्छत। एवं देवान्विसृज्य चन्द्रं प्रत्याह। हे मनसस्पते। मनोऽधिपश्चन्द्रः। यद्वा देवान् यष्टुं मनसः प्रवर्तकः परमेश्वरः तं प्रत्युच्यते। हे मनसस्पते परमेश्वर, हे देव, इममनुष्ठितं यज्ञं स्वाहा त्वद्धस्ते ददामि। त्वं च तं यज्ञं वाते वायुरूपे देवे धाः स्थापय। वाते हि यज्ञोऽवतिष्ठते। तदुक्तं श्रुत्या वायुरेवाग्निस्तस्माद्यदैवाध्वर्युरुत्तमं

कर्म करोत्यथैतमेवाप्येति' इति ।।21।।

द्वाविंशी

संबर्हिरंङ्क्ताꣳ हविषां घृतेन समांदित्यैर्वसुंभिः संमरुद्भिः। समिन्द्रों विश्वदैवेभिरङ्क्तांनदिव्यंनभों गच्छतु यत्स्वाहां ।।२२।।

अन्वय : इन्द्रो बर्हिः हविषा घृतेन समङ्क्ताम्। आदित्यैः सम् वसुभिः सम्, मरुद्भिः सम्। इन्द्रो विश्वे-देवेभिः समङ्क्ताम्! यत् दिव्यं तत् नभः गच्छतु स्वाहा।

व्याख्या : इन्द्र इन बर्हि (कुशाओं) को हविरूप-संस्कृतघृत से मिश्रित करें (भिगों दे) अकेले ही नहीं द्वादश आदित्यों, अष्ट्वसुओं मरुतो तथा विश्वेदेवों के साथ यह समञ्जन (भिगोने) का कार्य करे। यह घृताक्तबर्हि दिव्यआदित्यरूप ज्योति को प्राप्त करें। यह दर्भ देवताओं के लिए समर्पित है। यहाँ बर्हिहोम का विधान है। वेदि पर बिछाये गये कुशों को इकट्ठा करके (घृत्ताक्त कुशों को) आहवनीय में होम करें।

म० : 'बर्हिः संवर्हिरिति' (का० 3/8/5) इति बर्हिर्जुहोति। इयमृक् त्रिष्टुप् विराड्रूपा बर्हिर्देवत्या। इन्द्रो हविष हविःसंस्कारयुक्तेन घृतेन बर्हिः दर्भः समङ्क्ताम् सम्यगञ्जनोपेतं करोतु। स चेन्द्रः केवलो न किंतु आदित्यैर्वसुभिर्मरुद्भिः विश्वेदेवेभिर्विश्वनामकैश्च गणदेवैः सहितः समङ्क्ताम्। समित्यस्योपसर्गस्यावृत्त्या अङ्क्तामित्यस्य क्रियापदस्याप्यावृत्ति-र्बोद्धव्या। वस्वादिसहितेनेन्द्रेण समङ्क्तां तद् बर्हियेद्दिव्यं नभो आदित्यलक्षणं ज्योतिः तद्गच्छतु आदित्यं प्राप्नोतु। स्वाहा इदं बर्हिर्देवोद्देशेन दत्तम् नभः इत्यादित्यनामसु (निघ० 1/4) पठितम्। दिवि भवं दिव्यम् ।।22।।

त्योविंशी

कस्त्वा विमुंञ्चति स त्वा विमुंञ्चति कस्मैं त्वा विमुंञ्चति तस्मैं त्वा विमुंञ्चति। पोषांय रक्षसां भागोऽसि ।।२३।।

अन्वय : (हे प्रणीतापात्र) कः त्वा विमुञ्चति, स त्वा विमुञ्चति, कस्मै त्वा विमुञ्चति, तस्मै त्वा विमुञ्चति। पोषाय (विमुञ्चति)। हे कण-समूह त्वं रक्षसां भागः असि।

व्याख्या : हे प्रणीता पात्र। कौन तुम्हें यज्ञ से विमुक्त करता है?

इसके समाधान में वह प्रजापति ही तूम्हें कार्य पूर्ण हो जाने पर विमुक्त करता है। किस प्रयोजन से तुम्हें विमुक्त करता है? इस यज्ञ की पूर्ति के लिए ही विमुक्त करता है। हे पात्र! यजमान का पुत्रादिद्वारा पोषण करने के लिए मैं तुम्हें ले जाता हूँ। (यज्ञारम्भ) करके जो यज्ञ विमुक्त नहीं होता, उस यजमान की प्रतिष्ठा नहीं होती है) हे अवशिष्टक-पालस्थहव्य। (कणसमूह) तुम राक्षसों के भाग हो। अतः तुम्हें विकीर्ण करता हूँ। विशेष रूप से यज्ञ समाप्ति के अवसर पर इस मन्त्र को पढ़ते हुए वेद के दक्षिण भाग में उत्तराभिमुख होकर प्राणीतापात्रस्थ जल को यज्ञ की वेदी पर डाले ऐसा न करने पर जल यजमान को ही क्षीण करता है--

यहाँ प्रणीता-विमोक-विधि एवं कणोपासन विधि सम्पन्न होती है जिसमें प्रणीता का जल वेदिं पर छोड़ा जाता है तथा प्रथम कपाल के उपर पिष्टकण छोड़ा जाता है।

यो वै यां----प्रक्षिणीयता्)

म॰ : 'वेद्यां प्रणीतां निनयति परीत्य कस्त्वेति' (का॰ 3/8/6) इति। व्याख्यातो मन्त्रः प्रजापतिदैवतः। तत्र यज्ञयोगे नियुक्तः। अत्र तु यज्ञविमोके। पोषाय यजमानं पुत्रादिभिः पोषयितुं त्वां निनयामीति शेषः। यज्ञं प्रयुज्याविमोके यजमानस्याप्रतिष्ठापत्तेर्विमोकः कार्यः। 'यो वै यज्ञं प्रयुज्य न विमुञ्चत्यप्रतिष्ठानो वै स भवति' (का॰ 3/8/7) इति श्रुत्यन्तरवचनात्। पुरोडाशकपालेन कणानपास्यत्यधः कृष्णाजिनꣳ रक्षसामितीति। हे कणसमूह, त्वं रक्षसां भागोऽसि तेषां नीचजातित्वात्निकृष्ट-कणरूपो भागो युक्तः ।।23।।

चतुर्विंशी

संवर्चसा पयसा संतनूभिरगन्महि मनसा सꣳशिवेन। त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ।।२४।।

अन्वय : वयं वर्चसा सम् अगन्महि (सङ्गताभवामः)! पयसा सम् तनूभिः सह शिवेन मनसा सम्। सुदत्रः त्वष्टा रायो विदधातु, यत् तन्वः बिलिष्टम् विशेषेणन्यूनमङ्गम् तद् अनुमार्ष्टु।

व्याख्या : हम ब्रह्मतेज से संयुक्त हों, क्षीरादिरसमय परार्थों से भार्यापुत्र आदि विविधरूपात्मक स्वशरीरों से संयुक्त हों। श्रद्धायुक्त शान्त मन से सम्पृक्त हों। सुप्रसिद्ध दानी त्वष्टा देवता हमें धन प्रदान करें, और जो मेरे शरीर में विशेष न्यूनता है उसे दूर करे अर्थात्–उस दोष को दूर कर शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनावें। अध्वर्यु अग्नि की प्रदक्षिणा करते हुए दोनों हाथों से पकड़े जलपात्र को अग्नि पर डालता है और मन्त्रोच्चारण करता है। यहाँ प्रस्तुत मन्त्र में पूर्णपात्रनिनयन की विधि प्रस्तुत है।

म० : त्वष्टृदेवत्या त्रिष्टुप्। इतः परं याजमानम्। 'पूर्णपात्रं निनयति परीत्य सन्ततं यजमानोऽञ्जिलिना प्रतिगृह्णाति सं वर्चसेति मुखं विमृष्टः' (का० 3/8/8-10) इति। समित्युपसर्गोऽगन्महीत्यनेन संबद्धः प्रत्येकम्। वर्चसा ब्रह्मवर्चसेन वयं समगन्महि सङ्गता भवामः। पयसा क्षीरादिरसेन समगन्महि। तनूभिरनुष्टानक्षमैः शरीरावयवैः। यद्वा तनूभिर्भार्यापुत्रादिभिः समगन्महि। शिवेन शान्तेन कर्मश्रद्धायुक्तेन मनसा समगन्महि। यज्ञमुपगच्छतो नरस्य वर्चसाद्यपैति तदनेन पुनराप्याययति। किंच सुदत्रः शोभनदानः त्वष्टा रायो धनानि विदधातु करोतु। तन्वः शरीरस्य मदीयस्य यत् विलिष्टं विशेषेण न्यूनमङ्गं तदनुमार्ष्टु न्यूनत्वपरिहारेणानुकूलं कृत्वा शोधयतु। धनस्य शरीरस्य पुष्टिं करोत्वित्यर्थः। सुष्टु ददाीति सुदत्रः सुपूर्वाद्ददातेः ष्ट्रन्। 'सर्वधातुभ्यः' (उ० 4/160) इति ष्ट्रन्। बाहुलकत्वाद्ध्रस्वः ।।24।।

पञ्चविंशी

दि॒वि विष्णु॒र्व्य॑क्रꣳस्त॒ जाग॑तेन॒च्छन्द॑सा॒ त॒तो निर्भ॑क्तो॒ यो॒ऽस्मान्दन्द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मो॒ऽन्तरि॑क्षे॒ विष्णु॒र्व्य॑क्रꣳस्त॒ त्रैष्टु॑भेन॒ छन्द॑सा॒ त॒तो निर्भ॑क्तो॒ यो॒ऽस्मान्द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मः पृ॑थि॒व्यां विष्णु॒र्व्य॑क्रꣳस्त गाय॒त्रेण॒च्छन्द॑सा॒ त॒तो निर्भ॑क्तो॒ यो॒ऽस्माद्वेष्टि॒ यं च॑ वयं द्वि॒ष्मोस्मादन्ना॑दुस्यै प्र॑ति॒ष्ठाया॒ऽअग॑न्म॒ स्वः॒ संज्योति॑षाभूम ।।२५।।

अन्वय : विष्णुर्जागतेन छन्दसा दिवि व्यक्रंस्त (विशेषेण क्रमणं कृतवान्) ततः निर्भक्तः (निर्गतभागः) कृतः। यः अस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मः। विष्णुः अन्तरिक्षे व्यक्रंस्त त्रैष्टुभेनच्छन्दसा, यः अस्मान् द्वेष्टि यञ्चवयं द्विष्मः, ततः निर्भक्तः। अस्माद् अन्नाद् अस्याः प्रतिष्ठायाः स्वः वयम् अगन्म, ज्योतिषा समभूम (सङ्गता अभूम)।

व्याख्या : यज्ञपुरुष विष्णु ने जगती छन्दोरूप अपने पाद से द्युलोक को आक्रान्त किया, अतः द्युलोक से वह भागविहीन करके निःसारित किया गया, जो हमें देखकर प्रसन्न नहीं होता, तथा जिसे देखकर हम प्रसन्न नहीं होते। (ऐसे द्विविधशत्रु द्युलोक से हटा दिये गये)। यज्ञ-पुरुष विष्णु ने अपने त्रिष्टुप्छन्दोरूप पाद से अन्तरिक्षलोक पर आक्रमण किया अतः अन्तरिक्षलोक से वह भागविहीन करके निःसारित किया गया अतः जो हमें देखकर प्रसन्न नहीं होता, तथा जिसे देखकर हम प्रसन्न नहीं होते। यज्ञपुरुषविष्णु ने गायत्रीछन्दरूप अपने पाद से पृथ्वीलोक को आक्रान्त किया, अतः पृथ्वीलोक से वह व्यक्ति भाग विहीन करके हटाया गया, जो हमे देखकर प्रसन्न नहीं होता तथा जिसे हम देखकर प्रसन्न नहीं होते। यहाँ के अन्नजलादि से और वहाँ के निवासादि से उसको निर्वासित करते हैं। हम सुख एवं प्रकाश स्वरूप सूर्य को प्राप्त करते हैं, और ज्योति स्वरूप ब्रह्म से संयुक्त होते हैं। यजमानकृत्य में यहाँ वेदि की दक्षिण श्रोणी से आहवनीय तक तीन कदम चलने का विधान है, जिसे विष्णुक्रम से कहा गया है। जिसका वर्णन यहाँ प्रस्तुत है।

म० : 'विष्णुक्रमान्क्रमते दिवि विष्णुरिति प्रतिमन्त्रम्' (का० 3/8/11) इति। विष्णुपादबुध्यास्वपादस्य भूमौ प्रक्षेपा विष्णुक्रमाः। विष्णुर्यज्ञपुरुषः जागतेनच्छन्दसा जगतीच्छन्दोरूपेण स्वीयपादेन दिवि द्युलोके व्यक्रंस्त विशेषेण क्रमणं कृतवान्। तथा सति ततो द्युलोकात् निर्भक्तो भागरहितः कृत्वा निःसारित। कः। योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः। योऽस्मान् दृष्ट्वा न प्रीयते यं च दृष्ट्वा वयं न प्रीयामहे स द्विविधोऽपि शत्रुर्दिवो निःसारितः। एवमुत्तरावपि विष्णुक्रममन्त्रो व्याख्येयौ। 'अस्मादन्नादिति भागमवेक्षते' (का० 3/8/13) इति। योऽयं भागोऽवेक्ष्यते अस्मादन्नाद्यजमान-भागान्निर्भक्त इति वाक्यशेषोऽनुवर्तनीयः। 'अस्यै प्रतिष्ठाया इति भूमि' (का० 3/8/17) इति। अवेक्षत इति चतुर्षु मन्त्रविनियोगेष्वनुवर्तते। अस्यै अस्याः पुरतो दृश्यमानायाः प्रतिष्ठाहेतोर्यज्ञियभूमेः निर्भक्तः इत्यादि पूर्ववत्। 'अगन्म स्वरिति प्राक्' (का० 3/8/16) इति। ज्योतिषहवनीयलक्षणेन वयं समभूतम् सङ्गताअभूम ।।25।।

षड्विंशी

स्व॒यं॒भूर॑सि॒ श्रेष्ठो॑ र॒श्मिर्व॑र्चो॒दाऽअ॑सि॒ वर्चो॑ मे देहि। सूर्य॑स्या॒वृत॒मन्वाव॑र्ते ॥२६॥

अन्वय : (हे सूर्य!) (त्वं) स्वयम्भूः असि श्रेष्ठो रश्मिः वर्चोदा असि। में वर्चो देहि। सूर्यस्य आवृत्तम् अन्वावर्ते।

यहाँ खड़े होकर यजमान के द्वारा सूर्य की प्रदक्षिणा की जाती है।

व्याख्या : हे सूर्यदेव आप स्वयं उत्पन्न होने वाले है। अतः स्वयम्भू हैं। हिरण्यगर्भादिसंज्ञक सात उत्तम किरणों वाले है, आप तेज, प्रदान करने वाले है हमें ब्रह्मतेज प्रदान करें। मैं सूर्य की परिक्रमा करता हूँ।

म॰ : 'स्वयंभूरिति सूर्यम्' (का॰ 3/8/17) इति। हे सूर्य, त्वं स्वयंभूरकृतकः स्वयंसिद्धोऽसि। श्रेष्ठः प्रशस्यतमो रश्मिः मण्डलशरीराभिमानी हिरण्यगर्भाख्योऽसि। सूर्यस्य सप्त रश्मयः सन्ति। चतुर्दिक्षु चत्वारः। एक उपर्येकोऽधस्तात्सप्तमो मण्डलाभिमानी हिरण्यगर्भः पुरुषः स श्रेष्ठः स त्वमसि। यतस्त्वं वर्चोदा असि तेजसो दातासि अतो मे वर्चः ब्रह्मवर्चसं देहि ॥ सूर्यस्येत्यावर्तते प्रदक्षिणम् (का॰ 3/8/19) इति। आवर्तनमावृत्। सूर्यस्य संबन्धिनीमावृतभावर्तनमनुसृत्याहमपि आवर्ते प्रादक्षिण्येनावर्तनं करोमि ॥26॥

सप्तविंशी

अग्ने॑ गृहपते सुगृहप॒तिस्त्वया॑ग्ने॒ऽहं गृ॒हप॑तिना भूयासꣳ सुगृहप॒तिस्त्वम्मया॑ग्ने गृ॒हप॑तिना भूयाः। अ॒स्थूरि॒णौ गार्ह॑पत्यानि सन्तु श॒तꣳ हि॒माः सूर्य॑स्या॒वृत॒मन्वाव॑र्ते ॥२७॥

अन्वय : गृहपते हे अग्ने! त्वया गृहपतिना अहं सुगृहपतिः भूयासम् । हे अग्ने! त्वं मया गृहपतिना सृगृहपतिः भूयाः। नौ गार्हपत्यानि शतं हिमाः अस्थूरि सन्तु। सुर्यस्य आवृतम् अन्वावर्ते।

व्याख्या : हे गृह के स्वामी अग्निदेव, आप जैसे गृहपति की कृपा से मैं भी अच्छा गृहपालक बनूँ। हे अग्ने! आप भी मुझ गृहपति द्वारा पूजित होकर इस घर को भली प्रकार समृद्ध करे। हे अग्ने! हम

दोनों (स्त्री पुरुष) के गृहस्थाश्रम में होने वाले यज्ञ यागादि समृद्धि प्रदान करनेवालेकर्म सौ वर्ष तक अव्यवहित रूप से अनुष्ठित होते रहे। सूर्य सम्बन्धी आवर्तन (भ्रमण) का अनुसरण करके मैं भी प्रदक्षिणा करता हूँ। इस मन्त्र से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान होता है।

म० : 'गार्हपत्यमुपतिष्ठतेऽग्ने गृहपते' (का० 3/8/21) इति। हे गृहपते अस्मदीयगृहस्य पालक हे अग्ने! त्वया गृहपतिना गृहपालकेन कृत्वा। त्वत्प्रसादेनेत्यर्थः। अहं सुगृहपतिः शोभनो गृहपतिः भूयासं भवेयम्। तथा हे अग्ने! त्वमपि मया गृहपतिना मदीयसेवयेत्यर्थः। सुगृहपतिः शोभनो गृहपालको भूयाः भव। अग्नेपदस्यावृत्तिरादरार्थ। एवं सति नौ आवयोर्गार्हपत्यानि गृहपतिभ्यां स्त्रीपुंभ्यां निष्पाद्यानि कर्माणि शंतहिमाः वर्षाणि शतवर्षपर्यन्तमस्थूरीव सन्तु। निरन्तरमवहितानि प्रवर्तन्ताम्। एकपार्श्वे बलीवर्दयुक्तं शकटं स्थूर न स्थूरि अस्थूरि। लुप्तोपमानम्। बलीवर्दयुक्तं शकटं यथा निरन्तरम् अव्यवहितं प्रसरति तथास्माकं गार्हपत्यानि सन्तु। 'गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः (पा० 4/4/90) इति ञ्यप्रत्ययः 'सूर्यस्येत्यावर्तते प्रदक्षिणम्' (का० 3/8/23) इति व्याख्यातम् ।।27।।

अष्टाविंशी

अग्नै व्रतपते व्रतमंचारिषन्तदंशकन्तन्मेंऽराधी दमहं य एवास्मि सोऽस्मि ।।२८।।

अन्वय : व्रतपते हे अग्ने! अहं व्रतम् अचारिषम्! तद् अशकम्, तत् में अराधि। य एव अस्मि सः अस्मि।

यहाँ व्रतविसर्ग की विधि प्रस्तुत है।

व्याख्या : हे व्रतों (कर्मों) के अधिष्ठाता अग्निदेव! मैं कर्मानुष्ठान (दर्शपूर्णमासयाग) सम्पन्न कर लिया हूँ। यह आपकी कृपा से ही निर्विघ्न सम्पन्न हुआ है तथा यह अनुष्ठान अपनी पूर्णता को प्राप्त हो गया है। हे अग्निदेव; इस कर्म को समाप्त करके, मैं कर्मजनित अपूर्वरूप गुणाधान से युक्त हो गया हूँ। अतः अब मैं देवभाव से पुनः मनुष्यभाव को प्राप्त करता है। अर्थात् अनुष्ठान के समय जो व्रत नियमादि आवश्यकरूप से अनुष्ठेय थे उनसे मैं मुक्त हो रहा है। क्योंकि ये नियम सार्वकालिक नहीं है। इस प्रकार से यजमान व्रत (कर्म) का

विसर्जन करता है।

म॰ : 'व्रतं विसृजते येनोपेयात्' (का॰ 3/8/29) इति। व्रतग्रहणे मन्त्रद्वयमुक्तं तयोर्मध्ये येन व्रतादानं कृतं प्रथमेन द्वितीयेन वा। अत्रापि तदनुसारेण व्रतं विसृजेत्। हे अग्ने हे व्रतपते कर्मपालक, व्रतमचारिषं कर्मानुष्ठितवानस्मि तदशकं शकितवान्। त्वत्प्रसादात्तत्कर्मशक्तोऽभवम्। त्वया च तन्मे मदीयं कर्म अराधि साधितम्। द्वितीयो मन्त्रः। हे अग्ने, इदं कर्म समाप्य योऽहं कर्मणः पुरा अस्मि स एव मनुष्योऽसि ॥28॥

(दर्शपूर्णमासेष्टि भाग के मन्त्र पूर्ण होते हैं)

(पिण्डपितृयज्ञः) प्रजापति-ऋषिः

एकोनत्रिंशी

अग्नये॑ कव्यवाह॑नाय स्वाहा॒ सोमा॑य पितृमते॒ स्वाहा॑। अप॑हता॒ऽ असु॑रा॒ रक्षा॑ᳯँसि व्वेदिषद॑ः ॥२९॥

अन्वय : कव्यवाहनाय अग्नये स्वाहा (अस्तु)। पितृमते सोमाय स्वाहा (अस्तु)। वेदिषदः असुराः रक्षांसि च अपहता। (भवेयुः)

व्याख्या : यहाँ से पिण्डपितृयाग प्रारम्भ होता है। पितृसम्बन्धी पिण्डादिहवि को पितरों तक प्राप्त (वहन) कराने वाले अग्निदेव के निमिंत्त यह हवि समर्पित है। पितरों से संयुक्त सोम देवता के लिए यह हवि समर्पित है। वेदि पर स्थित असुर दूर कर दिये गये। इसी प्रकार यज्ञ में विघ्नादि करनेवाले असुर भी दूर कर दिये गये है।

यहाँ कव्यवाहन शब्द अग्नि का विशेषण है। इसका तात्पर्य यह है कि पितरों से सम्बद्ध हवि को पितरों को पहुँचानें वाले को कव्यवाहन अग्नि कहा गया है। पितरों को क्रान्तदर्शी कहा गया है। भूतभविष्यवर्तमान का जिन्हें एक ही साथ ज्ञान हो वही कान्तदर्शी होता है।

म॰ : 'सारतण्डुलमपूर्णᳯँ श्रपयित्वाभिघार्योद्वास्य मेक्षणेन जुहोत्यग्नय इति सोमायेति च' (का॰ 4/1/7)। कवयः कान्तदर्शिनः पितरस्तेषां संबन्धि कव्यं हविः। तद्वोढुमधिकारो यस्यास्ति स कव्यवाहनः। तस्मै अग्नये स्वाहा हविर्दत्तम्। पितृमान् पितृसंयुक्तः। तस्मै सोमनामकाय देवाय स्वाहा हविर्दत्तम। स्वाहाकारेण वषट्कारेण वा देवेभ्योऽन्नादानश्रुतेर्दैवाविमौ

मन्त्रौ। 'दक्षिणेनोल्लिखत्यपहता इति' (का० 4/1/8) इति वेद्यां सीदन्ति वेदिषदः तादृशा असुराः अपहता वेदिसकाशादपगताः। तथा रक्षांसि वेद्या अपहतानि। असुरत्वं रक्षस्त्वं चेति जातिविशेषौ देवविरोधिनौ ।।29।।

त्रिंशी

ये रूपाणिं प्रतिमुञ्चमांनाऽअसुंराः सन्तः स्वधया चरंन्ति। परापुरों निपुरो ये भरंन्त्यग्निष्टाल्लोकात्प्रणुंदात्यस्मात् ।।३०।।

अन्वय : ये असुराः स्वधया रूपाणि प्रतिमुञ्चमानाः चरन्ति, ये परापुरः निपुरो भरन्ति, अग्निः अस्मात् लोकात् तान प्रणुदाति।

व्याख्या : जो असुर पितरों को प्रदत्त अन्न (हवि) को खाने की इच्छा से अपने वास्तविक स्वरूप को छोड़कर पितरों के समान रूप को धारण कर पितृयज्ञस्थान में विचरण करते हैं, और जो असुर अपने असुरत्व पर आवरण डालने के लिए स्थूल और सूक्ष्म शरीरों को धारण करते हैं, यह उल्मुक रूप अग्नि इस लोक से (पितृयज्ञस्थान से) असुरों को दूर भगा दें।

म० : 'उल्मुकं परस्तात्करोति ये रूपाणीति' (का० 4/1/9) इयं त्रिष्टुप् कव्यवाहनाग्निदेवत्या। स्वधया पैतृकान्नेन निमित्तेन पितृणामन्न-मस्यमभिर्भक्षणीयमिति हेतोः स्वीयरूपाणि प्रतिमुञ्चमानाः पितृसमानरूपाणि स्वीकुर्वन्तः सन्तो ये असुरा देवविरोधिनञ्चरन्ति पितृयज्ञस्थाने प्रसरन्ति। तथा ये असुराः परापुराः निपुरश्च भरन्ति। पराक्रान्तः पुरः परापुरः स्थूलदेहान्। निकृष्टाः पुरः निपुरः सूक्ष्मदेहान् ये धारयन्ति। स्वमसुरत्वं प्रच्छादयितुं ये स्थूलसूक्ष्मशरीराणि विभ्रति। अग्निउत्मुकरूपः अस्माल्लोकात् पितृयज्ञस्थानात्तानसुरान् प्रणुदाति प्रणुदतु प्रेरयतु। प्रकर्षेणापसारयत्वित्यर्थः ।।30।।

एकत्रिंशी

अत्रं पितरो मादयध्वं यथाभागमावृंषायध्वम्। अमींमदन्त पितरों यथाभागमावृंषायिषत ।।३१।।

अन्वय : हे मम पितरः अत्र मादयध्वम्। यथाभागम् आ वृषायध्वम्। (हे) पितरः अमीमदन्तः (हर्षं प्राप्तवन्तः) यथाभागम् आवृषायिषत। (अशितवन्तः)

व्याख्या : हे मेरे पितरों! आपलोग अपने भागों को यथाविधि प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करें। हे पितरों परम सन्तुष्ट होते हुए हमें भी शक्तिसम्पन्न बनायें। मेघ की भाँति अभीष्टपदार्थों की वर्षा कर हमें (प्रदान) आनन्दित करते रहे। (जिन पितरों को हर्षित होने के लिए कहा गया) वे पितर सन्तुष्ट हो चुके है तथा उन्होंने वृष की भाँति अपने-अपने भाग को तृप्तिपर्यन्त स्वीकार कर लिया है।

म० : 'अत्र पितर इत्युक्त्वोदङ्ङास्त आ मतनादावृत्यामीमदन्तेति जपतीति' (का० 4/1/13-14)। आ तमनात् श्वासनिरोधेन ग्लानिपर्यन्तमुदङ्नुस्व आस्त इति सूत्रार्थः। हे पितः, यूयमत्रास्मिन् बर्हिषि मादयध्वं हृष्टा भवत। ततो हविषि यथाभागं स्वं स्वं भागमनतिक्रम्य आवृषायध्वं समन्ताद्वृषवदाचरत। यथा वृषः स्वाभीष्टं घासं प्राप्य तृप्तिपर्यन्तं स्वीकरोति तद्वत्स्वीकुरुत। आङ्पूर्वाद्वृषशब्दात् 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' (पा० 3/1/11) इति क्यङ् ततो लोट्। पितरः अमीमदन्त। यान् पितृन् प्रति मादयध्वमित्युक्तं ते पितरोऽमीमदन्त हृष्टाः यथाभागमावृषायिषत स्वं भागमनत्रिक्रम्य वृषवत् स्वीचक्रुः। लुङि रूपम्। 'यथा भागमाशिषुरित्येवैतदाह' (2/4/2/22) इति श्रुतिः। स्वं भागं जक्षुरित्यर्थः ।।31।।

द्वात्रिंशी

नमों वः पितरो रसांय नमों वः पितरः शोषांय नमों वः पितरो जीवाय नमों वः पितरः स्वधायै नमों वः पितरो घोराय नमों वः पितरो मन्यवे न मों वः पितरः पितरो नमों वो गृहान्नः पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्मैतद्वः पितरो वास आधत्त ।।३२।।

अन्वय : (हे) पितरः, वः रसाय नमः, पितरः वः शोषायनमः, पितरः वः जीवाय नमः, पितरः वः स्वधायै नमः, पितरः वः घोराय नमः, पितरः वः मन्यवे नमः पितरः वः नमः पितरः नमोवः पितरः नः गृहान् दत्त, पितरः वः सत देष्मः। पितरः वः एतद् वासः आधत्त।

व्याख्या : हे पितरो! आपके रसमय वसन्त स्वरूप के लिए नमस्कार है। (वसन्त काल में ही वृक्षादि फल फूल रसादि से भर जाते हैं। अतः वसन्तऋतुरूप पितरों को नमस्कार करता हूँ। हे पितरों! औषधियों को सुखाने वाले ग्रीष्मऋतुरुप आपको नमस्कार है। जीवन धारण के

हेतुभूत जलरुप वर्षाकाल रूप आपको नमस्कार है। अन्नोत्पादक शरद्रूप आपको नमस्कार है। हे पितरों! शीताधिक्य के कारण विषम प्रतीत होने वाले हेमन्तऋतु रूप आपको नमस्कार है) औषधियों को दहन करने वाले शिशिर ऋतुरुप आपको नमस्कार है। आप ऋतुरुप है। हे पितरों! आप हमें निवास योग्य गृह प्रदान करें। आपके लिए मेरे द्वारा प्रदत्त यह सूत्र परिधान स्वरूप बनें।

यहाँ पिण्ड के समीप बद्धाज्जलि होकर ऋतु स्वरूप पितरों को प्रणाम किया गया है।

म॰ : 'नमो व इत्यञ्जलिं करोतीति' (का॰ 4/1/15)। षट्कृत्वो नमस्करोति। 'षङ्वा ऋतवः पितरः' इति श्रुतेः। रसादिशब्देन वसन्तादिषड्तव उच्यन्ते। ते च पितृणां स्वरूपभूताः अंतस्तेभ्यो नमस्करोति। हे पितरः, वो युष्माकं संवन्धिने रसाय रसभूताय वसन्ताय नमः। यतो मध्वादयो रसा वृक्षेषु जायन्तेऽतो रसशब्देन वसन्तः। युष्मद्रूपाय वसन्ताय नम इत्यर्थः। एवमग्रेतना मन्त्रा व्याख्येयाः। शोषाय शुष्यन्त्योषधयो यत्रेति शोषो ग्रीष्मः। जीवाय जीवनहेतुभूताय जलाय वर्षर्तवे। स्वधायै शरदे। 'स्वधा वै शरत् स्वधा वै पितृणामन्नम्' इति श्रुतेः। शरदि हि प्रायशोऽन्नानि भवन्ति। घोराय विषमाय हेमन्ताय। हेमन्तः शीतप्रचुरत्वेन दुःखदत्वात् घोरः। मन्यवे मन्युः क्रोधास्तद्रूपायशिशिराय। शिशिरस्तु सर्वौषधीर्दहति। हे पितरः, एवंविध-ऋतुरूपेभ्यो वो युष्मभ्यं नमः। हे पितरः, वो नम इत्यभ्यास आदरातिशयार्थः। हे पितरः, नोऽस्मभ्यं गृहान दत्तः भार्यापुत्रपौत्र दयो गृहाः। हे पितरः, वो युष्मभ्यं सत विद्यमानात् देष्म ददामः। सतोधनादियुष्मभ्यमस्मामिर्दात्वयम्। ददतामस्माकं कदाचित् द्रव्यक्षयो मास्तु इत्यर्थः। एतद्व इत्युपास्यति सूत्राणि। प्रतिपिण्ड मूर्णा दशा वा वयस्तुत्तरे यजमान लोभानि वा (का. 4/7-16-18) हे पितरः वेः युष्मभ्यमेतद्वासः सूत्रमेव परिधानमस्तु।

त्रयस्त्रिंशी

आधत्त पितरो गर्भंङ्कुमारम्पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत।।

अन्वय : हे पितरः। यथा इह पुरुषः असत् (भूयात) (अतः) पुष्करस्त्रजम् कुमारम् गर्भम् आधन्त।

व्याख्या : हे पितरों! जिससे देवता, पितर एवं मनुष्य तृप्त हो,

प्रसन्न हो ऐसे पुत्ररत्न आप हमें प्रदान करें। इसके साथ ही अश्विनी कुमारों के समान रोगहीन तथा सुन्दर हो।

चतुस्त्रिंशी

ऊर्ज्जम्वहंन्तीरमृतं घृतंपयः कीलालं परिश्रुतंम्। स्वधास्थं तर्पयंतमे पितृन्।।

अन्वय : हे आपः ऊर्ज्जम् अमृतं परिस्रुतं घृतं कीलालं पयः वहन्तीः यूयं स्वधा स्थ। मे पितृन् तर्पयत।

व्याख्या : यहाँ पिण्ड़ों के ऊपर (पयः) जल या दूध की धारा देते हुए जल को सम्बोधित करते हुए कहा जा रहा है।

हे जल! आप बलप्रदान करने वाले पुष्पों से निःसृत सार मधु की भाँति, पुष्टि प्रदान करने वाले, सम्पूर्ण दुखादिबन्धनों को दूर करने वाले, आरोग्य को प्रदान करने वाले हमारे पितरों को तृप्त करने वाले हविरूप हैं। अतः मेरे पितरों को तृप्त करें।

इस प्रकार इस अध्याय में शाखाछेदन से लेकर पितण्डपितृयज्ञ तक के मन्त्रों की सान्वय व्याख्या सम्पन्न हुई।

इति द्वितीयोऽध्यायः

अथ तृतीयोऽध्यायः

तत्र प्रथमा

सुमिधाग्निन्दुंवस्यतघृतैबोंधयतातिंथिम्। आस्मिंन्हुव्या जुंहोतन।

अन्वय : हे ऋत्विजः! समिधा अग्निं दुवस्यत, घृतैः अतिथिम् बोधयत। अस्मिन् हव्या आजुहोतन।

यहाँ से आधान के मन्त्र प्रारम्भ हो रहे हैं।

व्याख्या : हे ऋत्विजों आप! समिधा द्वारा अग्नि की परिचर्या (अर्चना) करें घृत द्वारा इस अतिथि-रूप अग्नि को प्रज्वलित करें। इस प्रज्वलित अग्नि में हव्य पदार्थों का होम करें।

म॰ : अध्यायद्वयेन दर्शपौर्णमासेष्टिविषया मन्त्रा उक्ताः। अथाधानमन्त्रा उच्यन्ते प्रागग्निर्ज्योतिरित्यन्तेभ्यः (ख. 6)। देवानां प्रजापतेरग्नेर्गन्धर्वाणां

वार्षम्। आग्नेय्यश्चतस्त्रो गायत्र्यः। तत्र कात्यायनः 'अमावास्यायामग्न्याधेयम्' (4/1/1) इत्यादिना कालविशेषादीनि ब्रह्मौदनपाकपर्यन्तानि कार्याण्युक्त्वा पश्चादिदमाह। 'तं चातुष्प्राश्यं पचत्युद्वास्यासेचनं मध्येकृत्वा सर्पिरसिच्याश्वत्थीस्तिस्त्रः समिधो घृताक्ता आद्धाति समिधाग्निमिति प्रत्यृचम्' (4/8/4/5) इति। अस्यार्थः। चतुर्भिर्ऋत्विग्भिः प्राशितुं योग्यमोदनं पक्त्वा बहिरुद्वास्य तस्योदनस्य मध्ये घृतसेचनाय निम्नं स्थानं कृत्वा तत्सर्पिषापूर्य तिस्त्रः समिधस्तस्मिन्सर्पिष्यभ्यज्य तिसृभिर्ऋग्भिरग्नावभ्यादधातीति। समिधाग्निम्। हे ऋत्विजः, यूयं समिधा कृत्वा अग्निं दुवस्यत परिचरत। दुवस्यतिः परिचरणार्थः। सम्यगिध्यते दीप्यते बर्हिर्यया काष्ठरूपया सा समित्तया। घृतैः होष्यमाणैः पूर्वाहुतिसंबन्धिभिरतिथिमातिथ्यकर्मणा पूजनीयमग्निं बोधयत प्रज्वालयत। अस्मिन् प्रज्वलितेऽग्नौ हव्या नानाविधानि हवींषि आ जुहोतन सर्वतो जुहुत। 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा. 7/1/45) इति तनवादेशः ।।1।।

द्वितीया

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रञ्जुहोतन। अग्नये जातवेदसे।

अन्वय : हे ऋत्विजः! सुसमिद्धाय शोचिषे, जातवेदसे अग्नये, तीव्रं घृतं जुहोतन। (जुहुत)

व्याख्या : हे ऋत्विजों आप अच्छी तरह प्रदीप्त हुए, ज्वालाओं से प्रकाशमान, सर्वज्ञाता अग्निदेवके लिए संस्कृतघृत की आहुति प्रदान करें।

म० : हे ऋत्विजः, अग्नये यूयं घृतेन जुहोतन जुहुत। जुहोतेः परस्य लोट्मध्यमबहुवचनस्य तस्य 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा. 7/1/45) इति तनबादेशो गुणे जुहोतनेति रूपम्। किंभूतायाग्नये। सुसमिद्धाय शोभनतया सम्यग्दीप्ताय। अतएव शोचिषे शोचिष्मते दीप्तिमते ज्वलिताय। जातवेदसे जातं वेत्ति वेदयति वा जातवेदास्तस्मै। जातप्रज्ञानाय या। किंभूतं घृतम्। तीव्रं स्वादुतमं समग्रं वा पटुतरं वा। ग्रहणोद्वासनाधिश्रयणावेक्षणादिभिः संस्कृतमित्यर्थः ।।2।।

तृतीया

तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरोघृतेनव्वर्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठ्य।

अन्वय : हे अंगिरः! यविष्ठ्य (युवतम) अग्ने। तं, त्वां

समिद्भिः घृतेन च वर्द्धयामसि, बृहच्छोचा, (महत्प्रवृद्धं यथा) तथा दीप्यस्व

व्याख्या : सभी यागों में आवाहित होने वाले, नित्ययुवा रहने वाले देव (त्रिदश) हे अग्निदेव हम आपको संस्कृतआज्य एवं समिधाओं से प्रदीप्त (प्रवृद्ध) करते हैं। आप वृद्धि को प्राप्त होते हुए प्रदीप्त हों।

म० : हे अङ्गिरः, अङ्गतिर्गत्यर्थः। अङ्गिर्गतिरस्यास्तीति अङ्गिराः। रस्प्रत्ययो मत्वर्थीयः। तत्तद्यागेषु गमनवन्नग्ने। 'अङ्गिरा उ ह्यग्निः' (1/4/1/25) ति श्रुतेः तं य उक्तगुणस्तथाविधं त्वा त्वां समिद्भिर्यज्ञसंबन्धि-काष्ठैर्घृतेन संस्कृताज्येन च वर्धयामसि वर्धयामः प्रवृद्धं कुर्मः। 'इदन्तो मसि' (पा. 7/1/46) इति सिकारश्छान्दसः। हे यविष्ठ्य युवतम, कदाचिदपि स्थविरत्वरहितेत्यर्थः। तथाविधाग्ने, वृहत् महत् प्रवृद्धं यथातथा शोच दीप्यस्व। 'द्यचोऽतस्तङः' (पा. 6/3/135) इति संहितायां दीर्घः। अतिशयेन युवा यविष्ठः। इष्ठनि परे 'स्थूलदूरयुव-'(पा. 6/4/156) इत्यादिना वा टिलोपे गुणे च रूपम्। यविष्ठ एव यविष्ठ्यः। स्वार्थे तद्धितयकारः ॥3॥

चतुर्थी

उपत्वाग्ने हुविष्मतीघृताचीर्यन्तु हर्यत। जुषस्वं सुमिधो ममं।

अन्वय : (हे) अग्ने! हविष्मती घृताचीः एताः समिधः त्वा त्वाम् उपयन्तु प्रत्युपगच्छन्तु। (हे) हर्यत अग्ने! मम समिधः त्वं जुषस्व।

व्याख्या : हे अग्निदेव! संस्कृतहवि से युक्त घृताक्त ये समिधायें आपको प्राप्त हों। हे कान्तियुक्त अग्निदेव, मेरे द्वारा समर्पित समिधाओं का प्रेमसहित सेवन करें।

म० : 'उप त्वेति जपतीति' (का. 4/8/6) हे अग्ने, हविष्मतीर्हविष्मत्यः हविर्युक्ताः घृताचीः घृताच्यो घृताक्ता एताः समिधस्त्वा त्वामुपयन्तु प्रत्युपगच्छन्तु। हे हर्यत प्रेप्सावन्, 'हर्यतः। आचके' (निध. 2/6/10) इति कान्तिकर्मसु पठितत्वात्। तथाविध हे अग्ने, मम मदीयाः समिधः त्वं जुषस्व सेवस्व। त्वामुपयतीरङ्गीकुर्वित्यर्थः। 'छन्दसि परेऽपि' 'व्यवहिताश्च' (पा. 1/4/81-82) इति। उपयन्तु इत्युपसर्गक्रियापदयोर्व्यव-

हितत्वम्। हविष्मतीरित्यादौ 'वा छन्दसि' (पा. 6/1/106) इति पूर्वसवर्णदीर्घत्वम् ।।4।।

पञ्चमी

भूर्भुवःस्वुर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा। तस्यास्ते पृथिवि-देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे।

अन्वय : भूः भुवः स्वः भूम्ना द्यौः इव वरिम्णा पृथिवी इव। अहं भूयासम्। (हे) देवयजनि पृथिवि! तस्याः ते पृष्ठे अन्नाद्याय अन्नादम् अग्निम् आदधे।

व्याख्या : हे देवयजनि (जहाँ देवताओं के लिए याग किया जाय, ऐसी भूमि) हे पृथिवी आपके देवयागयोग्य (सर्वाधारमयी) पृष्ठभाग पर, अन्नादि की प्राप्ति के लिए हुतअन्न के भक्षक गार्हपत्याग्नि को स्थापित करता हूँ। जिसके द्वारा मैं प्रभूतनक्षत्रों से युक्त द्युलोक के समान उन्नत हो सकूँ तथा पृथिवी के समान ही सारे प्राणियों का आश्रय रूप होकर श्रेष्ठ बन जाऊँ।

यहाँ गार्हपत्य एवं आह्वनीय में अग्न्याधान किया जा रहा है।

म० : 'दारुभिर्ज्वलन्मादधाति भूर्भुव इति संभारेषु' (का० 4/9/1) इति। भुर्भुवःस्वरिति पूर्ववदिति च' (4/9/16) अस्यार्थः। आपो हिरण्यमूषा-स्वूत्करः शर्करेति पञ्च संभारान्संपाद्य स्फ्येनोल्लिखितायां शुद्धायां भूमौ तान्संभारानवस्थाप्य तेषु शुष्ककाष्ठैर्ज्वलन्तमग्निं भूर्भुवःस्वरिति पञ्चाक्षराण्यु-च्चारयन्नादध्यात्। इदमाहवनीयाधानम्। एवमष्टाक्षरत्वादग्नेर्गायत्रत्वं श्रुत्योक्तम्। गायत्रीसहितस्याग्नेः प्रजापतिमुखादुत्पन्नत्वात्। अयं मन्त्रार्थः। एतेष्वाधानमन्त्रेषु भूरिति प्रथमा व्याहृतिः। भुव इति द्वितीया। स्वः इति तृतीया। एतास्तिस्रो व्याहृतयः पृथिव्यादिलोकत्रयनामानि। एतदुच्चारणपूर्वकं प्रजापतिना लोकत्रयस्य सृष्टत्वात्। अतएवाभिः स्थापयन् लोकत्रयमनेन स्मरेत्। एतासां व्याहृतीनां महिमा भूयादिति। भूर्भुवःस्वःशब्देन ब्रह्मक्षत्रविशो वा आत्मप्रजापशवो वा। सर्वे मद्वशगा भूयासुरिति प्रार्थयन्नग्नीनादध्यादित्यर्थः। 'इध्मपूर्वार्धं गृहीत्वा द्यौरिव भूम्रेत्याहेति' (का० 4/9/17)। देवा इज्यन्ते यस्यां पृथिव्यां सा देवयजनी तथाविधे हे पृथिवि, तस्यास्ते तव पृष्ठे देवयजनयोग्यायास्तवोपरि। अन्नादमन्नस्य हुतस्यात्तारमग्निं गार्हपत्यादिरूपमादधे स्थपयामि। किमर्थम्।

अन्नाद्याय। अन्नं च तदाद्यं च तस्मै आद्यस्यान्नस्यात्तुं योग्यस्यान्नस्य सिध्द्यर्थम्। आहिताग्न्यादित्वात्परनिपातः (पा॰ 2/2/37)। यद्वान्नस्याद्याय भक्षणाय। यस्याः पृष्ठेऽग्निमाधाय भूम्रा द्यौरिव भूयासमिति शेषः। बहोर्भावो भूमा तेन। यथा द्यौर्नक्षत्रबहुत्वेन वह्वी एवं पुत्रपश्वादिभिर्वहुर्भूयासम्। वरिम्णा पृथिवीव भूयासम्। उरोर्भावो वरिमा तेन। यथा पृथिवी उरुत्वेन सर्वप्राणिनामाश्रयभूता एवमहं महत्त्वेन सर्वप्राणिनामाश्रयभूतो भूयासम्। यद्वा पूर्वार्धस्यायमर्थः। किंभूतमग्निम्। भूम्रा द्यौरिव वर्तमानम्। यथा द्यौर्नक्षत्रादिबहुत्वेन युक्ता तथा ज्वालाबहुत्वेन युक्तम्। किंच वरिम्णा पृथिवीव स्थितम्। यथा पृथिवी सर्वप्राण्याश्रयत्वरूपेण श्रेष्ठत्वेनोपेता तथा सर्ववस्तुशोध कत्वरूपेण श्रेष्ठत्वेनोपेतम्। अतएव क्वचिद्विधिवाक्ये अग्नये पावकायेत्याम्नातम् ।।5।।

षष्ठी

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरंञ्च प्रयन्त्स्वः ।।६।।

अन्वय : अयम् (अग्निः) गौः पृश्निः आ अक्रमीत्। मातरं (पृथिवीम्) पुरः असदन् पितरं च स्वः प्रयन् असदत्। (प्राप्तवान्)

व्याख्या : यज्ञों की पूर्णता हेतु सभी यजमानों के घरों में आहूत होनेवाले ये अग्नि, लोहित शुक्लादि बहुविध ज्वालाओं से युक्त हैं। ये अग्नि आहवनीय गार्हपत्य दक्षिणाग्नि प्रभृति स्थानों में पाद निक्षेप किये हैं। पूर्व की दिशा में यह अग्नि, मातृरूपा पृथ्वी के पास आहवनीय के रूप में तथा आदित्य रूप में स्वर्ग में संरचनण करते हुए पिता द्युलोक को प्राप्त कर रहे हैं। यहाँ आहवनीय अग्नि का उपस्थान प्रस्तुत है जिसमें अग्नि को त्रिलोकव्यापी कहा गया है।

म॰ : 'आयं गौरिति चोपतिष्ठते सार्पराज्ञीभिर्दक्षिणाग्निमादधातीति' (का॰ 4/9/18-19)। आयं गौरित्यादीनां तिसृणामृचां सार्पराज्ञीति नामधेयम्। सर्पराज्ञी कद्रूः पृथिव्यभिमानिनी। तथा दृष्टत्वात् ताभिर्ऋग्भिरावहनीयमुपतिष्ठते। ततो दक्षिणाग्निमादध्यादिति सूत्रार्थः। गायत्रस्तृचः। अग्निः परावररूपेण स्तूयते। अयं दृश्यमानोऽग्निः आ अक्रमीत् सर्वत आहवनीयगार्हपत्यदक्षिणाग्निस्थानेषु सर्वतः क्रमणं पादविक्षेपं कृतवान्। किंभूतोऽग्निः। गच्छतीति

गौः यज्ञनिष्पत्तये तत्तद्यजमानगृहेषु गन्ता। 'गमेर्डोप्रत्ययः (उ॰ 2/66)। तथा पृश्निः चित्रवर्णः। लोहितशुक्लादिबहुविधज्वालोपेतः। आक्रमणमेवाह। पुरः प्राच्यां दिशि मातरं पृथिवीमसदत् आसीदत् आहवनीयरूपेण प्राप्तवान्। तथा स्वः प्रयन् आदित्यरूपेण स्वर्गे संचरन् पितरं च द्युलोकमपि असदत्प्राप्तवान्। स्वःशब्देन सूर्यः (निघ॰ 1/4/1)। द्युलोकभूलोकयोर्माता-पितृत्वमन्यत्रापि श्रूयते। 'द्यौः पिता पृथिवी माता' इति ।।6।।

सप्तमी

अ॒न्तश्च॑रति रोच॒नास्य प्रा॒णाद॑पान॒ती। व्य॑ख्यन्महि॒षो दिव॑म् ।।७।।

अन्वय : अस्य (अग्नेः) रोचना प्राणात् अपानती अन्तः चरति महिष (अग्निः) दिवम् विअख्यत्। (द्युलोकं विशेषेण प्रकाशितवान्)

व्याख्या : [पिछले मन्त्र में आहवनीयअग्नि का सूर्य रूप में वर्णन किया गया है। इस मन्त्र में वह वायु रूप से वर्णित है] तात्पर्य यह है कि यह एक ही अग्रणी-देव-अग्नि सूर्य वायु आदि विविध रूपों से जगत् की रक्षा करता है।]

इस भुवन-विख्यात अग्नि की ही शक्ति वायुरूप होकर द्युलोक एवं पृथिवीलोक के मध्य संचरण करती है। यही शरीर में प्राण से अपान रूप को धारण करती है, अर्थात् द्यावाभूमी में तथा प्राणीमात्र के शरीरों में प्राण व्यापार के अनन्तर अपान व्यापार करती हुई भीतर विचरण करती है। यह प्राणापानवायु की प्रेरिका है। (क्योंकि जठराग्नि के दीप्त होने पर ही शरीर में प्राणापान प्रवर्तित होते हैं। अतः यह अग्नि प्राणापान रूप है) यह अग्नि ही अनुष्ठाताओं के लिए द्युलोक को भी प्रकाशित करता है। अर्थात् स्वर्गप्रदान करता है।

इस मन्त्र में अग्नि की दीप्तिरूपाशक्ति ही वायुरूप में द्यावापृथिवी के मध्य तथा शरीर के मध्य संचरण करती है। यह बताया गया है।

म॰ : एवमादित्यरूपेणाग्निं स्तुत्वा वायुरूपेण स्तौति। अस्याग्ने रोचना। 'रुच दीप्तौ' दीप्तिः काचिच्छक्तिः वाय्याख्या। अन्तश्चरति द्यावापृथिव्योर्मध्ये शरीरमध्ये चरति। 'अन्तरिक्षेऽयं तिर्यङ्वायुः पवते' इति श्रुतिः। किं कुर्वती। प्राणादपानती सर्वशरीरेषु प्राणव्यापारादनन्तरमपानव्यापारं

कुर्वती। अपानादनन्तरं प्राणतीत्यप्यर्थो लभ्यते सामर्थ्यात् प्राणापानयोर्वायुविशेषयोः प्रेरिकेत्यर्थः। सति हि जठराग्नौ जीवनहेतोरौष्ण्यस्य शरीरे सद्भावात्प्राणापानौ प्रवर्तेते। तस्मादग्निः प्राणापानरूप इत्यर्थः। एवं वाय्यादित्याभ्यां स्वशक्तिभूताभ्यामिदं जगदनुगृह्य य एनमुपतिष्ठते तस्य किं करोतीत्याह। व्यख्यदिति। महिषोऽग्निः दिवं व्यख्यत्। द्युलोकं भोगस्थानमनुष्ठातृभ्यो विशेषेण प्रकाशितवान् प्रकाशयति च। महि माहात्म्यं यागकर्तृस्वरूपं सनोति ददाति स महिषः। 'अग्निर्वै महिषः स इदं जातो महान्' इति श्रुतेः। व्यख्यत् विपूर्वस्य ख्या प्रकथने इत्यस्य 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' (पा॰ 3/1/52) इति च्लेरङ्। आलोपः। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा॰ 3/4/6) इति सर्वकालेषु लङ्। अपान इवाचरतीत्यपयानती। क्विवन्तादपान-शब्दाच्छतृप्रत्ययः। 'उगितश्च' (पा॰ 4/1/6) इति ङीप् ।।7।।

अष्टमी

त्रिꣳशद्धाम॒ व्विरा॑जति॒ वाक् प॑त॒ङ्गाय॑ धीयते। प्रति॒वस्तो॒रह॒ द्युभिः॑ ।।८।।

अन्वय : या वाक् त्रिंशद्धाम विराजति प्रतिवस्तोः अह द्युभिः पतंगाय (अग्नये) धीयते। (उच्चार्यते)

व्याख्या : जो वाणी दिन के 30 मुहूर्त रूप स्थानों में या महीने के तीसों दिन मानव व्यवहारों मे शोभित होती है। वही वाक् प्रतिदिन निश्चय रूप से दिव्य ऋचाओं द्वारा अग्नि-देव की स्तुति के लिए उच्चारित की जाती है। यहाँ तक आधान के मन्त्र कहे गये हैं।

म॰ : 'सुपां सुलुक्' (पा॰ 7/1/32) इत्यादिना त्रिंशच्छब्दाद्धाम-शब्दाच्च सुपो लुक्। 'धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति' (निरु॰ 9/28/29)। अत्र धामशब्देन स्थानमुच्यते। अहोरात्रस्य त्रिंशनमुहूर्ता धामशब्देनाभिप्रेताः। त्रिंशत्सु धामसु मुहूर्ताख्येषु स्थानेषु या वाक विराजति शोभते स्तूयमाना सा वाक् पतङ्गाय धीयते अग्न्यर्थमुच्चार्यते। पतन् गच्छतीति पतङ्गः अग्निः। स ह्यरण्योः पतन् गार्हपत्यभावं गच्छति गार्हपत्योत्पन्नाहवनीयतामित्यादि। सर्बदेवसंबन्धिनीभिः स्तुतिभिरग्निरेव सर्वात्मत्वात्स्तूयते इत्यर्थः। न केवलं त्रिंशत्सु धामसु या वाग्विराजति सैव पतङ्गाय धीयते। किं तर्हि प्रतिवस्तोः प्रत्यहं या स्तुतिलक्षणा वाक् या च

द्युभिः अहोभिः यागपारायणाद्युत्सवभूतैः स्तुतिलक्षणा वाग्विराजति सा पतङ्गायैव धीयते नान्यस्यै देवतायै। 'वस्तोः द्युः भानुः' (निघ॰ 1/9/1) इत्यहर्नामसु पठितम्। अहेति निपातो विनिग्रहे। सर्वकालं सर्वा स्तुतिवागग्न्यर्थैवैत्यर्थः। यद्वास्या ऋचोऽयमर्थः। धाम स्थानं तच्च त्रिंशत् त्रिंशत्संख्याकं मासगतदिनभेदेन। तद्विराजति विशेषेण दीप्यते। आलस्यरहितानां यजमानानामनुष्ठानेनाहवनीयाद्यग्नीनां स्थानं मासगतेषु त्रिशत्संख्याकेषु दिनेषु विशेषेण शोभत इत्यर्थः। वाक् स्तुतिरूपा पतङ्गायाग्नये धीयते उच्चार्यते। पतङ्गः पक्षी। तत्सदृशत्वादग्निः पतङ्गः। यथ कश्चित्पक्षी एकस्मात्स्थाना-त्स्थानान्तरं गच्छति तद्वदग्निरपि गार्हपत्यस्थानादाहवनीयस्थानं गच्छतीत्यग्नेः पक्षिसादृश्यम्। अहेति निपातः पूर्वोक्तनिषेधार्थः। अस्या ऋचा पूर्वार्धेऽग्निमाहा-त्म्यज्ञापकं वाक्यद्वयेनार्थद्वये यदुक्तं तावदेव न भवति किंत्वन्यदप्युच्यत इत्यर्थः। वस्तोरित्यहर्नामसु पठितम्। प्रतिवस्तोः प्रत्यहं द्युभिः द्योतनैरयमग्निः स्तूयत इत्यध्याहारः। द्युर्द्योतनं दीप्यतेः प्रयोगः ।।8।।

इत्यग्न्याधेमन्त्राः

नवमी

अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा। अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा। ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ।।९।।

अन्वय : अग्नि ज्योतिः ज्योतिः अग्निः स्वाहा। सूर्यो ज्योतिः ज्योतिः सूर्यः स्वाहा। अग्निः वर्चः ज्योतिः वर्चः स्वाहा। सूर्यः ज्योतिः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा।

व्याख्या : [यहाँ से अग्निहोत्रहोममन्त्र प्रारम्भ होते हैं।] ये अग्निदेव ही दृश्यमान ज्योतिस्वरूप है तथा जो दृश्यमान ज्योति है, वही अग्निदेव हैं। ऐसे ज्योतिस्वरूप देव के लिए यह हवि समर्पित है। [यह सायंकालीन अग्निहोत्र होममन्त्र है]। जो यह सूर्य देव हैं वह ज्योति हैं, तथा ज्योति ही सूर्य हैं। उस ज्योतिस्वरूप सूर्य के लिए यह हवि समर्पित है। यह प्रातर्होममन्त्र है। अग्नि तेज है और प्रकाशमान ज्योति ही तेजोरूप है। उनके लिए यह हवि समर्पित हो। सूर्य तेज है, और उसकी ज्योति ही तेजोरूप है। ज्योति ही सूर्य है। और सूर्य ही ज्योति है ऐसे देव के

लिए यह हवि दी जा रही है।

म० : अथाग्निहोत्रहोममंत्राः अग्निर्ज्योतिरित्यारभ्य उपप्रयन्त (ख० 11) इत्यतः प्राक्। तन्मन्त्राणां प्रजापतिर्ऋषिः सामान्यतः। यत्र ऋषिविशेषोऽनुक्रमणीकारैस्तत्र द्वापप्यृषी। 'यथाग्निर्वर्चो द्वे तक्षापश्यत्परां जीवलश्चैलकिरिति' (अनु० 1/11) सप्त लिङ्गोक्तदेवता गायत्र्यः। आद्याःपंचैकपदाः। अग्निर्ज्योतिः सूर्यो ज्योतिः एते द्वे एकपदे गायत्र्यौ तक्षा मुनिरपश्यत्। परां ज्योतिः सूर्यः इतीमां चेलकस्य पुत्रो जीवल ऋषिरपश्यदित्यर्थः। अथ 'प्रदीप्तामभिजुहोत्यग्निर्ज्योतिरितीति' (का० 4/14/14) या समित् प्रदीप्ता तामभिलक्ष्य जुहुयात्। अग्निर्ज्योतिषमिति काण्वशाक्तमंत्रेण (अध्या० 3/2/1) समित्प्रक्षेपः। मन्त्रार्थस्तु। योऽयमग्निर्देवः स एव ज्योतिर्दृश्यमानज्योतिः स्वरूपम्। यच्चेदं दृश्यमानं ज्योतिः तदेवाग्निर्देवः। देवस्य ज्योतिषश्च कदाचिदप्यवियोगादेकत्वेन प्रतिपादनम्। स्वाहा ज्योतीरुपायाग्नये हविः प्रदत्तम्। अयं सायंकालीनोऽहोत्रहोममन्त्रः। सूर्यो ज्योतिर्ज्योति सूर्यः स्वाहेति प्रातर्होममन्त्रः सायंहोममन्त्रवद्व्यास्येयः। सूर्यसंबन्धि तेजो रात्रावग्निं प्रविशतीति सायमग्निर्ज्योतिरिति मन्त्रो युक्तः। उदयकालेष्वग्निसंबन्धि ज्योतिः सूर्ये प्रवशिति। तस्मात्प्रातः सूर्यो ज्योतिरिति मन्त्रः। 'अग्निमादित्य' सायं प्रविशति तस्मादग्निर्दूरान्नक्तं ददृशे। उभे हि तेजसी संपद्येते उद्यन्तं वादित्यमग्निरनु समारोहति। तस्माद्धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे' इति तित्तिरिश्रुतेः। 'अग्निर्वर्च इति ब्रह्मवर्चसकामस्येतिः' (का० 4/14/15) ब्रह्मवर्चसकामस्तु अग्निर्वर्चः सूर्यो वर्च इति सायं प्रातश्च जुहुयात्। योऽग्निर्वर्चोनन्यभूतः तस्य तज्ज्योतिर्वर्चोनन्यभूतं तस्मै सुहुतमस्तु। एवं 'सूर्यो वर्च इति ज्योतिः सूर्य इति वा प्रातरिति' (का० 4/15/11) प्रातर्होममन्त्रः ज्योतिः सूर्य इति। यत् ज्योतिः स सूर्य एव। यः सूर्यः स ज्योतिरेव। तस्मै स्वाहा ।।9।।

दशमी

सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या। जुषाणोऽअग्निर्वेत्तु स्वाहा। सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या। जुषाणः सूर्यो वेत्तु स्वाहा ।।१०।।

अन्वय : सवित्रादेवेन प्रेरकेण सजूः (सखाभावयुक्त) इन्द्रवत्या रात्र्या सजूः जुषाण। सेवमानः अग्निः वेतु स्वाहा। सवित्रादेवेन सजूः

इन्द्रवत्या उषसा सजूः जुषाणः सूर्यो वेत्तु स्वाहा।

व्याख्या : ये अग्निदेव सर्वप्रेरकसवितादेवता के साथ समानप्रीति (सखाभावयुक्त) तथा इन्द्रदेवता युक्त रात्रि के साथ हमारे इस (सन्ध्याकालीन यज्ञरुप कर्म को) स्वीकार करें या प्रदत्त आहुति ग्रहण करें। इन्द्रयुक्त उषा के साथ सखाभाव से रहने वाले सूर्य इस आहुति को स्वीकार करें।

म॰ : 'सजूरिति वेति' (का॰ 4/14/9) जुहोतीत्युनवर्तते। पूर्वोक्तमन्त्रैः सह सजूरित्यादिमन्त्रद्वयं विकल्पितम्। सजूर्देवेन। अग्निर्वेतु अस्मदीयं कर्म प्राप्नोतु। यद्वा वेतु आहुतिं भक्षयतु। 'वी प्रजननकान्त्यसनस्वादनेषु' इति धातोः प्रयोगः। किंभूतोऽग्निः। सवित्रा देवेन प्रेरकेण परमेश्वरेण सह सजूः। 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' जोषणं जूः समाना जूः प्रीतिर्यस्यासौ सजूः। तथा इन्द्रवत्या रात्र्या इन्द्रेण देवेनोपेतया रात्रिदेवतया सजूः। समानप्रीतिः। तथा जुषाणोऽस्मासु प्रीतियुक्तः। य उक्तगुणवानग्निर्देवस्तस्मै स्वाहा हूयमानमिदं द्रव्यं दत्तम्। प्रातःसूर्य उच्यते। अग्निमन्त्रवदयं सूर्यमन्त्रो व्याख्येयः। पूर्वार्धे रात्रिदेवतायाः स्थाने उषोदेवता योजनीया ।।10।।

एकादशी

उपप्रयन्तोऽअध्वरं मन्त्रंम्वोचेमाग्नयें। आरेऽअस्मे चं शृण्वते ।।११।।

अन्वय : अध्वरम् (यज्ञम्) उपप्रयन्तो वयम् आरे अस्मे च श्रृण्वते अग्नये मन्त्रं वोचेम (ब्रूयाम)।

व्याख्या : यज्ञ सम्पादन के लिए जाते हुए हम (अनुष्ठाता) गण दूर या समीप से भी हमारी स्तुति को सुननेवाले अग्निदेवता के लिए वेदमन्त्रों का उच्चारण करते है।

म॰ : 'सायमाहुत्याꣳ हुतायां यजमानोऽग्नी उपतिष्ठते वात्सप्रेण न वा तिस्रस्त्रिरुपप्रयन्तो 11 अस्य प्रत्नां 16 परिते 36 चित्रावसविति 18 चेति' (का॰ 4/12/1-3) आहवनीयगार्हपत्यावग्नी उपप्रयन्तो अध्वरमित्यारभ्य सुपोषः पोषैरित्यन्तं 37 बृहदुपस्थानं देवदृष्टम्। तत्राद्ये द्वै आग्नेय्यौ गायत्र्यौ क्रमेण गोतमविरूपाभ्यामपि दृष्टे। आहवनीयोपस्थानमन्त्रा आदौ। वयमनुष्ठातारोऽग्नेयेग्न्यर्थ मन्त्रं मननेन त्राणकरं शब्दसमूहं वोचेम उच्याम्।

किंभूता वयम्। अध्वरं यागमुपप्रयन्त उपगच्छन्त। किंभूतायाग्नये। आरे दूरे अस्मे अस्माकं समीपे इति शेषः। श्रृण्वते दूरे समीपे चास्मदीयं वाक्यं श्रोतुमुद्युक्ताय। वोचेमेति वक्तेराशीर्लिङि परस्मैपदोत्तमबहुवचने परे 'लिङ्गायाशिष्यङ्' (पा० 3/1/86) इत्यङ्। यासुट् 'अतो येयः' (पा० 7/2/80) 'वच उम्' (पा० 7/4/20) 'छन्दस्युभयथा' (पा० 3/4/117) इति सार्वधातुकत्वात् 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' (पा० 7/2/79) इति सलोपः यलोपः। वोचेम अस्मे 'सुपां सुलुग्' (पा० 7/1/39) इति शेआदेश आप्तः ।।11।।

द्वादशी

अ॒ग्निर्मू॒र्धा दि॒वः क॒कुत्पतिः॑ पृथि॒व्याऽअ॒यम्। अ॒पाꣳ रेताꣳसि जिन्वति ।।१२।।

अन्वय : (अयम्) अग्निः दिवः मूर्धा ककुद् पृथिव्या पतिः। अपां रेतांसि जिन्वति (वर्धयतीत्यर्थः)।

व्याख्या : यह आहवनीय अग्निदेवता द्युलोक के शिर के समान (सूर्यरूप) होकर (दिन में आदित्य के रूप में प्रविष्ट होकर) विराजते हैं। ये आदित्यरूप में सर्वोन्नत स्थित होकर गो पृष्ठ के उन्नत भाग (कुबढ़) के समान लगते हैं। ये ताप पाक प्रकाशादि गुणों के द्वारा पृथिवी का पालन भी करते हैं, तथा आहुति के परिणाम स्वरूप वृष्टि की उत्पत्ति करते हैं। ककुत्पत्ति का तात्पर्य यह है कि गौ का अर्थ पृथिवी भी है। जिस प्रकार पशुरूप गौ का पृष्ठ अवयव उच्च होता है उसी तरह पृथिवी पर सर्वोन्नत आदित्य के रूप से यह अग्नि स्थित है।

म० : अयमग्निः अपां रेतांसि जिन्वति द्युलोकाद्वृष्टिरूपेण पतन्तीनामपां रेतांसि साराणि ब्रीहियवादिरूपेण परिणतानि जिन्वति। जिन्वतिः प्रीतिकर्मा। प्रीणयति। वर्धयतीत्यर्थः। यद्वा अपा रेतांसि कारणानि जिन्वति पुष्णाति। आहुतिपरिणामेन वृष्टिं जनयतीत्यर्थः। 'ते वा एते आहुती उत्क्रामतः' इत्यादिश्रुतेः। किंभूतोऽग्निः। दिवो मूर्धा द्युलोकस्य शिरःसमानः। यथा शिरः शरीरस्योपरि वर्तते तथायमग्निरहनि स्वतेजसा आदित्ये प्रविष्टत्वादादित्यरूपेण द्युलोकस्योपरिवर्तते। तथा ककुत्। ककुच्छब्दो गोपृष्ठोन्नातावयववाची तद्वदात्यिरूपेण सर्वोपरिस्थत्वात्ककुत्सदृशः। यद्वा ककुदमिति महन्नाम

(निघ॰ 3/3/19) तस्यान्तलोप आर्षः। महत् जगत्कारणमित्यर्थः। तथा पृथिव्या पतिः पालकः। दाहपाकप्रकाशैर्भूलोकस्थानामुपकारकत्वात् ।।12।।

त्रयोदशी

उभा वामिन्द्राग्नीऽआहुवध्याऽउभाराधसः सह मादयध्यै। उभा दातारांविषाꣳ रयीणामुभा वाजस्य सातये हुवे वाम् ।।१३।।

अन्वय : हे इन्द्राग्नी! वाम् उभा (उभौ) आहुवध्यै आहवातुमे (इच्छामीति शेषः)। उभा (उभौ) सह राधसः मादयध्यै हर्षयितुमिच्छामि (उभौ) इषामन्नानां रयीणां दातारौ अतः वाजस्य अन्नस्य सातये दानाय उभा (उभौ) वाम् हुवे (आह्वयामि)।

व्याख्या : हे इन्द्र और अग्निदेव (यथाक्रम आहवनीय तथा गार्हपत्य) मैं आप दोनों का आवाहन करना चाहता हूँ, तथा आप दोनों को एक साथ हविर्द्रव्य से प्रसन्न करनाचाहता हूँ, क्योंकि आप दोनों ही अन्न एवं धन को प्रदान करने वाले हैं। अतः अन्न एवं बल प्राप्ति के लिए आपदोनों हमारे यहाँ पधारें।

म॰ : भरद्वाजदृष्टा ऐन्द्राग्नी त्रिष्टुप द्व्यूना।। इन्द्रशब्देनात्राहवनीयः। तस्य यज्ञसाधकत्वरूपैश्वर्ययुक्तत्वात्। अग्निशब्देन गार्हपत्य। अग्रे नीयत इत्यग्निरिति यास्कव्युत्पत्तेः। स हि प्रथमाधीयते। हे इन्द्राग्नी, वां युवामुभौ आहुवध्यै आह्वातुमिच्छामिति शेषः। ह्वयतेस्तुमर्थे कध्यैप्रत्ययः। किंच राधस धनाद्धविर्लक्षणात् सह मादयध्यै युगपदेककर्मणि उभौ युवां मादयितुं हर्षयितु वा इच्छामीति शेषः। 'मदी हर्षे' इति, 'मद तृप्तौ' इति धातोर्वा णिजन्तात्तुमर्थे शध्यैप्रत्ययः। गुणः। यह उभौ युवामिषामन्नानां रयीणां धनानां दातारौ। अत उभौ वां युवां वाजस्यान्नस्य सातये दानाय हुवे आह्वयामि। उभा। उभशब्दस्य विभक्तेराकारः। सातये 'षणु दाने' अस्य धातोः 'ऊतियूति–' (पा॰ 3/3/97) इति क्तिन्नन्तो निपातः। हुवे 'बहुलं छन्दसि' (पा॰6/1/34) इति ह्वयतेः शपि संप्रासारणे उवङ् ।।13।।

चतुर्दशी

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः। तं जानन्नग्नऽआरोहाथा नो वर्धया रयिम् ।।१४।।

अन्वय : हे अग्ने! अयं ऋत्वियः (उत्पादन योग्य) ते योनिः, यतः गार्हपत्यात् जातः त्वम् अरोचथाः तं (गार्हपत्यं) जानन् आरोह। नः रयिं वर्धय।

व्याख्या : हे आहवनीय अग्नि! यह गार्हपत्य खर ही आपकी उत्पत्ति स्थान है। जहाँ से उत्पन्न होकर आप (कर्मकाल में) प्रदीप्त होते हैं, उस गार्हपत्य को पिता के रूप में जानते हुए आप इस यज्ञवेदिं पर आरोहण करें तथा हमारे धन धान्य की वृद्धि करें। जिससे हम पुनः यज्ञों को सम्पादित करें।

म० : तिस्र आग्नेय्यः। आद्यानुष्टुप् देवश्रवोदेववातदृष्टा। हे अग्ने आहवनीय, ते तवायं गार्हपत्यो योनिः उत्पत्तिस्थानम्। किंभूतः। ऋत्वियः उत्पादनयोग्यः कालः ऋतुरुच्यते। ऋतु प्राप्तोऽस्येति ऋत्वियः। 'छन्दसि घस्' (पा० 5/1/106) इति ऋतुशब्दात्तस्य प्राप्तमित्यर्थे घस्। तस्य इया देशः। सायंप्रातःकाले उत्पादनयोग्यो योनिः। यतो यस्मादृतुकालोपेताद्गार्हपत्याजात उत्पन्नस्त्वमरोचथाः कर्मकाले दीप्तोऽभूः। हे अग्ने, तं गार्हपत्यं जानन् स्वजनकमवगच्छन् आरोह पुनरुद्धरणाय कर्मान्ते प्रविशः अथानन्तरं नोऽस्मदर्थं रयिं धनं वर्धय पुनर्यागाय समृद्धं कुरु। 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० 6/3/137) इति संहितायां बर्धयेति दीर्घः ।।14।।

पञ्चदशी

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठोऽअध्वरेष्वीड्यः। यमप्नवानो भृगवो विरुरुचेर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे ।।१५।।

अन्वय : अयं (आहवनीयोऽग्निः) होता यजिष्ठः, अध्वरेषु ईड्यः धातृभिः इह प्रथमो धायि (अधायि)। अप्नवानः भृगवः विशे विशे चित्रं विभ्वं यं वनेषु विरुरुचुः। (दीपितवन्तः)

व्याख्या : यह आहवनीय अग्नि देवताओं का आवाहन करनेवाले (विविध यज्ञों को करने वाले) सोमयागदि में ऋत्विजों द्वारा पूजित (स्तुत्य) हैं। आधानकर्ताओं द्वारा यह अग्नि इस कर्मानुष्ठानस्थान में (प्रधान) मुख्यरूप से स्थापित हैं, जिन्हें पुत्रपौत्रादिसम्पन्न भृगुवंशी मुनियों ने प्रत्येक जीवों के कल्याण के लिए विविध रूपों में सर्वत्र व्याप्त महान् (अग्नि) को ग्राम से बाहर सम्पादित होने वाले यज्ञों में

प्रदीप्त किया। इसीलिए विविधरूपों में सर्वत्र व्याप्त होने के कारण इन्हें विभु कहा गया है।

म॰ : जगती वामदेवदृष्टा। द्वादशाक्षराश्चत्वारः पादा जगत्याः। द्वितीयोऽत्र व्यूहेनैकादशः चतुर्थो व्यूहेन द्वादशस्तेनैकोना जगती। अयमाहवनीय इह कर्मानुष्ठानस्थाने प्रथमो मुख्यः सन्धातृभिर्धायि अधायि आधानकर्तृभिराहितोऽभूत। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (पा॰ 6/4/75) इत्यडभावः। दक्षिणाग्न्यथयापेक्षं प्राथम्यम्। किंभूतः। होता देवानामाह्वाता। यजिष्ठः अतिशयेन यष्टा। 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' (पा॰ 5/3/55) इतीष्ठनि परै 'तुरिष्ठेमेय'सु' (पा॰ 6/4/154) इति तृचो लोपः। तथा अध्वरेषु सोमयागादिषु ईडयः ऋत्विग्भिः स्तुत्यः। अप्नवानो भृगवो विशेविशेयमाहवनीयं बनेषु विरुरुचुः। अन्तर्भूतो णिच्। रोचयामासुः दीपितवन्तः। अप्नशब्दोऽपत्यनामसु पठितः (निघ॰ 2/2/7) अप्नवानः पुत्रवन्तो भृगुवंशोत्पन्ना मुनयः। यद्वा अप्नवानृषिः अप्नवानस्तत्प्रभृतयो भृगवश्च मुनयः। विशेविशे विडिति मनुष्यनाम (निघ॰ 2/3/5)। यजमानरूपाय तस्मै तस्मै मनुष्याय तदुपकाराय। वनेषु प्रासाद्वहिर्यजनाख्येष्वरण्यप्रदेशेषु यमग्नि विरुरुचुः दीपयन्ति स्म। किंभूतोऽयम्। चित्रं विविधकर्मोपयोगित्वेन आश्चर्यकारिणम्। अतएव विभ्वं विभुं विभुत्वशक्तियुतं यणादेशः ॥15॥

षोडशी

अ॒स्य प्र॒त्नामनु॑ द्यु॒तꣳ॑ शु॒क्रं दु॑दुह्रे॒ऽअह्र॑यः। पयः॑ सहस्र॒सामृषि॑म् ॥१६॥

अन्वय : अस्य अग्नेः प्रत्नां द्युतम् अनु (अनुसृत्य) अह्रयो दोग्धारः सहस्रसाम् ऋषिं (गाम्) शुक्रं पयः दुदुह्रे। (दुदुहिरे)

व्याख्या : इस अग्नि के पुरातन तेज का अनुसरण करते हुए निर्भय ऋत्विजों ने हजारों यज्ञ करने वाले ऋषितुल्य गौओं से प्राप्त शुद्ध दूध की भाँति स्वाभीष्ट पदार्थों (कामनाओं) का दोहन किया।

म॰ : गायत्र्यवत्सारदृष्टा गोऽग्निपयोदेवत्या। अस्याग्नेः प्रत्नां चिरन्तनकालभवां द्युतमनु दीप्तिमनुसृत्य अह्रयः नास्ति ह्रीर्येषामीतीदृशा लज्जारहिता दोग्धारः ऋषि गां शुक्रं शुद्धं पयो दुदुह्रे दुदुहिरे। दुहिलिंटि 'इरयो रे' (पा॰ 6/4/76) इति रेआदेशे रूपम्। 'ऋष गतौ'। अर्षति

दोहनस्थाने गच्छतीति ऋषिर्गौः। तां होमार्थं दुग्धवन्तः। सायंदोहनकालेऽग्नि प्रकाशाभावे दुह्यमानं पयो भूमौ पतिष्यतीति शङ्क्या दोग्धृणां लज्जा भवति। सत्यामग्निदीप्तौ स्कन्नशङ्कानुदयाल्लज्जाभावादह्रयो दोग्धारः किंभूतामृषिम् सहस्रसाम्। 'षोऽन्तकर्मणि'। सहस्रसंख्याकानि कर्माणि स्यति समापयति क्षीरदध्याज्यहविःप्रदानेनेति सहस्रसा ताम् स्यतेः क्विप्। यद्वास्या ऋचोऽर्थान्तरं गांप्रकृत्याग्निहोत्रब्राह्मणे श्रूयते 'तासु हाग्निरभिदध्यौ मिथुन्येन यास्यामीति ताᳬं संबभूव तस्याᳬं रेतः प्रासिच्चत्तत्पयोऽभवत्' (2/2/4/15) इत्यादि। तदभिप्रायमेषा ऋग्वदति। अह्रयः गावः नास्ति ह्रीर्लज्जा यासां ता अह्रयः अलज्जाः उज्वलाः प्रशस्या इत्यर्थः। मलिनो हि लज्जते। अह्रयो गावोऽस्याग्नेः प्रत्नां चिरन्तनीमात्मानुषक्तां द्युतं दीप्तिं शुक्रं शुक्ररूपापन्नां द्युतमेव पयो दुग्धं दुदुह्रे दुहन्ति क्षरन्ति। अग्निना शुक्ररूपेण सिक्तां स्वकान्तिमेव गावो दुग्धरूपेण क्षरन्तीत्यर्थः। सहस्रसामृषिमिति विशेषणद्वयं पयसः। सहस्रं सनोति सहस्रसास्तम्। चातुर्मास्यपशुसोमानां संभक्तारम्। पुंस्त्वमार्षम्। 'जनसनखनकमगमो विट्' (पा॰ 3/2/67) इति विट्प्रत्यये 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (पा॰ 6/4/41) इत्याकारे वेर्लोपे सहस्रसा इति रूपम्। तथा ऋषि द्रष्टारम्। गवि वर्तमानं द्रष्टृत्वं पयस्युपचर्यते। 'सा हैनानुदीक्ष्य हिंचकार' इत्युपक्रम्य 'ते देवा विदाञ्चक्रुरेष साम्नो हिङ्कारः' इत्यादिना ग्रन्थेन गोभिर्हिङ्कारो दृष्ट इति प्रत्यपादि। यद्वा सहस्रसामृषिमिति विभक्तिलिङ्गवचनव्यत्ययेन अह्रय इत्यस्य विशेषणद्वयम्। किंभूता अह्रयः। सहस्रसाः ऋषयः। पूर्ववदर्थो वा ॥16॥

सप्तदशी

तनूपाऽअ॑ग्नेऽसि त॒न्वं॑ मे पाह्यायुर्दाऽअ॑ग्ने॒ऽस्यायु॑र्मे देहि वर्चो॒दाऽ अ॑ग्नेऽसि॒ वर्चो॑ मे देहि। अग्ने॒ यन्मे॑ त॒न्वा॒ ऊ॒नं तन्म॒ऽआपृ॑ण ॥१७॥

अन्वय : (हे) अग्ने त्वं तनूपा असि, अतो मे तन्वं पाहि। (हे) अग्ने! आयुर्दा असि अतो में आयु र्देहि। अग्ने! त्वं वर्चोदा असि, में वर्चोदेहि। अग्ने मे, तन्वा शरीरस्य यत् ऊनम् अङ्गं तत् मे आपृण सर्वतः पूरय।

व्याख्या : हे अग्निदेव स्वभावतः आप सभी प्राणियों के रक्षक हैं, अतः मेरे मेरे शरीर की भी रक्षा करें। हे अग्नि आप दीर्घआयु प्रदान

करने वाले हैं अतः मुझे भी पूर्णआयु प्रदान करें। हे अग्नि वैदिक कर्मानुष्ठान जन्य-तेज प्रदान करने वाले है अतः मुझे भी वह तेज प्रदान करें। हे अग्नि, जो मेरे शरीर में अंगवैकल्य आदि न्यूनता हो उसे आप दूर कर हमें पूर्णता प्रदान करें।

म॰ : अथ यजूंषि चत्वार्यग्निदेवत्यानि। हे अग्ने, त्वं स्वभावत एव तनूपा असि अग्निहोत्रिशरीराणां पालकोऽसि। तनूं पाति पालयतीति तनूपाः। उदराग्नौ सत्यन्ने जीर्णे शरीपालनमतो हे अग्ने, मे मम तन्वं शरीरं पाहि पालय। तन्वम् 'वा छन्दसि' (पा॰ 6/1/10) इत्यमि पूर्वरूपाभावे यणादेश इत्युक्तम्। हे अग्ने, त्वमायुर्दा असि आयुषो दाता भवसि। अतो मे ममायुर्देहि अपमृत्युपरिहारेण। यावत्कालं वपुष्युदराग्नेरौष्ण्यमुपलभ्यते तावन्न म्रियत इति प्रसिद्धम्। हे अग्ने, त्वं वर्चोदा असि वर्चसो दातासि। अतो मे वर्चो देहि। वैदिकानुष्ठानप्रयुक्तं तेजो वर्चः। यद्दर्शनादेव महानयं ब्राह्मणो विद्वांस्तपसाग्निरिव ज्वलतीति बुद्धिर्नृणां भवति। किंच हे अग्ने, मे मम तन्वाः मदीयशरीररस्य यदङ्गचक्षुरादिरूपमूनं दृष्टिपाटवादिरहितं तदङ्गं मे आपृण सर्वतः पूरय ।।17।।

अष्टादशी

इन्धा॑नास्त्वा श॒तꣳ हिमा॑ द्यु॒मन्त॒ꣳ समि॑धीमहि। वय॑स्वन्तो वय॒स्कृत॒ꣳ सह॑स्वन्तः सह॒स्कृत॑म्। अग्ने॑ सपत्न॒दम्भ॑न॒मद॑ब्धासो॒ऽअदा॑भ्यम्। चित्रा॑वसो स्व॒स्ति ते॑ पा॒रम॑शीय ।।१८।।

अन्वय : (हे) अग्ने इन्धानाः दीप्यमाना वयं शतं हिमाः द्युमन्तं त्वां समिधीमहि, (दीपयामः)। अदब्धासः अदब्धाः अदाभ्यं सपत्नदम्भनम्, (त्वाम्) दीपयामः। हे चित्रावसो, स्वस्ति ते पारम् अशीय।

व्याख्या : हे अग्नि आपके अनुग्रह से दीप्तिमान रहते हुए हम लोग सौ वर्ष (हेमन्त ऋतुपर्यन्त) या जीवनभर दिव्य प्रकाशमान, आपको समिधाओं द्वारा (प्रदीप्त) करते रहें। हम अन्नादि से समृद्धशाली रहते हुए अन्न प्रदान करने वाले आपको सदा प्रदीप्त रखें, बलशाली रहते हुए हम आपकी सदा अर्चना करें। अहिंसित रहते हुए, किसी से हिंसित न होनेवाले शत्रुनाशक, आपकी सदा उपासना करते रहे। हे चित्र-विचित्र-नक्षत्रादिकों से शोभायमान रात्रि देवते, क्षेमपूर्वक आपको पार पाऊँ।

अर्थात् सुखपूर्वक हमारी रात्रि व्यतीत हो। सोते समय इसके पाठ से अच्छी नींद आती है।

म० : अग्निदेवत्या महापङ्क्तिः। यस्याः षट् पादा अष्टाक्षराः सा महापङ्क्तिः। अत्र षष्ठः सप्ताक्षरः। हे अग्ने, शतं हिमाः शंतं वर्षाणि अस्मादायुषि वर्तमानान् शतं संवत्सरान् त्वां समिधीमहि नैरन्तर्येण वयं दीपयामः। किंभूता वयम्। इन्धानाः त्वदनुग्रहेण दीप्यमानाः। तथा वयस्वन्तः। वय इति अन्ननाम (निघ० 2/7/7) अन्नवन्तः। सहस्वन्तः बलवन्तः। सह इति बलनाम (निघ० 2/9/17)। अदब्धासः अदब्धाः अनुपहिंसिताः केनापि। दभ्नोतिहिंसाकर्मा। 'आज्जसेरसुक्' (पा० 7/1/50) इति असुक्। किंभूतं त्वाम्। द्युमन्तं दीप्तिमन्तम्। वयस्कृतं वयोऽन्नं करोतीति वयस्कृत् तम्। सहस्कृतं सहो बलं करोतीति सहस्कृत् तम् सपत्नदम्भनं सपन्नानां शत्रूणां हिंसितारम्। अदाभ्यम् केनापि हिंसितुमयोग्यम्। चित्रावसो, रात्रिदेवत्यं यजुर्ऋषिदृष्टम्। रात्रिर्वै चित्रावसुः सा हीयꣳ संगृह्येव चित्राणि वसति' (2/3/4/22) इति श्रुतेश्चित्रावसुशब्देन रात्रिः। चित्राणि विविधानि चन्द्रनक्षत्रा-न्धकाररूपाणि वसन्ति यस्यां रात्रौ सा चित्रावसुः। हे चित्रावसो रात्रे, स्वस्ति क्षेमं यथा तथा ते तव पारं समाप्तिमशीय व्याप्नवानि। अश्नोतेः 'बहुलं छन्दसि' (पा० 2/4/73) इति शपो लुकि लिङ्युत्तमैकवचने रूपम्। यथा लोके मनुष्येषु सुप्तेषु चौरा गृहे प्रविशन्ति तद्वदत्र देवयजने रक्षांसि प्रविशन्तीति शङ्कया तन्निवारणाय रात्रिप्रार्थनम् ॥18॥

एकोनविंशी

सन्त्वमग्ने सूर्यस्य वर्चसागथाः समृषीणाꣳस्तुतेन। सं प्रियेण धाम्ना समहमायुषा सं वर्चसा सं प्रजया सꣳरायस्पोषेणग्मिषीय ॥१९॥

अन्वय : (हे अग्ने! त्वं सूर्यस्य वर्चसा सम् अगथाः (संगतोऽसि) ऋषीणाम् स्तुतेन संगथाः। प्रियेणधाम्ना संगथाः। अहम् आयुषा वर्चसा, प्रजया रायस्पोषेण संग्मिषीय (संगतोभूयासम्)।

व्याख्या : हे अग्नि (देव) जिस प्रकार आप सूर्य के तेज के साथ रात्रि में (मिल जाते हैं) संगत होते हैं, तथा ऋषियों के स्तोत्रों से संगत होते हैं (संयुक्त होते हैं) उसी प्रकार सबको प्रियलगनेवाले तेज

से या प्रियआहुतियों से भी संगत होते है। (आपकी ही तरह) मैं भी दीघार्यु, तेज, प्रजा और ऐश्वर्य से सम्पन्न होऊँ। ऐसी आपसे प्रार्थना है।

म० : 'सं त्वमित्युपविश्येति' (का० 4/12/4)। उपप्रयन्त इत्यादिभिश्चित्रावसो इत्यन्तैर्मन्त्रैरुत्थानमत्र उपविश्येति विशेषः। हे अग्ने, त्वं सूर्यस्य वर्चसा तेजसा समगथाः रात्रौ सङ्गतोऽसि। 'तद्यदस्तं यन्नादित्य आहवनीयं प्रविशति तेनैतदाह' (2/3/4/24) इति श्रुतेः। प्रियेण धाम्ना प्रियाभिराहुतिभिः समगथाः। 'आहुतयो वा अस्य प्रियं धाम' (2/3/4/24) इति श्रुतेः। यथा त्वमेतैस्त्रिभिः सङ्गतः एवमहमपि त्वत्प्रसादादायुषा अपमृत्यु- दोषरहितेन संग्मिषीय सङ्तो भूयासम्। तथा वर्चसा विद्यैश्वर्यादिप्रयुक्ततेजसा संग्मिषीय। यथा प्रजया पुत्रादिकया संग्मिषीय, तथा रायस्पोषेण धनस्य पुष्ट्या संग्मिषीय। आयुरादीनि मम सन्त्वित्यर्थः। समगथाः गमेः 'समो गम्पृच्छ' (पा० 1/3/29) इत्यादिना तङमध्यमैकवचने लुङि सिचि 'गमश्च' (पा० 1/2/13) इति सिचः कित्त्वे 'अनुदात्तोपदेश–' (पा० 6/4/37) इत्यादिना मलोपे 'ह्रस्वादङगात्' (पा० 8/2/27) इति सिचो लोपे रूपम्। ग्मिषीय। गमेराशीर्लिङि उत्तमैकवचने 'इटोऽत्' (पा० 3/4/106) इत्यकारे परे सीयुटि कृते छान्दसे इडागमे 'गमहन–' (पा० 6/4/98; इत्युपधालोपे रूपम् ।।19।।

विंशी

अन्धस्थान्धो वो भक्षीय महस्थ महो वो भक्षीयोर्जस्थोर्जम्व्वो भक्षीय रायस्पोषस्थ रायस्पोषं वो भक्षीय ।।२०।।

अन्वय : (हे गावः) यूयम् अन्धः स्थ, अन्नरूपाः स्थ वः युष्मत्सम्बन्धिअन्धः क्षीरादिअन्नं भक्षीय। महः स्थ वः महः भक्षीय। यूयं ऊर्जस्थ, वः ऊर्जं भक्षीय। रायस्पोषस्थ वः रायस्पोषं भक्षीय (सेवेय)।

व्याख्या : हे गौओं! अन्नोत्पत्ति के साधन होने से आप साक्षात् अन्नरुप हैं, मैं आपके द्वारा प्रदत्त दुग्ध आदि का उपयोग करुँ। तुम पूज्य हो, मैं भी तुम्हारे द्वारा प्रदत्त महः रसमय (दूध, दही आदि) तेज प्रदान करनेवाले पदार्थों का सेवन करुँ। तुम बल रुप हो, अतः मैं भी बलप्रद दूध आदि का सेवन करूँ। तुम धन की पुष्टि करने वाली हो, मैं भी तुम्हारी कृपा से पुष्ट बनूँ।

म० : 'गां गच्छत्यन्धस्थेति'। (का० 4/12/5) अन्धस्थ रेवती रमध्वमिति यजुद्वयेन गां गच्छति। गौर्देवता। हे गावः, यूयमन्धस्थ अन्नरूपाः स्थ। क्षीराज्यादिरूपस्यान्नस्य जनकत्वादन्नत्वोपचारः। अतो भवत्प्रसादाद्वो युष्मत्संबन्धिअन्धः क्षीराज्यादिरूपमन्नमहं भक्षीय सेवेय। 'भज सेवायाम्' इत्यस्याशीर्लिङ्युत्तमैकवचने रूपम्। तथा यूयं महस्थ पूज्यरूपाः स्थ। 'मह पूजायाम्'। अतो वो युष्माकं पूज्यानां प्रसादादहमपि महो भक्षीय पूज्यत्वं सेवेय। गौर्न पदा स्प्रष्टव्येत्यादिस्मृतोर्गवां पूज्यत्वप्रसिद्धिः। यद्वा महःशब्देन दश वीर्याण्युच्यन्ते। तानि यथा 'गौर्वै प्रतिधुक् तस्यै शृतं तस्यै शरस्तस्यै दधि तस्यै मस्तु तस्या आतञ्चनं तस्यै नवनीतं तस्यै घृतं तस्या आमिक्षा तस्यै वाजिनम्' इति श्रुत्युक्तानि। प्रतिधुक् तत्कालदुग्धम्। शृतमुष्णं तत्। शरो दुग्धमण्डः। मस्तु दधिरसः। आतञ्चनं दधिपिण्डः। आमिक्षा स्फुटितं दुग्धम्। वाजिनमामिक्षाजलमिति श्रुत्यर्थः। एतद्दशवीर्यरूपा यूयं स्थ। अतो वो महो वीर्यमहं सेवेयेत्यर्थः। तथा यूयमूर्जस्थ बलरूपाः स्थ। गोक्षीरादेर्बलहेतुत्वात् बलरूपत्वोपचारः। 'ऊर्ज बलप्राणनयोः'। वो युष्माकं प्रसादादूर्जं भक्षीय बलं सेवेय। तथा रायस्पोषस्थ धनुपुष्टिरूपाः अतो धनपुष्टित्वोपचारः। वो युष्माकं प्रसादाद्रायस्योषं धनपुष्टिं भक्षीय सेवेय। अन्ध स्थेत्यादौ 'खर्परे शरि' (पा० 8/3/36/ वा1) विसर्गलोपः ।।20।।

एकविंशी

रेवती रमध्वमस्मिन्योनावस्मिन् गोष्ठेऽस्मिँल्लोकेऽस्मिन्क्षये। इहैव स्त मापगात ।।२१।।

अन्वय : हे गावः यूयं रेवती रेवत्यः धनवत्यः रमध्वम् (क्रीडत)। अस्मिन योनौ (दोहनस्थाने), अस्मिन् गोष्ठे अस्मिन् लोके अस्मिन् क्षये, इहैव स्त (भवत)। मा अपगात अन्यत्र मा गच्छत।

व्याख्या : हे दुग्धादिधनों से युक्त धेनुओं (गौओं!) इस अग्निहोत्रशाला के दोहन स्थान में आनन्दित रहें। (रमण करें) इसके बाद (यजमान के गोशाला में, इस जनसमूह में, इस घर में, सुखपूर्वक निवास करें। अर्थात् आनन्द से यही रहो अन्यत्र कहीं भी न जाओ।

म० : हे रेवतीः रेवत्य धनवत्यो गावः, धनहेतुत्वेन धनवत्त्वं गवाम्। रयिर्विद्यते यासां ता रेवत्यः रयिशब्दात् मतुप्। 'रयेर्मतौ बहुलम्'

(पा॰ 6/1/37 वा॰ 4) इति रयेर्मतौ परे संप्रसारणम्। 'संप्रसारणाच्च' (पा॰ 6/1/108) इति पररूपम्। 'आद्गुणः' (पा॰ 6/1/87)। 'पशवो वै रेवन्तः' (2/3/4/26) इति श्रुतेः। हे रेवत्यः, अस्मिन्योनौ दृश्यमानेऽग्निहोत्रह-विर्दोहनस्थाने यूयं रमध्वं क्रीडत दोहनादूर्ध्वमस्मिन् गोष्ठे यजमानसंबन्धि गोर्वाटे रमध्वम् गोष्ठशब्देन गृहाद्बहिर्विश्रम्भेण संचारप्रेदशः। सर्वदास्मिन् लोके 'लोकृ दर्शने' यजमानदृष्टिविषये रमध्वम् रात्रौ अस्मिन् क्षये जयमानगृहे रमध्वम्। 'क्षयो निवासे' (पा॰ 6/1/202) अत्याद्युदात्तः। क्षयशब्दो निवासवाची। किंच। इहैव स्त यजमानगृहे एव भवत। मा अपगात अन्यत्र मा गच्छत। 'इणो गा लुङि' (पा॰ 2/4/45) इति एतेर्लुङि गादेशे रूपम् ।।21।।

द्वाविंशी

स॒र्ठ्ँहि॒तासि॑ विश्वरू॒प्यू॒र्जा॒मावि॑श गौप॒त्येन॑। उप॑ त्वाग्ने दि॒वेदि॑वे॒ दोषा॑वस्तर्धि॒या व॒यम्। नम॒ोभर॑न्त॒ऽएम॑सि ।।२२।।

अन्वय : (हे गौ) त्वं विश्वरुपी संहिता यज्ञकर्मभिः संयुक्ता असि। ऊर्जा गौपत्येन मा आविश। हे दोषावस्तः अग्ने! दिवे दिवे धिया नमो भरन्त त्वा उप एमसि (आगच्छामः)।

व्याख्या : हे गौ! तुम शुक्ल-कृष्णादि विविध रूपों वाली तथा यज्ञादि शुभकर्मों के लिए दूध, घृत आदि हविर्द्रव्य प्रदान करती हुई मुझे गोरक्षण की शक्ति देती रहों।

हे रात में भी विद्यमान रहने वाले अग्नि, (गार्हपत्याग्नि!) प्रतिदिन अपनी श्रद्धा बुद्धि एवं शुभ कर्मों से नमस्कार करते हुए हम आपके समीप आते हैं।

म॰ : 'सर्ठ्ँहितेत्यालभते' (का॰ 4/12/6) इति। गामित्यनुवर्तते। हे गौ, त्वं संहितासि क्षीराज्यरूपहविर्दानाय यज्ञकर्मभिः संयुक्तासि। किंभूता। विश्वरूपी विश्वं रूपं यस्याः सा। शुक्लकृष्णादिबहुरूपैर्युक्ता। सा त्वमूर्जा क्षीरादिरसेन गौपत्येन गोस्वामित्वेन मामाविश सर्वतः प्रविश। त्यत्प्रसादान्मम बहुविधो रसो बहुविधं गोस्वामित्वं च संपद्यतामित्यर्थः। 'गार्हपत्यं गत्वोपतिष्ठत उप त्वेतीति' (का॰ 4/12/7)। उप त्वां तिस्रो गायत्र्य आग्नेय्यो मधुच्छन्दोदृष्टाः। हे दोषावस्तः हे अग्ने, दोषा रात्रिस्तस्यामपि वसति अजस्रं धार्यमाणत्वान्नोपशाम्यतीति दोषावस्ता। यद्वा अग्नौ हे देवाः,

इत्युपक्रम्य तैः संगृह्य रात्रिं प्रविवेशेतीतिहासेन अग्ने रात्रौ प्रवेश उक्तस्तमयं मन्त्र आह। हे दोषावस्तः रात्रौ वसनशील गार्हपत्य, दिवेदिवे प्रतिदिनं वयं यजमानाः त्वा त्वामुप एमसि त्वां प्रत्यागच्छामः। 'इदन्तो मसि'। किंभूता वयम्। धिया श्रद्धायुक्तया बुद्धया नमोभरन्तः नमस्कारं संपादयन्तः। यद्वा नम इत्यन्ननाम (निघ० 2/7/21)। अन्नं हविर्बिभ्रतः ।।22।।

त्रयोविंशी

राजंन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिंविम्। वर्धमानुᳬ स्वे दमें ।।२३।।

अन्वय : राजन्तम् अध्वराणां गोपाम् ऋतस्य दीदिविं स्वेदमे (स्वगृहे) वर्धमानं अग्निं नमो भरन्त वयं एमसि (उपैमः)।

व्याख्या : दिव्यतेज से युक्त यज्ञों के रक्षक, सत्य व्रत के, यज्ञशाला में प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होनेवाले अग्निदेव को प्रणाम करते हुए आपके (अग्नि के) सामीप्य को हम प्राप्त करें।

म० : क्रियापदमनुवर्तते। वयमीदृशमग्निमुपैमः। कीदृशम्। राजन्तं दीप्यमानमध्वराणां गोपां गोपायतीति गोपास्तं यज्ञानां गोप्तारम्। ऋतस्य सत्यवचनलक्षणस्य व्रतस्य दीदिविं दीपयितारम्। अग्निसमीपे व्रतं गृहीत्वा सत्यं वदतीत्याशयः। स्वे दमे अस्मदीये गृहे वर्धमानं चातुर्मास्यसोमपश्वादिभिरभिवृद्धिं गच्छन्तम्। दाम्यन्ति गृहस्था यत्रेति दमो गृहम्। दिवेः क्विप्रत्ययो बाहुलकात्। लिड्वद्भावात् द्वित्वम्। 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० 6/1/7) इत्यभ्यासदीर्घः। देवयतीति दीदिविः।।23।।

चतुर्विंशी

स नंः पितेवं सूनवेऽग्नें सूपायनो भंव। सचंस्वा नः स्वस्तयें ।।२४।।

अन्वय : हे अग्ने! त्वं सूनवे पिता इव सूपायनो भव। नः स्वस्तये सचस्व।

व्याख्या : हे (गार्हपत्याग्नि) अग्ने! आप हमें पुत्र की भाँति पिता के समान सुगमता से प्राप्त हों (जैसे पुत्र के लिए उसका पिता बिना भय के सुखपूर्वक प्राप्त होता) है, वैसे ही हमारे कल्याण संपादन

के लिए आप हमें सदा ही सुलभता से प्राप्त हों।

म० : हे अग्ने गार्हपत्य, स पूर्वोक्तगुणयुक्तस्त्वं नोऽस्माकं सूपायनो भव। सुखेनोपैतुं शक्यः सूपायनः। सुष्टूपप्राप्तुं शक्यो भव। तत्र दृष्टान्तः। सूनवे पितेव यथा पुत्राय पिता भयं विना सुखेन प्राप्तुं शक्यः। किंच नोऽस्माकं स्वस्तये क्षेमाय सचस्व अनेन कर्मणा समवेतो भव। 'षच समवाये' इति धातुः। यद्वा सचस्व सेवस्व। 'षच् सेवने' ।।24।।

पञ्चविंशी

अग्ने त्वंन्नोऽअन्तंमऽउत त्राता शिवो भंवा वरूथ्यः। वसुंरग्निर्वसुंश्रवाऽअच्छां नक्षि द्युमत्तंमꣳ रयिन्दांः।।२५।।

अन्वय : हे अग्ने! त्वं नः अन्तमः अन्तिकतमो भव। उत त्राता वरुथ्यः शिवोभव। अग्निः वसुः वसुश्रवा हे अच्छा अग्निं नक्षि (गच्छ) द्युमत्तमं रयिं दाः (धेहि)।

व्याख्या : हे गार्हपत्याग्नि, आप सर्वदा हमारे अत्यन्त समीप रहें। हमारे रक्षक, गृह, पुत्र पौत्रादि के लिए आप कल्याणकारी हो। आप सबको स्थिर करने वाले एवं धन प्रदान करने वाले हैं। हे निर्मल स्वभाव वाले अग्नि, आप हमारे होमस्थान में आयें तथा अतिदीप्ति युक्त (स्वर्गादि) अलौकिक सुख प्रदान करें।

म० : चतस्रो द्विपदा विराज आग्नेय्यः। दशार्णपादा विराट् बन्ध्वादिदृष्टाः। हे अग्ने गार्हपत्य, त्वं नोऽस्माकमन्तमः अन्तिकतमः सर्वदा समीपवर्ती भव। 'अम् गतौ' भजने शब्दे अमति समीपं प्रोप्नोतीत्यम् क्विप् अतिशयितोऽम् अन्तमः अम्शब्दात्तमप्। यद्वान्तिकशब्दात्तमपि पृषोदरादित्वेन साधुः। उतापि च त्राता पालयिता। शिवः शान्त। वरूथ्यः वरूथाय हितो वरूथ्यः तादृशश्च भव। पुत्रादिसमूहो वरूथः। यद्वा वरूथं गृहम्। तस्मै हितो भव। किंभूतः त्वम्। वसुः वासयतीति वसुः। जनानां वासयिता। तथा अग्निः। अङ्गतीत्यग्निः। 'अगि गतौ'। आहवनीयादिरूपेण गमनशीलः। तथा वसुश्रवाः वसुना धनेन श्रवः कीर्तिर्यस्यासौ वसुश्रवाः। धनप्रदोऽयमिति यस्य कीर्तिरित्यर्थः। किंच हे अग्ने, त्वमच्छा नक्षि अभिव्याप्नुहि अस्मान्। 'अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः' (निरु० 5/28)। नशिराप्नोतिकर्मा। यद्वा हे अच्छ निर्मलभाव अग्ने, नक्षि अस्मद्धोमस्थानं

गच्छ। 'नक्ष गतौ'। यदा यदा वयं जुहुयामस्तदा समागच्छेत्यर्थः। किंच द्युमत्तमं रयिं दाः दीप्तियुक्तं रयिं धनं देहि। ददातेर्लुङिरूपम्। 'बहुलं छन्दस्यामाङ्योगेऽपि' (पा॰ 6/4/75) इत्यडभावः ।।25।।

षड्विंशी

तं त्वां शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नायं नूनमींमहे सखिंभ्यः। स नों बोधि श्रुधी हवंमुरुष्याणोंऽअघायतः संमस्मात् ।।२६।।

अन्वय : हे शोचिष्ठ दीदिवः तं त्वा, नूनं सखिभ्यः सुम्नाय (सुखम्) ईमहे, याचामहे। सः नः हवं श्रुधी (श्रृणु) बोधि। समस्मात् अघायतः नः उरुष्य (रक्ष)।

व्याख्या : हे परमदीप्तिमान सर्व प्रकाशक अग्निदेव निश्चय ही मित्रों के सुख के लिए हम प्रार्थना करते हैं। आप हमारी प्रार्थना को सुने। हमें अपना समझ कर सारे पाप तापों से हमारी रक्षा करें।

म॰ : हे शोचिष्ठ दीप्तिमत्तम, हे दीदिवः सर्वस्य दीपयितः, तं पूर्वोक्तगुणयुक्तं त्वा त्वां सखिभ्योऽर्थाय सुम्नाय। द्वितीयार्थे चतुर्थी। सुम्नं सुखं नूनं निश्चयेन ईमहे याचामहे। यद्वा सुम्नाय सुरवार्थं सखिभ्योऽस्मत्सखीनामुपकाराय च त्वामीमहे। स त्वं नोऽस्मान् भवत्सेवकान् बोधि बुध्यस्व। हवमस्मदीयमाह्वानं श्रुधीश्रृणु। समस्मात्सर्वस्मात् अघायतः शत्रोर्नोऽस्मानुरुष्य रक्ष शोचिष्ठः। समशब्दः सर्वपर्यायः शोचिरिति ज्वालानाम अतिशयेन शोचिष्मान् शोचिष्ठः। 'अतिशायने तमविष्ठनौ' (पा॰ 5/3रु/55) 'विन्मतोलुक्' (पा॰ 5/3/65) इतीष्ठनि मतुपो लुक्। दीदिवः दिवेर्ज्वलनार्थस्य लिडादेशक्वसन्तस्य रूपम्। 'मतुवसो रुः संबुद्धौ छन्दसि' (पा॰ 8/3/1) इति रुत्वम्। बोधि। 'बुध ज्ञाने' लोण्मध्यमैकवचने 'सेर्ह्यपिच्च' (पा॰ 3/4/8) इति हिः। 'बहुलं छन्दसि' (पा॰ 2/4/73) इति शपो लुक् ःहुझल्भ्यो हेर्धिः' (पा॰ 6/2/4/73) इति शपो लुक् 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' (पा॰ 6/4/101)। छन्दसि गुणे घलोपौ। श्रुधी। 'श्रुपृकृवृभ्यश्छन्दसि' इति हेर्धिः। संहितायाम् 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा॰ 6/3/137) इति दीर्घः। उरुष्य उरुष्यती रक्षणकर्मा। 'ऋचि तुनुघ–' (पा॰ 6/3/133) इत्यादिना दीर्घः। 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' (पा॰ 8/4/27) इति न इत्यस्य णत्वम् अघायतः। अघं परस्यति अघायति। 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा॰ 3/1/8)

इत्यत्र 'छन्दसि परेच्छायामपि वक्तव्यम्' इति क्यच् 'अश्वाघस्यात्' (पा॰ 7/4/37) इत्याकारः। अघायतीति अघायन् तस्मात् अघायतः शतृप्रत्यये रूपम् ।।26।।

सप्तविंशी

इडऽएह्यदित एहि काम्याऽएत। मयि वः कामधरणं भूयात् ।।२७।।

अन्वय : हे इडे (गौ) एहि। आगच्छ होमस्थानम्। अदिते एहि, हे काम्या! यूयम् एत। वः कामधरणं मयि भूयात्।

व्याख्या : हे इडा (मनु की दुहिता) गौ, आप अपने पिता मनु के पास जाने के समान ही हमारे पास होमस्थान में आयें। देवमाता अदिति के समान आप हमारे पास आयें। हे सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाली गौओं तथा सभी के द्वारा स्पृहणीय, आप की कृपा से मैं भी अपने अभीष्टफल को प्राप्त करूँ। हम आपका प्रिय बनूँ।

म॰ : 'गां गच्छतीड एहीति' (का॰ 4/12/8)। द्वे यजुषी गव्ये। हे इडे, एहि। हे अदिते, एहि आगच्छ होमस्थानम् इडा मनोर्दुहिता। अदितिर्देवमाता। इडा मनुमिवास्मानेहि। अदितिरादित्यानिवास्मानेहि। अतस्मिंस्तच्छब्दस्तद्वदतिदेशार्थः। 'काम्या एतेत्यालभते' (का॰ 4/12/9) इति गामालभते। मनुष्याणां ह्येतासु कामाः प्रविष्टा इति काम्याः। हे काम्याः सर्वैः कामयितव्याः, यूयमेत आ इति आगच्छत। वो युष्माकं कामधरणं कामानां धरणमपेक्षितफलधारकत्वं यदस्ति तत् मयि अनुष्ठातरि भूयात्। युष्मत्प्रसादादहमभीष्टफलस्य धारयिता भूयांसमित्यर्थः। अहं वः प्रियो भूयासमिति श्रुतिर्व्याचष्टे ।।27।।

अष्टाविंशी

सोमानꣳ स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते। कक्षीवन्तं य औशिजः ।।२८।।

अन्वय : हे ब्रह्मणस्पते वेदस्य पालक! सोमानं स्वरणं कृणुहि, (कुरु) यथा कक्षीवन्तं दीर्घतमः पुत्रं स्तुतियुक्तं कृतवान् तथैव मां कुरु। यः औशिजः (उशिजः पुत्रः) आसीत्।

व्याख्या : हे (वेदों के रक्षक) बृहस्पति ब्रह्मणस्पति मुझे सोमयाग का कर्ता तथा मन्त्रद्रष्टा बनाइए जैसा कि कक्षीवान् को आपने बनाया था, जो उशिक् (नाम्नी माता के पुत्र थे)। अर्थात् ऋषि कक्षीवान्-की तरह मैं भी देव स्तोता तथा सोमयाजी बनूँ।

म० : 'सोमानमित्यनुदकं व्रतोपायनवत्' (का० 4/12/10)। व्रतेत्यपरेणाहवनीयं प्राङ्तिष्ठन्नवर्चं जपतीति सूत्रार्थः। सोमानं स्वरणं तृचो गायत्रो ब्रह्मणस्पतिदेवत्यस्तैनैव दृष्टः। अग्निमीक्षमाणस्य यजमानस्य जपे विनियुक्तः। हे ब्रह्मणस्पते वेदस्य पालक, सोमानं सोमानामभिषोतारम्। स्वरणं 'स्वृशब्दोपतापयोः' शब्दयितारम्। कृणुहि कुरु। मामिति शेषः। सुनोतीति सोमा तम्। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० 3/रु/75) इति मनिन्। स्वरतीति स्वरणः। नन्द्यादित्वात् ल्युः। सोमयागकर्तारं स्तुतिरूपशब्दयुक्तं च धनप्रदानैर्मा कुर्वित्यर्थ5। तत्रोपमानमुच्यते। कक्षीवन्तं कक्षीवन्नामकमृषिं दीर्घतमःपुत्रं यथा सोमयागयुक्तं स्तुतियुक्तं च कृतवानसि तथा मां कुरु। उपमानद्योतक इवशब्दोऽत्र इवशब्दोऽत्र लुप्तो द्रष्टव्यः। कोऽसौ कक्षीवान्। य औशिजः उशिजः पुत्रः। उशिक् कक्षीवतो माता ।।28।।

एकोनत्रिंशी

यो <u>रे</u>वान् योऽअ॑मीव<u>हा</u> व॑सु॒वित् पु॑ष्टि॒व॑र्धनः। स न॑ः सिषक्तु यस्तु॒रः ।।२९।।

अन्वय : यो ब्रह्मणस्पतिः रेवान् यः अमीवहा, वसुवित् पुष्टिवर्धनः यश्च तुरः स नः सिषक्तु।

व्याख्या : जो (ब्रह्मणपति) बृहस्पति धनवान् रोगों को नष्ट करने वाले धनों के दाता, पुष्टि को बढ़ाने वाले तथा शीघ्रंकार्य करनेवाले हैं वे हमें प्राप्त हों। अर्थात् अग्नि की कृपा से उपरोक्त गुणगण सम्पन्न पुत्र हमें प्राप्त हो।

म० : यो ब्रह्मणस्पतिः रेवान् धनवान्। यश्चामीवहा अमीवस्य रोगस्य इन्ता। 'अम रोगे'। 'अमेरीवः'। वसुवित् वसु घनं वेत्तीति। यश्च पुष्टिवर्धनः षोषणस्य वर्धयिता। यश्च तुरः 'तुर वेगे' 'इगुपध–' (पा० 3/1/135) इति कः। वेगवान् अविलम्बितकारी। स ब्रह्मणस्पतिर्नोऽस्मान् सिषक्तु सेवताम्। 'सिषक्ति सचते इति सेवमानस्य' (निरु० 3/21) यद्वा

अनयर्चा पुत्रः प्रार्थ्यते। यः पुत्रो रेवान्धनवान् यश्च व्याधेर्हन्ता जपादिना यो धनस्य लब्धा पुष्टेश्च वर्धयिता यः तुरः शीघ्रकारी तादृशः पुत्रोऽग्नेः प्रसादान्नोऽस्मान् सिषक्तु सेवताम् ।।29।।

त्रिंशी

मा नः शर्ठ्ठंसोऽअररुषो धूर्तिः प्रणङ्मर्त्यस्य। रक्षाणो ब्रह्मणस्पते ।।३०।।

अन्वय : (हे) ब्रह्मणस्पते अररुष अदानशीलस्य मर्त्यस्य शंसः धूर्तिः नः मा प्रणक् (प्रकर्षेण मा नाशयतु) अतो नो रक्ष।

व्याख्या : हे वेदज्ञान के अधिपति अग्निदेव! कभी भी दान न देने वाले देवविरोधीमनुष्यों के शापादि दुर्वाक्य हमारे प्रति उनका अनिष्ट चिन्तन, तथा जो कुटिलआचरण से युक्त हैं ऐसे लोग हमें कष्ट न दें। इनसे आप हमारी रक्षा करें।

म॰ : 'रा दाने' इति धातोः क्वसुन्नन्तस्य षष्ठ्येकवचने ररुष इति रूपम्। ररौ इति ररिवांस्तस्य ररुषः। दानं कृतवत इत्यर्थः। तस्य निषेधादररुष इति। कदाचिदपि हविर्दानमकृतवत इत्यर्थः। तादृशस्य मर्त्यस्य मनुष्यस्य शंसो धूर्तिश्च नोऽस्मान् मा प्रणक् प्रकर्षेण व्याप्नोतु। नशिव्याप्त्यस्यर्थः। यद्वा 'नश अदर्शने'। मा प्रणक् प्रकर्षेण मा नाशयतु। शंसनं शंसोऽनिष्ट-चिन्तनम्। धूतिर्हिंसा। 'ध्वरति धूर्वति' (निघ॰ 2/19) इति वधकर्मसु पठितत्वात् शत्रुकृतमनिष्टचिन्तनं शत्रुकृताहिंसा चास्मान् मा व्याप्नोत्वित्यर्थः। किंच हे ब्रह्मणस्पते वेदस्य पालकाग्ने, नोऽस्मान् रक्ष। 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा॰ 6/3/135) इति संहितायां दीर्घः। णत्वं पूर्ववत् ।।30।।

एकत्रिंशी

महिं त्रीणामवोऽस्तु द्युक्षम्मित्रस्यार्य्यम्णः। दुराधर्षंव्वरुणस्य ।।३१।।

अन्वय : मित्रस्य अर्यम्णः वरुणस्य एतेषां त्रीणाम् (त्रयाणां) महि (महत्) द्युक्षम् अमोघगमनं दुराधर्षम् अवः (पालनमस्तु)।

व्याख्या : मित्र अर्यमा (सूर्य) और वरुण, इन तीनों देवताओं की शरण (रक्षण) हमें प्राप्त हो जो महान, कान्तिमान् सुवर्णादिद्रव्यों से युक्त, तथा शत्रुओं से सर्वथा अदम्य है। इस मन्त्र का पाठ यात्रा के

समय अपनी रक्षा के लिए करना चाहिए। इन देवताओं का स्मरण यात्राकाल में मंगलदायक होता है।

म० : सत्यधृतिदृष्ट आदित्यदेवत्यस्तृचो गायत्रीजपे विनियुक्तः पथि जप्त उपद्रवनाशकश्च। मित्रस्यार्यम्णो वरुणस्येति त्रीणां त्रयाणां देवानां संबन्धि अवः पालनमस्तु। किंभूतमवः महि महत् तथा द्युक्षं द्युमन्ति सुवर्णादिद्रव्याणि क्षियन्ति निवसन्ति यस्मिन् पालने तथाविधम्। दुराधर्ष तिरस्कर्तुमशक्यम्। त्रीणां त्रिशब्दस्यामि छन्दसि त्रयादेशो वेति वाच्यम् (पा० 7/1/53) ।।31।।

द्वात्रिंशी

नहि तेषाममा चन नाध्वसु वारणेषु। ईशे रिपुरघशंसः ।।३२।।

अन्यय : तेषाम् (आदित्यादिपालितानाम्) अमा चन (गृहेऽपि) अध्वसु वारणेषु अघशंसः रिपुः न ईशे (समर्थो न भवति)।

व्याख्या : इन तीनों देवताओं से रक्षित मनुष्यों का घरों में, मार्गों में युद्ध आदि में पापकर्मा शत्रु कुछ भी अनिष्ट करने में समर्थ नहीं होते। अर्थात् मित्रादि देवताओं से रक्षित मनुष्यों को कही भी भय नहीं होता है।

म० : अमाशब्दो गृहनामसु पठितः (निघ० 3/4/11)। चनशब्दोऽप्यर्थे। अमा चन गृहेऽपि वर्तमानानां तेषां तथा वारणेषु चोरव्याघ्रादयो यत्र स्थिता निवारयन्ति पथिकान् ते वारणास्तेषु चोरव्याघ्रादयो यत्र स्थिता निवारयन्ति पथिकान् ते चारणास्तेषु चोरव्याघ्रभ्याढ्येषु अध्वसु मार्गेषु वा वर्तमानानां तेषां त्रिर्यमवरुणैस्त्रिभिर्देवैः पालितानां यजमानामुपद्रवायेति शेषः। अघशंसः सर्वदा पापस्य प्रशंसको रिपुः शत्रुः नहि ईशे समर्थो न भवति। 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा० 7/1/41) इति तलोपः। 'अधीगत्यर्थदयेषां कर्मणि' (पा० 2/3/52) इति तेषामिति षष्ठी। मित्रादिभिः पालितानामस्माकं गृहेऽरण्ये वा नास्ति शत्रुबाध इत्यर्थः ।।32।।

त्रयस्त्रिंशी

ते हि पुत्रासोऽअदितेः प्रजीवसे मर्त्याय। ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम्

।।३३।।

अन्वय : हि यतस्ते अदितेः पुत्रासः मर्त्याय जीवसे जीवितुम् अजस्रं ज्योतिः यच्छन्ति।

व्याख्या : निश्चय ही पुर्वोक्त मित्र, अर्यमा वरुण ये अदिति देवमाता के पुत्र है। ये उपासकों को चिरजीवन के लिए निरन्तर ज्योति (प्रकाश) अर्थात् दीर्घजीवन प्रदान करते रहते हैं। बुद्धि प्रदान करते हैं।

म० : कथं तद्रक्षितानां शत्रुभयाभावस्तदाह। हि यतस्ते अदितेः अखण्डितशक्तेर्देवमातुः पुत्रासः पुत्रा। पूर्वोक्ता मित्रार्यमवरुणाः मर्त्याय मनुष्याय यजमानायाजस्रं निरन्तरमनुपक्षीणं ज्योतिः तेजः प्रयच्छन्ति। किमर्थं जीवसे जीवितुम्। यथा चिरं जीवनं भवति तथा तदुपायज्ञानं प्रयच्छन्तीत्यर्थः ।।33।।

चतुस्त्रिंशी

कुदाचुन स्तुरीरसि नेन्द्र सश्चसि दुाशुषे। उपोपेन्नु मघवुन्भूयऽ इन्नु ते दानन्देवस्य पृच्यते ।।३४।।

अन्वय : हे इन्द्र! त्वं कदाचन स्तरीः (हिंसकः) नासि। दाशुषे उप इत् न सश्चसि। हे मधावन् देवस्य ते भूयः दानं, नु इत उप पृच्यते।

व्याख्या : हे इन्द्र आप कभी भी स्वजनों को कष्ट पहुँचाने वाले (हिंसक) नहीं है। हविप्रदाता यजमान की प्रसन्नता के लिए यज्ञभूमि में आकर शीघ्र ही अपनी हवि का ग्रहण करते हैं। हे ऐश्वर्यशाली, दिव्यगुणयुक्त देव! आपका प्रभूतदान शीघ्र ही हविदाता यजमान को प्राप्त होता है।

म० : ऐन्द्री पथ्या बृहती मधुच्छन्दोदृष्टा जपे विनियुक्ता। यस्यास्तृतीयः पादो द्वादशार्णोऽन्ये त्रयोऽष्टाक्षराः सा पथ्या बृहती। हे इन्द्र परमैश्वर्ययुक्त, कदाचन कदापि त्वं स्तरीर्नासि। 'स्तृञ् हिंसायाम्' स्तृणातीति स्तरीः हिंसको नासि। हिं तर्हिं दाशुषे सश्चसि। द्वितीयार्थे चतुर्थी। दाश्वांसं हविर्दत्तवन्तं यजमानं सेवसे। सश्चतिः सेवनकर्मा। किंच। हे मघवन् धनवन्, देवस्य प्रकाशमानस्य ते तव भूय इत् बहुतरमेव दानं नु इत् क्षिप्रमेव दाश्वांसमुपपृच्यते। 'पृची संपर्के' यजमानेन सह संपर्कं प्राप्नोति।

'प्रसमुपोदः पादपूरणे' (पा॰ 8/1/6) इत्येक उपशब्दः पादपूरणे। इच्छव्दावेवार्थे। नु क्षिप्रार्थः। न कदाचिद्यजमानं प्रति क्रुध्यसि सेवसे च। तं त्वदीपं भूयो धनं दाश्वांसमुपपृच्यत इति भावः ॥34॥

पञ्चत्रिंशी

तत्स॑वि॒तुर्वरे॑ण्यं॒ भर्गो॑ दे॒वस्य॑ धीमहि। धियो॒ यो नः॑ प्रचो॒दया॑त् ॥३५॥

अन्वय : सवितुः देवस्य तत् वरेण्यं भर्गो धीमहि। यः नः धियः प्रचोदयात्।

व्याख्या : समस्त जीवों के प्रेरक, प्रकाशस्वरूप दिव्यगुणसम्पन्न सविता देवता के उस सर्वाभिलषित दिव्यतेज का हम ध्यान करते है, जो सभी जीवों के पापतापों को भस्म कर देता है। ऐसे सवितादेवता हमलोगों की बुद्धि को शुभ एवं उत्तम कर्मों में प्रेरित करे।

म॰ : विश्वामित्रदृष्टा सावित्री गायत्रीजपे विनियुक्ता। तदिति षष्ठ्यर्थे। तस्य देवस्य द्योतनात्मकस्य सवितुः प्रेरकस्यान्तर्यामिणो विज्ञानानन्दस्वभावस्य हिरण्यगर्भोपाध्यवच्छिन्नस्य वा आदित्यान्तरपुरुषस्य वा ब्रह्मणो वरेण्यं वरणीयं सर्वैः प्रार्थनीयं भर्गः सर्वपापानां सर्वसंसारस्य च भर्जनसमर्थं तेजः सत्यज्ञानानन्दादिवेदान्तप्रतिपाद्यं वयं धीमहि ध्यायामः। छान्दसं संप्रसारणम् यद्वा मण्डलं पुरुषो रश्म इति त्रयं भर्गःशब्दवाच्यम् भर्गो वीर्यो वा। 'वरुणाद्ध वा अभिषिषिचानाखर्गोऽपचकाम वीर्य वै भर्गः' (5/4/5/1) इति श्रुतेः। तस्य कस्य। यः सविता नोऽस्माकं धियः बुद्धीः कर्माणि वा प्रचोदयात्प्रकर्षेण चोदयति प्रेरयति सत्कर्मानुष्ठानाय। यद्वा वाक्यभेदेन योजना। सवितुर्देवस्य तत् वरेण्यं भर्गो ध्यायामः। यश्च नो बुद्धीः प्रेरयति तं च ध्यायामः। स च सवितैव। लिङ्गव्यत्ययेन योजना। सवितुर्देवस्य तत् भर्गो धीमहि। यो यत् भर्गो नो बुद्धीः प्रेरयति ॥35॥

षट्त्रिंशी

परि॑ ते दू॒डभो॒ रथो॒ऽस्माँ२ अ॑श्नोतु वि॒श्वतः॑। येन॒ रक्ष॑सि दा॒शुषः॑ ॥३६॥

अन्वय : (हे अग्निदेव) ते दूडभः रथः विश्वतः अस्मान् परि

अश्नोतु, येन दाशुषः रक्षसि।

व्याख्या : हे अग्निदेव, आपका अप्रतिहतगतिवाला तथा अवध्य रथ चारों ओर से हमारी रक्षा करें, क्योंकि इसी रथ से आप हविर्दाता यजमान की भी रक्षा करते हैं।

यहाँ पर बृहदुपस्थान पूर्ण होता है।

म० : आग्नेयी गायत्री वामदेवदृष्टा जपे विनियुक्ता। हे अग्ने, ते तव रथोऽस्मान् यजमानान् विश्वतः सर्वासु दिक्षु पर्यश्नोतु परितो व्याप्नोतु अस्मद्रक्षणाय सर्वतस्तिष्ठतु। किंभूतो रथः। दूडभः। दभ्नोतिर्वधकर्मा। दुःखेन दभ्यते दुर्दभः। केनापि सहसा हिंसितुमशक्यः। 'उकारं दुर्दे०' (प्रा०का० 3/3/4) इति प्रातिशाख्यसूत्रेण दुरो रेफस्य उकारः अग्निपदस्य डः। येन रथेन त्वं दाशुषो यजमानान् रक्षसि पालयसि। 'यजमाना वै दाश्वांसः' (2/3/4/38) इति श्रुतेः ॥36॥

बृहदुपस्थानं समाप्तम्

सप्तत्रिंशी

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याथ्ँ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः। नर्य प्रजाम्मे पाहि शथ्ँस्य पशून्मे पाह्यथर्य पितुम्मे पाहि ॥३७॥

अन्वय : हे अग्ने भूः भुवः स्वः लोकत्रयात्मक! त्वत्प्रसादादहं प्रजाभिः सुप्रजाः स्याम्। वीरैः सुवीरः सुपोषैः स्याम! हे सुपोषः नर्य मे प्रजां पाहि। हे शंस्य आह्वनीय मे पशून् पाहि। हे अथर्य! दक्षिणाग्ने मे पितुं पाहि (रक्ष)।

व्याख्या : हे पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोकाधिपति अग्निदेव! अथवा तीनों व्याहृतियों में व्याप्त अग्निदेव! आपके अनुग्रह से मैं वीर पुत्र पौत्रादि सन्तति से सम्पन्न होऊँ। सुन्दर पुष्टिदायक पदार्थों (अन्नादि) से सम्पन्न होऊँ। हे मनुष्यों के हितकारी गार्हपत्यअग्नि। आप मेरे प्रजा (पुत्रादिकों) की रक्षा करें। मेरे गौ, अश्व आदि पशुओं की भी सम्भावित विपत्तियों से रक्षा करें, हे दक्षिणाग्नि, आप हमारे अन्न की रक्षा करें।

यहाँ से क्षुल्लकोपस्थान प्रारम्भ होता है

म॰ : अथ क्षुल्लकोपस्थानमासुरिदृष्टम्। 'भूर्भुवःस्वरिति वोभौ' (का॰ 4/12/12) इति। वाशब्दो विकल्पार्थः। पूर्वोक्तेनोपप्रयन्त इत्यादिना वक्ष्यमाणेन भूर्भुवःस्वरित्यादिना वोभावग्नी उपतिष्ठेत। उभयोपस्थानं कुर्यादिति सूत्रार्थः। हे अग्ने, भूर्भुवःस्वः त्वं व्याहृत्यादित्रयात्मकः तदर्थभूतलोकत्रयात्मको वा। अतस्त्वत्प्रसादादहं प्रजाभिः बन्धुभृत्यादिरूपाभिः कृत्वा सुप्रजाऽस्यामनुकूलत्वेन शोभनाः प्रजा यस्य तादृशो भवेयम्। तथा वीरैः पुत्रैः सुवीरः स्यां शास्त्रीयमार्गवर्तिशोभनपुत्रयुक्तो भवेयम्। यथा पोषैः हिरण्यदिपोषणैः सुपोषः स्यां बहुमूल्यार्हहिरण्यादियुक्तो भवेयम् ।।

प्रवत्स्यदुपस्थानमागतोपस्थानं चादित्यदृष्टम् ।।

'प्रवत्स्यन् सर्वान्नर्येषि प्रतिमन्त्रम्' (का॰ 4/11/13) इति। यद्वा यजमानो ग्रामान्तरं गन्तुमिच्छति तदानी सर्वानग्नीन्नर्येत्यादिमन्त्रैरुपतिष्ठेत। अथ मन्त्रार्थः। नर्य नरेभ्यो हित गार्हपत्य, मे प्रजां पाहि। आवहनीयमुपतिष्ठते। हे, शंस्य अनुष्ठातृभिः शंसितुं योग्याहवनीय, मे मम प्रजां पाहि रक्ष। दक्षिणाग्निमुपतिष्ठते। हे अथर्य दक्षिणाग्ने, मे पितुमंन्नं पाहि। अतनवानथर्यः अत सातस्यगमने सततं गार्हपत्यात् स्वस्थान दक्षिणाग्निर्गच्छति तेनाथर्यः। निपातोऽयम् ।।37।।

अष्टत्रिंशी

आग॑न्म वि॒श्ववे॑दसम॒स्मभ्यं॑म्वसु॒वित्तं॑मम्। अग्ने॑ सम्राडु॒भि द्यु॒म्नम॒भि सह॒ऽआयं॑च्छस्व ।।३८।।

अन्वय : (वयं) विश्ववेदसम् अस्मभ्यं वसुवित्तमम् आगन्म (आगता)। हे सम्राट्! (आहवनीय) अग्ने! अभि द्युम्नं सहः (अस्मभ्यम्) अभि (आयच्छस्व) अस्मासु स्थापय।

व्याख्या : हम सर्वधन-संपन्न तथा उत्तम-धन प्रदान करने वाले अग्निदेव की शरण में आये हैं। हे सम्यक्दीप्यमान अग्निदेव, आप चारों ओर से धन, यश तथा बल हमें प्रदान करें।

यहाँ से तीन मन्त्रों के द्वारा हाथ में समिधा लेकर तीनों अग्नियों का उपस्थान वर्णित है।

म॰ : 'समित्पाणिरुपेत्य कंचिदुषतिष्ठत आहवनीयगार्हपत्यदक्षिणा-

ग्नीनागन्मेति प्रतिन्त्रम्' (का० 4/12/18) इति। समिधं हस्ते आदाय कंचिदपि जनमगत्वेव प्रथममेवाग्न्यगारं प्राप्यागन्मेत्यादिमन्त्रत्रयेणाहवनी-यादीनुपतिष्ठत इति सूत्रार्थः। अनुष्टुवाहवनीयदेवत्या। हे अग्ने, सम्राट् सम्यक् राजते दीप्यते सम्राट् तथाविधाग्ने आहवनीय, वयं त्वामगन्म त्वामुद्दिश्य ग्रामान्तरात्प्रत्यागताः। किंभूतं त्वाम्। विश्ववेदसं विश्वं वेत्ति वेदयतीति वा विश्ववेदास्तम्। विश्वं वेदो धनं यस्येति वा। सर्वज्ञं सर्वधनं वा। पुनः किंभूतम्। अस्मभ्यं वसुवित्तममस्मदर्थमतिशयेन वसुनो धनस्य वेदितारं लब्धारम्। किंच। हे अग्ने, द्युम्नं सहश्च अस्मभ्यमभि आयच्छस्व। 'दाण् दाने'। 'पाघ्रा-' (पा० 7/3/18) इत्यादिना यच्छादेशः। यशो बलं चास्मभ्यं देहि। 'द्युम्नं द्योततेर्यशो वान्नं वा' (निरु० 5/5)। सह इति बलनाम (निघं० 2/9) यच्छस्वेति यमे रूपं वा। चायच्छस्व आगमय। यच्छतिः स्थापनार्थो वा। अस्मासु यशो बलं च स्थापय ।।38।।

एकोनचत्वारिंशी

अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः। अग्ने गृहपतेऽभि द्युम्नमभि सहऽआयच्छस्व ।।३९।।

अन्वय : अयं गार्हपत्य अग्निः गृहपतिः प्रजायाः वसुवित्तमोऽस्ति। हे गृहपते अग्ने, अभि द्युम्नं सहः अस्मभ्यम् आयच्छस्व।

व्याख्या : यह गार्हपत्य-अग्निदेव ही घर के पालक है, पुत्र पौत्रादि की समृद्धि को प्रदान करने वाले है। हे गृहाध्यक्ष अग्निदेव आप चारों ओर से हमें धन, यश और बल प्रदान करें। इस मन्त्र में गार्हपत्यअग्नि का उपस्थान वर्णित है।

म० : गार्हपत्यमुपतिष्ठते। न्यङ्कुसारिणी बृहती। यस्या द्वितीयः पादो द्वादशाक्षरोऽन्ये त्रयोऽष्टाक्षराः सा न्यङ्कुसारिणी। अत्र तृतीयो नवार्णस्तेनै-काधिका। अयं पुरोऽवस्थितो गार्हपत्य एतन्नामकोऽग्निर्गृहस्य पतिः पालकः। प्रजायाः पुत्रपौत्रादिकायाः अनुग्रहार्थं वसुवित्तमः अतिशयेन धनस्य लब्धा। हे अग्ने, स त्वं द्युम्नं सहश्चाभ्यायच्छस्व देहि ।।39।।

चत्वारिंशी

अयमग्निः पुरीष्यो रयिमान्पुष्टिवर्धनः। अग्ने पुरीष्याभि द्युम्नमभि सहऽआयच्छस्व ।।४०।।

अन्वय : अयम् अग्निः पुरीष्यः रयिमान् पुष्टिवर्द्धनः (अस्ति) हे पुरीष्य (पशब्यः) अग्ने त्वं द्युम्नं सहः (अस्मभ्यम्) आयच्छस्व।

व्याख्या : हे दक्षिणाग्नि आप पशुओं के हितकारक हैं तथा धनवान् और पोषणशक्ति को बढ़ानेवाले है। अतः हे पशुपालक अग्निदेव, आप सभी ओर से हमें धन एवं बल प्रदान करें।

म॰ : दक्षिणाग्निमुपतिष्ठते। अनुष्टुप्। योऽयमग्निः पुरीष्यः पशव्यः। 'पशवो वै पुरीषं' इति श्रुतेः। रयिमान्धनवान् पुष्टिवर्धनः पोषस्य वर्धयिता। तं याचे। हे अग्ने, पुरीष्य पशुहित, द्युम्नं सहस्वाभ्यायच्छस्व देहि ।।40।।

एकचत्वारिंशी

गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जंबिभ्रत एमसि। ऊर्ज विभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ।।४१।।

अन्वय : (हे) गृहा, यूयं मा बिभीत मा वेपध्वम् ऊर्जं ब्रिभ्रतः एमसि, आगताःस्म। ऊर्जं बिभ्रद् सुमनाः सुमेधा मनसा मोदमानः वः गृहान एमि (आगच्छामि)। यहाँ ग्रामान्तर से लौटकर अपने गृह को सम्बोधित करता है।

व्याख्या : हे वसतिरूपगृह तुम निर्भय रहते हुए दृढ़ होओ, क्योंकि, अन्नादि की समृद्धि को धारण करके हम तुम्हारे पास आ गये है। बल को धारण करते हुए सुन्दर मन और शुद्ध बुद्धि से युक्त तथा प्रसन्नमन से हम तुम्हारे पास आ गये हैं।

म॰ : 'गृहा मा बिभीतेति गृहानुपैति' (का॰ 4/12/22) इति। ग्रामान्तरादागतो गृहामेत्यादिमन्त्रत्रयेण गृहं प्राप्नुयात्। तिस्रोऽपि वास्तुदेवत्याः शंयुदृष्टाः। त्रिष्टुब्विराड्रूपा। यस्या एकादशार्णास्त्रयः पादा एकोऽष्टार्णः सा विराड्रूपा। अत्र प्रथमो दशार्णस्तेनैकोना। हे गृहाः, यूयं मा बिभीत। पालको यजमानो गत इति भयं मा कुरुत। मा च वेपध्वम्। कोऽपि शत्रुरागत्य विनाशयिष्यतीति बुध्द्या कम्पं मा कार्ष्ट। यतो वयमूर्जं विभ्रतो धारयमाणानक्षीणान्नानेव युष्मान् एमसि। आ इमः आगताः स्मः। यथा यूयमूर्जं बिभ्रतः तथाहमपि ऊर्ज बिभ्रत् धारयन् सुमनाः शोभनमनस्कः सुमेधाः शोभनधारणप्रज्ञोपेतः। मनसा दुःखरहितेन मोदमानः हृष्यन् वो

युष्मान् गृहानैमि आगच्छामि। एमः ऐमीत्यात्मनि विकल्पेन बहुवचनम् 'अस्मदो द्वयोश्च' (पा० 1/2/51) इत्युक्तेः ।।41।।

द्विचत्वारिंशी

येषा॑मुध्येति॑ प्रवस॒न्येषु॑ सौमन॒सो ब॒हुः। गृ॒हानुप॑ ह्वयामहे॒ ते नो॑ जानन्तु जान॒तः ।।४२।।

अन्वय : प्रवसन् (देशान्तरं गच्छन् यजमानः) येषाम् अध्येति (तान् गृहान् स्मरति) येषु बहु सौमनसः प्रीत्यतिशयः तान् गृहान् उपह्वयामहे, (आह्वयामः) ते गृहदेवा जानतः नो जानन्तु।

व्याख्या : प्रवास में रहता हुआ मेरा मन जिन घरों को सदा ही क्षेम की कामना से स्मरण करता है, जिन घरों में मेरे बहुत से प्रेमीजन निवास करते है, उन घरों के अधिपति देवताओं को हम सादर बुलाते हैं तथा वे घर हम लोगों को अच्छी तरह पहचानें। अर्थात् वे हमें अपना समझकर अपनेपन का अहसास करायें।

म० : अनुष्टुप्। प्रवसन् देशान्तरं गच्छन् यजमानो येषामध्येति। 'इक् स्मरणे'। यान् गृहान् स्मरति। 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' (पा० 2/3/52) इति षष्ठी। गृहविषयक्षेमं सदा चिन्तयतीत्यर्थः। तथा येषु गृहेषु यजमानस्य बहुः सौमनसो सुमनसो भावः प्रीत्यतिशयः। वयं तान् गृंहानुपह्वयामहे आह्वयामः। गृहाभिमानी देवोऽस्मत्समीपमागच्छत्वित्यर्थः। ते गृहदेवा आहूताः सन्तः जानतः उपकाराभिज्ञान् नोऽस्मान् जानन्तु। एते कृतघ्ना न भवन्तीत्यव-गच्छन्तु ।।42।।

त्रिचत्वांरिंशी

उप॑हूताऽइ॒ह गाव॒ऽउप॑हूताऽअ॒जावयः॑। अथो॒ऽअन्न॑स्य की॒लाल॒ उप॑हूतो गृ॒हेषु॑ नः। क्षेमा॑य व॒ः शान्त्यै॒ प्रप॑द्ये शि॒वꣳ श॒ग्मꣳ श॒ंयोः श॒ंयोः ।।४३।।

अन्वय : अस्माकं गृहेषु इह गावः उपहूताः अजावयः उपहूताः (तिष्ठन्तु)। अथो अन्नस्य कीलालः (रसविशेषः) नः गृहेषु उपहूतः समृद्धो भवतु। हे गृहाः क्षेमाय शान्त्यै वः प्रपद्ये (प्रविशामि) शंयोः शिवम् शंयोः शग्मम्।

व्याख्या : हमारे इस घर में सवत्सा-गौएँ एवं बैल सुखपूर्वक रहें। भेड़ और बकरीजाति के पशु भी सूखपूर्वक निवास करें। और इस घर में अन्नसम्बन्धी रसविशेषरूप से समृद्ध हो। हे गृहस्थान! सुख एवं शान्ति की प्राप्ति हेतु मैं तुम्हारे शरण में आया हूँ। हमें ऐहिक एवं आमुष्मिक दोनों प्रकार का सुख प्राप्त हो। शिव का अर्थ है इस लोक का सुख तथा शग्म पारलौकिक सुख का वाचक है।

म० : त्र्यवसाना महापङ्क्तिः। यस्या अष्टार्णाः षट् पादाः सा महापङ्क्तिः। पञ्चमो नवमार्णस्तेनैकाधिका। इह गृहेषु गाव उपहूताः धेनवो बलीवर्दाश्च सुखेन तिष्ठनित्स्त्वेमनुज्ञाताः। यथा इह गृहेषु अजावयः उपहूताः अजात्वावित्यजातिद्वययुक्ताः पशव उपहूताः सुखेन वर्तन्तामित्य-स्माभिरनुज्ञाताः। अथो अपिच, अन्नस्य कीलालः अन्नसंबन्धी रसविशेषो नोऽस्मदीयेषु गृहेषु उपहूतः समृद्धो भवत्वित्येवमस्याभिरनुज्ञातः। अथो अपिच अन्नस्य कीलालः अन्नसंबन्धी रसविशेषो नोऽस्मदीयेषु गृहेषु उपहूतः समृद्धो भवत्वित्येवमस्याभिरनुज्ञातः। 'क्षेमाय व इति प्रविशति' (का० 4/12/23) इति। हे गृहाः, वो युष्मान् प्रपद्ये प्राप्नोमि। किमर्थम्। क्षेमाय विद्यमानस्य वसुनो रक्षणं क्षेमस्तदर्थम्। शान्त्यै मम सर्वानिष्टशमनाय। शंयोः शमिति सुखनाम (निघं० 3/6/19) तत्कामयते इति शंयुः। 'इदंयुरिदंकामयमानः' (निरु० 6/31) इति यास्कोक्तत्वात्तादृशस्य मम। शिवं शग्ममिति द्वे सुखनामनी (निघं० 3/6/18-22) तत्राद्यमैहिंकम् द्वितीयमामुष्मिकम्। उभयविधं सुखं भूतादिति शेषः। शंयोरित्यभ्यासोऽ-त्यादरार्थः ॥43॥

इत्युपस्थानमन्त्राः पूर्णाः

अथ चातुर्मास्यमन्त्राः

चतुश्चत्वारिंशी

प्रघासिनों हवामहे मरुतंश्च रिशादंसः। करम्भेणं सजोषंसः ॥४४॥

अन्वय : वयं प्रघासिनो एतन्नामकान् मरुतो हवामहे। रिशादसः करम्भेण सजोषसः (मरुतो हवामहे)।

यहाँ से चातुर्मास्ययाग से सम्बन्धित मन्त्र प्रारम्भ हो रहे हैं।

व्याख्या : [चातुर्मास्य याग में चार पर्व होते हैं, वैश्वदेव, वरुण-प्रघास, साकमेध और शुनासीरीय। प्रस्तुतमन्त्र का विनियोग द्वितीयपर्व (वरुणप्रघास) में है।]

हम प्रघास रूप हविविशेष का भक्षण करनेवाले उन मरुद्गणों का आवाहन करते हैं जो हिंसकशत्रुओं का विनाश करनेवाले है तथा करम्भ (यवमयहविविशेष) जिन्हें अत्यन्त प्रिय है।]

म० : अथ चातुर्मास्यमन्त्राः प्रजापतिदृष्टाः। चातुर्मास्याख्यो यागः। स पर्वचतुष्टयात्मकः। वैश्वदेववरुणप्रघाससाकमेधशुनासीरीयाख्यानि चत्वारि पर्वाणि। तत्र तरुणप्रघासाख्ये द्वितीये पर्वणि दक्षिणोत्तरयोर्द्वयोर्वेद्योर्हविःष्वासादितेषु प्रतिप्रस्थाता पत्नीमुदानयंस्तदीयं जारं पृच्छेत् केन चरसीति। सापि तं ब्रूयात्। 'आख्याते प्रघासिन इत्येनां वाचयति नयन्' (का० 5/5/10) इति। पत्न्या जारे कथिते सति एनां पत्नीं नयन् प्रतिप्रस्थाता प्रघासिन इति मन्त्रं वाचयति। मारुती समुच्चयीन्ते। किंभूतान्मरुतः। प्रघासिनः 'घस्लृ अदने' प्रकर्षेण घस्यते भक्ष्यते इति प्रघासो हविर्विशेषः। स एषामस्तीति तान् प्रघासिनः एतन्नमकान्। शुक्रज्योतिरित्यादयः सप्तसप्तका मारुता गणाः। तत्र स्वतवांश्च प्रघासी चेति पठ्यते (अध्या० 17/85) प्रघास्युपलक्षितान् मरुतः आह्वयामः। पुनः किंभूतान्। रिशादसः रिशतिहिंसार्थः। रिशां वैरिकृतां हिंसां दस्यन्ति उपक्षयन्तीति रिशादसः। 'दसु उपक्षये' क्विप्। यद्वा रिशन्ति हिंसन्तीति रिशाः। 'इगुपध-' (पा० 3/1/135) इति कः। रिशान् हिंसकान् दस्यन्तीति रिशादसः। यद्वा रिशन्तीति रिशन्तः। शतरि दीर्घश्छान्दसः। रिशंतोऽऽस्यन्ति क्षिपन्ति ते रिशादसः। अस्तेविंच्। तथा करम्भेण सजोषसः यवमयो हविर्विशेषः करम्भः तेन सजोषसः समानप्रीतयस्तान् तथाविधान्मरुतो हवामहे ।।44।।

पञ्चचत्वारिंशी

यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये। यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा ।।४५।।

अन्वय : वयं यद् एनः ग्रामे चकृम (कृतवन्तः)। यद् अरण्ये यत् सभायां, यद् इन्द्रिये चकृम। तद् इदम् अवयजामहे। (विनाशयामः)

व्याख्या : हम लोगों ने जो पाप [निषिद्धाचरण रूप कार्य] गाँव में रहते हुए किया है। मृगोपद्रवरूपपाप अरण्य (वन) में रहते हुए किया है, सभा मैं स्थित होकर हमने जो असत्यभाषण या गुरुजनों की (तिरस्कार) अवज्ञा रुप पाप किया है और जिह्वा तथा उपस्थ में प्रीतिमान होकर जो अश्राव्य श्रवण अभक्ष्य भक्षण, अगम्यागम्य आदिरुप पाप इन्द्रियों से किया है, इन सभी पापों को इस देवयजन द्वारा नष्ट करते है। यह हवि पापविनाशिनी देवता के निमित्त समर्पित है।

म॰ : मारुत्यनुष्टुप्। 'करम्भपात्राणि जुहोति शूर्पेण मूर्धनि कृत्वा दक्षिणेऽग्नौ प्रत्यङ्मुखौ जायापती वा दक्षिणेनाहृत्य तीर्थेन पूर्वेण वेदिमपरेण वा यद्ग्राम इति' (का॰ 5/5/11) इति। यवपिष्टेन निर्मितानि सन्तानपरिमितान्येकाधिकानि वर्तुलादिरूपाणि करम्भपात्राणि। तानि शूर्पेण पत्नी दक्षिणाग्नौ जुहुयादित्येकः पक्षः। दम्पती द्वौ वा जुहुयातामित्यपरः पक्षः। तौ च दक्षिणेन मार्गेण तानि पात्राण्याहृत्य वेदेः पूर्वदिशि पश्चिमदिशि वा स्थित्वा जुहुयाताम्। अथ मन्त्रार्थः। ग्रामे वसन्तो वयं यदेनः पापं ग्रामोपद्रवरूपं चकृम कृतवन्तः। तथारण्ये वसन्तो यदेनो मृगोपद्रवरूपं चकृम। तथा सभायां स्थिता यदेनो महाजनतिरस्कारादिकं चकृम। तथेन्द्रिये जिह्वोपस्थरूपे प्रीतिमन्तो वयं यदेनः कलञ्जभक्षणपरस्त्रीगमनादिकं चकृम। तथान्यत्रापि भृत्यस्वाम्यादौ यदेनः ताडनावज्ञादिकं चकृम। तदिदं सर्वं पापमवयजामहे विनाशयामः। अवपूर्णो यजिर्नाशनार्थः। स्वाहा एतद्धविर्देवतायै पापविनाशिन्यै दत्तम् ॥45॥

षट्चत्वारिंशी

मो षू णं इन्द्रात्र पृत्सु देवैरस्ति हि ष्मा ते शुष्मिन्नवयाः।
महश्चिद्यस्य मीढुषो यव्या हविष्मतो मरुतो वन्दते गीः ॥४६॥

अन्वय : हे शुष्मिन् इन्द्र! अत्र पृत्सु देवैः (मरुत्नामकैः देवैः सहितस्त्वं] नः मा (अस्मान् मा विनाशय) सु हि ते अवयाः (अवयुतोभागः) पृथग् अस्ति। अस्य मीढुषो यव्या होमक्रिया महश्चित् (पूजाखलु) मम गीः हविष्मतो तव मरुतः वन्दते। (नमस्करोति)

व्याख्या : हे बलशाली इन्द्र इन संग्रामों में मरुत्नामक देवताओं के साथ मैत्री को प्राप्त, आप हमारा लेशमात्र भी विनाश न करें, क्योंकि

आपका पृथक भाग रूप यह द्रव्य विद्यमान है। इस प्रकार विविध सुखों को प्रदान करने वाले इन्द्र के लिए, यवपूर्ण करम्भपात्रों) से की जाने वाली यह अर्चन (होम क्रिया) ही पूजा है। हमारी स्तुतिरुपावाणी हविर्ग्रहण करनेवाले (आपके साथ इन) मरुतों की भी वन्दना करती है।

म० : ऐन्द्रमरुद्देवत्या विराट्। यस्या दशाक्षराश्चत्वारः पादाः सा विराट्। चतुर्थ एकाधिकोऽत्र। 'मो षू ण इति यजमानो जपति' (का० 5/5/12) इति। पृत्स्विति संग्रामनाम (निघं० 2/11/21) हे इन्द्र, अत्र पृत्सु एषु संग्रामेषु वर्तमानः देवैस्त्वया सह सख्यं प्राप्तैर्मरुन्नामकैर्देवैः सहितस्त्वं नोऽस्मान्मो विनाशयेति शेषः। मोशब्दो निषेधार्थः। सुशब्दो विनाशभावस्य सौष्ठवं ब्रूते। तथा सति विनाशलेशो मा भूदित्यर्थः संपद्यते। क उपकारइति चेत्। शुष्मेति बलवन्निन्द्र, ते तव अवयाः अवयुतो यागः पृथग्भागोऽस्ति हि स्म विद्यत एव खलु। अवपूर्वस्य यजतेरेतन्द्रूपम्। 'मिह सेचने' धातुः। मीढुषो वृष्टिप्रदत्वेन सेक्तुः। हविष्मतो हविर्योग्यस्य तव यव्या यवमयैः करम्भपात्रैर्निष्पन्ना होमक्रिया महश्चित् पूजा खलु। तस्य यथोक्तपूजोपेतस्य तवास्मासु कृपालुत्वं युक्तमिति भावः। किंच गीरस्मदीया स्तुतिरूपा वाक् मरुतो भवतः सखीन् वन्दते नमस्कोति। नमो मरुभ्द्य इत्येवमाकारायाः स्तुतेर्नमस्काररूपत्वात्। मरुदिषयनमस्कारेणापि तुष्टस्य तव कृपैव युक्तेत्यर्थः। मो सु नः अत्र 'सुञः' (पा० 8/3/107) इति षत्वम्। 'अन्येषामपि दृश्यन्ते' (पा० 6/3/137) इति दीर्घः। 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः (पा० 8/4/27) इति न इत्यस्य णः। स्म इत्यस्यापि 'पर्वूपदात्' (पा० 8/3/106) इति षत्वम्। 'अवयाः श्वेतवाः पुरोडाश्च' (पा० 8/2/67) इति विन्तो निपातः। मीढुषः। 'राश्वान्साह्वामीढ्वांश्च' (पा० 6/1/12) इति क्वसन्तो निपातः ॥46॥

सप्तचत्वारिंशी

अक्र॒न्कर्म॑ कर्म॒कृत॑ः स॒ह वा॒चा म॑यो॒भुवा॑। दे॒वेभ्य॒ः कर्म॑ कृ॒त्वास्त॒म्प्रेत॑ सचाभुवः ॥४७॥

अन्वय : कर्मकृतः (ऋत्विजः) भयोभुवा वाचा (मन्त्ररुपस्तुत्या) सह कर्म अक्रन (कृतवन्तः। देवेभ्यः कर्मकृत्वा हे सचाभुवः अस्तम् प्रेत। (गृहान् गच्छत)

व्याख्या : वरुणप्रघासनामक याग कर्म करने वाले ऋत्विक् जनों ने मन्त्ररुप सुखदास्तुति के द्वारा इस कर्म को पूर्ण कर दिया हैं। देवताओं की प्रसननता के लिए इस कर्म को पूर्ण करके परस्पर में मिलकर कर्म करनेवाले हे ऋत्विकगण, आप अपने-अपने घर को जायें।

म० : आग्नेय्यनुष्टुप। 'अक्रन्कर्मेत्येनां वाचयति' (का० 5/5/13) इति। कर्मकृतः वरुणप्रघासाख्यकर्मकारिण ऋत्विजः वाचा स्तुतिरूपया सह कर्म वरुणप्रघासानुष्ठानरूपमक्रन् कृतवन्तः। कथंभूतया वाचा। मयोभुवा। मय इति सुखनाम (निघ० 3/6/7) मयो भवति यया सा मयोभूः तथा मन्त्ररूपस्तुत्येत्यर्थः। हे सचाभुवः, सचेति सहार्थेऽव्ययम्। सहभवनशीलाः परस्परं यजमानेन पत्न्या वास्मिन्कर्मणि सहावस्थिता हे ऋत्विजः, देवेभ्यो देवार्थ कर्म कृता वरुणप्रघासनामकं कर्मानुष्ठानायास्तं प्रेत गृहान् गच्छत। अस्तमिति गृहनाम (निघ० 3/4/5) ।।47।।

अष्टचत्वारिंशी

अवं॑भृथ निचुम्पुण निचे॒रुर॑सि निचुम्पुणः। अवं॑ दे॒वैर्दे॒वकृ॑त॒-मेनोऽयासिष॒मव॒ मर्त्यै॒र्मर्त्य॑कृतं पु॒रु॒राव्णों देव रि॒षस्पा॑हि ।।४८।।

अन्वय : (हे) निचुम्पुण अवभृथ (यज्ञ), त्वं निचेरुः निचुम्पुणः श्च असि। (भव) देवैः (देवेषु) देवकृतम् एनः (पापम्) अवयाषिसम्। मर्त्यैः मनुष्यकृतैः मर्त्यकृतम् एनमवाशिषम्। हे देव! अव पुरुराव्णः रिषः (बन्धनात्) पाहि।

व्याख्या : वरुणप्रघास कर्म के अन्त में यह अवभृथकर्म किया जाता है। नदी में स्नान करते समय दम्यती यजमान कहते है-हे मन्दगामी अवभृथ (यज्ञान्तस्नानानुष्ठान) जल यद्यपि आप सर्वत्र गतिशील हैं फिर भी मन्दगति वाले ही रहैं, (जिससे हम) भलीभाँति स्नानादि सम्पन्न कर सकें) ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जो देवसम्बन्धी मैंने पाप किया है उसे मैं इस अवमृथ स्नान से दूर करता हूँ। हमारे सहायक ऋत्विजों के द्वारा मनुष्यों के प्रति किये गये अवज्ञारुप (तिरस्कार) पाप को भी इस स्नान से दूर करता हूँ। हे दिव्यगुण गण सम्पन्न अवभृथ कर्म, दुःखप्रद कार्यों से आप हमारी रक्षा करें। [विरुद्ध-फल देने वाले बधादि से भी हमारी

रक्षा करें)।

म० : यज्ञदैवतं यजुः। 'मज्जयत्यवभृथेति' (का० 5/5/30) अत्र विनियोगश्चिन्त्य इति। वरुणप्रघासस्य कर्मणोऽन्ते तदङ्गभूतं यदवभृथाख्यं कर्म जलसमीपे क्रियतेऽत्रानेन मन्त्रेण दम्पतीभ्यां जले स्नानं कर्तव्यम्। हे अवभृथ, अवाचीनानि पात्राणि जलमध्ये भ्रियन्ते यस्मिन्यज्ञविशेषे सोऽयमवभृथः। तत्संबोधनं हे अवभृथ यज्ञ, हे निचुम्पुण, 'चुप मन्दायां गतौ'। नितरां चोपति मन्दं गच्छति निचुम्पुणः। उण्प्रत्ययो मुमागमश्च। यद्वा नीचैरस्मिन्क्वणन्ति नीचशब्देन। कर्म कुर्वन्त्यवभृथो निचुम्पुणः। 'वीणस्थूणव्रणभ्रूण' इत्यादिना नीचैःशब्दोपपदात्क्वणतेः णक्प्रत्ययान्तो निपातः धातोः पुंभाव उपपदस्य निचुम्भावश्च निपातितः। तथाविधावभृथ, यद्यपि त्वं निचेरुरसि नितरां चरतीति निचेरुः नितरां गमनशीलोऽसि, तथाप्यत्र निचुम्पुणो भव मन्दगमनो भव। किं प्रयोजनमिति चेत् उच्यते। देवैर्द्योतनात्मकैरस्मदीयैदिग्निद्रियैर्देवकृतं हविःस्वामिषु देवेषु कृतमेनः पापं यदस्ति तदावयासिषस्मिन् जलेऽहमवनीतवानस्मि। तथा मर्त्यैः मनुष्यैरस्मत्सहायभूतैर्ऋत्विग्भिर्मर्त्यकृतं मर्त्येषु यज्ञदर्शनार्थमागतेषु कृतमवज्ञारूपं यदेनोऽस्ति तदप्यहमवायासिषमित्यनुवर्तते। इदमस्मत्त्यक्तं पापं यथा त्वां न व्याप्नोति तथा मन्दं गच्छेति भावः। किंच हे देवावभृथाख्य यज्ञ, रिशो वधात् पाहि पालय। रिषतेर्हिंसार्थस्य क्विवन्तस्य पञ्चम्यां रूपम्। किंभूताद्रिषः। पुरुराव्णः। 'रा दाने'। पुरु बहु विरुद्धं फलं ददातीति पुरुरावा तस्मात्। 'आतो मनिन्–' (पा० 3/2/74) इत्यादिना वनिप्। विरुद्धफलदायी बन्धस्त्व-त्प्रसादादस्माकं मा भूदित्यर्थः ।।48।।

एकोनपञ्चाशी

पू॒र्णा द॑र्वि॒ परा॑पत॒ सुपू॑र्णा॒ पुन॒राप॑त। व॒स्नेव॒ विक्री॑णावहा॒ इष॒मूर्ज॑ꣳ शतक्रतो ।।४९।।

अन्वय : (हे) दर्वि! अन्नप्रदानसाधनभूते पूर्णापरापत इन्द्रं प्रति गच्छ पुनः सुपूर्णा आपत अस्मान् प्रतिआगच्छ। हे शतक्रतो! वस्नेव (मूल्येन) विक्रीणावहै इषम् ऊर्ज्जम्।

व्याख्या : हे दर्वि! (ओदनरूपहविप्रदान के साधनभूत, काष्ठ से निर्मित) तुम इस (स्थाली से) हवि को लेकर (घृतादिहवि से पूर्ण

होकर) इन्द्र को प्रदान करो। तथा मेरे अभीष्ट (कर्मफल) से पूर्ण होकर पुनः हमें प्राप्त होंओं। हे अनन्तसामर्थ्यवाले इन्द्र! मूल्यवान् पण्यद्रव्यों की भाँति हम दोनों परस्पर में विनिमय करें। अर्थात् मैं आपको हवि प्रदान करूँ तथा आप हमें फल प्रदान करें। वरुणप्रघासकर्म के अनन्तर साकमेधपर्व के कुछ कर्मो का विवेचन किया जा रहा है। हवि यहाँ ओदन है।

म० : द्वे ऐन्द्र्यावनुष्टुभौ। साकमेधगतं कर्म किंचिदुच्यते। :स्थाल्याः दर्व्यादत्ते पूर्णा दर्वीति' (का० 5/6/34) दर्व्या स्थालीत ओदनग्रहणं करोति प्रथमया। द्वितीयया तं जुहोति। हे दर्वि, अन्नप्रदानसाधनभूते काष्ठादिनिर्मिते, त्वं पूर्णा स्थाल्याः सकाशादन्नं गृहीत्वा पूर्णो भूत्वा परा पूर्णत्वादेवोत्कृष्टा सती पत इन्द्रं प्रति गच्छ। सुपूर्णा कर्मफलेन सुष्टु पूर्णा सती पुनरापत भूयोऽस्मान्प्रत्यागच्छ। एवं दर्वीमुक्त्वा इन्द्रमाह। हे शतक्रतो बहुकर्मन् इन्द्र, त्वं चाहं चोभौ वस्नेव 'वस्नशब्देन मूल्यं तृतीयायाः पूर्वसवर्णः'। मूल्येनेव। इषमभीष्टं हविःस्वरूपमन्नमूर्जं हविर्दानफलरूपं रसविशेषं च विक्रीणावहै परस्परं द्रव्यविनियमरूपं विक्रयं करवावहै। अहं तुभ्यं हविर्ददामि त्वं मह्यं फलं देहीत्यर्थः ।।49।।

पञ्चाशी

दे॒हि मे॒ ददा॑मि ते॒ नि मे॑ धेहि॒ नि ते॑ दधे। नि॒हार॑ च॒ हरा॑सि मे नि॒हार॒न्निह॑राणि ते॒ स्वाहा॑ ।।५०।।

अन्वय : इन्द्रोब्रूते (हे यजमान) त्व मे मह्यं हवि, देहि अपेक्षितं पश्चात् ते ददामि। मे निधेहि (यजमान आह) ते निदधे, निहारञ्च फलं मे हरासि (प्रयच्छ) ते निहारं (मूल्यभूतं हविः) निहराणि समर्पयामि स्वाहा।

व्याख्या : (इन्द्र कहते हैं) हे यजमान सर्वप्रथम तुम मुझे हवि प्रदान करो मैं तुम्हें फल प्रदान करूँगा। पहले मेरे लिए हवि प्रदान करो। इसके पश्चात् अपेक्षित फल तुम्हें दूँगा। यदि तुम पूर्णमूल्यवाले इस हवि को मेरे लिए अर्पण करोगे तो मैं अपनी कृपा द्वारा इसका पूरामूल्य तुम्हें प्रदान करूँगा। यह आहुति सुहुत हो। इन्द्र के वाक्य को यजमान भी कहता है—कि हमें आपकी शर्त मंजूर है। फल आप दे हवि मैं दूँगा।

[मन्त्र का भाव यह है कि सृष्टि का समस्त जीवन देहि, और ददामि की पारस्परिक विनियम की भावना पर आधारित है, यहाँ तक कि जड़ रूप मिट्टी में भी बीजरुप अन्न डालने पर ही वह अन्न दुगनाकर) करके देती है। जैसा कि गीताकार ने भी कहा है–

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः!

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः। गी.–3–11

म॰ : 'देहि म इति जुहोतीति' (का॰ 5/6/38)। इन्द्रो वदति। हे यजमान, त्वं मे मह्यमिन्द्राय देहि हविः प्रथमं प्रयच्छ। ते तुभ्यं यजमानाय ददामि। अपेक्षितं पश्चात्प्रयच्छामि। एवं प्रथमपादोक्त एवार्थो द्वितीयपादेनादरार्थं पुनरुच्यते। मे मह्यम्निद्राय निधेहि प्रथमं त्वं हविर्नितरां संपादय। ते तुभ्यं यजमानाय निदधे अपेक्षितं फलं नितरां संपादयामि। एवमिन्द्रवाक्यं श्रुत्वोत्तरार्धेन यजमान आह। नितरां ह्रियत इति निहारो मूल्येन क्रेतव्यं पदार्थं ब्रूते। निहारं मूल्येन क्रेतव्यवस्तुरूपं फलं मे मह्यं यजमानाय हरासि प्रयच्छ। 'लेटोऽडाटौ' (पा॰ 3/4/94) इत्याडागमः। उत्तरो निहारो मूल्यवाची। निहारं मूल्यभूतं हविः ते तुभ्यमिन्द्राय निहराणि नितरां समर्पयामि। स्वाहाशब्दो हविर्दानार्थः। पूर्वार्धे पादद्वयेनादरेणेन्द्रेण द्विवारं प्रोक्तमर्थमुत्तरार्धेन यजमानः सम्यगङ्गी-करोतीत्यर्थः ।।50।।

एकपञ्चाशी

अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रियाऽअधूषत। अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा न्विन्द्र ते हरी ।।५१।।

अन्वय : अक्षन भुक्तवन्तो पितरो हि अमीमदन्त (हर्षप्राप्ताः) प्रियाः अव अधूषत (शिरकम्पितवन्तः)। स्वभानवो विप्राः नविष्ठयामतीः अस्तोषत। (हे) इन्द्र ते हरी (अश्वौ) नु रथे आयोजय।

व्याख्या : इस साकमेधगत पितृयज्ञनामक कर्म में जो मेरे पितर हैं, वे हमारे द्वारा प्रदत्त हविरुपअन्न का भक्षण कर लिए हैं। क्योंकि प्रसन्नता से वे अपने (शिर) को कंपित (हिला) कर रहे हैं। दिव्यतेज सम्पन्न मेधावी विप्रगण अपनी श्रद्धायुक्त वैदिकमन्त्रों द्वारा स्तुति कर रहे

है। हे इन्द्र (पितरों के तृप्त होने पर उन्हीं के साथ जाने के लिए आप हरितवर्णवाले दोनोंअश्वों को अपने रथ में नियुक्त करें।

म० : ऐन्द्रीभ्यां पङ्क्तिभ्यां साकमेधगतपितृयज्ञाख्यकर्मणि आहवनीयोपस्थानम्। यस्या अष्टाक्षराः पञ्च पादाः सा पङ्क्तिः। 'यज्ञोपवीतिनः सर्वे निष्क्रम्योदञ्चोऽक्षन्नमीमनदन्तेत्याहवनीयमुपतिष्ठन्ते द्वाभ्यामिति' (का० 5/9/21) पितृयज्ञाख्ये कर्मणि ये पितरः सन्ति तेऽस्माभिर्दत्तं हविस्वरूपमन्नं भक्षितवन्तः। हि यस्मात्। अमीमदन्त हर्षं प्राप्ताः। अस्मदीयां भक्तिमवगम्य प्रियाः प्रीतियुक्ताः सन्तः अधूषत स्वकीयं शिरः कम्पितवन्तः। यद्वा प्रियास्तनूरवाधूषत। किंच स्वभानवः स्वयं दीप्तियुक्ताः विप्राः मेधाविनः सन्तः नविष्ठया नवतमया मती मत्या बुध युक्ताः अस्तोषत स्तुतिं कृतवन्तः। अहो स्वाद्वन्नं बहु दत्तमहो भक्तिरित्याद्यभिधानं स्तुतिः। अतो हे इन्द्र, नु क्षिप्रं ते तव हरी एतन्नामकौ हरितवर्णावश्वौ योज गमनाय रथे योजय। तवाभीष्टायाः पितृतृप्तेः संपन्नत्वात्तैः पितृभिः सह त्वया आगन्तव्यमित्यर्थः। अक्षन्। अदेर्लुङि 'लुङ्सनोर्घस्लृ' (पा० 2/4/37) इति घस्लादेशः। 'मन्त्रे घस–' (पा० 2/4/80; इत्यादिना च्लेर्लुक्। 'गमहन–' (पा० 6/9/67) इत्युपधालोपः। 'खरि च' (पा० 8/3/60) इति षत्वम्। अडागमः। अमीमदन्त 'मद तृपितयोगे' चुरादिरात्मनेपदी लुङि णिलोपादौ रूपम्। अधूषत 'धूञ् कम्पने' लुङि सिचि व्यत्ययेन गुणाभावः। मती 'सुपां सुलुक्' (पा० 7/1/39) इति तृतीयायाः पूर्वसवर्णदीर्घः। योज 'युजिर् योगे' ण्यन्ताल्लोटि 'छन्दस्युभयथा' (पा० 3/4/117) इति शप आर्धधातुकत्वा 'णेरनिटि' (पा० 6/4/51) इति णिलोपः। 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० 6/3/135) इति संहितायां दीर्घः ॥51॥

द्विपञ्चाशी

सुसंदृशंन्त्वा वयं मघवन्वन्दिषीमहिं। प्र नूनं पूर्णबंन्धुरस्तुतो यांसि वशाँ अनु योजा न्विन्द्र ते हरीं ॥५२॥

अन्वय : (हे) मघवन् वयं सुसन्दृशं त्वा (त्वां) वन्दिषीमहि त्वं स्तुतः सन् नूनं वशान् अनु प्रयासि। पूर्णबन्धुर हे इन्द्र! ते हरी नु आयोज।

व्याख्या : हे धनवान् (ऐश्वर्यशाली) इन्द्र! हमलोग शोभनदर्शनवाले

(कृपामयी शोभनदृष्टि से सबको देखने वाले) आपको प्रणाम करते हैं। इस प्रकार हमारे द्वारा स्तुत होकर आप कामनावालों (यजमानों) के पास (उनकी इच्छा पूर्ण करने के लिए) धनपूर्णरथ के साथ अवश्य जाते हैं। हे इन्द्रदेव अपने घोड़ों को गमनार्थ रथ में नियुक्त करें।

म॰ : हे मघवन्, वयं त्वा त्वां वन्दिषीमहि स्तुतिकर्तारो भूयास्मेत्याशास्यते। किंभूतं त्वाम्। सुसंदृशं सुष्टु सम्यक् पश्यति सुसंदृक् तं शोभनदर्शनम्। अनुग्रहदृष्टया सर्वस्य द्रष्टारम्। इत्थमस्माभिः स्तुतः त्वं वशान् कामयमानान् यजमानाननुलक्षीकृत्य नूनं प्रयासि अवश्यं गच्छसि। किंभूतः। पूर्णबन्धुरः। बन्धुरशब्दो रथनीडवाची। स्तोतृभ्यो देयैर्धनैः संपूर्णरथनीडोपेतो भूत्वा गच्छसि। हे इन्द्र, स त्वं ते हरी योजेति पूर्ववत् ।।52।।

त्रिपञ्चाशी

मनो न्वाह्वामहे नाराशंसेन स्तोमेन। पितृणां च मन्मभिः ।।५३।।

अन्वय : वयं नाराशंसेन स्तोमेन च पितृणां मन्मभिः नु मनः आह्वामहे।

व्याख्या : नाराशंस [विशिष्ट पुरुषों की प्रशंसा करने वाले स्त्रोत्रो से] तथा पितर जिन स्तोत्रों से सादर आहूत होते हैं (प्रसन्न होते हैं) उन स्तोत्रों से हम शीघ्र ही मनो देवता (मनोऽधिष्ठात्री देवता) का आवाहन करते है।

म॰ : तिस्र ऋचो मनोदेवत्या गायत्र्यो बन्धुदृष्टाः। 'मनोन्वाह्वामह इति गार्हपत्यं तिसृभिरिति' (का॰ 5/9/22)। उपतिष्ठन्त इत्यनुवर्तते। नु क्षिप्रं मन आह्वामहे पितृयज्ञानुष्ठानेन चित्तं पितृलोकं गतमिवासीत् अत आहूयते। यद्वा मनः मनोऽभिमानि दैवतमाह्वामहे आह्वयामः। केन साधनेन। स्तोमेन स्तोत्रेण। कथंभूतेन। नाराशंसेन। शंसः प्रशंसनं नराणां मनुष्याणां योग्यः शंसो नराशंसः तत्संबधी नाराशंसस्तेन। स्तोत्रं द्विविधं दैवं मानुषं च। यत्र देवाः स्तूयन्ते तदैवम्। यत्र च मनुष्याः प्रशस्यन्ते तन्मानुषम्। तथाविधेन स्तोत्रेणेत्युक्तं भवति। किंच पितृणां च मन्मभिः पितरो यैः स्तोत्रैर्मन्यन्ते ते मन्मानस्तैः तादृशैः स्तोत्रैराह्वयामः ।।53।।

चतुःपञ्चाशी

आ नंऽएतु पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे। ज्योक्च सूर्यन्दृशे ।।५४।।

अन्वय : नः मनः पुनः क्रत्वे आ एतु दक्षाय जीवसे ज्योक् च सूर्यं दृशे।

व्याख्या : हमारा मन फिर से यज्ञादि के शुभ संकल्पों को प्राप्त करने के लिए उत्साहपूर्वक हमारे पास आ जाय। कुशलता पूर्वक दीर्घ जीवन धारण के लिए तथाचिरकाल तक सर्वप्रेरक सूर्य को देखने के लिए यह मन हमें प्राप्त हो।

म॰ : नोऽस्माकं मनः पूर्वोक्तं चित्तं पुनर्भूयः आ एतु आगच्छतु। किमर्थम्। क्रत्वे ऋतवे सङ्कल्पाय यज्ञं सङ्कल्पयितुं दक्षाय कर्मण्युत्साहाय। तथाच श्रुतिः 'तदेव मनसा कामयत इदं मे स्यादिदं कुर्वीयेति स एव ऋतुरथ यदस्मै तत्समृध्यते स दक्षः' इति। ज्योगिति निपातश्चिरवचनः। ज्योग्जीवसे चिरं जीवितुम्। सूर्यं दृशे च चिरकालं सूर्यमवलोकयितुं च। एतेषां सङ्कल्पादीनां सिद्धये मनः पुनरागच्छतु। क्रत्वे। गुणाभावाद्यणादेशः। जीवसे तुमर्थे असेप्रत्ययः। दृशे। 'दृशे विख्ये च' (पा॰ 3/4/11) इति साधुः ।।54।।

पञ्चपञ्चाशी

पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः। जीवं व्रातंꣳ सचेमहि ।।५५।।

अन्वय : (हे) पितरः दैव्यो जनः नः मनः पुनः ददातु। जीवं व्रातं सचेमहि। (सेवेमहि)

व्याख्या : हे पितरों! दिव्यगुणगणसम्पन्न आचार्य आदि महनीय पुरुष हमारे मन को पुनः शुभकर्मों को करने के लिए प्रेरित करें। ऐसा होने पर आपकी कृपा से सुन्दर जीवनयुक्त पुत्रपशवादिआत्मीय जनों की सेवा करूँ।

म॰ : हे पितरः, भवदनुज्ञया दैव्योजनो देवसंबन्धी पुरुषः नोऽस्मभ्यं मनः पूर्वोक्तं चित्तं पुनर्भूया ददातु प्रयच्छतु। प्रेरयत्वित्यर्थः। तथा सत्यनुष्ठानं

कृत्वा भवत्प्रसादाजीवं जीवनवन्तं व्रातं पुत्रपश्वादिकं गणं वयं सचेमहि सेवेमहि। सचतिः सेवनार्थः ।।55।।

षट्पञ्चाशी

वयꣳसोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः। प्रजावन्तः सचमेहि ।।५६।।

अन्वय : (हे) सोम! वयं यजमाना तव व्रते (कर्मणि) तनूषु मनः बिभ्रतः प्रजावन्तः सचेमहि।

व्याख्या : हे सोमदेव हम आपके उपासकजन आपके कर्म में संलग्न होकर जाग्रत, स्वप्न सषुप्ति, तीनोंदशाओं में मन लगाकर पुत्र पौत्रादि से सम्पन्न होकर सुखोपभोग करें।

म० : सोमदेवत्या गायत्री जपे विनियुक्ता। अत्र पितृयज्ञे सोमनामको देवोऽस्ति। सोमायपितृमते इत्येवं हविषो विहितत्वात्। हे सोम, वयं यजमानाः तव व्रते कर्मणि वर्तमानाः तनूषु भवच्छरीरेषु मनो बिभ्रतः अस्मदीयं चित्तं धारयन्त त्वत्कारुण्यात् प्रजावन्तः पुत्रपौत्रादिसंपन्नाः सन्तः सचेमहि सेवेमहि सेवितव्यानि वस्तूनीति शेषः। यद्वा 'षच संबन्धे' सर्वदा त्वत्संबद्धा भवेम ।।56।।

सप्तपञ्चाशी

एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राऽम्बिकया तं जुषस्व स्वाहैष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशुः ।।५७।।

अन्वय : (हे) रुद्र! एष ते भागः स्वस्रा अम्बिकया सह वर्तते तं जुषस्व स्वाहा। (हे) रुद्र एष ते भागः, ते पशुः आखुः (अस्ति)।

व्याख्या : हे रुद्र यह यज्ञभाग पुराडाश आपके लिए है। अपनी भगिनी या (आत्मानुसारिणी) अम्बिका के सहित इसे सेवन करें, यह आपको सन्तुष्ट करें। हे रुद्र यह आपका भाग है और आपका पशु चूहा है। इसके लिए भी यह हवि है। पौराणिक दृष्टि से रुद्र संहारक है। समर्थ होते हुए भी अपनी भगिनी अम्बिका (दुर्गा) से ही दैत्यों का संहार कराते है। इससे ज्ञात होता है कि दुर्गा सप्तशती का वैदिक बीज स्वरूप यह मंत्र है। भाष्य में शरत्काल का भी वर्णन है जो 'शरत्काले महापूजा'

का परिचायक है।

क—स्वं=आत्मानं सरति भजते इति स्वसा देहार्धभूता पृषोदरादित्वात् सुष्ठु वा आत्मना अस्यते प्राप्यते इति स्वसा। यद्वा—स्वसृत्वेक सहजत्वं लक्ष्यते तेन चाविनाभाव तेन चाविनाभावः—तै स भटट्भाष्कर 1-8-6-1

इस प्रकार स्वसाशब्द केवल भगिनी का ही वाचक नहीं है अपितु उमा पार्वती आदि का भी वाचक है। अतः भगवान शिव की दिव्य शक्ति दुर्गा ही स्वसाशब्द से कही गई है।

म॰ : द्वे रौद्रे यजुषी विंशत्यक्षरद्वादशाक्षरे। साकमेधगतत्र्यम्बकहविर्विषया मन्त्रा उच्यन्ते। प्रथमस्य यजुषोऽवदानहोमे विनियोगः। तथाच 'एष त इति जुहोतीति' (का॰ 5/10/12)। रोदयति विरोधिनां शतमिति रुद्रः। हे रुद्र, ते तव स्वस्रा भगिन्या अम्बिकया अम्बिकानाम्न्या सह एषो—स्माभिदीयमानः पुरोडाशः भागः भजनीयः स्वीकर्तृं योग्यः। तं तथाविधं पुरोडाशः भागः भजनीयः स्वीकर्तु योग्यः। तं तथाविधं पुरोडाशं त्वं जुषस्व सेवस्व। स्वाहा इदं हविर्दत्तं सुहुतमस्तु। अम्बिकाया रुद्रभगिनीत्वं श्रुत्योक्तम्। 'अम्बिका ह वै नामाख्यस्वसा तयास्यैष सह भागः' (2/6/2/9) इति। योऽयं रुद्राख्यः क्रूरो देवस्तस्य विरोधिनं हन्तुमिच्छा भवति तदानया भगिन्या क्रूरदेवतया साधनभूतया तं हिनस्ति। सा चाम्बिका शरद्रूपं प्राप्य जरादिकमुत्पाद्य तं विरोधिनं हन्ति। रुद्राम्बिकयोरुग्रत्वमनेन हविषा शान्तं भवति। तथाच तित्तिरिः। 'एष ते रुद्र भागः सह सह स्वस्राम्बिकयेत्याह शरद्वा आम्बिका सा भिया एषा हिनस्ति यꣳ हिनस्ति तयैवैनꣳ सह शमयति'। 'अतिरिक्तमाखूत्कर उपकिरत्येष त इतीति' (का॰ 5/10/13) इति। यजमानस्य यावन्तः पुत्रभृत्यादयः पुरुषाः सन्ति तान् गणयित्वा प्रतिपुरुषमेकैकः पुरोडाश इत्येतावतः पुरोडाशान्निप्य ततोऽप्यधिकमेकं पुरोडाशं निर्वपेत् सोऽयमतिरिक्त उच्यते। 'त्रैयम्बकान्निर्वपति रौद्रानेककपालान्यावन्तो यजमानगृह्या एकाधिकान्' (5/10/1/2) इति कात्यायनोक्तेः। तत्र योऽयमतिरिक्तस्तं न जुहुयात् किंतु मूषकोत्खाते एष त इति मन्त्रोणोपकिरेत्। अथ मन्त्रार्थः। हे रुद्र, एषोऽस्माभिरुपकीर्यमाणोऽतिरिक्तः पुरोडाशः ते भागः त्वया भजनीयः। तथा ते तवाखुः पशुः मूषकः पशुत्वेन समर्पितः। आखुदानेन तुष्टो रुद्रस्तयाम्बिकया यजमानपशून्न मारयतीत्यर्थः ।।57।।

अष्टपञ्चाशी

अवं रुद्रमंदीमह्यवं देवन्त्र्यम्बकम्। यथां नो वस्यंसस्करद्यथां नः श्रेयंसस्करद्यथां नो व्यवसाययांत् ।।५८।।

अन्वय : (वयं) रुद्रम् (त्र्यम्बकं) देवम् अव (ज्ञात्वा) अदीमहि अन्नं भक्षयेम। यथा नः वस्यसस्करद् यथा नः श्रेयसस्करद् यथा नः व्यवसाययात्।

व्याख्या : पापियों को रुलाने वाले त्रिनेत्रधारी दिव्यगुणगण सम्पन्नभगवानशिव के स्वरूप को जानकर (हम) उनके लिए यज्ञ-भाग प्रदान करते है अथवा उनको समर्पण करके हम अन्न का भक्षण करते हैं। जिनकी कृपा से हमारा निवास स्थान उत्तम हो, हमें कल्याण प्राप्त हो और हमारे कार्यों में सफलता प्राप्त हो।

म० : द्वे रौद्रयौ पङ्क्तिककुभौ। यस्या द्वितीयः पादः द्वादशाक्षरः प्रथमतृतीयावष्टाक्षरौ सा ककुप्। द्वयोर्जपे विनियोगः। तथा 'आगम्याव रुद्रमदीमहीति जपतीति' (का० 5/10/14) रुद्रमव। असौ रुद्र इति मनसा तमवगत्यादीमहि त्वदनुग्रहादन्नं भक्षयेम। तथा त्रयम्बकं त्रीण्यम्बकानि नेत्राणि यस्य तादृशं देवमव त्रिनेत्रोऽयं देव इति मनसावगत्यादीपमतीत्यनुवर्तते। यद्वा अदीमहीत्यत्र णिचो लोपश्छान्दसः। अवयुत्यान्यवेवताभ्यः पृथक्कृत्य रुद्रमदीमहि आदयामो भोजयामः। अवगम्य ज्ञात्वा त्र्यम्बकमादयाम इति। यथा येन प्रकारेण नोऽस्मान्वस्यसः करत् वस्तृतरान् वसनशीलानसौ कुर्यात्। यथाच नोऽस्मान् श्रेयसः करत् ज्ञातिषु प्रशस्यतरान् कुर्यात्। यथा चास्मान् व्यवसाययात् सर्वेषु कार्येषु निश्चययुक्तान् कुर्यात्तथैनं जपाम इत्यर्थः। आशीरियम्। अदीमहि 'छन्दस्युभयथा' इत्यार्धधातुकत्वाल्लिङि णिचो लोपः (पा० 3/4/117)। वस्यसः वसतीति वस्ता तृन् अतिशयेन वस्ता वसीयान्। 'तुश्छन्दसि' (पा० 5/3/59) इति ईयसुनि कृति 'तुरिष्ठेमेयःसु' (पा० 6/4/154) इति लङ्। विकरणव्यत्ययेन शपि गुणः। 'बहुलं छन्दस्यमाड-योगेऽपि' (पा० 6/4/75) इत्यडभावः। व्यवसाययात् लेटि आडगमे 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० 3/4/97) इति इलोपे रूपं विपूर्वस्य ण्यन्तस्य स्यतेः ।।58।।

एकोनषष्टी

भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम्। सुखं मेषाय मेष्यै ॥५९॥

अन्वय : (हे रुद्र) त्वं भेषजमसि, गवे अश्वाय पुरुषाय भेषजं मेषाय मेष्यै सुखं भवसि।

व्याख्या : हे रुद्र आप समस्त प्राणियों के लिए भेषज रुप है। अर्थात् संसारामय के लिए आप दिव्य औषध है। अतः हमारे गौ, अश्व तथा कुटुम्बीजनों के हितार्थ सर्वव्याधि-निवारक औषधि प्रदान करें। तथा हमारे मेंष और मेषी को भी सुख प्रदान करें। (इस मन्त्र के पाठ से गृहपशुओं को क्षेम की प्राप्ति होती है।

"संसारामय भेषजंसुखकरम्"

म॰ : हे रुद्र, त्वं भेषजमसि औषधवत्सर्वोपद्रवनिवारकोऽसि। अतोऽस्मदीयेभ्यो गवे अश्वाय पुरुषाय च भैषज्यं सर्वव्याधिनिवारकमौषधं देहि। मेषाय मेष्यै च सुखं देहि। सु हितं खेभ्यः प्राणेभ्य इति सुखम्। अनेन मन्त्रेण गृहपशूनां क्षेमप्राप्तिर्भवति ॥59॥

षष्टी

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्। त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धि पतिवेदनम्। उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः ॥६०॥

अन्वय : सुगन्धिं पुष्टिवर्धनं त्र्यम्बकं वयं यजामहे। बन्धनात् उर्वारुकम् इव मृत्योः मुक्षीय मा अमृतात। सुगन्धिं पतिवेदनं त्र्यम्बकं यजामहे। बन्धनात् उर्वारुकम् इव इतः मुक्षीय अमुतः मा।

व्याख्या : अपने गुण एवं कीर्ति की गन्ध से त्रिलोक को सुवासित करने वाले धनधान्यादि की समृद्धि करने वाले नेत्रत्रय (सूर्य शशाङ्क वह्नि) सम्पन्न श्री शंकर (रुद्र) की अर्चना करता हूँ। जिस प्रकार पका हुआ कर्कटी फल (तरबुजा) लताआदि के बन्धन से स्वयं मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार रुद्रदेव हमें मृत्यु के बन्धन से मुक्त करें। परन्तु मैं अभ्युदय एवं निःश्रेयस, रुप फल से कभी मुक्त न होऊँ। (यजमान की कुमारिका कहती है] दिव्यगंधोपेत (दिव्य यश सौरभसम्पन्न)

एवं सुन्दर पति को प्राप्त कराने वाले भगवान् शिव का यजन करती हूँ। जैसे शाखा आदि के बन्धन से खरबूजे को सरलता से पृथक किया जाता है वैसे ही रुद्रदेव मुझे यहाँ पितृकूल (पिता के घर) से मुक्त कराये परन्तु उस श्वसुर कुल (पति घर) से नहीं। अर्थात् हम मातृपितृ भ्रातृवर्ग से यथा समय अवश्य मुक्त हो जाऊँ पर विवाहान्तरं होने वाले पति से हम वियुक्त न हों।

व्याहतियों के साथ यह प्रसिद्ध महामृत्युञ्जयमन्त्र सभी अनिष्टों को दूर करता है। इसके जप से सुन्दरपति की प्राप्ति होती है।

म॰ : द्वे अनुष्टुभौ 'अग्नि त्रिः परियन्ति पितृवत्सव्योरूनाघ्नाना-स्त्र्यम्बकमिति देववच्चैतेनैव दक्षिणानाघ्नानाः' (का॰ 5/10/15/16) इति। यथा पितृमेधे पुत्रादयः पुरुषाः स्वकीयान् वनोरूंस्ताडयन्तस्त्रिवारमद्रदक्षिणं परियन्तिः। यथा च देवतासेवायां दक्षिणोरूंस्ताडयन्तस्त्रिः प्रदक्षिणं परियन्ति। एवमत्र पुरुषाः प्रथमेनैव त्र्यम्बकमन्त्रेणाग्निमप्रदक्षिणत्रयेण प्रदक्षिणत्रयेण च परियन्तीति सूत्रार्थः ।। मन्त्रार्थस्तु। सुगन्धिं दिव्यगन्धोपेतं मर्त्यधर्महीनं पुष्टिवर्धनं धनधान्यादिपुष्टेर्वर्धयितारं त्र्यम्बकं नेत्रत्रयोपेतं रुद्रं यजामहे पूजयामः। ततो रुद्रप्रसादान्मृत्योर्मुक्षीय अपमृत्योः संसारमृत्योश्च मुक्तो भूयासम्। अमृतान्मा मुक्षीय स्वर्गरूपान्मुक्तिरूपाच्चमृतान्मा मुक्षीय मुक्तो मा भूयासम्। एकवचनं बह्वर्थे। मुक्ता मा भूयास्मेत्यर्थः। अभ्युदयनिःश्रेयसरूपा-त्फलद्वयान्मम भ्रंषो मा भूदित्यर्थः। मृत्योर्मोचने दृष्टान्तः—उर्वारुकमिव बन्धनादिति। यथोर्वारुकं कर्कन्ध्वादेः फलमत्यन्तपक्कं सत् बन्धनात् स्वस्य वृन्तात् प्रमुच्यते तद्वत् ।। 'कुमार्यश्चोत्तेरेणेति' (का॰ 5/10/17)। यजमानसंबन्धिन्यः कुमार्योऽपि पूर्वोक्तपुरुषवदुत्तरेण त्र्यम्बकमन्त्रेणाग्निं त्रिः परियन्ति। त्र्यम्बकं यजामहे। कीदृशम्। पतिवेदनं पति वेदयतीति तं भर्तुर्लम्भयितारं 'विद्लृ लाभे'। अन्यत्पूर्ववत्। इतो मुक्षीय इतो मातृपितृभ्रातृवर्गान्मुक्षीय युक्ता भूयासममुतो मा मुक्षीय विवाहादूर्ध्वं भविष्यतः पत्युर्मुक्ता मा भूयासम्। जनकस्य गोत्रं गृहं च परित्यज्य पत्युर्गोत्रे गृहे च सर्वदा त्र्यम्बकप्रसादाद्वसामीत्यर्थः। 'सा यदि त इत्याह ज्ञातिभ्यस्तदाह मामुत इति पतिभ्यस्तदाहेति' (2/6/2/14) इति श्रुतेरितोऽमुतःशब्दाभ्यां पितृपतिवर्गौ ग्राह्यौ ।।60।।

एकषष्टी

एतत्तें रुद्राऽवसन्तेनं पुरो मूजंवतोऽतींहि। अवंततधन्वा पिनांकावसः कृत्तिंवासाऽअहिंꣳसन्नः शिवोऽतींहि ।।६१।।

अन्वय : (हे) रुद्र! एतत् ते अवसम् (भोज्यं) तेन अवततध न्वा पिनाकावसः मूजवतः पर अतीहि। कृतिवासाः न अहिंसन् शिवः अतीहि।

व्याख्या : हे रुद्रदेव यह आपका पाथेय है। (मार्ग में किया जाने वाला भोजन) इसके साथ आप उतरी हुई डोरी युक्त धनुषवाले अर्थात् विश्रान्तिमुद्रा में होकर पिनाक (धनुष) को वस्त्र से वेष्टित (ढककर) करते हुए मूज्जवान्पर्वत पर चले जाइये। (हे रुद्रदेव) (गज) चर्माम्बर धारण करने वाले, हमारी इच्छापूर्ण करते हुए पूजादि से सन्तुष्ट होकर पर्वत का अतिक्रमण करके अपने निवास स्थान को जाइए।

म॰ : रौद्यास्तारपङ्क्तिः। यस्या अन्त्यौ द्वादशाक्षरावाद्यावष्टाक्षरौ पादौ सास्तारपङ्क्तिः। 'मूतयोः कृत्वा वेणुयष्ट्यां वा कूपे वासज्योभयतः स्थाणुवृक्षवꣳशवल्मीकानामन्यतमिस्मन्नुत्क्षेपणवदासजत्येतत्त दतीति' (का॰ 5/10/21)। ब्रीहियवादीन् बद्ध्वा वहनार्थ तृणवंशादिनिर्मितः पात्रविशेषो मूतमित्युच्यते। तयोरुभयोर्मूतयोस्त्र्यम्बकान् हविःशेषान् प्रक्षिप्य स्वकीयेनांसेन वोढुं शक्यायां वंशयष्टयामग्रद्वये तन्मूतद्वयमवासज्योन्नते स्थाणौ वृक्षे वंशे वल्मीके वा मूतद्वययुतां वंशयष्टिं संसृजति। ततो गोभिराघ्रातुमशक्यत्वाद्गावो रोगं न प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ।। अथ मन्त्रार्थः। मूजवान्नाम कश्चित्पर्वतो रुद्रस्य वासस्थानम्। अवसशब्देन देशान्तरं गच्छतो मार्गमध्ये तटाकादिसमीपे भोक्तव्य ओदनविशेष उच्यते। हे रुद्र, एतत्ते तव अवसं हविःशेषाख्यं भोज्यं तेन सहितस्त्वं मूजवतः पर्वतात्परः परभागवर्ती सन्नतीहि अतिक्रम्य गच्छे। कीदृशस्त्वम्। अवततधन्या अवरोतिपधनुष्कः। अस्मद्विरोधिनां त्वया निवारितत्वादित ऊर्ध्वं धनुषि ज्यासमारोपणस्य प्रयोजनाभावादवरोपणमेवादानीं युक्तम्। तथा पिनाकावसः पिनाकाख्यं त्वदीयं धनुरावस्ते सर्वत आच्छादयतीति पिनाकावसः। यथा धनुर्दृष्ट्वा प्राणिनो न बिभ्यति तथा त्वदीयं ध नुर्वस्त्रादिना प्रच्छाद्य गच्छेत्यर्थः। 'कृत्तिवासा इत्यनवेक्षमेत्योपस्पृशन्त्यपः' (का॰ 5/10/22-23)। इति। उन्नते वृक्षादौ मूतद्वयेऽवसज्य प्रत्यावर्तमाना

मूतद्वयस्यावेक्षणमकृत्वा वेदिसमीपे समागत्योदकं स्पृशेयुरिति सूत्रार्थः। मन्त्रार्थस्तु हे रुद्र, त्वं कृत्तिवासाः चर्माम्बरो नोऽस्मानहिंसन् हिंसामकुर्वन् शिवोऽस्मदीय-पूजया संतुष्टः कोपरहितो भूत्वा अतीहि पर्वतमतिक्रम्य गच्छ ।।61।।

द्विषष्टी

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्। यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ।।६२।।

अन्वय : (हे रुद्र) यच्च जमदग्नेः त्र्यायुषं, कश्यपस्य त्र्यायुषं देवेषु यत् त्र्यायुषं तत् त्रि आयुषं नः अस्तु।

व्याख्या : (हे रुद्रदेव) जमदग्नि ऋषि की बाल्य यौवन, तथा वृद्धावस्थारुप जो तीन निर्मल निर्दोष अवस्थाएँ है वे हमें प्राप्त हों इसी प्रकार कश्यपनामक मुनि की तथा इन्द्रादि देवों की जो बाल्ययौवन वृद्धावस्था का समाहार है वह सारा हमें (हमारे यजमान को भी) प्राप्त हो। अर्थात् जमदग्नि आदि ऋषियों के समान हम भी दीर्घजीवी हों। इनकी त्रिविध आयु हमें प्राप्त हो।

म० : आशीर्देवतोष्णिक्। यस्याश्चत्वारः पादाः सप्ताक्षराः सोष्णिक्। 'त्र्यायुषमिति यजमानो जपतीति' (का० 5/2/16)। सोऽयं जपो वपनकालीनः। जमदग्नेः मुनेर्यत्त्र्यायुषं त्रयाणां वाल्ययौवनस्थाविराणामायुषां समाहारस्त्र्यायुषं तथा कश्यपस्यैतन्नामकस्य प्रजापतेः संबन्धि यत्त्र्यायुषं तथा देवेषु इन्द्रादिषु यत्त्र्यायुषमस्ति तत्सर्व त्र्यायुषं नोऽस्माकं यजमानानामस्तु। जमदग्न्यादीनां वाल्यादिषु यादृशं चरितं तादृशं नो भूयादित्यर्थः ।।62।।

त्रिषष्टी

शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्तेऽअस्तु मा मा हिꣳसीः। निवर्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय ।।६३।।

अन्वय : (हे क्षुराघिष्ठातृदेव) त्वं शिवः नामासि। स्वधितिः ते पिता, ते नमः। मा मा (मां) हिंसी। (हे यजमान) आयुषे अन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजा-स्त्वाय सुवीर्याय निवर्तयामि (मुण्डयामि)।

व्याख्या : हे क्षुराघिष्ठातृदेव तुम्हारा नाम शान्त है अर्थात् तुम

कल्याण करने वाले हो। वज्र तुम्हारा पिता है, तुम्हें नमस्कार है। मेरी हिंसा (हानि) न करना। हे यजमान! दीर्घायुप्राप्ति के लिए अन्नादिभोज्य पदार्थों के लिए सन्तान एवं परिपुष्टधन की प्राप्ति के लिए, उत्तम प्रजननशक्ति और बलप्राप्ति के लिए तेरा मुण्डन संस्कार करता हूँ।

इस अध्याय में आधान, अग्निहोत्र, चातुर्मास्ययाग से सम्बद्ध मन्त्रों को कहा गया है। इस प्रकार यहाँ तृतीय अध्याय पूर्ण होता है।

म॰ : क्षुरदेवतं यजुः 'शिवो नामेति लोहक्षुरमादायेति' (का॰ 5/2/17)। हे क्षुर, त्वं नाम नाम्रा शिवः शान्तोऽपि। स्वधितिः वज्रं ते तव पिता। ते तुभ्यं नमोऽस्तु। मां मा हिंसीः। 'निवर्तयामीति वपतीति' (का॰ 5/2/17) यजमानदैवतं यजुः। निपूर्वो वृतिर्मुण्डनार्थः। हे यजमान, त्वां निवर्तयामि मुण्डयामि। किमर्थम्। आयुषे जीवनाय अन्नाद्यायान्नभक्षणाय प्रजननाय सन्तानाय रायो धनस्य पोषाय पुष्ट्यै सुप्रजास्त्वाय शोभनापत्यतायै सुवीर्याय शोभनसामर्थ्याय ॥63॥

इति तृतीयोऽध्यायः

अथ चतुर्थोऽध्यायः

[चतुर्थ अध्याय से लेकर अष्टम अध्याय के 32 कण्डिकाओं तक अग्निष्टोमयाग से सम्बद्ध मन्त्र कहे गये हैं। चतुर्थअध्याय में यजमान की शुद्धि (संस्कारपूर्वक) तथा प्रधान, रूप से सोमक्रयण के मन्त्रों का सन्निवेश किया गया है। प्रस्तुत प्रसंग में यजमान अरणि से प्रकट हुई अग्नि को लेकर यज्ञशाला में प्रवेश करता है और वहाँ उसका मुण्डनादि संस्कार (दीक्षा) सम्पन्न होता है। फिर गौ को साथ में लेकर सोमक्रयण के लिए जाता है।]

तत्र प्रथमा

एदमंगन्म देवयजंनं पृथिव्या यत्रं देवासोऽअजुंषन्त विश्वें। ऋक्सामाभ्यांꣳ संतरंन्तो यजुंर्भी रायस्पोषेंण समिषा मंदेम। इमा आपः शमुं मे सन्तु देवीरोषंधे त्रायंस्व स्वधिंते मैनंꣳ हिꣳसीः ॥१॥

अन्वय : वयम् इदं पृथिव्या देवयजनम् आ अगन्म (आगताः स्मः), यत्र विश्वेदेवासः अजुषन्त। ऋक्सामाभ्यां यजुर्भिः सन्तरन्तः

रायपोषेण इषा संमदेम। इमा देवीः आपः मे शमुसन्तु। ओषधे त्रायस्व। हे स्वधिते मा एनं हिंसीः।

व्याख्या : हम पृथिवी के देवयजन (यज्ञशाला) स्थान में आ गये हैं जहाँ पर सम्पूर्ण देवता अत्यन्त प्रेमपूर्वक विराजमान है। हम ऋग्वेद सामवेद यजुर्वेद के मन्त्रों द्वारा समुद्रवत्गंभीर सोमयाग को सम्पन्न करते हुए धन की पुष्टि और अन्न समृद्धि को प्राप्त करें। हे निर्मल दिव्यजल आप मेरे लिए कल्याणकारी हों। हे कुशरुप ओषधे तुम यजमान की रक्षा करो। हे क्षुर! यजमान के क्षौरकर्म के समय किसी प्रकार की इसकी हानि न हो। यहाँ यजमान की अप्सुदीक्षा (क्षौरकर्म) प्रारम्भ होती है।

म० : आधानाग्निहोत्राग्न्युपस्थानचातुर्मास्यमन्त्रास्तृतीयाध्याये प्रोक्ताः। चतुर्थाध्यायमारभ्याष्टमस्य द्वात्रिंशत्कण्डिकापर्यन्तमग्निष्टोममन्त्रा उच्यन्ते। तेषां प्रजापतिर्ऋषिः। तत्र चतुर्थे यजमानसंस्कारपूर्वकं सोमक्रयमन्त्राः प्राधान्येनोच्यन्ते। तत्रादौ। यजमानः षोडशर्त्विजो वृत्वारण्योरग्नी समारोप्य शालां गच्छेत्। तथा च 'समारोह्याग्नी। शालास्तम्भं पूर्वार्धं गृहीत्वारणिपाणिराहेद-मगन्मेति' (का० 7/1/36)। द्वे अत्यष्ट त्र्यवसाने। तयोः कण्डिकयोः सप्त मन्त्राः। आद्यावर्धर्चौ देवयजनदेवत्यौ ।। आ इदम् अगन्मेति पदानि। 'व्यवहिताश्च' (पा० 1/4/82) इति उपसर्गक्रियापदयोर्व्यवधानम्। इदमिति हस्तेन प्रदर्श्यते। वयमिदं पृथिव्याः संबन्धि देवयजनं देवा इज्यन्ते यस्मिस्तद्देवयजनं स्थानम् आ अगन्म आगताः स्मः। गच्छतेर्लङ्युत्तमबहुवचने व्यत्ययेन शपो लुकि 'मो नो धातोः' (पा० 8/2/64) इति मस्य नः अडागमश्च। इदं किम्। यत्र देवयजने विश्वेदेवासः सर्वे देवाः। अजुषन्ताप्रीयन्त। प्रीत्या स्थिता इत्यर्थः। किंच। वयं रायो धनस्य पोषेण पुष्ट्या इषा इष्यमाणेनान्नेन च संमदेम। 'मदी हर्षे' व्यत्ययेन शप्। हृष्टा भवेम धनैरन्नैश्च तृप्येम। किं कुर्वन्तः। ऋक्सामाभ्याम् ऋक् च साम च ऋक्सामे 'अचतुर-' (पा० 5/4/77) इति सूत्रेणाजन्तो निपातः। ताभ्यां यजुर्भिश्च वेदत्रयगतमन्त्रैः संतरन्तः। समुद्रवद्गम्भीरं सोमयागं समापयन्त इत्यर्थः। 'दक्षिणं गोदानं वितार्योनत्तीमा आपः' (का० 7/2/9) इति। इमा आपः। आपो देवताः। इमा आपः शिरःक्लेदाय सिच्यमाना एता आपो मे मम यजमानस्य शमु। उ एवार्थे। शं सुखार्थमव्ययम्। शं सुखकारिण्य एव

सन्तु भवन्तु। किंभूता आपः। देवीः देव्यः दीव्यन्ति ताः देव्यः द्योतनाः। निर्मला इत्यर्थः। 'यूपवत् कुशतरुणं क्षुरेण चाभिनिधाय छित्त्वेति' (का० 7/2/10-11)। यथा पशवर्थयूपस्य छेदे मन्त्रः एवमत्रापि तृणान्तर्धानं क्षुरस्थापनं च मन्त्रद्वयेन कर्तव्यमिति सूत्रार्थः। ओषधे। कुशतरुणं देवता। हे ओषधे कुशतरुण, त्वं यजमानं त्रायस्व क्षुराद्रक्ष। स्वधिते। क्षुरो देवता। हे स्वधिते, क्षुर, एनं यजमानं मा हिंसीः ॥1॥

द्वितीया

आपोऽअस्मान्मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु। विश्वꣳ हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूतऽएमि। दीक्षातप-सोस्तनूरसि तान्त्वां शिवाꣳशग्मां परिदधे भद्रंवर्णं पुष्यन् ॥२॥

अन्वय : मातरः आपः अस्मान् शुन्धयन्तु। घृतप्वः नः घृतेन पुनन्तु। देवीः हि रिप्रं प्रवहन्ति शुचिः आपूतः आभ्य उद् इद् एमि। हे क्षोमवस्त्र! त्वं दीक्षातपसोः तनूः असि। तां शिवां शग्मां त्वा परि दधे भद्रं वर्णं पुष्यन्।

व्याख्या : माता के समान हितकारी जल हमें पवित्र करें। अपने तेजोमयअंश से पवित्र करने वाले जल देवता हमें अपने पुष्टिकारक प्रभाव से पवित्र करें। ये दिव्य जल निश्चय ही पाप एवं शारीरिक मल को दूर बहा देते हैं। आचमन के द्वारा बाह्याभ्यन्तर से विशुद्ध पवित्र होकर मैं इनसे (नदियों सरोवर) आदि से निकलकर बाहर आता हूँ। हे क्षौमवस्त्र! तू दीक्षणीया और उपसदइष्टि नामक दोनों प्रकार के यज्ञों के शरीर के समान प्रिय हो इसके तथा सुखप्रदाता हो साथ ही कान्ति की वृद्धि करते हो। अतः तुमको धारण करता हूँ। तुम्हें धारणकर मंगलकृत्य का सम्पादन करने जा रहा हूँ।

म० : 'आपो अस्मानिति स्नात्वेति' (का० 7/2/15)। मातरः मिमते ता मातरो जगन्निर्मात्र्यो मातृवत्पालयित्र्यो वा आपः अस्मान् कृतक्षौरान् यजमानान् शुन्धयन्तु 'शुन्ध शुद्धौ' शोधयन्तु। क्षौरकर्मनिमित्तामपहतिं निवारयन्त्वित्यर्थः। किंच घृतप्वः 'घृ क्षरणे' जिघर्ति क्षरतीति घृतं तेन क्षरितजलेन पुनन्तीति घृतप्वः जलदेवतास्ताश्च घृतेन क्षरितजलेन नोऽस्मान् पुनन्तु शुद्धान् कुर्वन्तु। किंच देवीः द्योतमाना आपो विश्वं हि। हि एवार्थः।

सर्वमेव रिप्रं पापं प्रवहन्ति प्रकर्षेणापनयन्तु। 'रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः' (निरु॰ 4/21) इति यास्कः। 'उदिदाभ्य इत्युत्क्रामत्युत्तरपूर्वार्धमिति' (का॰ 7/2/15)। अहमाभ्योऽद्भ्यः उदेमि इत्। इत् एवार्थे। उद्गच्छाम्येव। जलान्निर्गच्छामीत्यर्थः। किंभूतोऽहम्। शुचिः शुद्धः स्नानेन। तथा आपूतः समन्ताखावेनान्तरविशुद्ध आचमनेन। शुचिरापूत इति शब्दाभ्यां स्नानाचमनाभ्यां बहिरन्तश्च शुद्धिरुक्ता ।। 'क्षौमं वस्ते निष्पेष्टवै ब्रूयादहतं चेदखिरभ्युक्ष्य स्नातवस्यं(!)वाऽमौत्रधौतं चिचितकेशं प्रसारितदशं दीक्षातपसोरिति' (का॰ 7/2/16-19) ।। दीक्षातपसोः वासे। देवता। हे क्षौमवस्त्र, त्वं दीक्षातपसोस्तनूरसि। दीक्षा दीक्षणीयेष्टिः। तप उपसदिष्टिः। दीक्षाभिमानिदेवतायास्तपोभिमानिदेवतायाश्च त्वं शरीरवत्प्रियमसि। तां दीक्षातपसोस्तनूं तद्देवताद्वयशरीरभूतां त्वामहं परिदधे धारयामि। किंभूतां त्वाम्। शिवां शग्मां द्वयोरपि शब्दयोः। भद्रंवर्ण पुष्यन् त्वत्परिधानेन कल्याणीं कान्तिं पुष्यन् ।।2।।

तृतीया

म॒ही॒नां पयो॑ऽसि वर्चो॒दाऽअ॑सि॒ वर्चो॑ मे देहि। वृ॒त्रस्या॑सि क॒नीन॑कश्चक्षु॒र्दाऽअ॑सि॒ चक्षु॑र्मे देहि ।।३।।

अन्वय : [हे नवनीत] त्वं महीनां पयः असि, वर्चोदाअसि मे वर्चो देहि। हे अञ्जन! वृत्रस्य कनीनकोऽसि चक्षुर्दाः असि मे चक्षु र्देहि।

यहाँ यजमान की नवनीत दीक्षा प्रारम्भ होती है।

व्याख्या : हे नवनीत (मक्खन) तुम गौवों के दुग्ध रुप हो (मक्खन का मूलरुप दूध ही होता है] तुम तेज प्रदान करनेवाले हो मुझे तेज प्रदान करो। हे अञ्जन! तुम वृत्रासुर के नेत्र के मध्य का कृष्णमण्डल हो [अर्थात् इन्द्रदेव ने जब वृत्र को मारा तब उसकी कनीनिका गिरकर अंजन बन गई। तै. 3-1-2-12] अतः कनीनिकारुप होने से दृष्टि प्रदान करने वाले हो। अतः मुझे रोगरहितदृष्टिपाटव प्रदान करो। यही अञ्जन दीक्षा है।

म॰ : 'शालां पूर्वेण तिष्ठन्नभ्यङ्क्ते कुशेषु नवनीतेन शीर्ष्णोऽध्यनुलोम संपादको महीनां पयोऽसीति' (का॰ 7/2/33)। प्राचीनशालापूर्वभागेषु कुशेषु स्थित्वा नवनीतं गृहीत्वा शिरस आरभ्य पादान्तं शरीराभ्यङ्गं कुर्यादिति सूत्रार्थः। महीनां पयः। नवनीतमुच्यते। हे नवनीत, त्वं महीनां

गवां पयोऽसि। महीति गोनामसु पठितम् (निघ० 2/11/5)। नवनीतस्य क्षीरजन्यत्वात्पयस्त्वोपचारः। वर्चोदा असि। वर्चो ददातीति वर्चोदाः। अतिस्निग्धत्वेन कान्तिप्रदमसि। पुंस्त्वमार्षम्। अतो मे मह्यं यजमानाय वर्चो देहि कान्तिं प्रयच्छ ॥ 'वृत्रस्येत्यक्षावनशक्ति त्रैककुदाञ्जनेनाभावेऽन्यदिति' (का० 7/2/34)। त्रिककुत्पर्वतादुत्पन्नञ्जनं लभ्यते चेतेनाक्षिद्वयमञ्ज्यात्तद-भावेऽन्यदप्यञ्जनं ग्राह्यमिति सूत्रार्थः। वृत्रस्य। अञ्जनं देवता। हे अञ्जन, त्वं वृत्रस्यासुरस्य कनीनकोऽसि नेत्रमध्यगतकृष्णमण्डलरूपोऽसि। 'यत्र स वा इन्द्रो वृत्रमहंस्तस्य यदक्ष्यासीत्' (3/1/2/12) इत्यादिश्रुतिः। तथाच तित्तिरिः 'इन्द्रो वृत्रमहन् तस्य कनीनिका परापतत्तदेवाञ्जनमभवत्' इति। चक्षुर्दा असि कनीनिकारूपत्वात्त्वं दृष्टिप्रदोऽसि। अतो मे मह्यं चक्षुर्देहि सम्यग्दृष्टिपाटवं प्रयच्छ ॥3॥

चतुर्थी

चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु देवो मां सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। तस्य ते पवित्रपते पवित्रपूतस्य यत्कामः पुने तच्छकेयम् ॥४॥

अन्वय : चित्पतिः (मनोभिमानी देवता) अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः मां पुनातु। वाक्पतिः मां पुनातु सवितादेवोभां पुनातु। हे पवित्रपते! तस्य पवित्रपूतस्य यत्कामः पुने (आत्मानं शोधयामि) तत् शकेयम्।

व्याख्या : ज्ञान के पति (मनोऽभिमानी देव) दोषरहित (छिद्ररहित) पवित्र के द्वारा सूर्य की रश्मियों से मुझे पवित्र करें। वाणी के अधिपति बृहस्पति, मुझे पवित्र करें। सवितादेवता मुझे पवित्र करें। हे पवित्रात्माओं के रक्षक प्रभु उस विशुद्ध निर्मल आपके अनुग्रह से सोमयागादि शुभकर्म को करने की कामनावाला मैं उसे पूर्ण करने में समर्थ हो सकूँ। आपके द्वारा हमारा अभीष्ट सिद्ध हो।

म० : 'कुशपवित्रैः चित्पतिर्मेति पावयति सप्तभिः सप्तभिः प्रतिमन्त्रमच्छिद्रेणेति सर्वत्रेति' (का० 7/3/1)। अच्छिद्रेणेति शेषस्त्रिष्वपि मन्त्रेष्वनुषज्यते। चित्पतिर्मा। चितां ज्ञानानां पतिश्चित्पतिर्मनोभिमानी देवो मा मां यजमानं पुनातु शोधयतु। 'मनो वै चित्पत्तिः' इति तित्तिरिवाक्यात्।

यद्वा चित्पतिः प्रजापतिः। 'प्रजापतिर्वै चित्पतिः (3/1/2/22) इति श्रुतेः। किंचाच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः किरणैः। वायुरच्छिद्रं पवित्रं शुद्धिहेतुत्वात् छिद्ररहितत्वाच्च। यद्वादित्यमण्डलमच्छिद्रं पवित्रम्, पवित्रान् शुद्धान् पातीति पवित्रपतिस्तत्संबुद्धौ हे पवित्रपते शुद्धपालक, ते पवित्रपूतस्य तव पवित्रेण पूर्वोक्तेन शुद्धस्य तस्य यजमानास्याभीष्टं भूयादिति शेषः। तदेव स्पष्टयति। यत्कामोऽहं पुने तत् शकेयम्। यः कामो यस्य यत्कामः। यद्वा यस्मिन् कामो यस्य स यत्कामः। यद्वा यस्मिन् कामो यस्य स यत्कामः सोमयागानुष्ठाने कामवानहं पुने आत्मानं शोधयामि तत्सोमयागानुष्ठाने शक्तो भूयासम्। यज्ञानुष्ठानसामर्थ्यं मेऽस्त्वित्यर्थः। वाक्पतिः वाचां पतिर्वृहस्पतिर्मा मां पुनातु। सविता देवोऽन्तर्यामी मा मां पुनातु। एतन्मन्त्रद्वयं पूर्ववद्योज्यम् ।।4।।

पञ्चमी

आ वो॑ देवासऽईमहे वा॒मं प्र॑य॒त्य॒ध्व॒रे। आ वो॑ देवास आ॒शिषो॑ य॒ज्ञियां॑सो हवामहे ।।५।।

अन्वय : (हे) देवासः प्रयति (प्रवर्तमाने) अध्वरे वः वामम् ईमहे, (याचामहे)। देवासः वः यज्ञियासः आशिषः आहवामहे (आह्वयामः।)

व्याख्या : हे देवों, इस अनुष्ठीयमान हिंसारहित यज्ञ में आप से अभीष्ट यज्ञफल को माँगते हैं। हे देवताओं हम आपके यज्ञीयआशीर्वाद को प्राप्त करने के लिए आपको बुलाते है अर्थात् आशीर्वाद देने हेतु आपके आने की कामना करते हैं।

म॰ : 'आ वो देवास इति वाचयतीति' (का॰ 7/3/6)। अध्वर्युर्यजमानं वाचयति। दैवी अनुष्टुप् आशीः। हे देवासः देवाः, वयं वो युष्मान् वामं वननीयं यज्ञफलम् आ ईमहे साकल्येन याचामहे। वन्यते भज्यत इति वामम्। वन संभक्तौ'। मप्रत्ययः। ईमहे याचतिकर्मसु पठितो द्विकर्मकः (निघ॰ 3/19/1)। क्व सति। अध्वरे अस्मदीये यज्ञे प्रयति प्रवर्तमाने सति। प्रैतीति प्रयन् तस्मिन्। प्रपूर्वादिणः शतरि रूपम्। किंच हे देवासो देवाः, वो युष्मान् वयं हवामहे आह्वयामः। किं कर्तुम् यज्ञियासः यज्ञस्येमा यज्ञिया यज्ञसंबन्धिनीराशिषः फलानि आ आनेतुं समानेतुमित्यर्थः। उपसर्गेण धातुरध्याहर्तव्यः। यज्ञफलाप्राप्तुं युष्मान् आह्वयाम इत्यर्थः ।।5।।

षष्ठी

स्वाहा॑ य॒ज्ञं मन॑सः॒ स्वाहो॒रोर॒न्तरि॑क्षा॒त्स्वाहा॒ द्यावा॑पृथि॒वीभ्या॒ᳫ्ँ स्वाहा॒ वाता॒दार॑भे॒ स्वाहा॑ ।।६।।

अन्वय : मनसः यज्ञम् आरभे स्वाहा। उरोः अन्तरिक्षात् [यज्ञम् आरभे] स्वाहा। द्यावापृथिवीभ्यां (यज्ञम् आरभे स्वाहा।) वातात् [यज्ञम्] आरभे स्वाहा।

यहाँ मुष्टिबन्धन दीक्षा विधि प्रस्तुत है।

व्याख्या : मैं शुद्ध मन से यज्ञीय यात्रा का आरम्भ करता हूँ। [यहाँ मनसः पञ्चमी विभक्ति तृतीया के अर्थ में है।] यह देवों को तृप्त करें। विशालअन्तरिक्ष में यज्ञ आश्रित है। यह देवों को तृप्त करें। वायुदेवता की कृपा से याग करता हूँ। यह देवों को तृप्त करें। यहा यज्ञ तीनों लोको में व्याप्त है आधिदैविक आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से। अतः मनुष्यों के दैहिक दैविक एवं भौतिक तीनों तापों को दूर करता है।

म० : 'स्वाहा यज्ञमित्यङ्गुलीर्न्यचते। नानाहस्तयोरेवं शेषं प्रतिमन्त्रं मुष्टीकृत्वा स्वाहेत्युक्त्वा वाग्यतोऽङ्गुष्ठौ तत्सहिते चोत्सृजतीति' (का० 7/3/7-10)। आद्यमन्त्रेण हस्तद्वयकनिष्ठिकाद्वयं सङ्कोचयति एवमन्यत्रयेणान्याः। स्वाहा वातादारभ इत्युत्तमेन मुष्टिद्वयं कुर्यादिति सूत्रार्थः ।। स्वाहा यज्ञम्। चतुर्णां यजुषां यज्ञो देवता। स्वाहाशब्दस्य निपातत्वेनानेकार्थत्वादुचिता अर्था ब्राह्मणानुसारेण ग्राह्याः। तथाहि। स्वाहा यज्ञं मनसः। मनस इति पञ्चमी तृतीयार्थे। मनसा यज्ञं स्वाहा चित्तेन यज्ञमभिगच्छामि। अत्र स्वाहाशब्दोऽभिगमनार्थः। स्वाहोरोरन्तरिक्षात्। पञ्चमी सप्तम्यर्थे। उरौ विस्तीर्णेऽन्तरिक्षे स्वाहा यज्ञ आश्रितः। स्वाहाशब्दो यज्ञार्थोऽतः प्रभृति। स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याम्। द्यावापृथिव्योः स्वाहा यज्ञं श्रितः। लोकत्रयव्यापी यज्ञ इत्यर्थः। स्वाहा वातादारभे। वाताद्वायुप्रसादात् स्वाहा यज्ञमारभे प्रवर्तयामि। वायोः सर्वकर्मप्रवर्तकत्वात्। स्वाहा यज्ञ एवं सिद्ध इति शेषः ।।6।।

सप्तमी

आकू॑त्यै प्र॒युजे॒ऽग्नये॒ स्वाहा॑ मे॒धायै॒ मन॑से॒ऽग्नये॒ स्वाहा॑ दी॒क्षायै॒

तपसेऽग्नये स्वाहा सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा। आपोदेवीर्बृहती-र्विश्वशंभुवो द्यावापृथिवीऽउरोऽअन्तरिक्ष। बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा ।।७।।

अन्वय : आकूत्यै प्रयुजे अग्नये स्वाहा, मेधायै मनसे अग्नये स्वाहा, दीक्षायै तपसे अग्नये स्वाहा। सरस्वत्ये पूष्णे अग्नये स्वाहा। हे देवी बृहती: (हे) विश्वशंभुव: आप: (हे) द्यावापृथिवी बृहस्पतये हविषा विधेम।

व्याख्या : यज्ञ मैं करूँगा, इसप्रकार के मानससंकल्प की सिद्धि (प्रेरणा के लिए) अग्निदेव के निमित्त यह आहुति समर्पित है। मेधा और मननशक्ति के अधिष्ठाता अग्नि के लिए प्रदत्त यह आहुति सुहुत हो। दीक्षा धारण कराकर तप में संलग्न करानेवाली अग्नि के लिए प्रदत्त यह आहुति सुहुत हो। मन्त्रोच्चारणशक्ति सरस्वती (प्रज्ञाप्रवर्तिका) की सिद्धि के लिए उन वागिन्द्रिय के पोषक अग्निदेव के लिए आहुति समर्पित है। हे दिव्यगुणगणसम्पन्न, संसार के समसत जीवों के कल्याण करने वाले जल। हे विशालअन्तरिक्ष! आप लोगों के लिए तथा वृहस्पतिदेवता के लिए हम हवि प्रदान करते हैं।

यहाँ औद्ग्रभण होम का विधान है जिसे 6 मन्त्रों से सम्पन्न किया जाता है।

म० : अत: परं षडौखृभणहोममन्त्रा:। चतुर्णामग्निदेवता। 'औखृभणानि जुहोति स्थाल्या 'स्रुवेणाकूत्या इति प्रतिमन्त्रमिति' (का० 7/3/16)। आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा। अग्नये वह्निदेवाय स्वाहा सुहुतमिदमस्तु। किंभूतायाग्नये। आकूत्यै प्रयुजे। यज्ञं करिष्यामीत्येवंविधो मानस: संकल्प आकूति: तस्यै तत्संपूर्त्यै। प्रयुजे प्रयुङ्क्तेऽसौ प्रयुक् तस्मै। संकल्पसिध्द्यै निर्विघ्नं प्रेरयते इत्यर्थ:। इति प्रथमो मन्त्र: ।। मेघायै मनसेऽग्नये स्वाहा। 'श्रुतेयोर्मन्त्रयोर्धारण-शक्तिर्मेधा तत्सिध्द्यर्थं मनसे मदीयमनोभिमनानिऽग्नेय स्वाहा सुहुतमस्तु। विद्याधारणशक्तिर्हि मनस: स्वास्थ्ये सत्येव भवति। इति द्वितीय: ।। जपति। दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाह। व्रतनियमो दीक्षा तत्सिध्द्यर्थ मदीयशारीरतपो-भिमानिनेऽग्नये स्वाहा। नियमसंरक्षणं तपसैव भवति। ततस्तपोदात्रे इत्यर्थ:। इति तृतीय: ।। सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाह। मन्त्रोच्चारणशक्ति: सरस्वती

तत्सिध्यर्थं पूष्णे पुष्णातीति पूषा तस्मै वागिन्द्रियपोषकायाग्नये सुहुतमस्तु। इति चतुर्थः ।। आपो देवीः। लिङ्गोक्तदेवता विराट्। यस्या एकादशाक्षराः त्रयः पादाः सा विराट्। दशकास्त्रयो विराडेकादशका वेत्युक्तेः। अत्र प्रथमो द्वादशार्णस्तेनैकाधिका। हे आपः, हे द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ, हे उरो विस्तीर्ण अन्तरिक्ष। युष्मभ्यं बृहस्पतये च हविषा विधेम हविर्दद्मः। द्वितीयार्थे तृतीया। विधतिर्दानकर्मा। स्वाहा सुहुतमस्तु। किंभूता आपः। देवीः देव्यो द्योतमानाः। बृहतीः बृहत्यः प्रभूताः उभयत्र पूर्वसवर्णः। विश्वशंभुः'। इति पञ्चमो मन्त्रः ।।7।।

अष्टमी

विश्वो॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुर्मर्त्तो॑ वुरीत स॒ख्यम्। विश्वो॑ रा॒यऽइ॑षुध्यति द्यु॒म्नं वृ॑णीत पु॒ष्यसे॒ स्वाहा॑ ।।८।।

अन्वय : विश्वो मर्तः (सर्वोजनः) नेतुः देवस्य (सवितुर्देवस्य) सख्यं वुरीत (प्रार्थयते)। विश्वो राये इषुध्यति पुष्यसे द्युम्नं वृणीत स्वाहा।

व्याख्या : संसार के सभी मनुष्य फल प्रदान करने वाले एवं दानादिगुणयुक्त सवितादेवता के मैत्री की (सान्निध्य की) प्रार्थना करते हैं, सब मुनष्य धन एवं यश के लिए सविता देवता से याचना करते है। ऐसे सविता देवता के लिए हमारी यह हवि समर्पित हो।

म॰ : अथ षष्ठः। सवितृदेवत्यानुष्टुप् स्वस्त्यात्रेयदृष्टा। विश्वो मर्तः सर्वो मनुष्यो नेतुः फलप्रापकस्य देवस्य दानादिगुणयुक्तस्य सवितुः सख्यं सखिभावं बुरीत वृणुते प्रार्थयते। 'वृञ् वरणे' अस्म्नाल्लिङि तङि प्रथमैकवचने व्यत्ययेन शपो लुकि 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (पा॰ 7/1/102) इति ऋत उदादेशः। किंच विश्वः सर्वो जनो राये धनाय इषुध्यति सवितारं प्रार्थयते। इषुध्यतिर्याध्वाकर्मसु पठितः (निघ॰ 3/19/14)। किंच द्युम्नं द्योततेर्यशो वाग्नं वा तच्च वृणीत प्रार्थयते। किमर्थम्। पुष्पसे पोषाय स्वप्रजापालनाय। पुषेस्तुमर्थे असेप्रत्ययः। यः इत्यंभूतः सविता तस्मै स्वाहा। इति षष्ट औद्रभणमन्त्रः। समाप्तास्ते ।।8।।

नवमी

ऋ॒क्सा॒मयो॒ः शिल्पे॑ स्थ॒स्ते वा॒मार॑म्भे ते मां पा॒तमा॒स्य य॒ज्ञस्यो॒दृचः॑। शर्मा॑सि॒ शर्म॑ मे यच्छ॒ नम॑स्ते अस्तु॒ मा मा॑ हिꣳसीः ।।९।।

अन्वय : (हे कृष्णाजिनगते शुक्लकृष्णरेखे युवाम्) ऋक् सामयोः शिल्पे स्थः। ते वाम् आरभे ते अस्य यज्ञस्य उदृचः मां पातम्। हे कृषाजिन त्व शर्म असि मे शर्म यच्छ। ते नमः अस्तु। मा मां हिंसीः।

व्याख्या : [हे यज्ञरूप कृष्णमृग की (कृष्णजिन गत) शुक्ल एवं कृष्ण रेखाओं! तुम यथाक्रम ऋग्वेद और सामवेद के प्रतिरुप हो। अतः मैं तुम दोनों का स्पर्श करता हूँ, ऐसे तुम दोनों इस यज्ञ की समाप्ति पर्यन्त मेरी रक्षा करो, तुम सुखरुप हो मुझे सुख प्रदान करो तुम्हें नमस्कार हो। मुझे किसी प्रकार का आघात न पहुँचाना।

इस मंत्र से कृष्णाजिन का स्पर्श किया जाता है। यह कृष्णजिन दीक्षा का अंग है।

म॰ : 'कृष्णाजिनयोः सन्धिमालभत ऋक्सामयोरिति' (का॰ 7/3/23) इति। कृष्णाजिने देवते। हे कृष्णाजिनगते शुक्लकृष्णरेखे, युवामृक्सामयोः शिल्पे चातुर्ये तद्रूपे भवतः। 'यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पम्' (3/2/1/5) इति श्रुतेः। ते वां तथाविधे युवामारभे अहं स्पृशामि। ते मा पातं तथाविधे युवां मा मां पालयतम्। कियन्तं कालमिति चेत्तदाह। अस्य यज्ञस्य आ उदृचः उत्तमा चरमा ऋृगुदृक् तस्या उदृचः आ तत्पर्यन्तम्। 'पञ्चम्यपाङ्मरिभिः' (पा॰ 2/3/10) इति पञ्चमी। एतद्यज्ञसमाप्तिपर्यन्त-मित्यर्थः। ऋृक्सामाभिमानिन्यौ देवते देवानां यज्ञार्थं स्थिते सत्यौ केनापि निमित्तेन कृष्णमृगरूपं कृत्वा देवेभ्यः पलाय्य दूरे कुत्राप्यतिष्ठतां तन्मृगचर्मणि चच्छुक्रं तदृचो रूपं यत् कृष्णं तत् साम्नो रूपम्। तदुक्तं तित्तिरिणा 'ऋृक्सामे वै देवेभ्यो यज्ञार्थं तिष्ठमाने कृष्णमृगरूपं कृत्वापक्राभ्यातिष्ठतामेष वा ऋचो वर्णो यत्छुक्लं कृष्णाजिनमस्यै साम्नो यत्कृष्णम्' (6/1/3) इति। 'दक्षिणजानुमारोहति शर्मासि' (का॰ 7/3/24) इति। हे कृष्णाजिन, त्वं शर्म शरणमसि अतो मे मह्यं शर्म शरणं यच्छ देहि। स्वकीयत्वेन स्वीकुर्वित्यर्थः। ते तुभ्यं कृष्णाजिनाय नमोस्तु। मा मां यजमानं मा हिंसीः मा जहि ॥9॥

दशमी

ऊर्गस्याङ्गिरस्यूर्णम्रदाऽऊर्जम्मयिं धेहि। सोमंस्य नीविरसि विष्णोः शर्मांसि शर्म यजमानस्येन्द्रस्य योनिरसि सुसस्याः कृषीस्कृधि।

उच्छ्रूयस्व वनस्पत ऊर्ध्वो मां पाह्यꣳहंसऽआस्य यज्ञस्योदृचः ।।१०।।

अन्वय : [हे मेखले] त्वम् ऊर्क असि। आङ्गिरसी ऊर्णम्रदा मयि उर्जं धेहि। हे मेखले त्वं सोमस्य नीविः असि (हे वस्त्र, विष्णोः शर्म असि् यजमानस्य शर्मासि। हे कृष्णविषाणे इन्द्रस्य योनिः त्वम् असि। कृषीः सुसस्याः कृधि। हे वनस्पते। उच्छ्रयस्व ऊर्ध्वः अस्य यज्ञस्य उदृचः मां अंहसः पाहि।

व्याख्या : हे मेखला तू अन्न के समान बलदायक हो, आङ्गिरस आदि ऋषियों द्वारा धारण की गई हो। (परिधृत हो) तथा ऊन के समान कोमल हो। मुझ में बल का आधान करो। हे मेखला तुम (सोमयाग में धारण किये जाने के कारण) सोमदेव की बन्धन ग्रन्थि हो। हे वस्त्र! पगड़ी (उष्णीष) तुम यज्ञस्वरूप विष्णु को सुख प्रदान करते हो। अतः हमें भी (यजमान) सुख प्रदान करो। हे कृष्णवर्ण विषाण (सींग), तुम जिस प्रकार पूर्व में इन्द्र की योनि (स्थान) रही हो क्योंकि [यज्ञपुरुष तथा दक्षिणा देवी से इन्द्रदेव उत्पन्न हुए। तब इस दक्षिणा से अन्य की उत्पति न हो, ऐसा विचार कर इन्द्र ने उसे आच्छादित कर मृगों में स्थापित कर दिया, जिससे वह योनि कृष्ण विषाणा हो गयी अतः कृष्ण विषाणा इन्द्रयोनिरुप है का. 7-3-3.2]

हे कृष्ण विषाणे हमारे राष्ट्र को कृषि से सम्पन्न करो अर्थात् इस यज्ञ के फलस्वरूप उत्तम समय पर अच्छी वर्षा हो जिससे अन्नादि प्राप्त कर हम समृद्ध हों। हे वनस्पति समुद्भूतदण्ड तुम ऊपर की ओर उठो, ऊँचे होकर इस यज्ञ की समाप्ति पर्यन्त पापादि से मेरी रक्षा करो।

यह मन्त्र यजमान के मेखलाबन्धन से सम्बद्ध है। जो शण एवं मूँज से निर्मित होती है। यह वेणी के आकार की तथा तीन लड़ियो वाली होती है।

म० : 'मेखलां बध्नीते वेणि त्रिवृतꣳ शणमुञ्जमिश्रामन्तरां वासस ऊर्गसीति' (का० 7/3/26)। अङ्गिरोभिर्दृष्टं मेखलं यजुः। हे मेखले, त्वमाङ्गिरसी अङ्गिरोनामकानामृषीणां संबन्धिनी ऊर्क् अन्नरसरूपासि। किंभूता। ऊर्णम्रदाः ऊर्णेव म्रदीयसी कम्बलवन्मृदुरसि। तथाविधा त्वमूर्जमन्नरसं मयि धेहि स्थापय। अङ्रिसः स्वर्गलोकं गच्छन्तोऽन्नरसं व्यभजन्त

विभजमानेऽवशिष्टोऽन्नरसो भूमौ पतितः शणमुञ्जनामकतृणरूपेणाविर्भूतस्तस्माच्छणमुञ्जमयी मेखला। अतएव मेखलाया आङ्गिरसत्वमिति तित्तिरिणा प्रत्यपादि ।।'नीविं कुरुते सोमस्य नीविरिति' (का॰ 7/3/27)। हे मेखले, त्वं सोमस्य नीविरसि सोमदेवतायाः प्रियभूता ग्रन्थिरसि। मूलाग्रयोरेकीकरणेन ग्रन्थिविशेषो नीविरुच्यते। अदीक्षितस्य पितृदेवत्या नीविरुक्ता दीक्षितस्य तु सोमयागाय नीविः सोमेन व्यपदिश्यते। 'शिरः प्रोर्णुते विष्णोः शर्मेति' (का॰ 7/3/28)। हे वस्त्र, त्वं विष्णोः व्यापकस्य यज्ञस्य शर्मासि सुखहेतुर्भवसि। अतो यजमानस्य शर्म सुखं कुर्विति शेषः ।। 'कृष्णविषाणां त्रिवलिं पञ्चवलिं वोत्तानां दशायां बध्नीते तया कण्डूयनमुपस्मृशत्येनया दक्षिणस्या भ्रुव उपरीन्द्रस्य योनिरितीति' (का॰ 7/3/29–31)। हे कृष्णविषाणे, त्वं यथा पूर्वमिन्द्रस्य योनिरसि तथेदानीं यजमानस्य स्थानं भवेति शेषः। पुरा कदाचिद्यज्ञपुरुषो दक्षिणां देवी समभवत्तस्मात्संभावनादिन्द्रोऽजायत तदानीमत्रान्यस्योत्पत्तिर्मा भूदिति विचार्येन्द्रः स्वां योनिः कृष्णविषाणाभूदिति तित्तिरिश्रुतौ यज्ञो दक्षिणामभ्यधादित्याख्याने कथा। तस्मात्कृष्णविषाणाया इन्द्रयोनित्वम् ।। 'भूमौ चोल्लिखति सुसस्या इतीति' (का॰ 7/3/32)। हे कृष्णविषाणे, त्वं कृषीः सुसस्याः कृषि कुरु। करतेः शपि लुप्ते 'श्रु शृणु' (पा॰ 6/4/102) इत्यादिना हेर्घिः। शोभनं सस्यं यासु ताः सुसस्याः। सस्यं व्रीहियवादि। तदर्थो भुम्युल्लेखः कृषिः। यजमानानां कृषयः सन्ति ताः सर्वाः शोभनधान्याः कुर्वित्यर्थः। 'मुखसंमितमौदुम्बरं दण्डं प्रयच्छत्युच्छ्रयस्वेत्येनमुच्छ्रयतीति' (का॰ 7/4/1–2)। दण्डो देवता। हे वनस्पते वृक्षावयव दण्ड, उच्छ्रयस्व उन्नतो भव। ऊर्ध्वो भूत्वा अंहसः पापात् मा मां पाहि रक्ष। तत्र कालावधिरुच्यते। अस्यानुष्ठीयमानस्य यज्ञस्य उदृचः उत्तमायाः समाप्तिगतायाः ऋचः आ तादृक्पर्यन्तमित्यर्थः ।।10।।

एकादशी

व्रतंकृणुत व्रतंकृणुताग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः। दैवीन्धियम्मनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसꣳ सुतीर्था नोऽअसद्वशे। ये देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवस्ते नोऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहा ।।११।।

अन्वय : (हे परिचारकाः) यूयं व्रतं (पयः) कृणुत सम्पादयत।

अग्निः ब्रह्म अग्नि र्यज्ञः वनस्पतिः यज्ञियः अभिष्टये दैवीं धियं मनामहे। सुमृडीकां वर्चोधां यज्ञवाहसं सुतीर्था नः वशे असद्। ये देवा मनोजाताः मनोयुजः दक्षक्रतवः ते नः अवन्तु तेभ्यः स्वाहा।

व्याख्या : [हे परिचारकगण (ऋत्विक्‌गण)] आप दोहन आदि के द्वारा दीक्षित यजमान के भोजनार्थ दूध का सम्पादन करें। अर्थात् व्रतानुष्ठानपूरक दूध प्रस्तुत करें, क्योंकि ब्राह्मण के लिए सोमयाग में पयोव्रत का विधान है। यह अग्नि ब्रह्मरूप वेद है। अथवा ब्रह्म=समिद् आदि भी यज्ञसाधन होने से यज्ञरुप हैं। अभीष्टप्राप्ति के लिए हम स्वान्तः प्रकाशरुपी अलौकिक बुद्धि की प्रार्थना करते हैं, जो कि सर्वदा सुख देने वाली मुझमें तेज का आधान करने वाली, तथा यज्ञपूर्ति की हेतु है। वह बुद्धि (संसार भवसागर से पार करने वाली) हमारे वश में हो। जो प्राणेन्द्रियरुपदेवता विराट् के मन से समुत्पन्न और मननशक्ति के प्रेरक हैं तथा कुशल सामर्थ्य वाले हैं। वे देवगण यज्ञानुष्ठान को निर्विघ्न सम्पन्न करते हुए हमारी रक्षा करें उनके लिए यह क्षीराहुति समर्पित है। इस मन्त्र से व्रतग्रहण करके उसका पान करता है

म० : 'व्रतं कृणुतेति वाग्विसर्जनं त्रिरुक्त्वेति' (का० 7/4/15)। मौनोपस्थितस्य यजमानस्यैतन्मन्त्रोच्चारणं वाग्विसर्जनसाधनम्। हे परिचारकाः, व्रतं कृणुत दोहनादिना क्षीरं संपादयत। दीक्षितस्य भोजनाय यन्नियतं पयस्तद्व्रतमित्युच्यते। वाक्यावृत्तिरादरार्था। 'अग्निर्ब्रह्मेति च सकृदिति' (का० 7/4/15)। एतमपि मन्त्रं सकृत्पठेत्। अग्निर्ब्रह्म। ब्रह्मशब्देन वेदत्रयमभिधीयते तस्य वेदत्रयस्याग्नित्वमुपचर्यते। आधानेन निष्पन्नस्य वैदिकस्याग्नेर्वेदव्यतिरेकेणासंभवात्। तस्मादयं श्रौतोऽग्निर्ब्रह्मैव वेदरूप एव। अयमिग्नर्यज्ञः तस्य अग्नेर्यज्ञसाधनत्वाद्यज्ञत्वमुपचर्यतेऽग्निर्यज्ञ एवेति। वनस्पतिः यज्ञियः यज्ञयोग्यो यो वनस्पतिः स्वादिरादिः सोऽपि यज्ञ इत्यनुवर्तते। वनस्पतेर्यज्ञसाधनत्वाद्यज्ञत्वम्। तथाच श्रुतिः 'नहि मनुष्या यजेरन्यद्वनस्पतयो न स्युरिति' (3/2/2/9)। 'दैवी धियमिति व्रतायोपस्पर्श स्वासन इति' (का० 7/4/32)। शक्करी अतिशक्करी वा। पूर्वार्धेनाचमनम्। वयं धियं मनामहे यज्ञानुष्ठानविषयां बुद्धिं याचामहे। मनामह इति याच्याकर्मसु पठितः। किमर्थम्। अभिष्टये अभि समन्ताद्यजनमभिष्टिः। अभिपूर्वस्य यजतेः क्तिनि आदिलोपः।

अभिमुखत्वेन प्राप्तस्य यज्ञस्य सिध्व्यर्थम्। अभिष्टये अभि समन्ताद्यजनम-भिष्टिः। अभिपूर्वस्य यजतेः क्तिनि आदिलोपः। अभिमुखत्वेन प्राप्तस्य यज्ञस्य सिध्व्यर्थम्। किंभूतां धियम्। दैवी देवसंबन्धिनीम्। देवतोद्देशेन प्रवृत्तामित्यर्थः। तथा सुमृडीकाम्। सुष्ठु मृडयति सुमृडीका तां शोभनसुखहेतुं तथा वर्चोधां बर्चो दधातीति वर्चोधास्तां तेजसो धारयित्रीम्। तथाविधा धीः सुतीर्था सुखेन तरीतुं प्राप्तुं शक्या सुतीर्था। यद्वा सुष्ठ तीर्थमवतरणमार्गो यस्यां सा। एवंविधा सती नो वशे असत् अस्माकमधीनत्वे भवतु ।। 'ये देवा इति व्रतयत्यमृन्मय इति' (का॰ 7/4/33)। ये देवा ईदृशाः दीव्यन्ति द्योतन्ते त इति। देवाश्चक्षुरादीन्द्रियरूपाः प्राणाः 'वागेवाग्निः प्राणोदानौ मित्रावरुणौ चक्षुरादित्य श्रोत्रं विश्वेदेवाः' (3/2/2/13) इति श्रुत्युक्ताः। किंभूता। मनोजाताः दर्शनश्रवणादीच्छारूपान्मनस उत्पन्नाः। इच्छोत्पत्तौ तेषां प्रवर्तमानत्वात्। तथा मनोयुजः रूपादिदर्शनकालेऽपि मनसा युक्ता एव वर्तन्ते। अन्यमनस्कस्य रूपादिप्रतिभासाभावात्। यद्वा स्वप्नावस्थायां मनसा युज्यन्ते ते मनोयुजः। तथा दक्षक्रतवः दक्षाः कुशलाः क्रतवः संकल्पाः येषां ते। संकल्पितार्थकारिण इत्यर्थः। ते देवाः नोऽस्मानवन्तु यज्ञानुष्ठान-विघ्नपरिहारेण पालयन्तु। तेभ्यः प्राणरूपेभ्यः देवेभ्यः स्वाहा इदं क्षीरं हुतमस्तु ।।11।।

द्वादशी

श्वात्राः पीता भंवत यूयमांपोऽअस्माकंमन्तरुदरें सुशेवाः। ता अस्मभ्यंमयक्ष्माऽअंनमीवा अनांगसः स्वदंन्तु देवीरमृतांऽऋतावृधः ।।१२।।

अन्वय : (हे आपः) क्षीररूपाः यूयं पीताः श्वात्राः भवत, शीघ्रं जीर्णा भवत अस्माकम् उदरे अन्तः सुशेवाः भवत ताः अस्मभ्यम् अयक्ष्मा अनमीवा अनागसः स्वदन्तु। देवीः अमृता ऋतावृधः। (आपो भवन्तु।)

व्याख्या : हे जल! क्षीररुप तुम पान करने के बाद शीघ्र ही जीर्ण (पच) हो जाओ। हमारे उदर के अन्दर सुखदायी बनो, ये जल हमारे लिए क्षयादि प्रबल रोग रहित एवं मलादि दोषरहित होकर स्वादु बनें। वे जल जो कि दिव्यगुणयुक्त अमृत के समान मधुर और यज्ञ कर्मो के वर्धक हैं। व्रतग्रहण के अनन्तर इस मन्त्र के द्वारा यजमान अपने नाभि का स्पर्श करता है।

म० : 'श्वात्राः पीता इति नाभिमालभत इति' (का० 7/4/35)। अब्देवत्या जगती। हे आपः, क्षीररूपा यूयं मया पीताः सत्यः श्वात्राः क्षिप्रपरिणामाः शीघ्रं जीर्णा भवत। 'श्वात्रमिति क्षिप्रनामाशु अतनं भवति' (निरु०5/3) इति यास्कः। किंच अस्माकं पीतवतामन्तरुदरे जलपाकस्थाने सुशेवाः शोभनसुखाः भवतेत्यनुवर्तते। सुष्टु शेवं याभ्यस्ताः। शेवमिति सुखनाम। किंच। तास्तथाविधा आपः अस्मभ्यमस्मदुपकारार्थं स्वदन्तु स्वादुत्वयुक्ता भवन्तु। किंभूतास्ताः। अयक्ष्माः प्रबलरोगराजरहिताः। अनमीवाः सामान्यरोगनिवर्तिकाः। नास्त्यमीवा याभ्यः। अनागसः नास्त्यागो याभ्यः अपराधहारिण्यः। ऋतावृधः ऋतं वर्धयन्ति ता ऋतवृधः। संहितायाम् ऋतस्य दीर्घः। यज्ञवृद्धिहेतवः। देवीः देव्यो द्योतमानाः। अमृताः नास्ति मृतं याभ्यः मरणनिवर्तिकाः। यद्वायमर्थः। ता इति द्वितीयाबहुवचनम्। अमृताः अमरणधर्मिणो देवाः पूर्वोक्ताः प्राण वागादयस्ता अपः स्वदन्तु आस्वादयन्तु। कीदृशीः। अस्मभ्यमयक्ष्माः अस्मदर्थमस्माकं वा यक्ष्मनाशिनीः। शेषं पूर्ववत् ।।12।।

त्रयोदशी

इयं ते यज्ञिया तनूरपो मुञ्चामि न प्रजाम्। अꣳहोमुचः स्वाहाकृताः पृथिवीमाविशत पृथिव्या संभव ।।१३।।

अन्वय : (हे यज्ञपुरुष) इयं यज्ञिया ते तनूः अत्र अपः मुञ्चामि न प्रजाम्। अंहोमुचः स्वाहा कृताः पृथिवीम् आविशत। हे लोष्ठादिक! पृथिव्या सम्भव। एकीभव।

व्याख्या : हे यज्ञपुरुष यह पृथिवी आपका यज्ञीय शरीर है। अतः इससे दूर होकर मूत्रादि का मैं विसर्जन करता हूँ, प्रजोत्पत्ति के हेतु भूत वीर्य का नहीं। शरीरस्थ विकार को बाहर निकालने वालों जलों क्षीरपानकाल में शरीर में प्रवष्टि हुये अब बाहर आकर तुम पृथिवी के साथ एकीभूत हो जाओं।

म० : 'मेक्ष्यन्कृष्णविषाणया लोष्टं किंचिद्वादत्त इयं त इति' (का० 7/4/36)। मूत्रं करिष्यन् शृङ्गेण लोष्टं किंचित्तृणादिकं वा गृह्णातीति सूत्रार्थः। हे यज्ञपुरुष, इयं पृथिवी ते तव यज्ञिया तनूः यज्ञयोग्यो देशः। अतोऽस्यां मूत्रोपहतिपरिहाराय व्यवधानं कर्तुं लोष्टं तृणं वा स्वीकरोमीति

भावः। यद्वा पृथिवी प्रत्युच्यते। हे पृथिवि, इयं लोष्टरूपा ते तव यज्ञार्हा तनूस्तामादद इति शेषः ।। (का॰ 7/4/37) अपो मुञ्चामीति मेहतीति। अपो मूत्ररूपा अहं मुञ्चामि न प्रजां प्रजोत्पत्तिनिमित्तं रेतो न मुञ्चामि। अतो हे आपः मूत्राख्याः, यूयं पृथिवीमाविशत प्रविशत। किंभूताः। अंहोमुचः अंहसः पापात् मुञ्चन्ति पुरुषं पृथक्कुर्वन्तीत्यर्थः। तथा स्वाहाकृताः सत्यो भूमिमाविशत 'पृथिव्या संभवेत्यात्तं निदधातीति' (का॰ 7/4/38)। गृहीतलो-ष्टादिकं मूत्रस्थाने क्षिपेत्। हे लोष्टादिक, पृथिव्या सह त्वं संभव एकीभव ।।13।।

चतुर्दशी

अग्ने॒ त्वꣳ सु॒जा॑गृहि व॒यꣳ सु॑म॒न्दिषीमहि। रक्षा॑णो॒ऽअप्र॑युच्छ-न्प्र॒बुधे॑ नः॒ पुन॑स्कृधि ।।१४।।

अन्वय : (हे) अग्ने त्वं सुजागृहि, वयं सुमन्दिषीमहि। अप्रयुच्छन् नः आरक्ष। नः पुनः प्रबुधे कृधि।

व्याख्या : हे अग्निदेव आप सदा ही निद्रारहित हों प्रज्वलित रहें और आपके अनुग्रह से हम सुख पूर्वक शयन करें। आप प्रमाद रहित होकर चारों ओर से हमारी रक्षा करें और फिर हमें प्रातः जागने की शक्ति प्रदान करें।

यहाँ यजमान अग्निका उपस्थान करके रात्रि में अग्निशाला में ही शयन करता है। प्रथम दिवस का कर्म यहीं पूर्ण होता है।

म॰ : 'अग्ने, त्वमित्युक्त्वा स्वपित्यधः प्राग्दक्षिणत इति' (का॰ 7/4/39)। अनुष्टुबाग्नेयी। हे अग्ने, त्वं सुजागृहि सुष्ठु निद्रारहितो भव। वयं यजमानाः सुमन्दिषीमहि साधु स्वप्स्यामः। 'मदि स्तुतिमोदमदस्वप्ना-कान्तिगतिषु' अत्र स्वप्नार्थः। आशीलिंङ्युत्तमबहुवचने रूपम्। किंच। नोऽस्मान् रक्ष। किं कुर्वन्। अप्रयुच्छन्। 'युच्छ प्रमादे'। अप्रमाद्यन्। 'द्यचोतस्तिङः' (पा॰ 6/3/135) इति संहितायां दीर्घः। 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' (पा॰ 8/4/27) इति न इत्यस्य णत्वम्। नो अप्रयुच्छन्नित्यत्र, एङ् पदान्तादति' (पा॰ 6/1/109) इति पूर्वरूपे प्राप्ते 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (पा॰ 6/1/115) इति प्रकृतिंभावः। किंच अग्ने, नोऽस्मान् पुनः प्रबुधे प्रबोधय। कृधि कुरु। प्रबोधनं प्रभुत् तस्यै प्रबुधे। संपदादित्वाखावे क्विप्।

स्वपतोऽग्नेः प्रार्थनं रक्षसां नाशाय। तदुक्तं तित्तिरिणा 'अग्निमेवाधिपं कृत्वा स्वपिति रक्षसामपहत्या' इति ।।14।।

पञ्चदशी

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन्पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं मऽआगन्। वैश्वानरो अदब्धस्तनूपाऽअग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् ।।१५।।

अन्वय : मे मनः पुनः आगन् (आगतम्)। मे आयुः पुनः आगन्। प्राणः आत्मा पुनः मे आगन्। मे श्रोत्रं चक्षुः पुनः आगन्। वैश्वानर, अदब्धः तनूपा अग्निः नः अवद्यात् दुरितात् पातु।

यहाँ से द्वितीय दिवसीय कृत्य प्रारम्भ होता है

व्याख्या : (मुझ यजमान का मन) सुप्तिकाल में अन्यत्र गया हुआ पुनः इस शरीर में आ गया है। मेरी आयु फिर से मुझे प्राप्त हो गई, प्राण और आत्मा मेरे में सचेष्ट हो गये है, मेरी आँखे और कान पुनः क्रियाशील हो गये है। सभी के हितकारी सर्वथाअदम्य हमारे शरीरों में व्याप्त होकर हमारी रक्षा करनेवाले अग्निदेव हमारे निन्दनीय कृत्यों से हमारी रक्षा करें। अर्थात् हमें पापरहित सुमार्ग की ओर ले चले। अरुणोदय वेला में जगा हुआ यजमान मन्त्रपाठ करता है।

म० : 'विबुद्धमस्वप्स्यन्त पुनर्मन इति वाचयतीति' (का० 7/4/40)। मे मम यजमानस्य मनः पुनरागन् सुप्ति काले विलीय पुनरिदानीं शरीरे समागतम्। गमेर्लङि शपि लुप्ते 'हल्ङ्याब्भ्यः' (पा० 6/1/68) इति प्रत्ययलोपे मकारस्य नकारे प्रथमैकवचने आगन्निति रूपम्। किंच स्वापकाले मे मदीयमायुर्नष्टप्रायं भूत्वा पुनरागन् इदानीं पुनरुत्पन्नमिवासीत्। तथा मे प्राणो वायुः पुनरागन्। तथा मे आत्मा जीवः पुनरागन्। 'सर्वे ह वा एते स्वपतोऽपक्रामन्ति' (3/2/2/23) इति श्रुतेः। स्वापकाले मनआदीनामपक्रमो भवति तेषां पुनर्यथास्थानमागमनं प्रार्थ्यते। एवं सर्वेन्द्रियेषु समागतेषु अयमग्निः अवद्यात् ददितुमयोग्यात् निन्दितात् दुरितात्पापात् नोऽस्मान् पातु पालयतु। यद्वा अवद्यात् दुर्यशसो दुरितात्पापाचच पातु। किंभूतोऽग्निः। वैश्वानरः विश्वेभ्यो नरेभ्यो हितः सर्वपुरुषोपकारकः। 'नरे संज्ञायाम्' (पा० 6/रु/129) इति पूर्व पददीर्घः। अदब्धः केनाप्यहिंसितः तनूपाः तनूं पातीति अस्मदीयशरीरपालकः ।।15।।

षोडशी

त्वमग्ने व्रतपाऽअसि देव आ मर्त्येष्वा। त्वं यज्ञेष्वीड्यः। रास्वेयंत्सोमाभूयो भर देवो नः सविता वसोर्दाता वस्वदात् ।।१६।।

अन्वय : हे अग्ने देव त्वं आमर्त्येषु व्रतपा असि। त्वं यज्ञेषु ईड्यः। हे सोम इयत् रास्व भूयः आभर। वसोः दाता सवितादेवः नः अस्मभ्यम् वसु अदात। (दत्तवान्)

व्याख्या : हे अग्निदेव अलौकिक गुणगण सम्पन्न आप मनुष्यपर्यन्त सभी प्राणियों के कर्मो के रक्षक है। आप ही यज्ञों में स्तुति के योग्य हैं। हे सोमदेवता हमें प्रभूत धन दीजिये क्योंकि धन प्रदान करने वाले सविता देव ने हमें अभीष्ट धन प्रदान किया है (अतः आप भी दें)।

दीक्षित के नियमों में प्रमादवश स्खलन होने पर इस ऋचा का पाठ किया जाता है।

म॰ : 'त्वमग्न इत्याह क्रुद्धाव्रत्यं वा व्याहृत्येति' (का॰ 7/5/1-2)। दीक्षितो यदा क्रुध्यति व्रतविरुद्धं वा ब्रूते तदा त्वमग्न इत्यृचं जपेत्। गायत्र्याग्नेयी वत्सदृष्टा। व्यूहेनाक्षरपूरणम्। हे अग्ने, देवो द्योतनात्मकः त्वमा मर्त्येषु मनुष्यपर्यन्तेषु सर्वप्राणिषु व्रतपा असि व्रतस्य कर्मणः पालको भवसि। तथा आ समन्ताद्यज्ञेषु त्वमीड्योऽसि। 'ईडिरध्येषणकर्मा च'इति यास्कः। याचितव्यः पूजयितव्यो वा भवसि। अतः पाहीति शेषः। यद्वा आकारद्वयं समुच्चयार्थम्। देवे इति सप्तम्यन्तं पदम्। हे अग्ने, त्वं देवे आ देवेषु च मर्त्येषु आ मनुष्येषु च व्रतपा असीति। शेषं पूर्ववत्। 'लब्धमालभ्य वाचयति रास्वेयदिति' (का॰ 7/5/16)। क्रतौ प्राप्तं धनं स्पृष्ट्वा मन्त्रं पठेत्। रास्व। सोमदेवत्यं यजुः। हे सोम, इयद्रात्वं एतावद्धनं देहि। भूयः पुनरपि आभर धनम् आहर। 'हृग्रहोः-' (पा॰ 8/2/32) इति भकारः। यतो वसोर्धनस्य दाता सविता देवो नोऽस्मभ्यं वसु अदात्पूर्वमपि धनं दत्तवान् ।।16।।

सप्तदशी

एषा तें शुक्र तनूरेतद्वर्चस्तया संभव भ्राजं गच्छ। जूरसि धृता मनसा जुष्टा विष्णवे ।।१७।।

अन्वय : हे शुक्र! एषा ते तनूः। एतद्वर्चः तया सम्भव। भ्राजं गच्छ। (हे वाक्) त्वं जूः असि। मनसा धृता, विष्णवे जुष्टा असि।

व्याख्या : (हे हिरण्याज्य) हे शुक्लवर्ण अग्ने! यह आज्य (हवि) तुम्हारा शरीर है। और यह घृतस्थ सुवर्णादि तुम्हारा ही तेज है। अतः अपने हिरण्यरूप शरीर के साथ एकीभूत होकर तुम सोम के पास जाओं। हे वाक् तुम गतिमान हो, मन से धारण की हुई यज्ञपुरुष विष्णु के लिए सेवनीय बनो।

म० : 'शालाद्वाराण्यपिधाय ध्रौवं जुह्वां चतुर्विगृह्णात बर्हिस्तृणेन हिरण्यं बद्ध्वावदधत्येिषा त इतीति' (का० 7/6/7-8)। ध्रुवास्थमाज्यं जुह्वां चतुर्गृहीत्वा तत्राज्ये दर्भतृणबद्धं स्वर्णं क्षिपेदिति सूत्रार्थः। एषा ते। हिरण्याज्यदैव तम्। हे शुक्र! शुक्ल दीप्यमानाग्ने, ते तव एषा तनूः दृश्यमानमाज्यं शरीरम्। एतत् आज्ये प्रक्षिप्यमाणं हिरण्यं ते वर्चः त्वदीयं तेजः। तथा आज्यरूपया तन्वा संभव एकीभव। ततो भ्राजं गच्छ। 'भ्राज दीप्तौ' हिरण्यगतां दीप्तिं प्राप्नुहि। एतन्मन्त्रपाठेनाग्नेः सतेजसमेवैनं सतनुं करोति' इति। यद्वायमर्थ5। हे शुक्र आज्य एषा हिरण्यलक्षणा ते तनूः एतत्ते वर्चः। 'समानजन्म वै पयश्च हिरण्यं चोभयं ह्यग्नि रेतसम्' (3/2/4/8) इति श्रुतेः। तथा हिरण्यलक्षणया तन्वा संभव एकीभूय भ्राजं सोमं गच्छ। भ्राजतेऽसौ भ्राट् तम्। सोमो वै भ्राट्' (3/2/4/9) इति श्रुतेः। 'जूरसीति जुहोतीति' (का० 7/6/9)। वाग्देवतम्। हे वाक्, त्वं जूरसि वेगयुक्तासि। यद्वा 'जीव प्राणधारणे'। जीवयतीति जूः। डूप्रत्ययः। किंभूता त्वम्। मनसा धृता नियमिता। तथा विष्णवे जुष्टा। यज्ञो वै विष्णुः। यज्ञार्थं प्रीतियुक्ता। यद्वा षष्ठयर्थे चतुर्थी। यज्ञस्य रुचिता ।।17।।

अष्टादशी

तस्यास्ते सत्यसंवसः प्रसवे तन्वो यन्त्रमशीय स्वाहा। शुक्रमसि चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसि ।।१८।।

अन्वय : तस्याः ते सत्यसवसः प्रसवे तन्वो यंत्रम् अशीय (प्राप्नुयाम) स्वाहा। (हे सुवर्ण) त्वं शुक्रमसि चन्द्रमा अमृतमसि वैश्वदेवम् असि।

व्याख्या : इस दीक्षितव्रत का अनुपालन करते हुए मैं शरीर की

दृढ़ता को प्राप्त करूँ। यह आहुति सुहुत हो। हे सुवर्ण तुम क्रान्तिमान् हो, चन्द्र के समान आह्लादक अमृत के समान तृप्तिदायक तथा नष्ट न होने वाले हो। तुम सम्पूर्ण देवों के प्रिय हो। अर्थात् हिरण्यदान से सभी देवता प्रसन्न होते है।

म॰ : सत्यं सवो यस्याः सा सत्यसवाः तस्याः सत्ससवसोऽवितथाभ्यनुज्ञायाः। तस्यास्ते तथाविधायास्तव वाचः प्रसवेऽनुज्ञायां वर्तमानोऽहं तन्वः शरीरस्य यन्त्रं नियमनं दार्ढ्यमशीय प्राप्नुयाम्। स्वाहा इदमाज्यं हुतमस्तु। 'शुक्रमसीति हिरण्यमुद्धृत्य वेद्यां तृणं निदधातीति' (का॰ 7/6/10)। जुह्वां वद्ध्वा स्थापितं हिरण्यमुद्धरेत्। शुक्रमसि। हिरण्यं देवता। हे हिरण्य, त्वं शुक्रमसि। शोचते शुक्रम्। 'शुच दीप्तौ'। दीप्यमानमसि। तथा चन्द्रमाह्वदकमसि। 'चदि आह्वादने'। चन्द्रतीति चन्द्रम्। अमृतं विनाशरहितमसि। अग्निसंयोगेऽपि हिरण्यस्य विनाशाभावः प्रसिद्धः। 'अग्नौ सुवर्णमक्षीणम्' इति याज्ञवल्क्योक्तेः। वैश्वदेवमसि। विश्वेषां देवानामिदं वैश्वदेवं सर्वदेवसंबन्धि। सर्वोऽपि देवो हिरण्यदानेन तुष्येत् ।।18।।

एकोनविंशी

चिदसि मनासि धीरसि दक्षिणासि क्षत्रियासि यज्ञियास्यदितिरस्युभयतःशीर्ष्णी। सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधि मित्रस्त्वां पदि बध्नीतां पूषाध्वनस्पात्विन्द्रायाध्यक्षाय ।।१९।।

अन्वय : [हे वाग्देवतारुपे सोमक्रयणि] त्वं चिदसि मनोऽसि धीः असि दक्षिणासि, क्षत्रियासि, यज्ञियासि, अदिति रसि, उभयतः शीर्ष्णी। सा नः सुप्राची सुप्रतीची एधि। मित्रः त्वां पदि बध्नीताम् अध्यक्षाय अध्यक्षाय इन्द्राय अध्वनः पातु।

व्याख्या : [अध्वर्यु सोम खरीदने वाले गौ को सम्बोधित-करता है।] हे वाग्देवतारुप सोमक्रमणी! गौ तुम चेतना प्रदान करने वाली होने से स्वयं चैतन्य रुपा हो। मनः स्वरुपा हो, बुद्धिरुप हो, दक्षिणा में दिये जाने वाली होने के कारण दक्षिणारुपा हो। क्षत्रियजातिविशिष्टसोम की क्रयसाधन होने से क्षत्रिया हो। यज्ञ सम्पादयित्री हो, देवजननी हो। दोनों ओर सिरवाली हो। ज्योतिष्टोम के आदि और अन्त इष्टि (प्रायणीय और उदयनीया) तुम हो। अतः एतद् रुपा तुम, हमारे इस शुभकर्म में प्राङ्मुख

एवं प्रत्यडमुख से (आगे और पीछे से) अनुकूल बनो। मित्र देवता तुम्हारे पाँव में रस्सी बाँधे अर्थात् तुम कुछ देर विश्राम करो। और पूषा देवता यज्ञाध्यक्षइन्द्र के निमित्त मार्ग सम्बन्धी कष्ट से तुम्हारी रक्षा करें। अर्थात् तुम्हारा श्रमापनोदन करें।

म॰ : 'चिदसीत्येनामभिमन्त्रयते' (का॰ 7/6/15) इति कण्डिका-द्वयेन। एनां सोमक्रयणीमित्यर्थः। वाग्रूपाध्यारोपकल्पनया सोमक्रयणी गौः स्तूयते। हे वाग्देवतारूपे सोमक्रयणि, त्वं चिदसि मनोऽसि धीरसि। अन्तः करणस्य चित्तमनोबुद्धय इति तिस्रो वृत्तयः। तल्लक्षणानि। अचेतनदेहा-दिसङ्घातस्य चेतनत्वं संपादयन्ती वाह्यवस्तुषु वा निर्विकल्परूपं सामान्यज्ञानं जनयन्ती वृत्तिञ्चितं तदेवात्र चिदित्युच्यते। लोके कंचित्पदार्थं दृष्टा एवं भवति न वेति संकल्पविकल्पौ कुर्वाणा वृत्तिर्मनः तदेवात्र मन इत्युच्यते। इदमित्थं भवत्येवेति निश्चयरूपा वृत्तिर्बुद्धिः सैवात्र धीशब्देनोच्यते। वागात्मिका सोमक्रमणी चिन्मनोधीरूपत्वेन प्रशस्तये। चिदादिरूपत्वमारोप्य स्तुतिः कृता। दक्षिणादिरूपत्वं तु विद्यमानमेव स्तूयते। हे गौः, त्वं दक्षिणासि। गवां देयद्रव्यत्वेन कर्मसु दक्षिणात्वं प्रसिद्धम्। यद्वा वाग्दानस्य प्रशस्तत्वाद्दक्षिणासिं। 'भूमिदानात्परं नास्ति विद्यादानं ततोऽधिकम्(इति स्मृतेः। तथा क्षत्रियासि सोमक्रयसाधनत्वेन। तथाहि। देवेषु क्षत्रजात्यभिमानी सोमः। तदुक्तं बृहदारण्यके 'यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः' (माध्य॰ 1/2/13) इति। तेन सोमेन क्षत्रेणाभिमन्तव्यस्य सोमलताद्रव्यस्य क्रयहेतुत्वेन त्वं क्षत्रियासि। तद्रूपं चास्याः क्रयद्वारा तत्संबन्धित्वादुपचर्यते। अतएवं यज्ञसंबन्धितवाद्यज्ञिया यज्ञार्हासि। अदितिः अखण्डिता अदीना देवमातृरूपासि। नास्ति दितिर्यस्याः सा। 'अदितिरदीना देवमाता' (निरु॰ 4/22) इति यास्कः। तथा उभयतःशीर्ष्णो उभयतः शीर्षे यस्याः सा। ज्योतिष्टोमस्याद्यन्तयोः प्रायणीयोदयनीययोः। शीर्षत्वम्। 'द्वे शीर्षे प्रायणीयोदयनीये' शीर्षत्वम्। 'द्वे शीर्षो प्रायणीयोदयनीये' (निरु॰ 13/7) इति यास्कोक्तेः। यद्वोभवतःशीर्ष्णी सर्वतोमुखी वाग्रूपत्वात्। 'स यदेनया यमानं सद्विपर्यासं वदति' (3/2/4/16) इति श्रुतेः। सा पूर्वोक्ता चिदादिरूपा त्वं नोऽस्मदर्थे सुप्राची सुप्रतीची च एधि भव। सुष्ठु प्राङअञ्चतीति सुप्राची। सुष्ठु प्रत्यङ्क्तञ्चतीति सुप्रतीची। प्रथमं सोमस्य क्रेतारं प्रति सुष्ठु प्रत्यङ्ग्मुखी भवेत्यर्थः। त्थाच श्रुतिः 'सुप्राची न एधि सोमं नोऽच्छेहीत्येवैतदाह सुप्रतीची न एधि सोमेन नः सह पुनरेहीत्येवैतदाह'

(3/2/4/17) इति। किंच मित्रः सूर्यः पदि दक्षिणपादे त्वा त्वां बध्नीतां बन्धनं करोतु अप्रणाशाय। तथा पूषा पोषको देवः सूर्य एवाध्वनो मार्गात्पातु त्वं रक्षतु। यद्वा पूषेत्वाबन्तं स्त्रीलिङ्ग पदम्। पूषा पृथिवी त्वां मार्गात् पातु 'इयं वै पृथिवी पूषा' (3/2/4/19) इति श्रुतेः। किमर्थम्। इन्द्राय इन्द्रप्रीत्यर्थम्। किंभूतायेन्द्राय। अध्यक्षाय अधि उपरि अक्षिणी यस्य सोऽध्यक्षस्तस्मै द्रष्ट्रे। यज्ञस्वामिने इत्यर्थः ।।19।।

विंशी

अनुं त्वा माता मंन्यतामनुं पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूंथ्यः। सा देंवि देवमच्छेहीन्द्रांय सोमंꣳरुद्रस्त्वावंर्तयतु स्वस्ति सोमंसखा पुनरेहिं ।।२०।।

अन्वय : हे सोमक्रयणि गौ तव माता त्वाम् अनुमन्यताम् पिता अनुभ्राता अनुसगर्भ्यः अनुसखा सयूथ्यः अनु (अनुमन्यताम्)। हे देवि सोमक्रयणि सा (त्वम्) इन्द्राय देवसोमं अच्छ (एहि)। रुद्रः त्वा आवर्तयतु। सोम सखा स्वस्ति क्षेमेणसा पुनः एहि।

व्याख्या : हे सोमक्रयणी गौ सोमाहरण में प्रवृत्त तुम्हें तेरी माता (सोमक्रय के लिए) आज्ञा दे, तुम्हारा पालक सहोदर भाई, मित्र और एक ही झुण्ड में साथचरने वाले मित्रगण तुझे इस कार्य के लिए अनुमति प्रदान करे। हे देवि! इन्द्र की प्रसन्नता के लिए दिव्यगुणयुक्तसोम को लाने के लिए गमन करो। रुद्र तुम्हें इस ओर प्रवृत्त करें। सोम को लेकर तुम कुशलता पूर्वक फिर वापस लौटो।

म० : किंच सोमाहरणे प्रवृत्तां त्वं माता त्वदीया जननी अनुमन्यताम-नुज्ञां ददातु। पितानुमन्यताम्। उपसर्गावृत्त्या क्रियापदावृत्तिः। सगर्भ्यः समाने गर्भे भवः सहोदरो भ्रातानुमन्यताम्। 'समानस्य छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु' (6/3/84) इति समानपदस्य सादेशः। सयूथ्यः समाने एकस्मिन्यूथे गोसमूहे भवः सयूथ्यः सखा वत्सोऽनुमन्ताम्। हे देवि सोमक्रयणि, सा त्वमिन्द्राय इन्द्रार्थं सोमं देवमच्छेहि प्राप्तुं गच्छ। 'अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः' (निरु० 5/28)। किंच रुद्रः त्वा त्वां वर्तयतु। सोमं गृहीत्वा स्थितां त्वं रुद्रो देवोऽस्मान्प्रति निवर्तयतु। यद्वा रुद्रः त्वां प्रवर्तयतु। यतो रुद्राज्ञां नातिक्रामन्ति पशवः। सोमो देवः सखा यस्याः सा सोमसखा। ईदृशी सोमसहिता सती

स्वस्ति क्षेमेण पुनरेहि भूयोऽप्यागच्छ ।।20।।

एकविंशी

व्वस्व्यस्यदितिरस्यादित्यासि रुद्रासि चन्द्रासि। बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रम्णातु रुद्रो व्वसुभिराचके ।।२१।।

अन्वय : [हे सोमक्रयिणि गौ] त्वं वस्वी असि, अदितिः असि आदित्यरूपा असि रुद्ररूपा असि, चन्द्ररूपा असि। बृहस्पतिः त्वां सुम्ने रम्णातु (रमयतु)। वसुभिः रुद्रः आचके (रक्षितुं कामयताम्)।

व्याख्या : हे गौ तुम वसुरुपा हो, देवमाता (अदितिरुपा) हो, द्वादश आदित्यरुपा हो, एकादशरुद्र एवं चन्द्ररुपा हो। बृहस्पति तुम्हें सुख प्रदान करें। आठ वसुओं के साथ रुद्र तुम्हें प्राप्त करने की कामना करें।

यहाँ सोमक्रयणी गौ की स्तुति की गई है।

म० : 'उदीचीं नीयमानामनुगच्छतो वस्व्यसीतीति' (का० 7/6/16)। अनुष्टुब्बृहती वा। सोमक्रयण्याः स्तुतिः। सोमक्रयणी गौर्वस्वदित्यादित्यरुद्रचन्द्ररूपेण स्तूयते वस्वीत्यादिपञ्चविशेषणैः। हे गौः, त्वं वस्वी वसुरूपासि। अदितिर्देवमातासि। द्वादशादित्यरूपासि। रुद्रा एकदशरुद्ररूपासि। चन्द्ररूपा चासि। किंच बृहस्पतिः सुम्ने त्वं रम्णातु रमयतु। रमतेर्व्यत्ययेन श्नाप्रत्ययः। यद्वा रम्णातु संयमयतु। 'रम्णातिः संयमनकर्मा विसर्जनकर्मा वा' (निरु० 10/9) इति यास्कः। रुद्रो वसुभिः अष्टदेवैः सहितः त्वामाचके रक्षितुं कामयताम्। आचक इत्यादि चकमान इति कान्तिकर्मसु पठितः ।।21।।

द्वाविंशी

अदित्यास्त्वा मूर्धन्नाजिघर्मि देवयजने पृथिव्या इडायास्पदमसि घृतवत्स्वाहा। अस्मे रमस्वास्मे ते बन्धुस्त्वे रायो मे रायो मा वयꣳरायस्पोषेण वियौष्म तोतो रायः ।।२२।।

अन्वय : [हे आज्य] त्वम् अदित्याः पृथिव्याः मूर्धन् (शिरोरूपे) देवयजने त्वाम् आजिघर्मि। त्वम् इडायाः पदमसि घृतमसि घृतवत् स्वाहा। अस्मे रमस्व अस्मेते ते बन्धु भूताः स्मः। रायः त्वे मे रायः तिष्ठन्तु। वयं रायस्पोषेण मा वियौष्म (वियुक्ता मा भवेम) तोतः कलत्रे रायः सन्तु।

व्याख्या : हे आज्य! अखंडित पृथिवी के शीर्षस्थानीय इस

यज्ञशाला में (देवयागस्थान में) तुम्हें क्षरित करता हूँ। हे अर्चनस्थान तुम पृथिवी के उत्कृष्ट स्थान हो (गोपद से अङ्कित होने के कारण) तुम्हें घृत-युक्त बनाने के लिए हवि अर्पण करता हूँ। हे गोपद! तुम मेरे में रमण करो, हम तुम्हारे बन्धु हैं। इन सब गवादि पशुओं को तुम्हारी सेवा के लिए अर्पण करता हूँ, इससे मुझे ऐश्वर्य प्राप्ति हो। हम लोग धन की पुष्टि से वियुक्त न हो अर्थात् परिपुष्ट पुष्कल धन ऐश्वर्य हो, स्त्री के पास भी धन स्थिर रहे। यहाँ सोमकयणी गौ के सातवें पग के स्थान पर हिरण्य को रखकर अध्वर्यु आज्य से होम करता है।

म० : 'षट्पदान्यतीत्य सप्तमं पर्युपविशन्ति हिरण्यमस्मिन्निधाया-भिजुहोत्यदित्यास्त्वेतीति' (का० 7/3/17/18)। आज्यदैवतं यजुः। अदित्याः अखण्डितायाः पृथिव्या भुवो मूर्धन् मूर्धनि शिरोरूपे देवयजने देवानां यागयोग्यस्थाने हे आज्य। त्वं त्वामाजिघर्मि आक्षारयामि। 'घृ क्षरणदीप्त्योः'। 'पृथिव्या ह्येष मूर्धा यद्देवयजनम्' इति तित्तिरिश्रुतेर्देवयजनस्य पृथिवीमूर्धत्वम्। किंच हे स्थानविशेष, त्वमिडायाः गोः पदमसि गोपदेनाङ्क्ततत्वात्तद्रूपमसि। तच्च पदं घृतवत् घृतयुक्तं कर्तुं स्वाहा जुहोमि। 'स्फ्येन पदं त्रिः परिलिखत्यस्मे रमस्वेति' (का० 7/6/19)। हे गोः पद, त्वमस्मे अस्मासु रमस्व क्रीडां कुरु। 'समुद्धृत्य पदꣳ स्थाल्यामावपत्यस्मे ते बन्धुरिति' (का० 7/6/20)। हे सोमक्रयणीपद, ते तव अस्मे बन्धुः वयं बन्धुभूताः स्मः। 'सुपां सुलुक्' (पा० 7/1/39) इति जसः शेआदेशे अस्मे इति रूपम्। 'यजमानाय पदं प्रयच्छति त्वे राय इति' (का० 7/6/21)। हे यजमान, त्वे त्वयि रायो धनानि एतत्पदरूपेण तिष्ठन्त्विति शेषः। यद्वात्र रायः पशवः। 'पशवो वै रायः' (3/3/1/8) इति श्रुतेः। त्वयि पशवः सन्तु। 'मे राय इति यजमानः प्रतिगृह्णातीति' (का० 7/6/22)। मे मयि यजमाने रायो धनानि पदरूपेण तिष्ठन्तु। पशवो मयि सन्तु। ङेः शेआदेशे मे इति रूपम्। 'मा वयमित्यध्व-र्युरात्मानꣳ संस्पृशतीति' (का० 7/6/23)। वयमध्वर्युप्रभृतयो रायस्पोषेण धनस्य पुष्ट्या मा वियौष्म वियुक्ता मा भवाम। यौतेः 'माङि लुङ्' (पा० 3/3/175) इति लुङि उत्तमबहुवचने वियौष्मेति रूपम्। 'हृत्वा पत्न्यै पदं प्रयच्छति नेष्टा तोत इत्येनां वासयतीति' (का० 7/6/24-25)। तोतःशब्दः कलत्रवाची अव्ययम्। तोतः कलत्रे रायो धनानि पशवो वा पदरूपेण तिष्ठन्तु। यद्वाव्ययानामनेकार्थत्वात्तोतःशब्दो युष्मत्पर्यायः। तोतः त्वयि रायः सन्तु ।।22।।

त्रयोविंशी

समंख्ये देव्या धिया संदक्षिणयोरुचक्षसा। मा मऽआयुः प्रमोषीर्मोऽअहं तवं वीरं विंदेय तवं देवि संदृशिं ।।२३।।

अन्वय : हे सोमक्रयणि गौ देव्या धिया सम् अख्ये (दृष्टा)। उरुचक्षसा दक्षिणया सम्। मे आयुः मा प्रमोषीः। मो अहं तव। हे देवि! तव संदृशि वीरं पुत्रं विदेय।

व्याख्या : हे (सोमक्रयणि) दिव्य गौ तुम्हारे द्वारा बुद्धि-पूर्वक में देखा गया हूँ। विशाल दृष्टि सम्पन्न एवं अनुकूल आचरण वाली तुमसे मैं यह प्रार्थना करता हूँ कि तुम मेरी पत्नी की आयु को क्षीण न करना और न मैं तेरी (दी हुई) जीवन शक्ति को नष्ट करूँ। हे देवि तुम्हारी कृपामयि दृष्टि (अनुग्रह) में रहता हुआ मैं वीर सन्तान को प्राप्त करुँ।

सोमक्रयणी गौ के देखे जाने पर यजमान पत्नी आशीर्वाद की याचना करती है।

म० : सोमक्रयण्या च समीक्ष्यमाणाꣳ समख्य इतीति' (का० 7/6/26)। एनां वाचयतीत्यनुवर्तते। आस्तारपङ्क्तः पत्न्याशीः। यस्या आद्यावष्टाक्षरो पादावन्त्यौ द्वादशाक्षरो सास्तारपङ्क्तः। अन्त्यौ चेदास्तारपङ्क्तिरिति वचनात्। सोमक्रयणीतः पत्न्याशिषमाशास्ते। हे सोमक्रयणि, देव्या द्योतमानया त्वया धिया बुध्द्या सह बुद्धिपूर्वकमहं समख्ये अदृक्षि दृष्टेत्वर्थः। 'ख्या प्रकथने' इत्यस्य धातोः संपूर्वस्य लुङि तङि 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' (पा० 3/1/52) इति च्लेरङि उत्तमैकवचने कर्मणि समख्ये इति रूपम्। एकं संपदं पादपूरणाय। किंभूतया त्वया। दक्षिणया दक्षिणात्वयोग्यया। तथा उरुचक्षसा उरु चष्टे सोरुचक्षास्तया विस्तीर्णदर्शनया। एवंविधा त्वं मे मम पत्न्या आयुः मा प्रमोषीः मा खण्डय। 'मुष स्तेये' लुङि रूपम्। मो अहं तव। तव सोमक्रयण्या आयुरहं पत्नी मा उ मैव प्रमोषिवमित्यध्याहारः। मार्थे मो इत्यव्ययं वा। अहं तवायुर्न नाशयामीत्यर्थः। किंच वीरं विदेय तव देवि संदृशि। हे देवि गौः, तव संदृशि संदर्शने सति वीरं पुत्रं विदेय लभेय। संदर्शनं संदृक् भावे क्विप्। 'विद्लृ लाभे' इत्यस्य व्यत्ययेन 'तुदादिभ्यः शः' (पा० 3/1/87) इति शप्रत्यये लिङि रूपम् ।।23।।

चतुर्विंशी

एष तें गायत्रो भागऽइतिं मे सोमा॑य ब्रूतादेषते त्रैष्टुभो भागऽइतिं मे सोमा॑य ब्रूतादेष ते जाग॑तो भागऽइतिं मे सोमा॑य ब्रूताच्छन्दोना-मानाᳬं साम्रा॑ज्यं गच्छेतिं मे सोमा॑य ब्रूतादास्माकोऽसि शुक्रस्ते ग्रह्यों विचितंस्त्वा विचिन्वन्तु ।।२४।।

अन्वय : हे अध्वर्यो! सोमाय (सोमाभिमानिने देवाय) मे वचो ब्रूतात् कथय, ते एष भागः गायत्रः सोमाय मे इति ब्रूतात्। ते एष भागः त्रैष्टुभः सोमाय में इतिब्रूतात्। ते एष भागः जागतः सोमाय में इति ब्रूतात्। छन्दोनामानां साम्राज्यं गच्छ। (हे सोम) त्वम् अस्माकः असि, शुक्रस्ते ग्रह्यः विचितः त्वा विचिन्वन्तु।

व्याख्या : हे अध्वर्यु! सोमाधिष्ठातृदेव के प्रति मेरा यह निवेदन कर दो कि तुम्हारा यह भाग गायत्रीछन्द सम्बन्धी है, तुम्हारा यह भाग त्रिष्टुप्छन्द सम्बन्धी है, यह अंश जगतीछन्द से सम्बन्धित है। हे अध्वर्यु सोम को मेरी ओर से निवेदन कर दो कि तुम उष्णिक् आदि छन्दों के (अधिष्ठाता) साम्राज्य को प्राप्त करो। तुम्हारा उपयोग गायत्री आदि छन्दों से समन्वित मन्त्रों के द्वारा सम्पन्न होने वाले यज्ञ में होगा। हे सोम। तुम हमारे हो (क्रीत होकर)। शुक्र आदि सब ग्रह (पात्र) तुम्हारे ही है। चयनकर्ता विवेकपूर्वक तुम्हारा विभाग करे। और सारभूत भाग को समूहित (इक्टठा) करें।

यहाँ सोम का स्पर्श भी अध्वर्यु द्वारा किया गया है।

म० : 'एष त इति वाचयतीति' (का० 7/7/8)। मन्त्रचतुष्टय यजमानः पठेत्। हे अध्वर्यो, सोमाय सोमाभिमानिने देवाय मे इति वचो ब्रूतात् त्वं ब्रूहि कथय। इति किम्। हे सोम, ते तव एष पुरो दृश्यमानो भागो गायत्रो गायत्रीसंबन्धी। गायत्रीच्छन्दोऽर्थं तव क्रयो नतु वधार्थमिति यजमानाभिप्रायः। तं ममाभिप्रायं सोमाय कथयेत्यर्थः। ते तव एष त्रैष्टुभः त्रिष्टुप्छन्दसः संबन्धी भाग इति मेऽभिप्रायमध्वर्यो, सोमाय त्वं ब्रूहि। एवमग्रेऽपि। जागतो जगतीच्छन्दसः संबन्धी। अन्यत्पूर्ववत्। छन्दोनामानं छन्द इति नाम येषामन्येषामप्युष्णिगादीनां ताः छन्दोनामानः तेषां साम्राज्यं गच्छ सर्वेषां छन्दसामाधिपत्यं प्राप्नुहि। इति मे वचः सोमाय ब्रूतात्कथय।

यः सोमाय छन्दसामाधिपत्यं दत्त्वा क्रीणाति तं स स्वानामाधिपत्यं प्राप्नोति। तदुक्तं तित्तिरिणा 'यो वै सोमं राजानꣳ साम्राज्यमिति'। अत एतैर्मन्त्रैः सोमस्य राज्याप्तिः सूचिता। गायत्र्यादिच्छन्दोदेवता यत्र तिष्ठन्ति स छन्दोलोकस्तदाधिपत्यं प्रापय्य सोमं क्रीणानः स्वाधिपत्यभाग्भवतीत्यभिप्रायः। 'प्राङुपविश्यास्मा कोऽसीति सोममालभते' (का० 7/7/9) इति। हे सोम, त्वं क्रयपथमागतः सन्नास्माकोऽसि। शुक्रः शुक्लसंज्ञः ते तव ग्रह्यः। ग्रह एव ग्रह्यः। शुक्रपदमैन्द्रवायवादिग्रहाणामुपलक्षणम्। शुक्रादयः सर्वे तव ग्रहा इत्यर्थः। विचितः। विचिन्वन्तीति विचितः विवेकेन चयनस्य कर्तारः त्वां विचिन्वन्तु विविक्तं कुर्वन्तु। सारासारविवेकं कृत्वा सारभूतं समूहयन्त्वित्यर्थः ॥24॥

पञ्चविंशी

अभि त्यं देवꣳ सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवꣳ-रत्नधामभि प्रियं मतिं कविम्। ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत्सवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा स्वः। प्रजाभ्यस्त्वा प्रजास्त्वानुप्राणन्तु प्रजास्त्वमनुप्राणिहि ॥२५॥

अन्वय : ओण्योः द्यावापृथिव्योरन्तरा सवितारं सत्यसवं कविक्रतुं रत्नधामतिम् अभिप्रियं कविं त्वं देवम् अभि-अर्चामि, यस्य अमतिभाः सवीमनि ऊर्ध्वा अदिद्युतम्। हिरण्यपाणिः सुक्रतुः कृपा स्वः अमिमीत। हे सोम त्वां प्रजाभ्यः' (बध्नामि) प्रजा त्वां अनुप्राणन्तु। त्वं प्रजाः अनुप्राणिहि।

व्याख्या : द्यावापृथिवी के मध्य वर्तमान, सत्यज्ञान की प्रेरणा देने वाले मेधावीकर्म वाले रमणीय पदार्थों को धारण करने वाले, मननीय सर्वप्रिय, क्रान्तिदर्शी, उस सविता देवता की स्तुति (पूजा) करता हूँ जिसका अनुपम तेज अनन्त नक्षत्र मण्डल में सबसे ऊपर प्रकाशित होता है। सौवर्णाभरण से युक्त हाथों वाले तथा साधुसंकल्प वाले आदित्य अपनी दया से सोम का परिमाण सुनिश्चित किये हैं। हे सोम तुम्हें प्रजाओं के कल्याण के लिए बाँधता हूँ। प्रजा तुम्हारा अनुगमन करके जीवन धारण करें, तुम भी प्रजा को अनुप्राणित करो।

इस मन्त्र के ग्यारह बार सोम का प्रक्षेप सोमोपन हन वस्त्र पर किया जाता है।

म० : 'सोमोपनहनं द्विगुणं चतुर्गुणं वा स्तृणाति प्राग्दशमुदग्वा तस्मिन्सोमं मिमीते। दशकृत्वो–भित्यमितीति' (का० 7/7/12-13)। सावित्र्यष्टिः। त्यन्तं सवितारं देवमभ्यर्चामि सर्वतः पूजयामि। किंभूतं देवम्। ओण्योः द्यावापृथिव्योरन्तरा वर्तमानमिति शेषः। ओण्योरिति द्यावापृथिवीनामसु पठितम्। तथा कविक्रतुं कविः क्रतुः यस्य तं मेधाविकर्माणम्। सत्यसवं सत्यः सवो यस्य अवितथप्रेरणम्। तथा रत्नधां रत्नानि दधातीति रत्नाधास्तं रत्नानां धारकं पोषकं दातारं वा अभिप्रियं सर्वत। प्रीतिविषयम्। मतिं मन्यत इति मतिस्तं मननयोग्यम्। कविं क्रान्तदर्शनम्। किंच यस्य सवितुर्भा दीप्तिः अमतिः केनापि मातुमशक्या सती ऊर्ध्वा गगनाभिमुखी सवीमन्यविद्युतत् सवः प्रसवः प्रवृत्तिर्नक्षत्रादीनां यस्मिन् स सवीमा तस्मिन् गगनप्रदेशे सर्वाणि वस्तूनि द्योतयन्ते। यद्वायमर्थः। यस्यामतिरात्ममयी भा ऊर्ध्वा गगने सर्वमदिद्युतत्। अमाशब्द आत्मवचनः। आत्ममयी ततिमतिर्वा अमतिः। तन्यत इति ततिः दीप्तिः। मतिरपि प्रकाशरूपत्वाद्दीप्तिः। अमाततिशब्दस्य वा अमतिभावः। सवितृभाविशेषणम्। आत्मप्रकाशमयी तिर्मतिर्वा यस्य भाः अदिद्युतत्। किंनिमित्तम्। सवीमनि अनुज्ञानिमित्तं सर्वान् कर्माण्यनुज्ञातुमित्यर्थः। 'षुप्रसवैश्वर्ययोः' 'वृस्तृस्तुभ्य (?) इमनिच्(इतीमनिच्। गुणावादेशौ। सवीमा प्रसवोऽनुज्ञेत्यभिधानम्। स स्वरादित्यः। कृपा कल्पनं कृप् तया कृपा कल्पनया अमिमीत सोममिति शेषः। एतावान्सोम इति तदीयं परिमाणं निश्चितवानित्यर्थः। किंभूतः स्वः। हिरण्यपाणिः हिरण्यं पाणौ यस्य सौवर्णाभरणयुक्तहस्तः। सुक्रतुः साधुसंकल्पः। 'अन्तान्संगृह्योष्णीषेण बध्नाति प्रजाभ्यस्त्वेतीति' (का० 7/7/20)। हे सोम, प्रजाभ्यः प्रजानामुपकाराय त्वा त्वां बध्नामीति शेषः। 'अङ्गुल्या मध्ये विवृणोति प्रजास्त्वानुप्राणन्त्वितीति' (का० 7/7/21)। उष्णीषेण बद्धस्य सोमदेवस्य श्वासरोधो मा भूदिति विवरं कुर्यादिति सूत्रार्थः। हे सोम, प्रजास्त्वामनुप्राणवन्तु श्वासं कुर्वन्तं त्वामनुसृत्य सर्वाः प्रजाः श्वासं कुर्वतीः प्रजा अनुसृत्य प्राणिहि श्वासं कुरु। प्रजानां तव च कदाचित् श्वासरोधो मा भूत् परस्परमनुसृत्य जीवनं भवत्वित्यभिप्रायेण विवरकरण-मित्यर्थः ॥25॥

षड्विंशी

शुक्रं त्वां शुक्रेण क्रीणामि चन्द्रं चन्द्रेणाऽमृतममृतेन। सग्मे

ते गो रस्मे तेंचन्द्राणि तपंसस्तनूरंसि प्रजापंतेवर्णः परमेणं पशुनां क्रीयसे सहस्रपोषं पुंषेयम् ।।२६।।

अन्वय : हे सोम! शुक्रं, त्वा शुक्रेण क्रीणामि। चन्द्रं चन्द्रेण अमृतम् अमृतेन ते गौः सग्मे, ते चन्द्राणि अस्मे। हे अजे त्वं तपसः तनूः असि। प्रजापतेः वर्णः परमेण पशुना त्वं क्रीयसे। सहस्त्रपोषं धनं पुषेयम्।

व्याख्या : हे सोम तुम प्रकाशमान शुक्लवर्ण वाले हो अतः प्रकाशमान (दीप्यमान) स्वर्ण के द्वारा खरीदता हूँ (क्रय करता हूँ) तुम आह्लादक हो अतः आह्लादक द्रव्य से, अमृत के समान तुम गुणकारी हो अतः तुमको तादृश गुणकारी अग्नि आदि के संयोग से भी विनाश रहित स्वर्णद्वारा क्रय करता हूँ। हे सोम विक्रययिन! जो गौ सोम के मूल्यरुप में दी गई है वह गौ पुनः) यजमान के पास चली जाय अर्थात् (तुम्हारा हिरण्य ही हो गौ नहीं) अथवा अपने ये आह्लादक सुवर्णखण्ड हमें दे दो। हे अजा तुम क्रय के साधन होने से स्वयं भी तमोमय शरीर वाले प्रजापति के देहरुप हो। हे सोम इस श्रेष्ठ पशुरुप से तुम खरीदे जा रहे हो, तुम्हारी कृपा से सहस्त्रों प्राणियों के लिए पुष्टिकारक धन को प्राप्त करूँ।

म० : 'शुक्रं त्वेति हिरण्यमालभ्य वाचयतीति' (का० 7/8/16) हे सोम, शुक्रं दीप्यमानं त्वा त्वां शुक्रेण दीप्यमानेन हिरण्येन क्रीणामि क्रीतं करोमि। किंभूतं त्वाम्। चन्द्र 'चदि आह्लादने' फलहेतुत्वेनाह्लादकरम्। तथा अमृतं स्वादुत्वेनामृतसमानम्। किंभूतेन शुक्रेण। चन्द्रेणाह्लादकरेण तथामृतेनाग्निसंयोगादिनापि विनाशरहितेन। 'सग्मेत इति सोमविक्रयिणꣳ हिरण्येनाभिकम्पयतीति'। (का० 7/8/17)। यो हिरण्यमादाय सोमं विक्रीणीते तं हिरण्येनाभिकम्पयेत्। तद्धस्ते हिरण्यं दत्त्वा दत्त्वा स्वीकुर्वंस्तं निराशं कुर्यादिति सूत्रार्थः। षष्ठी प्रथमार्थे। हे सोमविक्रविन्, गौः सोममूल्यत्वेन तुल्यं दत्ता सा त्वदीया गौः पुनः प्रत्यावृत्य सग्मे यजमाने तिष्ठतु। हिरण्यमेव तवास्तु गौमा भूदित्यर्थः। यद्वा ते गौः सग्मे वर्तते। गौः ग्मा क्ष्मा क्षा क्षामेत्युक्तेः ग्मा गौः तया सह वर्तमानः सग्मस्तस्मिन् सग्मे ते गोरिति। 'यजमाने ते गौः' (3/3/3/7) इति श्रुतेः। सग्मो यजमानः। 'अस्मे त इति यजमानसहितं निदगधातीति' (का० 7/8/18)। यजमाने प्रत्यर्पितं यद्द्रोद्रव्यं तत्पुनर्यजमानसहितं सोमविक्रयिणः पुरतो निदध्यादिति सूत्रार्थः। हे

सोमविक्रयनि्, ते चन्द्राणि तुभ्यं दत्तानि यानि हिरण्यानि तान्यस्मे अस्मासु प्रत्यावृत्य तिष्ठन्तु। तव गौरेव सोममूल्यमस्तु हिरण्यानि मा भवेदित्यर्थः। 'अजां प्रत्यङ्मुखीमालभ्य वाचयति तपसस्तनूरितीति' (का॰ 7/8/20)। अर्धे अजा देवतास्य यजुषोऽर्धे सोमः। हे अजे, त्वं तपसः पुण्यस्य तनूरसि देहोऽसि। दिवि स्थितस्य यज्ञियस्यानयनायाजां गृहीत्वा गायत्री जगामेति तित्तिरिणा सोमाहरणोपाख्याने उक्तत्वादजायाः पुण्यशरीरत्वम्। किंच हे अजे, त्वं प्रजापतेर्वर्णोऽसि। वर्णो देहः। यथा प्रजाप्रतिः सर्वदेवत्या यदजा' इति। एवमजामुक्त्वा सोमं प्रत्याह। हे सोम, परमेण पशुना उत्तमेनाजालक्षणेनानेन पशुना त्वं क्रीयसे। तपसस्तनूत्वादजाया उत्तमत्वम्। अतस्त्वत्प्रसादात्सहस्रपोषं पुत्रपश्वादिसहस्राणां पोषो यथा भवति तथा पुषेयं पुष्टो भूयासम्। यद्वायमर्थः। हे अजे, त्वं प्रजापतेस्तपसस्तनूरसि प्रजापतितपोरूपासि तत उत्पन्नत्वात्। तदुक्तं श्रुत्या 'तपसो ह वा एषा प्रजापतेः संभूता यदजेतिः (3/3/3/8)। किंच प्रजापतेर्वर्णो रूपं त्वमसि। त्रिगुणत्वात्प्रजापतेस्त्रिरूपत्वम्। अजापि प्रतिसंवत्सरं त्रिवारं प्रसूते तस्मात्प्रजापतेर्वर्णत्वम्। तदुक्तं श्रुत्या 'सा यत्रि' संवत्सरस्य त्वं जायते तेन प्रजापतेवेर्ण एवमंजां स्तुत्वा स्तुत्वा सोममाह। परमेणोत्कृष्टेन पशुनाजया त्वं क्रीयसे ततोऽहं सहस्रपोषं सहस्रं प्राणिनां पुष्णातीति, सहस्रपोषं धनं पुषेयं पुष्णीयाम्। वर्धयेयमित्यर्थः। पुष्णातेव्यत्ययेन शेप्रत्यये लिङि पुषेयमिति रूपम् ।।26।।

सप्तविंशी

मित्रो न एहि सुमित्रधऽइन्द्रस्योरुमाविश दक्षिणमुशन्नुशन्तंꣳस्योनः स्योनम्। स्वान भ्राजाङ्घारे बम्भारे हस्त सुहस्त कृशानवेते वः सोमक्रयणास्तान्रक्षध्वं मा वो दभन् ।।२७।।

अन्वय : हे सोम त्वं मित्रः सुमित्रधः नः अस्मान् प्रति एहि। (हे सोम) इन्द्रस्य दक्षिणम् ऊरुम् आविश्। उशन् उशन्तं स्योनः स्योनम्। स्वान्भ्राज, अङ्घारे बम्भारे हस्त, सुहस्त, कृशानो एते सोमक्रयणाः वः तान् रक्षध्वम्। वः मा दभन्।

व्याख्या : हे सोम! तूँ सूर्य के समान तेजस्वी हो अतः सुन्दर मित्रों के धारक होकर तुम हमारे पास आओ। हे सोम। यजमानरुप इन्द्र की दाहिनी जंघा पर स्थित हो। तू स्वयं सुख देने वाले ऊरु की कामना करते हुए, स्वयं सुखरुप उस सुखप्रदाता यजमान की जंघा पर बैठो। हे

स्वान् आदि नामक सात सोमरक्षक देवताओं! आपके लिए ये सोम के क्रयणरुप हिरण्य आदि पदार्थ आपके समक्ष स्थापित है उनकी आप रक्षा करें। वैरी आपकी हिंसा न करें।

म० : 'सव्येनाजां प्रयच्छन्निमित्रो न इति दक्षिणेन सोममादायेति' (का० 7/8/21)। सौम्यम्। हे सोम, त्वं नोऽस्मान् प्रत्येहि आगच्छ। किंभूतस्त्वम्। मित्रः सखा, प्रीतियुतः। यद्वा मित्रः रविरूपः। तथा सुमित्रधः शोभनानि मित्राणि दधाति पुष्यतीति सुमित्रधः। क्रीत्वा वाससा बद्धस्य सोमस्य वरुणदेवताकत्वेन क्रूरत्वात्तच्छान्त्यर्थों मित्रत्वेन प्रार्थ्यते। तदाह तित्तिरिः 'वारुणो वै क्रीतः सोम उपनद्धो मित्रो न एहि सुमित्रध इत्याह शान्त्यै' इति। 'दीक्षितोरौ दक्षिणे प्रत्युह्य वासो निदधातीन्द्रस्योरुमितीति' (का० 7/8/23)। वासः प्रत्युह्य वस्त्रमुपरिस्थाप्य सोमं निदध्यादित्यर्थः। यजमानरूपेण परमैश्वर्येणोपेतत्वादत्रेन्द्रशब्देन यजमानः। तथाच श्रुतिः 'एष वा अत्रेन्द्रो भवति यद्यजमानः' (3/3/3/10) इति। हे सोम, त्वमिन्द्रस्य यजमानस्य दक्षिणमूरुमाविश। दक्षिणे ऊरावुपविशेत्यर्थः। किंभूतस्त्वम्। उशन् 'वश कान्तौ' वष्टि उशन् शतृप्रत्ययः। ऊरुं कामयमानः। तथा स्योनः सुखभूतः। किंभूतमूरुम्। उशन्तं सोमं कामयमानं स्योनमुपवेशे सुखकरम्। पुरा देवाः सोमं क्रीतमिन्द्रस्योरावुपवेशयन् तस्मादत्रैन्द्रशब्देन यजमानः। तदाह तित्तिरिः 'देवा वै सोममक्रीणंस्तदिन्द्रस्योरो दक्षिण आसादयन् स खलु वा एतहींन्द्रो यो यहते तस्मदेवमाह' इति। 'स्वान भ्राजेति जपति सोमविक्रयिणमीक्षमाणः' (का० 7/8/24) इति। स्वनतीति स्वानः। भ्राजते शोभतेऽसौ भ्राजः। अङ्घस्य पापस्यारिरङ्घारिः। बिभर्ति पुष्णाति विश्वमिति बम्भारिः। हसति हस्तः सर्वदा हृष्टरूपः। शोभनौ हस्तौ यस्य सुहस्तः। कृशं दुर्बलमनिति जीवयतीति कृशानुः। स्वानादयः सप्त सोमरक्षका देवविशेषाः। हे स्वानादयः सप्त देवाः, वो युष्माकमेते सोमक्रयणाः सोमः क्रीयते यैस्ते सोम क्रेतुमानीता हिरण्यादिपदार्थाः पुरतः स्थापितः। तान्पदार्थान् मा हिंसिषत। स्वानादयो धिष्ण्याधिष्ठातारः सोमरक्षकाः। तदाह तित्तिरिः 'स्वान भ्राजेत्याह ते चामुष्मिँल्लोके सोममरक्षन्' इति ।।27।।

अष्टाविंशी

परि॑ माग्ने दुश्च॑रिताद्बाध॒स्वा मा॒ सुच॑रिते भज। उदायु॑षा स्वा॒युषोद॑स्थाम॒मृता॒ँ२।। अनु॑ ।।२८।।

अन्वय : हे अग्ने! मा (मां) दुश्चरिताद् परिबाधस्व। मा सुचरिते आ भज। उदायुषा स्वायुषा अमृतान् अनु उदस्थाम्।

व्याख्या : हे अग्नि! निन्दनीय कर्मों से मेरी रक्षा कीजिए। अर्थात् (पापकर्मों में मेरी प्रवृत्ति ही न हो)। और मुझे केवल अच्छे कर्मों में प्रवृत्त करायें। मैं चिरजीवन द्वारा याग दानादि कर्मों को करता रहूँ। जिससे मैं सोमादि देवताओं का अनुसरण करता हुआ सर्वदा अमरभाव को प्राप्त करूँ। यागदानादि के द्वारा मनुष्य की आयु में वृद्धि होती है। तथा वह दीर्घायु होता है।

म० : 'गृहीतसोमं परि माग्न इति वाचयतीति' (का० 7/9/1)। अग्निदेवत्या पुरस्ताद्बृहती। यस्या आद्यो द्वादशाक्षरस्त्रयोऽष्टाक्षराः पादाः सा पुरस्ताद्बृहती। 'आद्यश्चेत्पुरस्ताद्बृहती' इत्युक्तेः। हे अग्ने, दुश्चरितात्पापान्मा मां परिबाधस्व परितो निवारय। मे पापे प्रवृत्तिर्मा भूदित्यर्थः' सुचरिते शोभने चरिते यदाचाररूपे पुण्ये मा मां यजमानमाभज सर्वतो भज स्थापयेत्यर्थः भज स्थापयेत्यर्थः (का० 7/9/3)। उदायुषेत्युत्थानमिति। उदायुषा उत्कृष्टेन चिरजीवनलक्षणेनायुषा निमित्तेन तथा स्वायुषा यागदानादिना शोभनेनायुषा निमित्तभूतेन अमृताननु सोमादिदेवाननुसृत्य उदस्थामहमुत्थितवानस्मि। तिष्ठतेर्लुङि रूपम् ।।28।।

एकोनत्रिंशी

प्रति पन्थामपद्महि स्वस्तिगामनेहसम्। येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु ।।२९।।

अन्वय : वयं तं स्वस्तिगाम् अनेहसम् पन्थां मार्गं प्रति अपद्महि। येन पथा गच्छन् पुरुषो विश्वाः द्विषः परिवृणक्ति, वसु धनंच विन्दते लभते।

व्याख्या : हम उस मार्ग को प्राप्त करे, जो क्षेमपुर्वक जाने योग्य हो तथा चौरादिबाधाओं से रहित हो। जिस मार्ग द्वारा यात्रा करने से व्यक्ति को किसी भी प्रकार का भय न हो तथा अभीष्ट मंजिल (लक्ष्य) को प्राप्त करें ऐसे सुन्दर मार्ग का हम अनुसरण करते हैं।

यहाँ सोम को लेकर हविर्धान शंकट के पास यजमान जाता है।

म० : 'शीर्ष्णि सोमं कृत्वा पाणिमन्तर्धाय प्रतिपन्थामित्यनोऽभ्येतीति' (का० 7/9/4)। शकटमभिलक्ष्य गच्छेदित्यर्थः। अनुष्टुप्पथिदेवत्या। पन्थानं

स्तौति। पन्थां पन्थानं मार्ग प्रत्यपद्महि वयं प्रत्यपद्मामहि प्रतिपन्नाः। प्राप्ता अभूमेत्यर्थः। 'पद गतौ' इत्यस्य व्यत्ययेन शपि लुप्ते लङि् रूपम्। विभक्तेः पूर्वसवर्णे पन्थामिति रूपम्। किंभूतं पन्थानम्। स्वस्तिगां स्वस्ति क्षेमेण गम्यते यत्र स स्वस्तिगास्तं क्षेमेण गन्तुं योग्यम्। गमेर्विटि प्रत्यये 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (पा॰ 6/4/41) इति मकारस्याकारे रूपम्। तथा अनेहसम् एहः पापरूपश्चौरादिबाधस्तद्रहितम्। यद्वा एह इत्यपराधनाम। यत्र गतानामपराधो नास्ति। येन पथा गच्छन्पुरुषो विश्वाः विश्वान्सर्वान् द्विषो द्वेषिणश्चौरादीन् परिवृणक्ति परितो वर्जयति। 'वृजी वर्जने' रुधादिः। वसु विन्दते धनं च लभते तं पन्थानमिति पूर्वत्रान्वयः। 'विद्लृ लाभे' ।।29।।

त्रिंशी

अदि॑त्या॒स्त्वग॒स्यदि॑त्यै॒ सद॒ऽआसी॑द। अस्त॑भ्ना॒द्द्यां वृ॑ष॒भो अ॒न्तरि॑क्ष॒मिमि॑मीत वरि॒माणं॑ पृथि॒व्याः। आसी॑द॒द्विश्वा॒ भुव॑नानि स॒म्राड्विश्वेत्ता॑नि॒ वरु॑णस्य व्र॒तानि॑ ।।३०।।

अन्वय : (हे कृष्णजिन) त्वम् अदित्याः त्वग् असि। हे सोम! अदित्यै सद आसीद, वृषभः द्याम् अन्तरिक्षम् अस्तभ्नात्। पृथिव्याः वरिमाणम् अमिमीत। सम्राट् विश्वा भुवनानि आसीदद् तानि विश्वा वरुणस्य इद् व्रतानि।

व्याख्या : हे कृष्णाजिन! तुम अखण्डितापृथिवी (अदिति) के त्वग्रूप (त्वचारुप) हो। हे सोम! अदिति के इस स्थान पर (कृष्णाजिन) पर स्थित होओं। अभीष्टकामनाओं की वर्षा करने वाले वरुणदेव द्युलोक एवं अन्तरिक्ष लोक को धारण (स्तम्भित) किये हैं, और वही पृथिवी के परिमाप (विस्तार) को जानते हैं। सम्यकरुप से दीप्यमान वरुण ही सभी भुवनों में व्याप्त हैं। ये सम्पूर्ण वरुण के ही कार्य है। [यहाँ क्रीतसोम के देवता वरुण है अतः इस मन्त्र में ब्रह्मरुप से इनकी स्तुति की गई है।

म॰ : 'कृष्णाजिनमस्मिन्नस्तृणात्यदित्यास्त्वगितीति' (का॰ 7/9/1)। अस्मिन् शकटे इत्यर्थः। हे कृष्णजिन, त्वमदित्यास्त्वगति अखण्डितायाः पृथिव्याः त्वग्रूपं भवसि। 'तस्मिन्सोमं निदधात्यदित्यै सद इतीति' (का॰ 7/9/1)। हे सोम, त्वमदित्यै सदः अदितेर्भूमेः संबन्धि स्थानमासीद

सर्वतः प्राप्नुहि। तत्रोपविशेत्यर्थः। 'अस्तभ्नाद्द्यामिति। सोममालम्भ्य वाचयतीति' (का॰ 7/9/8)। हे वरुणदेवते त्रिष्टुभौ। क्रीतसोमस्य वरुणदेवतात्वाद्वरुणो ब्रह्मरूपेण स्तूयते। वृषभः श्रेष्ठो वरुणो द्यामस्तभ्नात् द्युलोको यथा न पतति तथा स्वकीययाज्ञया स्तम्भितवान्। तथान्तरिक्षमप्यस्तभ्नात्। तथा पृथिव्या वरिमाणं भूमेरुरुत्वममिमीत मिमीते। उरोर्भावो वरिमा तम्। एतावती भूरिति परिमाणं जानातीत्यर्थः। तथा सम्राट् सम्यग्राजमानो वरुणो विश्वा विश्वानि सर्वाणि। इत् एवार्थे। सर्वाण्येव वरुणस्य व्रतानि कर्माणि। यद्वा इदित्यव्ययमित्थमर्थे। इदित्यं तानि द्युलोकस्तम्भनादीनि वरुणस्य व्रतानि व्रतवन्नियतानि। सर्वदा तानि करोतीत्यर्थः ।।30।।

एकत्रिंशी

वनेषु व्यु॒न्तरि॑क्षं ततान॒ वाज॒मर्व॑त्सु पय उ॒स्रियासु। हृ॒त्सु क्रतुं वरु॑णो वि॒क्ष्व॒ग्निं दि॒वि सूर्य॑मदधा॒त्सोम॒मद्रौ॑ ।।३१।।

अन्वय : वरुणः वनेषु अन्तरिक्षं विततान। अर्वत्सु वाजम् उस्त्रियासु पथः, हृत्सु क्रतुम्, विक्षुअग्निम्, दीवि सूर्यः अद्रौ सोमम् अदधात्। स्थापितवान्।

व्याख्या : वरुणदेव ने जंगलों (वृक्षों के अग्रभाग में) में आकाश का विस्तार किया। इसी प्रकार पुरुषों में वीर्य (शक्ति का) का अश्वों में बल का, गौओ में दूध को स्थापित किया है। लोगों के हृदयों में संकल्पशक्ति का, प्रजाओं में जीवनाधाररुप वैश्वानरअग्नि का, द्युलोक में सूर्य का, और पाषाण-सन्धियों में सोमलता को स्थापित किया। ऐसे ब्रह्मरूप वरुण की हम स्तुति करते हैं।

म॰ : 'वनेषु व्यन्तरिक्षमिति सोमपर्याणहनेन परितत्येति' (का॰ 7/9/9)। बन्धनहेतुना वस्त्रेण परितो वेष्टयित्वेत्यर्थः। वि उपसर्गस्तताननेत्यनेन संबध्यते। वरुणो वनेषु वनगतवृक्षाग्रेषु अन्तरिक्षमाकाशं विततान। यद्यपि सर्वगतमन्तरिक्षं तथापि तत्र मूर्तद्रव्याभावादत्यन्तं विस्तारितवान्। तथा अर्वत्सु अश्वेषु वाजं बलं विततानित्यनुवर्तते। यद्वा अर्वत्सु पुरुषेषु वाजं वीर्यं विततान। 'वीर्य वै वाजः पुमाᳬंसोऽर्वन्तः' (3/3/4/7) इति श्रुतेः। तथा उस्रियासु पयः क्षीरं विततान। उस्रियाशब्दो गोनाममु पठितः। हृत्सु हृदयेषु ऋतुं संकल्पं तच्छक्तियुतं मनो विततान। विक्षु प्रजासु अग्नि जठराग्निम्। दिवि द्युलोके सूर्य विततान। अद्रौ वर्तते सोमं वल्लीरूपमदधात्स्थापितवान्।

पर्वतपाषाणसंधिषु सोमवल्लया उत्पद्यमानत्वाद्द्रौ सोमस्थापनमुक्तम्। तदाह तित्तिरिः। 'सोममद्रावित्याह ग्रावाणो वा अद्रयस्तेषु वा एष सोमं विदधाति इति। य एव मन्त्रद्वयोक्तद्युलोकस्तम्भनादिसामर्थ्यवान्परब्रह्मलक्षणो वरुणस्तं वयं स्तुम इति शेषः ।।31।।

द्वात्रिंशी

सूर्यस्य चक्षुरारोहाऽग्नेरक्ष्णः कनीनकम्। यत्रैतशेभिरीयसे भ्राजमानो विपश्चिता ।।३२।।

अन्वय : (हे मृगचर्म) त्वं सूर्यस्य चक्षुः (नेत्रम्) आरोह। अग्ने अक्ष्णोः कनीनकम् आरोह, यत्र विपश्चिता भ्राजमानः एतशेभिः ईयसे (गच्छसि)।

व्याख्या : [हे मृगचर्म] तुम उपर की ओर स्थित होकर सूर्यदेव के नेत्र में आरोहण करो तथा (रात्रि) में अग्नि की आंखों में नक्षत्रादि के रूप में उच्च होकर विराजमान हो जाओ। अर्थात्=सूर्य एवं अग्नि के प्रकाश से प्रकाशित होओ। यज्ञस्थान में सर्वज्ञ सूर्य एवं अग्नि तथा विद्वानों के द्वारा सुशोभित तुम्हें घोड़ों के द्वारा पहुँचाया जाता है। (वहाँ पहुचों)। यहाँ कृष्णा जिनको ध्वजस्थानीय शकट के पूर्वभाग में एक डण्डे से बाँधा जाता है उसी का वर्णन है।

म॰ : 'कृष्णाजिनं पुरस्तादासजति सूर्यस्य चक्षुरितीति' (का॰ 7/9/9) कृष्णाजिनदेवत्यानुष्टुप। हे कृष्णाजिन, त्वं सूर्यस्य चक्षुनेत्रं आरोह। तथा अग्नेर्वह्नेरक्ष्णो नेत्रस्य कनीनकं तारकां चारोह। तथोच्चैस्तरांभव यथैताभ्यां दृश्यसे इत्यर्थः। यत्र यस्मिन्नेतयोर्दर्शने विपश्चिता विदुषा सर्वज्ञेन सूर्येणाग्निना च भ्राजमानः दीप्यमानः सन्नेतशेभिरेतशैरश्वैस्त्वमीयसे गच्छसि। एतश इत्यश्वनामसु पठितम्। यत्र त्वमश्वैर्गच्छसि। 'ई गतौ' दिवादिरात्मनेपदी। एतशैरिति करणेतृतीया। यद्वा कर्मणि रूपम्। एतशैरिति कर्तरि तृतीया। यत्राश्वैस्त्वं नीयस इत्यर्थः। कृष्णजिनस्य पुंस्त्वमार्षम्। सूत्राग्निदृष्टिविषयत्वे सति मार्गो रक्षोबाधरहितो भवति। तदुक्तं तित्तिरिणा 'एष वास्य खलु रक्षोहणः पन्था योऽग्नेश्च सूर्यस्य च' इति ।।32।।

त्रयस्त्रिंशी

उस्रावेतं धूर्षाहौ युज्येथामनश्रू अवीरहणौ ब्रह्मचोदनौ। स्वस्ति यजमानस्य गृहान्गच्छतम् ।।३३।।

अन्वय : हे धूर्षाहौ उस्रौ अनड्वाहौ एतं युज्येथाम् (रथेयुक्तौ भवतम्)। युवाम् अनश्रू अवीरहणौ, ब्रह्मचोदनौ, स्वस्ति, यजमानस्य गृहान् गच्छतम्।

व्याख्या : हे बैलों तुम दोनों शकट की धुरा का भार सहने करने में समर्थ। तुम दोनों आकर स्वयं रथ में संयुक्त हो जाओ। आँसू न बहाने वाले, सीगों से बालकों को न मारने वाले, ब्राह्मणों को याग के लिए प्रेरित करने वाले (शब्द मात्र सुनकर ही चलने वाले) तुम दोनों कल्याण पूर्वक यजमान के घरों की ओर जाओ।

म॰ : 'अनड्वाहौ युनत्तयुस्रावेतमितीति' (का॰ 7/9/11)। आनडुही ऊर्ध्वबृहती। यस्यास्त्रयः पादा द्वादशाक्षराः सोर्ध्वबृहती। यस्यास्त्रयः पादा द्वादशाक्षराः सोर्ध्वबृहती। 'त्रिजागतोर्ध्वबृहती' इत्युक्तेः। अत्राद्यो दशार्णः द्वितीयस्त्रयोदशार्णस्तेनैकोना। हे उस्रौ अनड्वाहौ, युवामेतमागतम्। एत्य च स्वयमेव युज्येथां रथे युक्तौ भवतम्। किंभूतौ युवाम्। धूर्षाहौ धुरं सहेते तौ धूर्षाहौ शकटधुरं वोढुं समर्थौ। तथा अनश्रू नेत्रयोरश्रुरहितौ। सोत्साहावित्यर्थः। अवीरहणौ न वीरान्हतस्तौ। शृङ्गादिभिर्वीराणां शिशूनां हननमकुर्वाणौ। ब्रह्मचोदनौ ब्रह्मणो विप्रान् चोदयतस्तौ ब्राह्मणानां यज्ञंप्रति प्रेरकौ। एवं संबोध्य प्रयोजनमाह। तथाविधौ युवां स्वस्ति क्षेमेण यजमानस्य गृहान्प्रति गच्छतम् ॥33॥

चतुस्त्रिंशी

भद्रो मेऽसि प्रच्यवस्व भुवस्पते विश्वान्यभि धामानि। मा त्वा परिपरिणो विदन्मा त्वा परिपन्थिनो विदन्मा त्वा वृका अघायवो विदन् ॥ श्येनो भूत्वा परापत यजमानस्य गृहान्गच्छ तन्नौ सँस्कृतम् ॥३४॥

अन्वय : हे सोम मे भद्रः असि, भुवस्पते विश्वानि धामानि अभिप्रच्यवस्व। परिपरिणः त्वा मा विदन्। परिपन्थिनः, त्वा मा विदन् अघायवः वृकाः त्वा मा विदन्, श्येनो भूत्वा परापत। यजमानस्य गृहान् गच्छ। तत् नौ संस्कृतम्।

व्याख्या : हे सोम, तुम मेरे लिए शुभकारी हो। हे भूमिस्थ जीवों के पालक, तुम सभी स्थानों (पत्नीशाला एवंहविर्धान प्रभृति) में गमन

करो। चारों ओर से घेरकर लूटमार करने वाले शत्रुगण तुम्हें न जाने। रास्ते में घात लगाकर लूटने वाले शत्रु भी तुम्हें न जाने। पाप करने वाले भेड़ियों के समान क्रूर हिंसक जन तुम्हें न प्राप्त करें। हे सोम तुम बाज (पक्षी) के समान अत्यन्त वेग से उड़कर यजमान के घर पहुचों, वहाँ हम दोनों के लिए समुचित स्थान एवं कार्य सुलभ है।

म॰ : 'भद्रो म इति वाचयतीति' (7/9/19)। सौम्यं यजुः। हे सोम, मे मह्यं यजमानाय मदुपकारार्थं त्वं भद्रोऽसि कल्याणरूपोऽसि। 'भदि कल्याणे'। हे भुवः पते, भूशब्देन भूमौ स्थितानि भूतानि यजमानाध्वर्युप्रभृतीन्युच्यन्ते। तेषां भूतानां पालकत्वात्पतिः सोमः। तदाह तित्तिरिः 'प्रच्यवस्व भुवस्पत इत्याह भूतानाᳬ᳴ ह्येष पतिः' इति। तथाविध हे सोम, विश्वानि सर्वाणि धामान्यभि स्थानानि पत्नीशालाहविर्धानप्रभृतीनि अभिलक्ष्य प्रच्यवस्व प्रकर्षेण गच्छ। 'च्युङ् गतौ'। प्रच्यवमानं त्वा त्वां परिपरिणो मा विदन् मा जानन्तु। सर्वतः संचरन्तस्तस्करविशेषाः परिपरिण उच्यन्ते। तथा परिपन्थिनो यागस्य प्रतिषेधकाः शत्रवस्त्वां मा विदन्। 'छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि' (पा॰ 5/2/89) इति निपातावेतौ। तथा वृका विकर्तनशीला आरण्यश्वानो दुर्जना वा त्वां मा विदन्। किंभूता वृकाः। अघायवः परस्याघं कर्तुमिच्छन्ति ते अघायवः। 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा॰ 3/1/8) इति क्यचि 'अश्वाघस्यात्' (पा॰ 7/4/37) इत्याकारः। 'क्याच्छन्दसि' (पा॰ 3/2/170) इति क्यजन्तादुप्रत्ययः। किंच श्येनो भूत्वा श्येनरूपमास्थाय श्येनाख्यपक्षिवच्छीघ्रगामी वा भूत्वा परापत उत्पत्। यजमानस्य गृहान् गच्छ। तत्तत्र यजमानगृहेषु नौ आवयोः तव मम च संस्कृतं सर्वोपकरणसंयुक्तं स्थानमस्तीति शेषः ।।34।।

पञ्चत्रिंशी

नमो॑ मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्य॒ चक्ष॑से म॒हो दे॒वाय॒ तदृ॒तᳬ᳴ स॑पर्यत। दू॒रे॒दृशे॑ दे॒वजा॑ताय के॒तवे॑ दि॒वस्पु॒त्राय॒ सूर्या॑य शᳬ᳴सत ।।३५।।

अन्वय : नमः सूर्याय मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महोदेवाय तद ऋतं सपर्यत। दूरेदृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय शंसत।

व्याख्या : सूर्य को मेरा नमस्कार है जो मित्र एवं वरुण देवता के रुप में विद्यमान है। सभी जीवों के द्रष्टा है। देवानुग्रह के लिए उत्पन्न

विज्ञानघन है। उस महान्द्युतिमान देव के लिए हे ऋत्विजों! (अवश्य फलप्रदज्योतिष्टोमरुप यज्ञ) को अर्पित करते हुए उसकी पूजा करो। अतिदूर की वस्तुओं को भी हस्तामलकवत् देखने वाले, देवों के पितृकल्प ज्ञानस्वरूप द्युपुत्र के समान सूर्य के लिए आप ऋचाओं का पाठ करें।

म० : 'शालां पूर्वेण प्रतिप्रस्थाताग्नीषोमीयं पशुमादाय तिष्ठति कृष्णसारङ्ग। मेध्यमभावे लोहितसारङ्गं नमो मित्रस्येत्येनमालभ्य वाचयति' (का० 7/9/21-22) इति। सौरी जगतीह सूर्यदृष्टा। द्वादशाक्षरचतुःपादा जगती। अत्र मन्त्रे सूर्यरूपेण सोमः स्तूयते। एवंविधाय सूर्याय नमः। किंभूताय मित्रस्य वरुणस्य। चतुर्थ्यर्थे षष्ठ्यौ। मित्राय वरुणाय मित्रवरुणदेवता-रूपेण वर्तमानाय। जगतां हितकारिणे। वृणोतीति वरुणः स्वरश्मिभिर्जगदावृण्वते। चक्षसे चष्टे इति चक्षास्तस्मै। चक्षुष्मते द्रष्ट्रे इत्यर्थः। यद्वायमर्थः मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे सर्वजगतो द्रष्ट्रे। मित्रावरुणशब्देन सर्वं जगल्लक्ष्यते। तथा महो महसे तेजोरूपाय 'सुपां सुलुक्' (पा० 7/1/39) इति विभक्तिलोपः। देवाय द्योतमानाय। तथा दूरेदृशे दूरे वर्तमानैः प्राणिभिर्दृश्यत इति दूरेदृक् तस्मै। यद्वा दूरे पश्यतीति दूरेदृक्। देवजाताय देवाद् द्योतमानात्परमात्मनो जायतेऽसौ। देवानुग्रहाय जातो देवजात इति वा। जाता देवा यस्मात्स देवजात इति वा। 'वाहिताग्न्यादिषु' (पा० 2/2/37) इति जातशब्दस्य परनिपातः। केतवे प्रज्ञारूपाय विज्ञानघनाय। केतुरिति प्रज्ञानाम। दिवस्पुत्राय द्युलोकस्य पुत्रवत्प्रियाय। द्युलोकाद्धि सूर्यो जायते। दिवः पुरु त्रायते इति दिवस्पुत्रः। दिवः पालकायेति वा। एवंविधाय सूर्याय तद्गतं सत्यमवश्यफल-प्रदज्योतिष्टोमरूपं कर्म हे ऋत्विजः यूयं सपर्यतानुष्ठानेन सपर्यां कुरुत। सपर्यतिः परिचरणकर्मा (निघ० 3/5/3) सूर्यार्थं यज्ञं कुरुतेत्यर्थः। यद्वा तदृतं सूर्यरूपं सत्यं ब्रह्म सपर्यत परिचरत। किंच शंसत। 'शंसु स्तुतौ' सूर्यप्रीत्यर्थं स्तुतिं कुरुत। शस्त्राणि पठतेत्यर्थः। यागानुष्ठाने तस्यावश्य-कत्वादित्यर्थः ।।35।।

षट्त्रिंशी

वरुणस्योत्तम्भनमसि वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थो वरुणस्य ऋतसदन्यसि वरुणस्य ऋतसदनमसि वरुणस्य ऋतसदनमासीद ।।३६।।

अन्वय : हे काष्ठ त्वं वरुणस्य उत्तम्भनमसि, वरुणस्य स्कम्भ्-सर्जनी स्थ, वरुणस्य ऋतः सदनी असि (हे कृष्णाजिन) वरुणस्य ऋतसदनम् असि वरुणस्य ऋतसदनम् आसीद्।

व्याख्या : (हे काष्ठदण्ड) तुम वस्त्रबद्ध सोम के (उन्नयन उत्कर्ष) रुप हो। [शकट का अग्रभाग उन्नत रुप में जिस काष्ठ पर स्थापित होता है, उस काष्ठ को उत्तम्भन कहते है] [शकट की धुरा में बद्ध बैलों के गले के बहिभार्ग में काष्ठनिर्मित शम्या स्थापित की जाती है। जिनमें बैलों के इधर उधर गमन का निवारण होता है) हे शम्ये! तुम दोनों वरुणदेव को रोकने वाली हो।

हे आसन्दी! (सोम को स्थापित करने की चौकी) तुम सोमयज्ञ में बैठने के आसन रुप हो। हे कृष्णाजिन तुम वरणीय सोम के स्थापित करने के साधन हो। हे सोम तुम वरुणदेवता के इस यज्ञस्थान में सूखपूर्वक विराजमान होओ।

यहाँ आह्वनीय के दक्षिण में सोमा सन्दी के स्थापना के साथ ही सोमक्रय नामक कृत्य पूर्ण होता है।

म० : 'समीपेऽन उपस्थाप्योत्त्म्भनेनोपस्तभ्नाति वरुणस्योत्तम्भनमितीति' (का० 7/9/25)। पञ्च यजूंषि वारुणानि। हे काष्ठ, त्वं वरुणस्योत्तभ्भनमसि वस्त्रवद्धस्य सोमस्योन्नमनं भवसि नतु शकटस्येत्यर्थः। उतभ्यते शकट मुखाग्रमुन्नत्वेन स्थाप्यते यस्मिन् काष्ठे तत्काष्ठमुत्तम्भनम्। 'शम्ये चोद्वृहति वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थ इतीति' (का० 7/9/26)। शकटयुगे बद्धयोर्बलीवर्दयोर्गलबहिर्भागे काष्ठनिर्मिते शम्ये रथाप्येते। ताभ्यां वृषयोरितस्ततो गमनं निवार्यते ततस्ते स्कम्भसर्जनीशब्देनोच्येते। हे शम्ये, युवां वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थः। 'स्कम्भ रोघने'। 'सर्ज अर्जने' स्कम्भनं स्कम्भो रोधः स सर्ज्यते क्रियते याभ्यां ते स्कम्भसर्जन्यौ। विभक्तेः पूर्वसवर्णः। व्रियते वेष्टयते वस्त्रादिनेति वरुणशब्देनात्र वस्त्रबद्धः सोम उच्यते। वरुणदैवतत्वाच्च पञ्चस्वपि मन्त्रेषु। 'औदुम्बरीमासन्दी नाभिदघ्नामरत्निमात्राङ्गीमुता (1) माहरन्ति चत्वारोऽभिमृशन्त्येनां वरुणस्यऋतसदन्यसीतीति' (का० 7/9/27-28)। हे आसन्दि, त्वं वरुणस्य सोमस्य संबन्धिनी ऋतसदन्यसि ऋताय यज्ञाय सद्यते उपविश्यते यस्यां सा ऋतसदनी। 'करणाधिकरणयोः-' (पा० 3/3/117)

इति ल्युप्रत्ययः। ऋतं यज्ञस्तन्निष्पत्त्यर्थमुपवेशनस्थानभूतासीत्यर्थः। 'कृष्णाजिनमस्यामास्तृणाति वरुणस्य ऋतसदनमसीतीति' (का० 7/9/29) हे कृष्णजिन, वरुणस्य बद्धस्य सोमस्य ऋतसदनं यज्ञार्थमुपवेशनस्थानमसि। 'तस्मिन्सोमं निदधाति वरुणस्य ऋतसदनमासीदेतीति' (का० 7/9/30)। हे सोम, त्वं वरुणस्य वस्त्रबद्धस्य तव ऋतसदनं यज्ञार्थमुपवेशनस्थानभूतमा-संदीसंस्थितं कृष्णाजिनमासीद सुखेनोपविश ।।36।।

सप्तत्रिंशी

या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम्। गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा प्रचरा सोम दुर्यान् ।।३७।।

अन्वय : (हे सोम) ते या (यानि) धामानि (स्थानानि) हविषा यजन्ति, ता (तानि) ते विश्वा यज्ञं परिभूः अस्तु। गयस्फानः प्रतरणः सुवीरः अवीरहा। हे सोम दुर्यान् प्रचर प्राप्नुहि।

व्याख्या : हे सोम! ऋत्विक्जन, जिस तेज को धारण करके (सोमरस) रूप हवि के द्वारा देवताओं की आराधना करते हैं, वे तेरे सभी तेज याग को चारो ओर से व्याप्त करे। अपने याजको के धन पुत्रादि की वृद्धि करते हुए सबको भवसागर से पार करते हुए वीरपुत्रादिकों से सम्पन्न करते हुए तथा सुवीरों का व्यर्थविनाश न करते हुए हमारे यज्ञशालाओं में आप अच्छी तरह आयें।

म० : 'या त इति वाचयतीति' (का० 7/9/32)। सोमदेवत्या त्रिष्टुप् गोतमदृष्टा। हे सोम, ते तव या यानि धामानि प्रातःसवनादीनि स्थानानि प्राप्येति शेषः। हविषा त्वदीयरसरूपेण यजन्ति ऋत्विजो यागं कुर्वन्ति। यज्ञमभिलक्ष्येति शेषः। ते तव ता तानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि स्थानानि परिभूरस्तु। परितो भवति प्राप्नोतीति परिभूः। 'भू प्राप्तौ'। भवान् परितः प्राप्तवान् भवतु। ऋत्विजो यानि धामानि प्राप्य यजन्ति तानि सर्वाणि ते तव यज्ञं परिभूरस्तु यज्ञं परितो भवितृणि यज्ञव्यापकानि सन्तु। नपुंसकबहुवचनस्थाने पुंलिङ्गैकचनमार्षम्। किंच हे सोम, त्वं दुर्यान् गृहान् प्रचर प्राप्नुहि। दुर्या इति गृहनाम 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० 6/3/135) इति संहितायां प्रचरेति दीर्घः। किंभूतस्त्वम्। गयस्फानः गय इति गृहनाम। (निघ० 3/4/1)। 'स्फायी वृद्धौ'। गयान्स्फाययतीति गयस्फानः गृहाभिवर्धकः।

प्रतरणः प्रकर्षेण तरन्त्यापादो येन स प्रतरणः। यद्वा प्रतारयति यज्ञपारं प्रापयतीति प्रतरणः। सुवीरः शोभनास्त्वत्प्रसादलब्धा वीरा अस्मत्पुत्रपौत्रा यस्य तव स तवं सुवीरः। अवीरहा न वीरान्हन्तीति। वीराणां परिपालक इत्यर्थः ॥37॥

श्रीमन्महीधरकृते वेददीपे मनोहरे।
शालागमाद्वाचनान्तश्चतुर्थोऽध्याय ईरितः ॥4॥

इतिचतुर्थोऽध्यायः

अथ पञ्चमोध्यायः

तत्र प्रथमा

अ॒ग्नेस्त॒नूर॑सि॒ विष्ण॑वे त्वा॒ सोम॑स्य त॒नूर॑सि॒ विष्ण॑वे॒ त्वाति॑थेराति॒-थ्यम॑सि॒ विष्ण॑वे त्वा श्ये॒नाय॑ त्वा सोम॒भृ॒ते॒ विष्ण॑वे त्वा॒ग्नये॑ त्वा रायस्पोष॒दे विष्ण॑वे त्वा ॥१॥

अन्वय : [हे हवि] त्वम् अग्नेः तनूः असि विष्णवे त्वा, निर्वपामि। सोमस्य तनुः असि, त्वा विष्णवे, अतिथेः आतिथ्यम् असि, त्वा विष्णवे, त्वा श्येनाय सोमभृते विष्णवे त्वा, त्वा रायस्पोषदे अग्नये त्वा विष्णवे। निर्वपामि।

व्याख्या : [चतुर्थअध्याय से लेकर अष्टमअध्याय के बत्तीसवीं (32) कण्डिका तक अग्निष्टोम याग के मन्त्र कहे गये हैं। इसके ऋषि प्रजापति हैं। जिस याग में प्रधानरूप से सोमनामक लता के रस की आहुति दी जाती है। उसे सोमयाग कहते हैं। इसकी सात संस्थाएं होती हैं, जिसमें यह अग्निष्टोमसंज्ञक प्रथम संस्था है।

इसके पूर्व चौथेअध्याय में ऋत्विजों के साथ यजमान के शालाप्रवेश से प्रारम्भ होकर क्रीत (खरीदे गये) सोम के शाला प्रवेश तक के मन्त्रों की व्याख्या की गई है।

इस पाँचवे अध्याय में आतिथ्येष्टि एवं हविर्ग्रहण आदि कर्मों के मन्त्र कहे जायेगें। प्राचीन समय से ही ऋषिलोग सोम को राजा के रुप में परम वन्दनीय समझते थे। उन्ही के स्वागत के लिए यहाँ प्रारंभ में आतिथ्येष्टि की गई है।] यह आतिथ्येष्टि की परम्परा भारतीय संस्कृति

की पहचान है। इसीलिए 'अतिथिदेवों भव' कहा गया है।

मन्त्रार्थ : हे हवि तुम अग्नि के शरीर हो, विष्णु की प्रसन्नता के लिए तुम्हें निर्वपण करता हूँ। हे हवि तुम अतिथि के स्वागत सत्कार के साधन भूत हो। तुम्हें पहले विष्णु के लिए अर्पण कर (यज्ञशिष्ट द्वारा अतिथि के। तृप्त करूँगा) तुझे श्येन के समान असुरों को पराजित करने वाले इन्द्र के लिए निर्वपण करता हूँ। सोमाहरण करने वाली गायत्री एवं विष्णु के लिए अर्पण करता हूँ। तुझे ऐश्वर्य एवं पुष्टि प्रदान करने वाले अग्निदेव के लिए निर्वपण करता हूँ तुझे विष्णु के लिए निर्वपण करता हूँ। अर्थात् ग्रहण करता हूँ।

म॰ : चतुर्थेऽध्याये सर्त्विग्यजमानस्य शालाप्रवेशमारभ्य क्रीतसोमस्य शालाप्रवेशपर्यन्ता मन्त्रा उक्ताः। अथ पञ्चमोऽध्यायस्तत्रादौ आतिथ्येष्टौ हविर्ग्रहणादिमन्त्रा उच्यन्ते। 'निर्वपेदग्नेस्तनूरिति पञ्चकृत्वः प्रतिमन्त्रमिति' (का॰ 8/1/4)। पञ्चयजूंषि वैष्णवानि। हे हविः, त्वमग्नेस्तनूरसि अग्निसंज्ञो यो देवः सोमस्य राज्ञो भृत्यस्तस्य गायत्रीच्छन्दोऽधिष्ठातुस्तनूः शरीरं भवति तृप्तिजनकत्वात् तथाविध हे हविः, विष्णवे बहुयज्ञव्यापिने सोमाय सोमप्रीत्यर्थ त्वा त्वां निर्वपामीति शेषः। सोमस्य तनूरसि। सोमसंज्ञः कश्चित्सोमस्त स्य राज्ञो भृत्यस्त्रिष्टुपुछन्दोधिष्ठाता तस्य तृप्तिहेतुत्वात्तनूरसि। अन्यत्पूर्ववत्। अतिथेरातिथ्यमसि। अतिथिसंज्ञः सोमराजानुचरो जगतीच्छन्दो- धिष्ठाता। हे हविः, त्वमतिथेरतिथिसंज्ञस्य सोमभृत्सस्य आतिथ्यमसि आतिथ्य-नामसंस्काररूपमसि। तिथिविशेषं विनैवातिक्षुधया पीडिते विप्रेऽतियौ समागते तत्सत्काराय क्रियमाणः। पादक्षालनभोजनसंवहनादिसंस्कार आतिथ्यमुच्यते। अतिथेरिदमातिथ्यम् 'अतिथेन्र्यः' (पा॰ 5/4/26) इति त्र्यप्रत्ययः। विष्णवे त्वां निर्वपामीति पूर्ववत्। श्येनाय त्वा सोमभृते। श्येनोनामदेवः सोमराजानुचरः स्वर्गात्सोमहर्ता श्येनरूपधारिगायत्र्यधिष्ठाता तस्मै श्येनाय विष्णवे सोमाय च त्वां निर्वपामि। किंभूताय श्येनाय। सोमभृते सोमं हरति आनयतीति सोमहृत्तस्मै। 'हृग्रहोभश्छन्दसि' (पा॰ 8/2/32) इति हरतेर्हस्य भः। सोमानयनकर्त्रे। तथाच श्रुतिः 'सा यद्गायत्री श्येनो भूत्वा दिवः सोममाहरदिति' (3/4/1/12)। अग्नये त्वा रायस्पोषदे। रायस्पोषं धनपुष्टिं ददाति रायस्पोषदाः तस्मै। क्विप्प्रत्ययः। राज्ञो धनं क्रयविक्रयादिना बहुधा पोषयित्वा राज्ञेऽर्पयति स रायस्पोषदाः अग्निसंज्ञोऽपरः सोमानुचरोऽस्ति अनुक्तच्छन्दोऽधिष्ठाता

देव: तस्मे धनपुष्टिदायिनेऽग्नये हे हवि:, त्वा त्वां गृह्णामि। विष्णवे त्वेति पूर्ववत्। विष्णुशब्दामिधेयस्य सोमस्य राज्ञो हविषा तदनुचराणामग्न्यादिदेवानां द्वारा सत्संवन्धिनां गायत्र्यादिच्छन्दसां च तृप्तिर्भवति। तदाह तित्तिरि: यावखिवैं राजानुचरैरागच्छति सर्वेभ्यो वै तैभ्य आतिथ्यं क्रियते छन्दा्ँसि खलु वै सोमस्य राज्ञोऽनुचराणि' इति ॥1॥

द्वितीया

अ॒ग्नेर्ज॒नित्र॑मसि॒ वृष॑णौ स्थऽउ॒र्वश्य॑स्या॒यु॑रसि पु॒रू॒रवा॑ऽअसि। गा॒य॒त्रेण॑ त्वा॒च्छन्द॑सा मन्थामि॒ त्रैष्टु॑भेन त्वा॒च्छन्द॑सा मन्थामि॒ जाग॑तेन त्वा॒ छन्द॑सा मन्थामि ॥२॥

अन्वय : [हे!] अरणिकाष्ठ त्वम् अग्ने: जनित्रम् असि। [हे कुशद्वय! युवाम् वृषणौ स्थ। (हे अधरारणि/) त्वम् उर्वशी असि, आयु: असि, पुरुरवा असि। गायत्रेण छन्दसा त्वां मन्थामि। त्रैष्टुभेन छन्दसा त्वा मन्थामि जागतेन छन्दसा त्वा मन्थामि।

यहाँ अरणिमन्थन द्वारा अग्नि का प्राकट्य होता है।

व्याख्या : हे अरणिकाष्ठ तुम अग्नि के उत्पत्ति स्थान हो, हे कुशद्वय पवित्र तुम सेचन समर्थ हो। हे अधरारणि! तुम उर्वशी रुप हो क्योंकि तुम नीचे रहते है। हे स्थालीगतआज्य, तुम अरणिद्वयउत्पन्न अग्नि के आयु को बढ़ाने वाले हो। हे उत्तरअरणि तुम पुरुरवा स्थानीय हो। क्योंकि तुम उपर हो। हे अग्नि, गायत्री, त्रिष्टुप तथा जगती छन्द के अधिष्ठातादेवताओं से सम्बद्ध इन मन्त्रों द्वारा मन्थन करके तुम्हें उत्पन्न करता हूँ।

म० : अथाग्निनयनमन्त्रा:। 'अग्नेर्जनित्रमिति शकलमादाय वेद्यां करोतीति' (का० 5/1/28)। शकलदैवतं यजु:। हे शकल, त्वमग्नेर्जनित्रं जननाधारभूतमसि। जायतेऽस्मिन्निति जनित्रम्। 'वृषणाविति कुशतरुणे तस्मिन्निति' (का० 5/1/29)। तस्मिन्शकले करोतीत्यर्थ:। मन्त्रार्थस्तु। हे दर्भौ, युवां वृषणौ सेक्तारौ स्थ: भवथ:। वर्षत इति वृषणौ। कनिन्प्रत्यय:। यथा पुत्रजननाय स्त्रीपुरुषौ वीर्यस्य सेक्तारौ तद्वद्युवामप्यरण्योरग्निजनन-सामर्थ्यसंपादकावित्यर्थ:। 'उर्वश्यसीत्यधरारणिं तयोरिति' (का० 5/1/30)। शकलस्थापितयोर्दर्भयोरधरारणि निदध्यादिति सूत्रार्थ:। हे अधरारणे, त्वमुर्वशी

असि। यथोर्वशी पुरूरवोनृपस्य भोगायाधस्ताच्छेते तद्वत्त्वमधोऽवस्थितासीत्यर्थः। 'आयुरसीत्युत्तरयाज्यस्थालीᳫं सᳫंस्पृशेदिति' (का॰ 5/1/31)। उत्तरारण्याज्या-स्थाली स्पृशेदिति सूत्रार्थः। हे स्थलीगताज्य, त्वमायुरसि अरणिद्वयेन जनिष्यमाणस्याग्नेरायुःप्रदं भवसि। 'पुरूरवा इत्यभिनिधानं तयेति' (का॰ 5/1/31)। अधरारणेरभिमुखीमुत्तरारणि निदध्यादिति सूत्रार्थः। हे उत्तरारणे, त्वं पुरूरवा असि। यथा पुरूरवा नृप उर्वश्या अभिमुख उपरि वर्तते तथा त्वमपीत्यर्थः। उर्वशीत्यादिमन्त्रत्रयं श्रुत्या व्याख्यातम्। 'उर्वशी वा अप्सराः पुरूरवाः पतिरथ यतत्तस्मान्मिथुनादजायत तदायुरिति' (3/4/1/22)। 'मन्थति गायत्रेणेति प्रतिमन्त्रं त्रिः प्रदक्षिणमिति' (का॰ 5/2/2)। मन्त्रत्रयेणारण्योर्मन्थनं कुर्यात्। हे अग्ने, गायत्रेण छन्दसा, गायत्रीच्छन्दोभिमानिना देवेनाहं त्वा त्वां मन्थामि अरण्योमंन्थनेनोत्पादयामि। एवमुत्तरावपि मन्त्रौ योज्यौ ।।2।।

तृतीया

भवंतं नः समंनसौ सचैतसावरेपसौ। मा यज्ञᳫं हिंᳫंसिष्टं मा यज्ञपंतिञ्जातवेदसौ शिवौ भंवतमद्य नंः ।।३।।

अन्वय : हे जातवेदसौ नः समनसौ सचेतसौ अरेपसौ भवतम्। यज्ञं मा हिंसीष्ट यज्ञपतिं मा (हिंसीष्ट)। अद्य नः शिवौ भवतम्।

व्याख्या : हे निर्मथ्य (मन्थन से प्रादुर्भूत) अग्नि एवं आहवनीय अग्निद्वय हमारे यज्ञादि शुभकर्मों में तुम दोनों मिले हुए परस्परानुकूल मन एवं अन्तःकरण वाले (अनुग्रहाभिमुख हों। हमारे द्वारा किये गये अपराधों पर भी क्रोध न करने वाले हो। आप हमारे यज्ञ एवं यज्ञपति (यजमान) की हिंसा (हानि) न करें। आज आप दोनों हमारे लिए कल्याणकारी हों।

म॰ : 'भवतं न इति प्रास्यतीति' (का॰ 5/2/3)। मन्थनोत्थमग्नि-माहवनीये प्रास्यतीत्यर्थः। पङ्क्तिः। यस्याः अष्टार्णाः पञ्च पादाः सा पङ्क्तिः। अत्र तु तृतीयः षडक्षरः चतुर्थो दशार्णः। निर्मथ्याहवनीयावग्नी देवते। हे जातवेदसावुभावग्नी, नोऽस्मदर्थं युवामीदृशौ भवतम्। किंभूतो युवाम्। समनसौ मनसा सहितौ। तथा सचेतसौ समानं चेतो ययोस्तौ परस्परं समानचित्तयुक्तौ। अन्यविषयं मनः परिहृत्यास्मदनुग्रहाभिमुखत्वं समनस्त्वम्। अनुग्रहे परस्परविप्रतिपत्तिराहित्यं सचेतस्त्वम्। तथा अरेपसौ पापरहितौ प्रमादादस्माभिः कृतेऽपि पापे कोपाभावः पापराहित्यम्। तदेव स्पष्टयति।

यज्ञमस्मत्कर्म मा हिꣳसिष्टं मा विनाशयतम्। यज्ञपतिं यजमानं च मा हिꣳसिष्टम्। तथा अद्यास्मिन्ननुष्ठानदिने नोऽस्मदर्थ शिवौ शान्तौ कल्याण-कारिणौ भवतं पूर्वोक्तविधिना ।।3।।

चतुर्थी

अ॒ग्नाव॒ग्निश्च॑रति॒ प्रवि॑ष्ट॒ऽऋषी॑णां पु॒त्रोऽअ॑भिशस्ति॒पावा॑। स नः॑ स्यो॒नः सु॒यजा॑ यजे॒ह दे॒वेभ्यो॑ ह॒व्यꣳ सद॒मप्र॑युच्छ॒न्त्स्वाहा॑ ।।४।।

अन्वय : अग्नौ (आहवनीये) प्रविष्टः सन अग्निः चरति (हविर्भक्षयति), ऋषीणां पुत्रः अभिशस्तिपावा, सः अग्निः नः स्योनः (सुखरूपः) इह सुयजा यज। देवेभ्यः सदम् अप्रयुच्छन् हव्यं स्वाहा।

व्याख्या : मथ्यमानअग्नि देव आहवनीयअग्नि में प्रविष्ट होकर हवि का भक्षण करते हैं। यह अग्नि ऋत्विजादि-ऋषियों द्वारा उत्पन्न होने के कारण पुत्रवत् हैं। यह चारो ओरसे आनेवाली विपत्तियों का नाशक है। ऐसे हे, अग्नि आप हमें सुख प्रदान करें। इस परम कल्याणकारी यज्ञ को पूर्ण करें। देवताओं के लिए आप सर्वदा प्रमादरहित होकर हव्य का वहन करें। अतः यह आज्य आपके लिए सुहुत हो।

म० : 'अग्नावग्निरिति जुहोति स्थाल्याः स्रुवेणेति' (का० 5/2/6)। विराट्। दशाक्षरैश्चतुर्भिः पादैर्विराट्। अत्र द्वितीयतुर्यावेकादशार्णौ ततो द्व्यधिका। अग्निर्मथ्यमानोऽग्नावाहवनीये प्रविष्टः सन् चरति हविर्भक्षयति। 'चर गतिभक्षणयोः'। किंभूतोऽग्निः। ऋषीणां पुत्रः ऋत्विजो वेदविदः ऋषयः तैरुत्पादितत्वात्तेषां पुत्रवत्प्रियः। तथा अभिशस्तिपावा अभिशस्तिर्वैकल्पनिमित्तो-ऽभिशापस्तस्मात्पाति रक्षतीत्यभिशस्तिपावा। 'आतो मनिन-' (पा० 3/2/74) इति वनिप्प्रत्ययः। हे अग्ने, स तथाविधस्त्वं नोऽस्मदर्थं स्योनः सुखरूपः सन् सुयजा शोभनयागेन इहास्मिन् स्थाने देवेभ्यः इन्द्रादिभ्यः हव्यं सोमादिरूपं यज देहि। अस्मद्दत्तं हविर्देवान्प्रापयेत्यर्थः। किं कुर्वन्। सदं सदा अप्रयुच्छन् अप्रमाद्यन्। 'युच्छ प्रमादे'। स्वाहा इदमाज्यं तुभ्यं हुतमस्तु। यद्वा सोऽग्निर्नो हविर्देवेभ्यो यज यजतु ददात्विति पुरुषव्यत्ययेन वा योजना ।।4।।

पञ्चमी

आप॑तये त्वा॒ परि॑पतये गृह्णामि॒ तनू॒नप्त्रे॑ शाक्व॒राय॒ शक्व॑न॒ऽ

ओजिष्ठाय। अनाधृष्टमस्यनाधृष्यं देवानामोजोऽनभिशस्त्यभिशस्तिपाऽ अनभिशस्तेन्यमञ्जसा सत्यमुपगेषꣳ स्विते मा धाः ।।५।।

अन्वय : हे आज्य! परिपतये आपतये च त्वाम् गृह्णामि। तनूनप्त्रे शाक्वराय ओजिष्ठाय शक्वने अनाधृष्टम् त्वं भवसि। अनाधृष्यं देवानाम् ओजः अनभिशस्ति अभिशस्तिपा-असि। अञ्जसा अनभिशस्तेन्यं सत्यम् उपगेषं (उपगच्छेयम्)। मा स्विते धाः।

यहाँ तानूनप्त्र की विधि प्रस्तुत की गई है।

व्याख्या : हे आज्य, मैं सभी ओर से देह की रक्षा करने वाले प्राणदेवता (प्राणवायु) की प्रीति के लिए तुम्हें (इस पात्र मैं) ग्रहण करता हूँ। शरीर का पतन न होने देनेवाली-शक्ति जठराग्नि के लिए तुम्हें ग्रहण करता हूँ। हे आज्य! तुम अपराजित अतिरस्कृत हो अर्थात् कभी भी किसी से तिरस्कृत या निन्दित न होने वाले हो। तुम निन्दा से रहित हो, ऋत्विजों के परस्पर विरोधरूप निन्दा से रक्षा करने वाले हो। तुम देवताओं के तेज हो। तुम दोषादिरहित मनुष्य की रक्षा करने वाले हो। शीघ्रतापूर्वक मानस कौटिल्य से रहित सरल एवं सुगममार्ग की प्राप्ति के लिए आज्यरूप सत्य की शपथ ग्रहण करता हूँ। हे आज्य सुन्दर मार्ग वाले यज्ञ में हमें प्रवृत्त करो।

म० : 'ध्रौवं प्रतप्रदाने गृह्णात्यापतय इति द्विश्च स्थाल्याः स्रुवेणेति' (का० 8/1/19-20)। व्रत प्रदीयते येन पात्रेण तत्र पात्रे ध्रुवास्थमाज्यं गृह्णीयादिति सूत्रार्थः। वायुदेवत्यं यजुः। आ समन्तापतति गच्छतीत्यापतिः सततगतिर्वायुस्तस्मै हे आज्य, त्वां गृह्णामि। किंभूताय। परिपतये परितः पततीति परिपतिस्तस्मै सर्वव्यापिने। तथा तनूनप्त्रे तनोति विस्तारयति विश्वमिति तनूरात्मा तस्य नप्त्रे पौत्राय। शाक्वराय शकुवन्ति स्थातुं भूतानि यत्र स शक्कर आकाशस्तस्यापत्यं शाक्करस्तस्मै। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशद्वायुः' (तैत्ति० आरण्य० 8/1) इति श्रुतेः। तथा शक्कने शक्नोति सर्वं कर्तुमिति शक्वा तस्मै। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० 3/2/75)। इति वनिप्। ओजिष्ठाय। ओजो बलमस्यास्तीत्योजस्वी। 'अस्यासामेधास्रजो विनिः' (पा० 5/2/121) इति विनिप्रत्ययः। अतिशयेनौजस्वी ओजिष्ठस्तस्मै। 'अतिशायने तमविष्टनौ' (पा० 5/3/55)

इतीष्ठनि प्रत्यये 'विन्मतोर्लुक' (पा० 5/3/65) इति विनो लोपे टिलोपः। यद्वास्य मन्त्रास्यार्थान्तरं तित्तिरिव्याख्यातम्। हे आज्य, त्वामापतये प्राणदेवताप्रीतये गृह्णाम्यत्र पात्रे स्वीकरोमि। आसमन्तात्पाति देहं रक्षतीत्यापतिः प्राणः। तदाह तित्तिरिः 'प्राणो वा आपतिः प्रणमेव प्रीणातीति'। इष्टप्राप्त्युपायमनिष्ट-परिहारोपायं च चिन्तयित्वा परितः पाति पालयतीति परिपतिर्मनस्तत्प्रप्रीत्यै गृह्णामि। तदाह तित्तिरिः। 'मनो वै परिपतिर्मन एवं प्रीणाति' इति। तनूनप्त्रे। तनूं शरीरं न पातयति न विनाशयतीति तनूनप्ता। तनूं शरीरं न पातयति न विनाशयतीति तनूनप्ता जाठरोऽग्निस्तस्मै जाठराग्निदेवताप्रीत्यै आज्य, त्वां गृह्णामि। शाक्वराय शकनशीलः शक्करः शक्तिमान् पुरुषस्तस्येदं शाक्वरं शक्तिस्वरूपं तस्मै शक्तिस्वरूपाभिमानिदेवताप्रीत्यै त्वां गृह्णामि। शक्कने ओजिष्ठाय। शक्वने इति चतुर्थी सप्तम्यर्थे। शक्वनि शक्तिमति पुरुषे यदोजिष्ठं सारं तस्मै। ओजो नामाष्टमो धातुस्तत्सारमोजिष्ठं तदवष्टम्भेनैव शरीरे शक्तिरवतिष्ठते। ओजःसाराभिमानिदेवताप्रीत्यै त्वां गृह्णामीत्यर्थः। 'तनूनप्त्रमेतद्दक्षिणस्यां वेदिश्रोणौ निधायावमृशन्त्यृत्विजो यजमानश्चानाधृष्ट-मित्यद्रोहस्तेभ्यः' (का० 8/1/24-26) इति। आज्यदैवतं यजुः। हे आज्य, त्वमीदृशमसि। किंभूतम्। अनाधृष्टमितः पूर्व केनाप्यतिरस्कृतम्। अनाधृष्यं न आधर्षितुं शक्यमितः परमप्यतिरस्कार्यम्। देवानामग्नयादीनामोजः सारभूतम्। अनभिशस्ति नास्ति अभिशस्तिर्निन्दा यस्य तत्। अभिपूर्वः शंसतिर्गर्हायां वर्तते। अभिशस्तिपाः अभिशस्तिर्ऋत्विजां परस्परविरोधेन निन्दनं तस्याः पाति रक्षतीत्यभिशस्तिपाः। पुंस्त्वं छान्दसम्। अनभिशस्तेन्यम् अनभिशस्ते अनिन्दिते स्वर्गादौ नयतीत्यनाभिशस्तेनीः। द्वितीया प्रथमार्थे। पुंस्त्वं व्यत्ययेन। यतस्त्वमीदृशमसि अतो हे तानूनप्त्राज्य, अहमृत्विक् अञ्जसा ऋजुमार्गेण मानसकौटिल्यरहितेन सत्यमाज्यस्पर्शरूपं शपथमुपगेषमुपगच्छेयम्। उपपूर्वस्य गायतेर्लेटयुत्तमैकवचने 'सिब्बहुलं लेटि' (पा० 3/1/34) इति सिपि इडागमे 'लेटोऽढाटौ' (पा० 3/4/94) इत्यडागमे च रूपम्। 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० 3/4/97) इति इलोपः। किंच हे आज्य, स्विते शोभनमार्गे यज्ञकर्मणि मा मां त्वं धाः धेहि स्थापय। दधातेर्लुङि मध्यमैकवचनेऽडभावे रूपम् ॥5॥

षष्ठी

अग्ने॑ व्रतपास्त्वे व्र॑तपा या तव॑ त॒नूरि॒यꣳ सा मयि॒ यो मम॑ त॒नूरे॒षा सा त्वयि॑। स॒ह नौ॑ व्रतपते व्र॒तान्यनु॑ मे दी॒क्षान्दी॒क्षाप॑ति॒र्मन्य॑ता॒मनु॒

तपस्तपस्पतिः ।।६।।

अन्वय : हे व्रतपाः (अग्ने) त्वे (त्वं) व्रतपा भव। तव या तनूः सा मयि भवतु या उ मम तनूः सा एषा त्वयि भवतु। व्रतपते नौ हे अग्ने व्रतानिसह सहप्रवर्तन्ताम् दीक्षापतिः ते दीक्षाम् अनुमन्यताम्। तपस्पतिः तपः अनु। (अनुमन्यताम्)

व्याख्या : हे व्रतपालक अग्ने! आप हमारे वर्तमान व्रतों (कर्मों) के पालक हैं। आपका जो तेज है वह मेरे में प्रतिष्ठित हो अर्थात् मैं तेजस्वी बनूँ और जो मेरा शरीर है वह आप में प्रतिष्ठित हो। हम दोनों एक हों। हे व्रतों के अधिष्ठाता अग्नि हम दोनों के व्रत एक समान हो। दीक्षा के अधिपति-सोम मुझे दीक्षा लेने की अनुमति प्रदान करें। और उपसद्रूपतप के अधिष्ठाता तप को स्वीकार करे।

म० : 'अग्ने व्रतपा इत्याहवनीये समिधमाधायेति' (का० 8/2/4)। आग्नेयं यजुः। यजमानोऽनेन यजुषाग्निशरीरात्मशरीरयोर्व्यत्ययं करोति। हे व्रतपाः सर्वेषां व्रतानां पालकाग्ने, त्वे व्रतपाः त्वमस्मदीयस्य वर्तमानव्रतस्य पालको भवसीति शेषः। विभक्तेः शे आदेशे त्वे इति, रूपम्। तव तथाविधस्य व्रतपालकस्य या तनूः शरीमस्ति सेयं तनूर्मयि भवत्विति शेषः। यो या उ या च मम तनूः मदीयं शरीरं सैषा तनूस्त्वयि भवतु। तथा सति हे व्रतपते, व्रतपालकाग्ने, व्रतान्यनुष्ठेयानि कर्माणि नौ अग्नियजमानयोः सह प्रवर्तन्तामिति शेषः। यावान्व्रतेषु ममादरस्तावानेव तवापि भवत्वित्यर्थः। किंच। दीक्षापतिदीक्षायाः पालकः सोमो मे मम दीक्षामनुमन्यताम्। तथा तपस्पतिः उपसद्रूपस्य तपसः पालकः सोमः तपः मदीयमुपसद्रूपमनुमन्यतामित्यनुवर्तते ।।6।।

सप्तमी

अꣳशुरꣳशुष्टे देव सोमाप्यायतामिन्द्रायैकधनविदे। आ तुभ्यमिन्द्रः प्यायतामा त्वमिन्द्रायप्यायस्व। आप्याययास्मान्सखीन्त्सन्या मेधया स्वस्ति ते देव सोम सुत्यामशीय। एष्टा रायः प्रेषे भगाय ऋतमृतवादिभ्यो नमो द्यावापृथिवीभ्याम् ।।७।।

अन्वय : (हे) देव सोम! ते अंशुः अंशुः एकधनविदे इन्द्राय आप्यायताम्। इन्द्रः तुभ्यम् आप्यायताम्। त्वम् इन्द्रम् आप्यायस्व। हे सोम

अस्मान् सखीन् सन्या मेधया आप्यायय्। हे देव सोम! ते स्वस्ति सुत्याम् अशीय। इष्टाः रायः आ, इषे भगाय प्र ऋतवादिभ्यः ऋतम् द्यावापृथिवीभ्यां नमः।

व्याख्या : हे दिव्यगुण गण सम्पन्न सोम! तुम्हारा प्रत्येक अंकुर एकमात्र सोमरुपधन को प्राप्त करने वाले इन्द्र को तृप्त करे। हे सोम इन्द्र तुम्हें वर्षा आदि के द्वारा प्रवृद्ध करें। हम मित्रों को ऋत्विजों को) धन एवं बुद्धि प्रदान कर (इन्द्र से) तृप्त कराओ। हे सोम, तुम्हारा कल्याण हो। मैं (तुम्हारी कृपा से) सोभाभिषव क्रिया की सम्पन्न करुँ और अभीष्ट धन की प्राप्ति करूँ। हम सत्यवादियों को इस कर्म का समुचित फल प्राप्त हो। द्यु और पृथ्वी को नमस्कार हो।

यहाँ सोम को जल से आप्यायित करने का प्रसंग है। क्योंकि सोम का जो भाग उष्णता आदि के द्वारा म्लान या सूख गया है वह जल सिंचन से हरा भरा हो जाता है।

म० : 'यजमानषष्ठाः सोममाप्याययन्त्वꣳशुरꣳशुरिति' (का० 8/2/6)। प्रकृतिः चतुरवसाना सोमदेवत्या। अन्त्योऽर्धर्चो लिङ्गोक्तदैवतः। चतुरशीत्यक्षरा प्रकृतिः। तत्र मन्त्रद्वयम्। सोमवल्लया अवयवोंऽशुरुच्यते। वीप्सा सर्वसंग्रहार्थ। हे सोमदेव, ते तवांशुरंशुः सर्वोऽप्यवयव इन्द्राय इन्द्रप्रीत्यर्थमाप्यायतां वर्धता चिरावस्थानेन यः सोमावयवो म्लानः शुष्कश्च तदुभयं मन्त्रेणाप्यायितं भवति। तदाह तित्तिरिः। 'यद्देवस्य शुष्यति यन्म्लायते तदेवास्यैतेनाप्याययति' इति। किंभूतायेन्द्राय। एकनधनविदे एकं मुख्यं धनं सोमरूपं विन्दते लभते स एकधनवित्। यद्वा सोमकण्डनाय यैर्जलमानीयते ते कुम्भा एकधनाः। एकं धनं सोमरूपं यत्रेति तान्वेति जानातीति। सोमकण्डनाय जलकुम्भा आनीता इति जानातीत्यर्थः। किंच हे सोम, तुभ्यं त्वत्पानार्थमिन्द्र आप्यायतां वर्धताम्। तथा हे सोम, त्वमपि इन्द्रायेन्द्रपानायाप्यायस्व सर्वतो वृद्धो भव। अनेनोभयोरपि वृद्धिर्भवति। तदाह तित्तिरिः 'उभावेवेन्द्रं च सोमं चाप्याययति' इति। किंच हे सोम, सखीन् सखिवत्प्रीतिविषयानस्मानृत्विजः सन्या मेधया चाप्यायय प्रवर्धय। सनिर्धनदानं मेधार्थधारणशक्तिः। 'ऋत्विजो वा अस्य सख्यायः' इत्युक्तेः सखिशब्देन ऋत्विजः। किंच हे सोमदेव, ते तव स्वस्ति क्षेमोऽस्तु। त्वं प्रसादादहं सुत्यां सोमाभिषवक्रियां

समाप्तिदिनमशीय प्राप्नुयाम्। 'प्रत्येत्य प्रस्तरे निह्नुवत उत्तानहस्ता दक्षिणोत्ताना वेष्टा राय' (का० 8/2/9) इति। सर्वेऽपि ऋत्विजः प्रस्तरे निजहस्तानुत्तानान्कृत्वा दक्षिणहस्तं वोत्तानमुपर्यवस्थाप्य निह्वते सोमं परिचरन्तीति सूत्रार्थः। रायो धनानि एष्टाः आ समन्ताद्गताः। यजते रूपम्। दक्षिणा दास्यन्त इति भावः। किमर्थं। प्रेषे भगाय। प्रकर्षेणेष्यत इति प्रेट् तस्मै प्रेष्यमाणाय भगायैश्वर्याय। यद्वा प्रकर्षेण इषे अन्नाय भगाय च। किंच ऋतवादिभ्योऽग्निहोत्रिभ्यः: ऋतमवश्यंभाविफलोपेतं कर्म संपादयेति शेषः। ऋतं सत्यं वदन्तीति ऋतवादिनः। यद्वा षष्ठयर्थे चतुर्थी। ऋतवादिनामस्माकमृतं कर्मफलमस्त्विति शेषः। द्यावापृथिवीभ्यां तदाभिमानिदेवताभ्यां नमोऽस्तु। तयोनुग्रहेण यजमानायाविघ्नस्थितिर्भवतीति नमस्क्रियते। तदाह तित्तिरिः 'द्यावापृथिवीभ्यामेव नमस्कृत्यास्मिंल्लोके प्रतितिष्ठति' इति ।।7।।

अष्टमी

या ते॑ अग्नेऽयःशया त॒नूर्वर्षि॑ष्ठा गह्व॒रे॒ष्ठा। उ॒ग्रं वचो॒ अपा॑वधीत्त्वे॒षं वचो॒ अपा॑वधी॒त्स्वाहा॑। या ते॑ अग्ने रजःश॒या त॒नूर्वर्षि॑ष्ठा गह्व॒रे॒ष्ठा। उ॒ग्रं वचो॒ अपा॑वधीत्त्वे॒षं वचो॒ अपा॑वधी॒त्स्वाहा॑। या ते॑ अग्ने हरिश॒या त॒नूर्वर्षि॑ष्ठा गह्व॒रे॒ष्ठा। उ॒ग्रं वचो॒ अपा॑वधीत्त्वे॒षं वचो॒ अपा॑वधी॒त्स्वाहा॑ ।।८।।

अन्वय : हे अग्ने! ते या तनूः अयःशया वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा, उग्रं वचः अपावधीत त्वेषं वचः अपावधीत, स्वाहा। हे अग्ने या ते तव रजःशया वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा उग्रंवचः अपावधीत त्वेषं वचः अपावधीत स्वाहा। हे अग्ने ते या तनू हरिशया, बर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा् उग्रं वचः अपावधीत त्वेषं वचः अपावधीत् स्वाहा।

व्याख्या : हे अग्निदेव आपका जो शरीर लोहे के पुर (लौहमय पुरी) में व्याप्त है वह देवों के लिए अभिमत (यथेच्छ) फल को प्रदान करें। तथा जो शरीर असुरों के उच्चावचप्रदेशों में रहने वाला है, वह असुरों की कठोर वाणी (छिन्धि भिन्धि) को नष्ट करे, ऐसे उपकार कर्ता आपके लिए यह हवि प्रदत्त है। हे अग्निदेव इसी प्रकार आपका जो रजतमय (चाँदी) शरीर है, वह देवों के लिए अभीष्ट फल प्रदान करने वाला एवं असुरों के उच्चावचविषम प्रदेशों में रहने वाला है। वह

असुरों की कठोरवाणी एवं सन्ताप हेतु उद्दीप्तवाक्यों को नष्ट करने वाला है। ऐसे उपकारी आप के लिए यह हवि प्रदत्त है। हे अग्निदेव इसी तरह आपका जो शरीर सुवर्णपुर में निवास करने वाला है (सुवर्णमय है) वह देवों के लिए अभिमत फलदाता तथा असुरों के विषमप्रदेश में स्थित है, वह आपका शरीर असुर प्रोक्त तीव्र वचनों का विनाशक है तथा आक्षेपरुप दीप्तवाक्यों को नष्ट करने वाला है। इस प्रकार के उपकारक आपके निमित्त यह हवि प्रदत्त है।

यहाँ उपसद होम की विधि प्रस्तुत है। इसमें तीन उपसद करने का विधान है। प्रतिदिन सायं प्रातः उपसद होम किया जाता है। (का.श्रौ. सू. 6, 2, 24) उपसद का अर्थ घेरा है जो अपनी सुरक्षा के लिए नगर के चारों ओर राजा लोग डालते थे। जैसे लंकेश रावण ने किया था। श. ब्रा. 3-4-4-3 के अनुसार संग्राम में देवताओं के द्वारा पराजित असुरों ने तप के प्रभाव से तीनों लोकों में क्रमशः लोहा चाँदी एवं सोने के तीन पुरों को निर्माण किया जो शत्रु के लिए अभेद्य था। देवताओं की प्रार्थना पर उपसदनेता रूप अग्नि ने उन सबमें देवता के रुप में प्रविष्ठ होकर उन्हें भस्म कर दिया ओर वे तीनों ही अग्नि के तीन रुप बन गये।]

म॰ : 'उपसदं जुहोति स्रुवेण या ते इति' (का॰ 8/2/35)। आग्नेयानि त्रीणि यजूंषि। अत्रेयमाख्यायिकास्ति। देवैः पराजिता असुरास्तपस्त-प्त्वा त्रैलोक्ये त्रीणि पुराणि चक्रुर्लोहमयीं भूमौ, राजतीमन्तरिक्षे हैमीं दिवि। तदा देवैस्ता दग्धुमुपसदाग्निराराधितः। तत उपसद्देवतारूपोऽग्निर्यदा तासु पूर्षु प्रविश्य या ददाह तदा तिस्रः पुरोऽग्नेस्तनवोऽभूवन्। तदभिप्रेत्यायं मन्त्रः। हे अग्ने, या ते तवायःशया तनूः अयसि शेते इत्ययःशया। लोहमयीत्यर्थः। लोहमयपुरव्यापित्वेन तद्रूपा सती। वर्षिष्ठा देवानामतिशयेनाभि-मतफलवर्षिणी। तथा गह्वरेष्ठां गह्वरे असुराणां विषमे देशे तिष्ठतीति गह्वरेष्ठा। 'हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्' (पा॰ 6/3/9) इति विभक्तेलुक्। सा ते तनूरुग्रं वचोऽपावधीत्। छिन्धिभिन्धीत्यादिकमसुरप्रोक्तं तीव्रं वचनं विनाशितवती। तथा त्वेषं वचः असुरोक्तं देवाधिक्षेपरूपं प्रदीप्तं वाक्यमपावधीत्। स्वाहा तथाविधोपकाराय तुभ्यमग्नये हविर्दत्तम्। 'ततोऽसुरा एषु लोकेषु पुरश्चक्रिरे। अयस्मयीमेवास्मिंल्लोके रजतामन्तरिक्षे हरिणीं दिवि' (3/4/4/3)

इत्यादिश्रुत्या अयमितिहासो निरूपितः। उग्रत्वेषंवचसोरर्थान्ततरम्। यथा असुरैः पराजिता देवा अन्नपाने अलभमानाः क्षुत्पिपासाभ्यां वयं पीडिता इति यदूचुस्तदुग्रं वचः। तथा किं वा वीरहत्यादिमहापातकमस्माभिः कृतमिति क्लिश्यन्तो यद्वाक्यं संतापहेतुत्वेन दीप्यमूचुस्तत्त्वेषं वचः। तदाह तित्तिरिः। 'अशनायापिपासे ह वा उग्रं वच एनश्च वै वीरहत्यं च त्वेषं वचः' इति। 'एवमितरे अन्वहꣳरजःशयाꣳहरिशयां चेति' (का० 8/2/38)। यथा प्रथमदिने या ते अग्नेऽयःशयेत्युपसदेवमितरे द्वितीयतृतीये उपसदौ द्वितीयतृतीयदिनयोनरनुतिष्ठत्। द्वितीयस्यामुपसदि रजःशयेति तृतीयोपसदि हरिशयेति मन्त्रभेद इति सूत्रार्थः। रजःशया रजतमयी। हरिशया हिरण्यमयी। अन्यत्पूर्ववत् ॥8॥

नवमी

तप्तायंनी मेऽसि वित्तायंनी मेऽस्यवंतान्मा नाथितादवंतान्मा व्यथितात्। विदेदग्निर्नभो नामाग्नेंऽअङ्गिरऽआयुंना नाम्नेहि योऽस्यां पृंथिव्यामसि यत्तेऽनांधृष्टंन्नामं यज्ञियं तेन त्वादंधे विदेदग्निर्नभो नामाग्नें अङ्गिर आयुंना नामाग्नेहि यो द्वितीयंस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनांधृष्टं नामं यज्ञियं तेन त्वादंधे विदेदग्निर्नभो नामाग्नें अङ्गिर आयुंना नाग्नेहि यस्तृतीयंस्यां पृथिव्यामसि यत्तेनांधृष्टं नामं यज्ञियं तेन त्वादंधे। अनुं त्वा देववींतये ॥९॥

अन्वय : हे पृथिवि! मे तप्तायनी असि में वित्तायनी असि, मां नाथिताद् अवतात् मा व्यधिताद् अवतात्। नभः नामा अग्निः विदेत्। अंगिरः अग्ने आयुना नाम्ना एहि। अस्यां पृथिव्याम् असि ते यज्ञियम् अनाघृष्टं नाम तेन त्वा आदधे, नभो नामा अग्निः विदेत्। अंगिरः अग्ने आयुना नाम्ना एहि। यः द्वितीयस्यां पृथिव्याम् असि यत् ते यज्ञियम् अनाधृष्टं नाम तेन त्वा आदधे, नभः विदेत। हे अंगिर अग्नेः आयुना नाम्ना एहि यः तृतीयस्यां पृथिव्याम् असि, यत् ते यज्ञियम् अनाधृष्टं नाम तेन, त्वा आदधे। देववीतये त्वा अनु। (आहरामि)

व्याख्या : हे पृथिवी (भूमि) तुम मुझे (क्षेत्ररहित होने से संतप्त को) शरणदेने वाली हो, मेरे लिए तुम धन का भण्डार हो, मेरी याचक वृत्ति से रक्षा करो, मुझे कष्ट और पीड़ा से बचाओं। नभ नामक तुम्हारा

अधिष्ठाता अग्नि इस कर्म को जाने। हे गतियुक्त (कम्पनशील) अग्नि आयु नाम से अभिहित होकर आप यहाँ आये, जो इस पृथिवी में व्यापक होकर रहते है। यह जो आपका यज्ञसम्बन्धी विजयशील नाम है उस नाम से आपको यहाँ स्थापित करता हूँ। नभ नामक अग्नि इस कर्म को जाने। हे गतियुक्तअग्निदेव आयुनाम से अभिहित होकर आप जो इस दृश्यमान पृथिवी पर स्थिति है। तथा आपका जो यज्ञयोग्य नाम अग्नि है वह किसी के द्वारा तिरस्कृत नही है। उसी नाम से युक्त आपको मैं स्थापित करता हूँ। हे गतियुक्तअग्निदेव आप नभ संज्ञक है आप आयू नाम से अभिहित होकर आये है। अन्तरिक्ष में जो आपका यज्ञयोग्य अग्निनाम है वह याज्ञिको द्वारा अतिरस्कृत है उसी नाम से युक्त आपको मैं स्थापित करता हूँ। हे चात्वालगत मृत्तिके! गतिमान् नभ संज्ञक अग्निदेव तुम्हें जाने। आप जो इस तृतीय भूमि मै स्थापित हैं तथा आपका यज्ञीय अग्नि नाम प्रसिद्ध है वह अतिरस्कृत है उसी नाम से आपको स्थापित करता हूँ। (हे मृत्तिके! देवो के प्रीत्यर्थ तुम्हें मैं पूर्वोक्त आहरणत्रय के अनुसार आहृत करता हूँ)

यहाँ चात्वाल का परिलेखन एवं मृत्तिका खनन का निर्देश किया गया है। मृत्तिका खनन, मृत्तिका हरण मृत्तिका स्थापन क्रिया तीन बार की जाती है।

म॰ : 'शम्यामादाय चात्वालं मिमीते पूर्वेणोत्करꣳ संचरं परिहाप्य शम्यामुदीचीं निदधाति पुरस्ताच्च दक्षिणतः प्राचीमुत्तरतश्च स्फ्येनान्तलिंखति तप्तायनीति प्रतिमन्त्रमिति' (का॰ 5/3/20-25)। उत्तरवेदिनिचयार्थ यत्र भूप्रदेशे मृदं खनति स प्रदेशश्चात्वाल उच्यते। तत्रोत्करात्पूर्वस्यां संचरपरिहा- रेणोदगग्रां शम्यां निधाय तत्प्रमाणां तत्पूर्वपाश्र्वे स्फ्येन रेखां कुर्यात्। तथा तत्पूर्वपाश्र्वे तथैव शम्यां निधाय रेखां कुर्यात्। अभ्यन्तरे एवं दक्षिणोत्तरयोरपि प्रागग्रां शम्यां निधाय रेखाद्वयं कुर्यादिति सूत्रार्थः। अस्यां कण्डिकायां चतुर्दश यजूंषि। तत्राद्यानि चत्वारि पृथिवीदेवत्यानि। तत्र प्रथमं परिलिखति। हे पृथिवी, त्वं मे ममानुग्रहार्थं तप्तायनी असि। तप्तं पुरुषमयति प्राप्नोतीति तप्तायनी। यो हि दरिद्रः क्षेत्ररहितोऽहमिति संतप्यते तं तापोपशान्त्यर्थं प्राप्नोसित्यर्थः। यद्वा तप्तः सन्नरो यस्यामयति सा तप्तायनी ममासि। द्वितीयं लिखति। वित्तार्थं नरो यस्यामेतीति वित्तायनी। यद्वा वित्तार्थं विर्धनं

पुरुषमयतीति वित्तायनी। पृथिव्यां हि प्राप्तायां सस्यनिष्पत्तिद्वारा महद्धनं लभ्यते। तृतीयं परिलिखति। हे पृथिवी, नाथितात् याचितात् मा मां त्वम् अवतात् रक्ष। 'तुह्योस्तातङ्-' (पा॰ 7/1/35) इति हेस्तातङादेशः। यथा कमपि न याचे तथा मां कुर्वित्यर्थः। नाथतिधातुर्याश्चार्थः। चतुर्थ परिलिखति। 'व्यथ भयचलनयोः'। व्यथितात् भयाच्चलनात् स्थानभ्रंशाच्च मा मामवतात् रक्ष। 'विदेदग्निरिति चात्वाले प्रहरति स्फ्येनेति' (का॰ 5/3/26)। प्रहरति मृत्तिकां खनेदित्यर्थः। अग्नेयं यजुः। हे चात्वालगतमृतिके, नमोनामाग्निर्नभः संज्ञस्त्वदधिष्टाताग्निर्विदेवत् त्वां जानीयात्। मया खन्यमानां त्वां त्वदधि ष्ठातानुजानात्वित्यर्थः। अग्निनामोच्चारणपुरःसरं प्रहरेत। तथाच श्रुतिः 'स वा अग्नीनामेव नामानि गृह्णन् हरति' (3/5/1/31) इति। 'अग्ने अङ्गिर इति पुरीषं प्रहरतीति' (का॰ 5/3/27) पुरीषं खातामृत। हे अग्ने, हे अङ्गिरः, अङ्गिर्गतिरस्यास्तीति अङ्गिराः। मत्वर्थे रस्प्रत्ययः। तत्संबोधनं हे अग्ने, त्वामायुना नाम्नाभिहितः सन् एहि गच्छ। एति गच्छतीत्यायुपग्नेर्नाम। अधिष्ठातर्यागत एवाधिष्ठेयमागच्छतीत्यग्नेरागमनादिकं प्रार्थ्यते। 'योऽस्यामिति निवपति पूर्वार्धे शङ्कसहितमिति' (का॰ 3/5/28)। उत्तरवेदिस्थाने मृदं निक्षिपेदित्यर्थः। हे अग्ने, यस्त्वमस्यां दृश्यमानायां पृथिव्यां भूमावसि। किंच ते तव यज्ञियं यज्ञयोग्यं यत् नामाग्निरिति प्रसिद्धमनाधृष्यं केनापि याज्ञिकेनातिरस्कृतं तेन त्वादधे तेन नाम्रा युक्तं त्वां स्थापयामि। 'एवं द्विरपरं द्वितीयस्यां तृतीयस्यामिति विशेष इति' (का॰ 5/3/30-31)। यथा पूर्वैस्त्रिभिर्मन्त्रैः वात्वा हृत्वा मृत्प्रक्षिप्ता वेद्यर्थमेतत्त्रितयं पुनरपि द्विः कुर्यादिति मन्त्रयोः तत्रास्यामिति पदस्थाने द्वितीयस्यां तृतीयस्यामिति पाठविशेष इति सूत्रार्थः यद्यपि पृथवीशब्देन भूमिरेव तथापि द्वितीयस्यामिति तृतीयस्यामिति विशेषणत्वाद्द्वितीया पृथिव्यन्तरिक्षं तृतीया पृथिवी द्यौः। अन्यत् पूर्ववद्याख्येयम्। 'अनु त्वेति चतुर्थ यथार्थमाहृत्येति' (का॰ 5/3/32)। यथा पूर्वस्मिन्पर्यायत्रये मृदाहृत्य प्रक्षिप्ता एवं चतुर्थमपि प्रक्षेपणपर्यन्तं मृदाहरणं कुर्यादिति सूत्रार्थः। देववीतये देवानां प्रीतये हे मृत्तिके, त्वा त्वामनु पूर्वोक्तमाहरणत्रयमनुसृत्याह-रामीति शेषः ॥9॥

दशमी

सि॒ꣳहीर॑सि सपत्नसा॒ही दे॒वेभ्यः॑ कल्पस्व सि॒ꣳहीर॑सि सपत्नसा॒ही दे॒वेभ्यः॑ शुन्धस्व सि॒ꣳहीर॑सि सपत्नसा॒ही दे॒वेभ्यः॑ शुंभस्व ॥१०॥

अन्वय : हे उत्तरवेदि! त्वं सिंही असि, सपत्नसाही देवेभ्यः कल्पस्व। हे उत्तरवेदि त्वं सपत्नसाही सिंही असि देवेभ्यः शुन्धस्व। सपत्नसाही त्वं सिंही असि देवेभ्यः शुम्भस्व।

व्याख्या : हे उत्तरवेदि! तुम सिंह के समान पराक्रमयुक्त होकर शत्रुओं को अभिभूत करती हो, अतः देवताओं के हित के लिए उत्तरवेदी के रुप में समर्थबनो शुद्ध बनो, तथा देवताओं को सुशोभित करों। अर्थात् सिकताप्रक्षेपण से तुम अलंकृत होओं।

म० : 'सिꣳह्यसीति व्यूहत्युत्तवेदिꣳशम्यामात्रामिति' (का० 5/3/32)। विशेषेण पांसुभिः समां करोति। त्रयाणां वेदिर्देवता। वाक् पूर्वमसुरेभ्यः क्रुद्धा सिंही भूत्वा चचारेतीतिहासः। सा वेदिमन्त्रेषूच्यते। हे उत्तरवेदे, या त्वं सिंही सिंहसमाना भूत्वा सपत्नसाही सपत्नान् सहत्तेऽभिभवतीति सपत्नसाही कर्मण्यण्। शत्रूणामभिभवित्री असि भवसि। अतो देवेभ्यः देवोपकारार्थं कल्पस्व समर्था उत्तरवेदिरूपेण कृप्ता भव। 'प्रोक्षत्युत्तरवेदिꣳसि-कताश्च प्रकिरति सिꣳह्यसीति प्रतिमन्त्रमिति' (का० 5/3/37)। हे उत्तरवेदे, शुन्धस्व शुद्धा भव। 'शुन्ध शुद्धौ'। अन्यत्पूर्ववत्। हे उत्तरवेदे, त्वं शुम्भस्व सिकताप्रक्षेपेण शोभिता भव। अन्यत्पूर्ववत्। शुंभतिरलंकारार्थः ।।10।।

एकादशी

इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पातु प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात्पातु मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पातु विश्वकर्मा त्वादित्यैरुत्तरतः पात्विदमहं तप्तं वार्बहिर्धा यज्ञान्निःसृजामि ।।११।।

अन्वय : (हे उत्तरवेदि), इन्द्रघोषः, वसुभिः सह त्वां पुरस्तात् पातु। प्रचेताः रूद्रैः सह पश्चात् त्वा पातु। मनोजवाः पितृभिः दक्षिणतः त्वा पातु विश्वकर्मा आदित्यैः उत्तरतः त्वा पातु। अहं तप्तं वाः (उदकं) यज्ञात् बहिर्धा निःसृजामि।

व्याख्या : हे उत्तरवेदि! इन्द्र का जयघोष अथवा इन्द्र देव आठवसुओं के साथ पूर्वदिशा मैं तुम्हारी रक्षा करें। प्रकृष्टज्ञानी वरुणदेव एकादशरूद्रों के साथ पश्चिम दिशा में तुम्हारी रक्षा करें। मन के समान वेगवाले यम अर्यमाआदि पितरों के साथ दक्षिण में रक्षा करें। जगत की उत्पत्ति करने वाले विश्वकर्मा बारह आदित्यों के साथ उत्तर दिशा में

तुम्हारी रक्षा करें। मैं असुरों के निवारणार्थ उग्रभूत प्रोक्षणावशेष जल को यज्ञशाला से बाहर की ओर गिराता हूँ।

यहाँ वेदि का प्रोक्षण इस मन्त्र से हो रहा है।

म० : 'वेद्यन्तरे स्थित्वोदङ्त्तरवेदि प्रोक्षतीन्द्रघोष इति प्रतिमन्त्रं प्रतिदिशं यथालिङ्गमिति' (का० 5/4/11)। चतुर्णां यजुषामुत्तरवेदिर्देवता। इन्द्र इति शब्देन घुष्यते विस्पष्टं कथ्यते। यो देवः सोऽयमिन्द्रघोषः वसुभिः अष्टसंख्याकैर्गणदेवैर्युक्तः सन् हे उत्तरवेदे, त्वा त्वां पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि पातु रक्षतु। प्रचेता:प्रकृष्टप्रज्ञो वरुणो रुद्रैरेकादशसंख्यैर्गणदेवैः सहितः पश्चात्पश्चिमायां दिशि त्वां पातु। मनोजवाः मनोवद्वेगयुक्तो यमो देवः पितृभिः स्वर्लोकवासिदेवविशेषैर्युक्तो दक्षिणः दक्षिणस्यां दिशि त्वा त्वां पातु। विश्वकर्मा विश्वानि कर्माणि जगदुत्पत्त्यादीनि यस्य स विश्वकर्मा आदित्यैः द्वादशसंख्यैर्गणद्रेवैः सहित उत्तरतः उत्तरस्यां दिशि त्वां पातु। एकदा असुरा देवान्हन्तुमागतास्तदा देवसेनाधिपतय इन्द्रघोषादयश्चतसृषु दिक्षु तानसुरानपाकुर्वन्। तस्मादेतैर्मन्त्रैर्दिक्चतुष्टये रक्षा प्रार्थनीया। तदाह तित्तिरिः 'असुरा वज्रमुद्यम्य देवानभ्यायन्त तानिन्द्रघोषो वसुभिः पुरस्तादपानुदत्' इत्यादि। 'बहिर्वेदिशेषं निषिञ्चतीदमहं तप्तं वारिति' (का० 5/4/12)। असुरनिवारणाय येनोदकेन प्रोक्षणं कृतं तदुदकमुग्ररूपत्वात्तप्तमित्युच्यते। तप्तमिदं वाः उदकं प्रोक्षणशेषभूतं यज्ञाद्वहिर्धा यज्ञप्रदेशाद्वाह्यप्रदेशेऽहं निःसृजामि निक्षिपामि ॥11॥

द्वादशी

सिꣳहीरसि स्वाहा सिꣳहीरस्यादित्यवनिः स्वाहा सिꣳहीरसि ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः स्वाहा सिꣳहीरसि सुप्रजावनी रायस्पोषवनिः स्वाहा सिꣳहीरस्यावह देवान्यजमानाय स्वाहा भूतेभ्यस्त्वा ॥१२॥

अन्वय : (हे उत्तरवेदि) त्वं सिंही असि तुभ्यं स्वाहा। आदित्यवनिः सिंही असि स्वाहा, ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः सिंही असि स्वाहा। सुप्रजावनिः रायस्पोषवनिः सिंही असि स्वाहा सिंही असि् यजमानाय देवान् आवह। हे जुहू। स्वाहा भूतेभ्यः त्वाम् उद्यच्छामि।

व्याख्या : हे उत्तरवेदि तू विपरीत बुद्धि वाले अनिष्टकारी तत्वों को भक्षण करने के लिए सिंहीरुपा हो। तुम्हें यह हवि प्रदत्त है।

तुम आदित्यों को आनन्दित करने वाली हो, तुम्हें यह हवि प्रदत्त है। तुम बाह्मणजाति एवं क्षत्रिय जाति को प्रसन्न करने वाली हो, ऐसे तुम्हें यह हवि प्रदत्त हो। हे सिंहरूपा उत्तरवेदि तुमं पुत्रपौत्रादिरुप सुन्दर प्रजा की सम्पादिका है। हे उत्तरवेदि यजमानों के उपकारार्थ (कल्याण के लिए) देवताओं को यहाँ ले आओ। तुम्हें यह हवि प्रदत्त हो। (हे आज्ययुक्त जुहू) तुम्हें जरायुजादिचतुर्विध प्राणियों के कल्याण के लिए तुम्हारा ग्रहण करता हूँ।

म॰ : नाभ्योः श्रोण्यꣳसेषु पञ्चगृहीतं जुहोत्यक्ष्णया दक्षिणेꣳसे श्रोण्याꣳश्रोण्यामꣳसे मध्ये च हिरण्यं पश्यन् सिꣳह्यसीति' (का॰ 5/4/14)। योऽयमुत्तरवेदेर्नाभ्याख्यो मध्यदेशस्तस्य श्रोण्यंसेषु आग्नेयैशकोणावंसौ वायव्यनैर्ऋतकोणौ श्रोणी तेषु चतुर्षु मध्ये च जुह्वां पञ्चवारं गृहीतेनाज्येन जुहुयात्। कथम्। अक्ष्णया कोणसूत्रप्रदेशेन। तद्यथा। प्रथमं दक्षिणेंऽसे तत उत्तरश्रोणौ ततो दक्षिणश्रोणौ तत उत्तरांसे ततो मध्ये एवं पञ्चसु स्थानेषु हिरण्यं निधाय तदवलोकयन्पञ्चभिर्मन्त्रैर्जुहुयादिति सूत्रार्थः। पञ्च यजुषां वाग्देवता। पुरा कदाचिदुत्तरवेदिदेवता केनापि निमित्तेन धृत्वा तस्थौ। तदयं मन्त्र आह। तुदक्तं तित्तिरिणा 'तेभ्योऽपक्रम्योत्तरवेदिः सिंहीरूपं कृत्वोभयानन्तरातिष्ठत्' इति। तदभिप्रेत्य सिंही उच्यते। हे उत्तरवेदे, त्वं सिंह्यसि किंभूता। आदित्यवनिः आदित्यान् वनुते संभजति प्रीणयतीत्या-दित्यवनिः। अन्यत्पूर्ववत्। सिंह्यसि ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः ब्रह्म क्षत्रं च वनुत इति ब्राह्मणजातिक्षत्रियजात्योः प्रीणयितृत्वमत्र विशेषः। सिंह्यसि सुप्रजावनिः पुत्रपौत्रादिरूपायाः शोभनप्रजायाः संपादयित्री। रायस्पोषवनिः सुवर्णरजतादि-धनपुष्टेः संपादयित्री। सिंह्यसि यजमानाय यजमानोपकारार्थं देवानावहानयेति विशेषः। 'भूतेभ्यस्त्वेति स्रुचमुद्यच्छतीति' (का॰ 5/4/15)। भूतेभ्यः जरायुजा-ण्डजादिचतुर्विधभूतग्रामप्रीत्यर्थं हे होमविशेषाज्ययुक्तो जुहूः, त्वामुद्यच्छामीति शेषः। तदाह तित्तिरिः 'भूतेभ्य स्त्वेति स्रुचमुद्गृह्णाति य एव देवा भूतास्तेषां तखागधेयं भवति तानेव तेन प्रीणाति' इति ।।12।।

त्रयोदशी

ध्रुवोऽसि पृथिवीन्दृꣳह ध्रुवक्षिदस्यन्तरिक्षंदृꣳहाच्युतक्षिदसि दिवन्दृꣳह्याग्नेः पुरीषमसि ।।१३।।

अन्वय : (हेमध्यमपरिधि) त्वं ध्रुवः स्थिरोऽसि पृथिवीं दृंह। ध्रुवक्षिद् असि, अन्तरिक्षं दृंह, अच्युतक्षिद् असि, दिवं दृंह। त्वम् अग्नेः पुरीषम् असि।

व्याख्या : (हे मध्यमपरिधि) तुम स्थिर हो अतः पृथिवी को दृढ बनाओं। (हे दक्षिणपरिधि) तुम स्थिर यज्ञ में निवास करती हो, तुम अन्तरिक्ष को दृढ़ बनाओ। (हे उत्तर परिधि) तुम अवनिाशी यज्ञ में निवास करती हो अतः द्युलोक को दृढ़ करो। हे गुग्गुल प्रभृति सुगन्धित पदार्थों। तुम अग्नि के पूरक हो।

म० : 'नाभिं पैतदारवै:' परिदधाति पूर्ववद् ध्रुवोऽसीति प्रतिमन्त्रमिति' (का० 5/4/16)। पीतदारुदेवदारुः तदीयैः परिधिभिरुत्तरवेदेमध्यदेशरूपां नाभि परिदध्यात्पूर्ववद्दर्शपौर्णमांसेष्टौ यथा पश्चिमदक्षिणोत्तरेषु तथात्रापीति सूत्रार्थः। त्रयाणां परिधयो देवताः। हे मध्यमपरिधे, त्वं ध्रुवः स्थिरोऽसि। अतः पृथिवीं दृंह दृढीकुरु। हे दक्षिणपरिधे, त्वं ध्रुवे स्थिरे यज्ञे क्षियति निवसति ध्रुवक्षिदसि तस्मादन्तरिक्षं दृढीकुरु। अच्युते विनाशरहिते यज्ञे क्षियति निंवसतीत्यच्युतक्षित् हे उत्तरपरिधे, त्वं तादृशोऽसि तस्माद्दिवं द्युलोकं दृंह। 'अग्नेः पुरीषमिति निवपति गुग्गुलुसुगन्धितेजनवृष्णेः स्तुकाश्चोपरि शीर्षण्या अभावेऽन्या इति' (का० 5/4/17)) गुग्गुलुर्धूपद्रव्यं, सुगन्धितेजनं तुणविशेषः, वृष्णेः स्तुका अविरोमाणि। एतानि नाभौ प्रक्षिपेदिति सूत्रार्थः। हे गुग्गुलुप्रभृतिसंभारसमूह, त्वमग्नेः पुरीषं पूरकमसि। पूरयतीति पुरीषम्। 'अग्नेर्ह्येतत्पुरीषं यत्संभाराः' इति तित्तिरिः ।।13।।

चतुर्दशी

युञ्जते मनं उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। विहोत्रां दधे वयुनाविदेकऽइन्मही देवस्यं सवितुः परिष्टुतिः स्वाहां ।।१४।।

अन्वय : युञ्जते (नियमयन्ति) मनः उत युञ्जते धियः होत्राः विप्राः विप्रस्य बृहतः विपश्चितः। वयुनाविद एक इत् विदधे सवितुः देवस्य महीं (महती) परिष्टुतिः। स्तवनं सवितुः प्रेरणैव इति।

इस मन्त्र में सावित्र होम की विधि कही गई है।

व्याख्या : होमकर्ता (अग्निहोत्री) ब्राह्मण लोग (ऋत्विग्जन)

विशेषतया फल प्रदान करने वाले विप्रगण, इस महान यज्ञानुष्ठान में मन एवं बुद्धि को संयमित किये हैं। यह यज्ञ सर्वधीसाक्षी परमेश्वर सवितादेवता की महती स्तुति है क्योंकि वही विप्रों के मनोनियमनादि के नियन्ता हैं। अर्थात् सविता देवता की प्रेरणा से ही ऋत्विक लोग मनोयोग पूर्वक अनुष्ठान सम्पन्न करते हैं।

म० : अस्ति तावत्प्राचीनवंशा शाला। तस्यामाहवनीयाद्यग्नित्रयमैष्टिकवेदिश्चास्ति। तस्याः शालायाः पुरतः षट्त्रिंशत्पददीर्घा सौमिकी वेर्दिविधेया। तद्वेद्या अग्रभागे पूर्वोक्तोत्तरवेदिः। ततः पश्चान्मध्यभागे हविर्धानाख्यो मण्डपो विधेयः। ततोऽपि पश्चात्सदोऽभिधानोदग्वंशा शाला निर्मातव्या। तस्याः स्थले प्राचीनशालायाः पुरतो दक्षिणोत्तरभागयोर्हविर्धानसंज्ञके द्वे शकटे स्थापिते स्तः। तच्छकटद्वयं पुरतः प्रवर्त्य तदावरकत्वेन हविर्धानाख्यमण्डपो विधेयः। तच्छकटद्वयं सावित्रहोमादूर्ध्वं प्रवर्तनीयम्। तदाह तित्तिरिः ' सावित्र्यर्चा हुत्वा हविर्धाने प्रवर्तयति' इति। तं होमं विधत्ते कात्यायनः 'चतुर्गृहीतꣳ शालाद्वार्ये जुहोति युञ्जत इति सगार्हपत्योऽतः' (7/3/29) इति। प्राचीनशालाया द्वारसमीपे पूर्वसिद्ध आहवनीयो वर्तते तस्मिन् जुहुयात्स च पूर्वमाहवनीयोऽपि सन्नुत्तरवेद्याख्येऽन्यस्मिन्नाहवनीये निष्पन्ने सति तदपेक्षया स्वयं गार्हपत्यो भवतीति सूत्रार्थः। सावित्री गती श्यावाश्व दृष्टा। विप्रस्य ब्राह्मणस्य यजमानस्य संबन्धिनो विप्रा ब्राह्मण ऋत्विजो मनो युञ्जन्ति लौकिकचिन्ताभ्यो मनो निवार्य यज्ञचिन्तायां नियमयन्ति। उत धिय इन्द्रियाण्यपि यज्ञार्थेषु नियमयन्ति। कीदृशस्य विप्रस्य। बृहतो महतः। तथ विपश्चितः सर्वज्ञस्य। अधीतवेदत्वाद्बृह- त्त्वमर्थाभिज्ञत्वाद्विपश्चित्त्वम्। किंभूता विप्राः। होत्राः होमकर्तारः। तदिदं विप्राणां मनोनियमनादिसामर्थ्यमेकइत् एकएव विदधे ससर्ज। किंभूत एकः। वयुनावित् 'वयुनं वेत्तेः कान्तिर्वा प्रज्ञा वा' (निरु० 5/14) इति यास्कोक्तेर्वयुनं प्रज्ञां सर्वभूतानां मनोवृत्ति वेत्तीति वयुनवित्। संहितायां दीर्घः। सर्वधीसाक्षीत्यर्थः। नन्वेकस्य सर्वसृष्टौ कथं सामर्थ्यं तत्राह। यतः सवितुः प्रेरकस्यान्तर्यामिणो देवस्य परिष्टुतिः सर्वदोक्ता स्तुतिः मही महती। तथाचाथर्वणिकाः 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः' इति। वृहदारण्यकेऽपि 'स एव सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधि पतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच' (मा० 4/2/24/ का० 4/4/21) इति। श्वेताश्वतराश्च 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविक ज्ञानबलक्रिया

च' इति। यद्वास्य मन्त्रस्यार्थान्तरम्। विप्रा ऋत्विजो विपश्चितो यज्ञस्य कर्मणीति शेषः। मनो धियो वाचश्च युञ्जते युञ्जते। 'यज्ञो वै विपश्चित्' (3/5/3/11) इति श्रुतेः। किंभूतस्य विपश्चितः। विप्रस्य विशेषण प्राति पूरयति फलमिति विप्रस्तस्य। फलदानं प्रति प्राप्तक्रियाशक्तः। 'प्रा पूर्तौ'। तथा वृहतः महतः सर्वसाधनसंपन्नस्य। होत्रा होतारः सप्तवषड्कर्तारः विदधे विदधते स्वस्वकर्मणीति शेषः। पुरुषवचनव्यत्ययः। तन्मध्ये वूयुनाविदेकइत् त्रिवेदज्ञानवान्ब्रह्माख्य एक एक। सवितुर्देवस्य मही महती परिष्टुतिः स्तवनम्। ब्रह्माद्या ऋत्विजो यत्कर्म तत्सवितुः प्रेरणेनैवेति सवितुर्महती स्तुतिरित्यर्थः ।।14।।

पञ्चदशी

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पाᳪसुरे स्वाहा ।।१५।।

अन्वय : विष्णुः इदं विश्वं विचक्रमे, त्रेधा पदं निदधे, अस्य पांसुरे समूढं स्वाहा।

व्याख्या : भगवानविष्णु ने इस समस्त ब्रह्माण्ड को त्रिविध रूपों से व्याप्त होकर आक्रान्त किया। अर्थात् त्रिविक्रमावतार (वामनरुप) धारण कर पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक इन तीनों स्थानों में अपने चरणों को रखा। अथवा (यथाक्रम अग्निवायु एवं सूर्य के रुप में तीन पद रखे। यह समस्त ब्रह्माण्ड उनके पदधूलि में तिरोहित हो गया, ऐसे भगवान विष्णु हमारी इस हवि से तृप्त हों।

म० : 'दक्षिणे वर्त्मनि दक्षिणस्यानसो हिरण्यं निधायाभिजुहोतीदं विष्णुरिति' (का० 8/3/31)। दक्षिणशकटसंबन्धिदक्षिणचक्रमार्गे हिरण्यं निधाय तत्रैव होमः। विष्णुदेवत्या गायत्री मेधातिथिदृष्टा। विष्णुः त्रिविक्रमावतारं कृत्वा इदं विश्वं विचक्रमे विभज्य क्रमते स्म। तदेवाह। त्रेधा पदं निदधे भूमावेकं पदमन्तरिक्षे द्वितीयं दिवि तृतीयमिति क्रमादग्निवायुसूर्यरूपेणेत्यर्थः। पांसवो भूम्यादिलोकरूपा विद्यन्ते यस्य तत्पांसुरं तस्मिन्पांसुरे अस्य विष्णोः पदे समूढं सम्यगन्तर्भूतं विश्वमिति शेषः। यद्वायमर्थः। अस्य विष्णोः पदं पद्यते ज्ञायत इति पदमद्वैताख्यं स्वरूपं समूढमन्तर्हितमज्ञातमकृतात्मभिः। कस्मिन्निव। पांसुरे इव लुप्तोपमानं। पांसुले रजस्वले प्रदेशे निहितं यथा न

ज्ञायते तद्वत्। तदुक्तं 'तद्विष्णोः परमं पदꣳसदा पश्यन्ति सूरयः' (अध्या॰ 6/5) इति। स्वाहा तस्मै विष्णवे हविर्दत्तम् ।।15।।

षोडशी

इरावती धेनुमती हि भूतꣳ सूयवसिनी मनवे दशस्या। व्यस्कभ्ना रोदसी विष्णवे ते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः स्वाहा ।।१६।।

अन्वय : हे रोदसी (युवाम्) इरावती धेनुमती सूयवसिनी मनवे दशस्या भूतम् (भवतम्)। (हे) विष्णो! एते रोदसी व्यस्कभ्ना पृथिवीम् अभितः मयूरवैः दाधर्थ (तस्मै) विष्णवे स्वाहा।

व्याख्या : हे द्यावापृथिवी आपदोनों अन्न-जल एवं गौ आदि पशुओं से परिपूर्ण हैं। सुन्दर यवस् (खाद्यपदार्थोंदि से) समृद्ध है। सस्य सम्पन्न तथा मननशील यजमान को (उत्तमपदार्थ) प्रदान करने वाली है अर्थात् यज्ञीय साधनों से सम्पन्न हैं। हे कण-कण में व्याप्त विष्णु (नारायण) आप इन दोनों को (द्यावापृथिवी) धारण करते हैं एवं अपनी तेजोमयी रश्मियों से अथवा वराहादिविविधअवतारों से पृथिवी एवं इस पर रहने वाले जीवों को धारण करते हैं। ऐसे आपके लिए यह हवि प्रदत्त है।

म॰ : 'स्रुक्स्थाल्यौ प्रतिगृह्य प्रतिप्रस्थातोत्तरस्येरावती इति पूर्ववदिति' (का॰ 8/3/35) यदा दक्षिणशकटदक्षिणचक्रमार्गे अध्वर्युर्हुतवान् तथा उत्तरशकटसंबन्ध्युत्तरचक्रमार्गे प्रतिप्रस्थाता जुहुयादिति सूत्रार्थः। वैष्णवी त्रिष्टुप् वसिष्टदृष्टा। हे रोदसी द्यावापृथिव्यौ, युवामीदृश्यौ भूतं भवतम्। भवतेर्लुङि मध्यमद्विवचने रूपम्। अडभावश्छान्दसः। किंभूते युवाम्। इरावती दरावत्यौ अन्नवत्यौ सस्यवत्यौ। धेनुमती बहुधेनुयुक्ते। सुयवसिनी सुष्ठु यवसानि विद्यन्ते ययोस्ते सूयवसिनी। यवसशब्देनात्राभ्यवहार्याणि वस्तूनि। तथा मनवे दशस्या। मनुते जानातीति मनुाज्ञानवान्यजमानः तस्मै दशस्या दात्र्यौ यज्ञसाधनानाम्। 'दाशृ दाने' दाशतस्ते दशस्या। असुन्प्रत्यये उपधाह्रस्वः ओविभिक्तेर्यादेशश्च। एवं द्यावापृथिव्यौ संप्रार्थ्य विष्णुमाह। हे विष्णो, एते रोदसी त्वं व्सस्कभ्नाः विभज्य स्तम्भितवानसि। किंच पृथिवीं मयूखैः स्वतेजोरूपैर्नानाजीवैर्वराहाद्यनेकावतारैर्वा अभितो दाधर्थ दधर्थ सर्वतो

धारितवानसि। 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा॰ 6/1/7) इत्यभ्यासदीर्घः। स्वाहा तस्मै विष्णवे हविर्दत्तम् ।।16।।

सप्तदशी

देवश्रुतौ देवेष्वाघोषतं प्राची प्रेतंमध्वरं कल्पयंन्तीऽऊर्ध्वं यज्ञं नंयतम्मा जिंह्वरतम्। स्वं गोष्ठमावंदतं देवी दुर्ये आयुर्मा निर्वांदिष्टं प्रजां मा निर्वांदिष्टमत्रं रमेथां वर्ष्मंन्पृथिव्याः ।।१७।।

अन्वय : (हे अक्षाग्रभागौ (युवाम्) देवश्रुतौ देवेषु आघोषतम् (हे शकटद्वय) अध्वरं कल्पयन्ती प्राची प्रेतम् (गच्छताम्) यज्ञमूर्ध्वंनयत। मा जिह्वरतम् स्वं गोष्ठ्म् आवदतम् हे देविदुर्ये। आयु र्मा निर्वादिष्टं प्रजां मां निर्वादिष्टम्। हे उभे शकटे पृथिव्याः अत्र वर्ष्मन् रमेथाम् (युवाम्)।

व्याख्या : हे देवसभा में प्रसिद्ध या देवों में विख्यात अक्षधुरद्वय (अक्ष के अग्रभाग) तुम दोनों देवताओं के मध्य में उच्च स्वर में (हमारे इस यज्ञानुष्ठान की) घोषणा कर दो कि यह यजमान यज्ञ करेगा। हे दोनों शकट! यज्ञ के निर्माण में सहयोग देते हुए अथवा यज्ञकर्म को समर्थ बनाते हुए पूर्व की ओर जाओ तथा इस यज्ञ को देवों के प्रति ले जाओ। कुटिल न बनो, अपने गोष्ठ में इसकी चर्चा करो। हे दिव्य गृहसदृश शकटद्वयदेवता, यजमान के जीवन के विषय में निरर्थक (दुर्वाक्य) वचन मत कहो, यजमान को पूर्ण आयु से सम्पन्न करो। यजमान की पुत्रादिरुप प्रजा की कोई भी हानि मत करो (सन्तति को निन्दा शापा दिवाक्य आदि मत दो) पृथिवी के इस हरे-भरे प्रदेश में (विस्तीर्ण क्षेत्र में) आनन्दोपभोग करो।

यहाँ पत्नी के द्वारा अयुगपत अक्षधुरोरंजन की विधि है।

म॰ : 'दक्षिणया द्वारानीता पत्नी पाणिभ्याᳫं शेषं प्रतिगृह्याक्षधुरावनक्ति पराग्देवश्रुताविति' (का॰ 8/3/32) प्रतिप्रस्थात्रा समानीता पत्नी होमशेषेणाज्येनाक्षस्योभावग्रभागावञ्ज्यादिति सूत्रार्थः। अक्षधुरौ देवते। देवेषु श्रूतये देवश्रुतौ। शृणोतेः क्किप्तुगागमश्च। हे देवश्रुतौ देवसभायां प्रसिद्धे अक्षधुरौ अक्षाग्रभागौ, युवां यजमानोऽयं यक्ष्यतीति देवेषु आघोषतम् उच्चध्वनिना कथयतम्। 'घुषिर् शब्दे'। 'प्राची प्रेतमिति वाचयतीति' (का॰ 8/4/3) हविर्धानाख्ये यदा प्रवर्तेते तदा यजमानं वाचयेदिति सूत्रार्थः। त्रयाणां यजुषां

हविर्धाने देवते। हे उभे शकटे, युवां प्राची प्राङ्मुखे प्रेतं प्रकर्षेण गच्छतम्। प्रागञ्चतस्ते प्राची। किंभूते युवाम्। अध्वरं कल्पयन्ती इदं कर्म समर्थं कुर्वाणे। किंच यज्ञमितमूर्ध्वं नयतं उपरिवर्तिदेवान्प्रति प्रापयतम्। मा जिह्वरतं मा कुटिले भवतम्। 'ह्वृ कौटिल्ये' णिजन्तस्य लुङि रूपम्। यद्वा 'ह्वल चलने' मा चलतम्। 'स्वं गोष्ठमिति च स्वर्जतीति' (का॰ 8/4/4)। प्रवर्त्यमानयोः शकटयोरक्षे स्वर्जति ध्वनिं कुर्वति सति स्वं गोष्ठमिति यजमानं वाचयेदिति सूत्रार्थः। दुर्यशब्दो गृहवाची। 'गृहा वै दुर्याः' (3/5/3/18) इति श्रुतेः। तेन गृहसदृशे शकटे लक्ष्येते। हे देवि दुर्ये गृहसदृशशटकद्वयरूपे देवते, स्वं गोष्ठं स्वकीयं गोस्थानमावदतं सर्वतः कथयतम्। योऽयमक्षशब्दस्तेन यजमानस्य गृहं बहूनां गवां यथा स्थानं भवति तथा कथयतमित्यर्थः। युवाभ्यामुच्चारितं तथैव स्यादिति भावः। किंच आयुर्मा निर्वादिष्टं यजमानस्य यावदायुरस्ति तावत्सर्वं मा निराकार्ष्टम्। वदतेर्लुङि मध्यमद्विवचने रूपम्। यद्वा निकृष्टं पशुधनादिरहितं मा उच्चारयतम्। प्रजां मा निर्वादिष्टं यजमानस्य प्रजां पुत्रादिरूपां मा निराकार्ष्टम्। अनेनाक्षशब्देनायुःप्रजयोर्निराकरणं मा भूदिति भावः। उभयबद्धो योऽक्षः स दुष्टवाक् वरुणदेवरूपः। तदाहश्रुतिः 'वरुणो वा एषदुर्वागुभयतोबद्धो यदक्षः' (3/5/3/18) इति। तस्माच्छापरूप-दुर्वाक्यपरिहारायाशीर्वादरूपं सुवाक्यमनेन मन्त्रेण प्रार्थ्यते। 'पश्चादुत्तरवेदेस्त्रिषु प्रक्रमेषु मत्या वा नभ्यस्थे अभिमन्त्रयतेऽत्र रमेथामिति' (का॰ 8/4/5)। वेदिनिकटस्थापिते उभे शकटे अभिमन्त्रयेदिति सूत्रार्थः। हे शकटे, पृथिव्याः वष्मन् वर्ष्मणि भूमेः शरीरभूतेऽत्रास्मिन्देवयजने युवां रमेथां क्रीडां कुरुतं वर्ष्मणि स्तीर्णे वा। 'सुपा सुलुक्' (पा॰ 7/1/39)। इति ङेर्लोपे 'न ङिसंबुध्योः' (पा॰ 8/2/8) इति नलोपाभावः। देवयजनस्य भूमेः शरीरत्वं तित्तिरिणोक्तम् 'वर्त्म ह्येतत्पृथिव्या यद्देवयजनम्' इति ।।17।।

अष्टदशी

विष्णोर्नुकंम्वीर्य्याणि प्रवौचं यः पार्थिवानि व्विममे रजांᳪसि। यो अस्कंभायदुत्तरᳪ सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायो विष्णवे त्वा ।।१८।।

अन्वय : अहं विष्णोः नु कं वीर्याणि प्रवोचम्, यः पार्थिवानि रजांसि विममे, यः उत्तरं सधस्थं अस्कभायद्, त्रेधा विचक्रमाणः उरुगायः। (हे स्थूणे) विष्णवे त्वा (निखनामि)।

व्याख्या : मैं भगवान विष्णु के ही पराक्रमों (वीरता के कार्यों का वर्णन करता हूँ, जिन्होंने पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक की रचना की तथा द्युलोक को नीचे गिरने से रोककर ऊपर ही धारण किया जो विष्णुदेव तीनों लोकों में अग्नि, वायु एवं सूर्य रुपों में तीनों पदों को स्थापित किया एवं जिनकी कीर्ति एवं विशालयशोगाथा का वर्णन महात्माओं द्वारा किया जाता है, ऐसे विष्णु की प्रीति के लिए (हे काष्ठ (यज्ञस्तम्भ) तुझे स्थापित करता हूँ।

यहाँ दक्षिणहविर्धानशंकट का उपस्तम्भन है। अर्थात् अध्वर्यु इस मन्त्र को पढ़कर दक्षिणहविर्धान को उपस्तम्भन काष्ठ के ऊपर स्थापित करता है।

गाड़ी से बैलों को अलग करने के बाद बाँस में दो डण्डे पृथिवी पर टिकाये जाते है, जिससे जुआ पृथिवीपर न गिरे। इन दो डण्डों को उपस्तम्भन काष्ठ कहते हैं।

म॰ : 'उत्तरेण परिक्रम्य दक्षिणमुपस्तभ्नाति विष्णोर्नुकमिति' (का॰ 8/4/6)। दक्षिणशकटस्याग्रं वोढुंमाधारभूतं काष्ठं स्थापयेदित्यर्थः। तिस्रो वैष्णव्यस्त्रिष्टुभः आद्ये यजुरन्ते। विष्णवे त्वेति यजुः। नुकमित्यव्ययमव-धरणार्थम्। विष्णोरेव वीर्याणि कर्माण्यहं प्रवोचं प्रब्रवीमि। प्रपूर्वस्य वचेर्लुङि रूपं वचेरुम् अडभावः। कानि कर्माणीत्याह। यो विष्णु पार्थिवानि रजांसि पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकस्थानानि विममे निर्ममे। 'लोकारजांस्युच्यन्ते' (निरु॰ 4/19) इति यास्कोक्तेः रजःशब्दो लोकवाचकः। यद्वा यः पार्थिवानि रजांसि पार्थिवपरमाणून्विममे परिगणितवान्। यश्च विष्णुरुत्तरमुपरितनं सधस्थं देवानां सहवासस्थानं द्युलोकरूपमस्कभायत् यथाधो न पतति तथा स्तम्भितवान्। सह देवाः तिष्ठन्ति यस्मिस्तत्सधस्थम्। 'सधमादस्थयोश्छन्दसि' (पा॰ 3/6/96) इति सहस्य सधादेशः। 'स्कम्भ रोधने'। 'त्रयादिभ्यः श्ना'। 'हलः श्नः शानज्झौ' (पा॰ 3/1/83) इति हेरनुवृत्तो 'छन्दसि शायजपि' (पा॰ 3/1/84) इति। यद्यपि हौ परे श्नाप्रत्ययस्य शायजादेशोऽविहितस्तथाप्यत्र 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा॰ 3/1/85) इति लङ्यपि श्नः शायजादेशे अस्कभायदिति रूपम्। कीदृशो विष्णुः। त्रेधा विचक्रमाणस्त्रिषु लोकेष्वग्नि-वायुसूर्यरूपेण पदत्रयं निदधानः। विपूर्वस्य क्रमतेः 'लिटःकानज्वा' (पा॰

3/2/106) इति कानचि रूपम्। तथा उरुगायः उरुर्गायो गानमं यस्य उरुभिर्महात्मभिर्गीयत इति वा 'दक्षिणतः स्थूणामुपनिहन्ति विष्णवे त्वेति' (का० 8/4/7) हे स्थूणे काष्ठ विष्णवे हविर्धानशकटाभिमानिविष्णुप्रीत्यर्थं त्वां निहन्मि निखनामीति शेषः ।।18।।

एकोनविंशी

दिवो वां विष्णऽउत वां पृथिव्या महो वां विष्ण उरोरन्तरिक्षात्। उभा हि हस्ता वसुना पृणस्वा प्रयच्छ दक्षिणादोत सव्याद्विष्णवे त्वा ।।१९।।

अन्वय : (हे) विष्णो दिवः वा उत वा पृथिव्याःविष्णो महः उरो अन्तरिक्षात् वसुना उभा हि हस्ता आपृणस्व् (आप्रयच्छ) दक्षिणात् उत सव्यात्। (हेस्थूणे) विष्णवे त्वा (निखनामि)।

व्याख्या : हे विष्णुदेव द्युलोक से अथवा विस्तीर्णअन्तरिक्ष लोक से अथवा पृथिवी लोक से समानीत द्रव्यों द्वारा अपने दोनों हाथों को परिपूर्ण कर दक्षिण एवं वाम हस्त से उत्तमधन हमें प्रदान करें। हे काष्ठ (स्थूणे) विष्णुदेवता की प्रीति (प्रसन्नता) के लिए तुम्हें स्थापित करता हूँ।

यहाँ शकट के दक्षिणपूर्वकोण में स्थूणा निखनन की विधि प्रस्तुत है।

म० : 'दिवो वेत्युत्तरं प्रतिप्रस्थातोत्तरस्थूर्णं पूर्ववदिति' (का० 8/4/8-9)। यथाध्वर्युर्दक्षिणशकटं मन्त्रेणोपष्टभ्य विष्णवे त्वेति स्थूणां निखातवानेवं प्रतिप्रस्थातोत्तरशकटे कुर्यादिति सूत्रार्थः। हे विष्णो, दिवो द्युलोकादुत अपिच पृथिव्याः भूलोकात् वापिच महो महतः उरोर्विस्तीर्णादन्त-रिक्षलोकाद्वा समानीतेन वसुना द्रव्येण उभा हि हस्ता उभावपि स्वकीयौ हस्तौ पृणस्व। ततो धनपूर्णाद्दक्षिणादुत सव्याद्वामाद्धस्तात् आ प्रयच्छ बहुकृत्व आवृत्य प्रकृष्टं मणिमुक्तादिधनमस्मभ्यं देहि। विष्णवे त्वेत्ययं मन्त्रः पूर्ववत् ।।19।।

विंशी

प्र तद्विष्णु स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।

यस्योरुषुं त्रिषु विक्रमंणेष्वधिक्षियन्ति भुवंनानि विश्वां ॥२०॥

अन्वय : तत् विष्णुः वीर्येण प्रस्तवते (प्रकर्षेण स्तूयते) मृगः न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। यस्य उरुषु त्रिषु विक्रमणेषु विश्वा भुवनानि अधि क्षियन्ति।

व्याख्या : वे सर्वव्यापक भगवान विष्णुदेव अपने असाधारण वीरकर्मों (अत्यन्त-पराक्रमों) द्वारा सभी लोगों से स्तुत (पूजित) होते हैं। वे सभी को पवित्र करने वाले (पापियों) को भयंकर सिंह के समान डराने वाले तथा सभी जीवों के शरीर में अन्तर्यामी रुप से निवास करने वाले हैं। जिनके तीनोंपादप्रक्षेपित (लोकों) स्थानों में सभी जीव सुखपूर्वक निवास करते हैं।

म॰ : 'प्रतिद्विष्णुरिति वाचयति मध्यमं छदिरालभ्येति' (का॰ 8/4/13)। तत् स प्रसिद्धो विष्णुः वीर्येणासाधारणवीरकर्मणा प्रस्तवते प्रस्तूयते प्रस्तूयते गर्वैरिति शेषः। तदिति लिङ्गव्यत्ययः। प्रस्तवते हत्यत्र व्यत्ययेन यकः स्थाने शप्प्रत्ययः। किंभूतो विष्णुः। 'मृजूष् शुद्धौ' मार्ष्टि शोधयतीत मृगः। नोऽनर्थकः पादपूरणः। भीमः बिभेत्यस्मादसौ भीमः। 'भीमादयोऽपादाने' (पा॰ 3/4/74)। इति मप्रत्ययः। कुचरः कौ पृथिव्यां मत्स्यादिरूपेण चरतीति कुचरः। गिरिष्ठाः गिरि वेदवाण्यां गिरौ देहे वान्तर्यामिरूपेण तिष्ठतीति गिरिष्ठाः। अथवा न इवार्थः। गिरिष्ठाः पर्वतस्थितः कुचरः कुत्सितचारी प्राणिवधजीवनो भीमः भयंकरो मृगो न सिंह इव। स यथा वीर्येण स्तूयते तद्वत्। स को विष्णुरित्याह। यस्य विष्णोरुरुषु प्रभूतेषु त्रिषु विक्रमणेषु पादप्रक्षेपणस्थानेषु लोकेषु विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि अधिक्षियन्ति अधिनिवसन्ति स स्तूयत इत्यर्थः ॥20॥

एकविंशी

विष्णों रराटंमसि व्विष्णोः श्नप्त्रें स्थो विष्णोः स्यूरंसि विष्णोंध्रुवोऽसि वैष्णमंसि विष्णंवे त्वा ॥२१॥

अन्वय : हे दर्भमयमालाधारवंश त्वं विष्णोः रराटम् असि। विष्णोः श्नप्त्रे स्थः विष्णो स्यूः असि, विष्णोः धुव्रः असि, वैष्णवम् असि, त्वा विष्णवे (प्रीत्यर्थं स्पृशामि)।

व्याख्या : इस मन्त्र से यजमान रराटी का स्पर्श करता है। हविर्धान के पूर्वद्वार पर लटकाई गई दर्भ की माला को साटी कहते हैं। हे दर्भमयमाला के आधारभूत तिर्यगवंश! तुम इस हविर्धानमण्डपरुप विष्णु के ललाटस्थानीय हो! विष्णु की ओष्ठसन्धिरुप हो, (हे लस्यूजनि) तुम विष्णु रुप हविर्धानमण्डप के लिए: सूची (सूई) रुप हो। हे रज्जुग्रन्थि! तुम इस मण्डप को स्थिरता प्रदान करने वाले हो। (हे मण्डपाधारवंश) तुम विष्णुरुप इस मण्डप के प्रधान आधार हो। अत: विष्णु की प्रसन्नता के लिए मैं तुम्हें स्पर्श करता हूँ। हविर्धान के अधिपति विष्णु है अत: विष्णु शब्द का प्रयोग यहाँ हो रहा है।

म॰ : 'विष्णो रराटमिति रराटयमिति'। (का॰ 8/4/15) वाचयतीत्य-नुवर्तते हविर्धानाख्ये द्वे शकटे दक्षिणोत्तरभागयो: स्थापयित्वा तदावरकत्वेन परितो हविर्धानाख्यं मण्डपं कुर्यात्। स च मण्डपो विष्णुदेवताकत्वाद्विष्णु-रित्युपचर्यते। विष्णोश्च मूर्तिधरस्य सर्वावयवसखावाल्ललाटाख्योऽ-वयवोऽस्ति। तद्वद्धविर्धानमण्डपस्यापि पूर्वद्वारवर्तिस्तम्भयोर्मध्ये काचिद्दर्भमाला ग्रथ्यते। तां मालां तद्बन्धनाधारतिर्यग्वंशं। त्वं विष्णो: विष्णुमूर्तित्वेनोपचरितस्य। हविर्धानमण्डपस्य रराटमसि ललाटस्थानीयोऽसि। 'विष्णो: श्नप्त्रे स्थ इत्युच्छ्रा-य्याविति' (का॰ 8/4/16)। उच्छ्राय्यौ रराटीप्रान्तावुपस्पृश्य वाचयेदित्यर्थ:। हे रराट्यन्तौ, युवां विष्णो: विष्णुनामकस्य हविर्धानमण्डपस्य श्नप्त्रे स्थ: ओष्ठसन्धिरूपे भवथ:। 'द्वार्या: परिषीव्यति लस्यूजनि प्रतिहृतया रज्ज्वा विष्णो: स्यूरसीति' (का॰ 8/4/18)। वृहत्सूचिसमर्पितया रज्ज्वा द्वारशाखा: सीव्यतीति सूत्रार्थ:। हे लस्यूजनि, त्वं विष्णोर्हविर्धानस्य स्यूरसि। सीव्यन्त्यनेनेति स्यू: सूचि:। 'षिवु तन्तुसन्ताने'। क्विपि 'च्छ्वो: शूडनुनासिके च' (पा॰ 6/4/16) इति वस्योडादेश:। 'विष्णोर्धुवोऽसीति ग्रन्थिं करोति' (का॰ 8/4/16) हे रज्जुग्रन्थे, त्वं विष्णो: हविर्धानस्य ध्रुवोऽसि ग्रन्थिर्भवसि। 'प्राग्वꣳशꣳ हविर्धानं निष्ठाप्य वैष्णवमसीत्यालभते' (का॰ 8/4/21) प्रागग्रैर्वंशैमंण्डपं निर्मायानेने मन्त्रेण स्पृशेदिति सूत्रार्थ:। हे हविर्धान, त्वं वैष्णवमसि विष्णुदेवताकत्वेन तत्संबन्धि भवसि। तस्माद्विष्णवे विष्णुप्रीत्यर्थ त्वा त्वां स्पृशामीति शेष: ।।21।।

द्वाविंशी

दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्।

आददे नार्यसीदमहꣳ रक्षसां ग्रीवाऽअपि कृन्तामि। बृहन्नसि बृहद्रवा बृहतीमिन्द्राय व्वाचं वद ।।२२।।

अन्वय : हे अभ्रे! (काष्ठनिर्मितखननसाधनभूते) सवितुः देवस्य प्रसवे अश्विनोः बाहुभ्यां, पूष्णोः हस्ताभ्यां त्वाम् आददे। (त्वं) नारी असि इदम् अहं रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि। बृहन् असि (हे उपरव-रूपगर्तविशेष) त्वं बृहद्रवा असि इन्द्राय बृहतीं वाचं वद।

व्याख्या : हे अभ्रि! सवितादेवता की प्रेरणा से अश्विनीकुमारों की बाहुओं से तथा पूषा देवता के हाथों से तुम्हें ग्रहण करता हूँ। तुम खननसाधन रुप में कर्मोपयोगी होने से (सोमयाग) अनुष्ठान-कर्ता पुरुषों से सम्बद्ध हो। इस परिलेखन (खनने के) द्वारा मैं यज्ञ में विघ्नकरने वाले राक्षसों के गर्दन का छेदन करता हूँ। हे उपरवनामकगर्त तुम महान हो (खोदे जाते समय) महान्ध्वनि को उत्पन्न करते हो। अतः इन्द्र की प्रसन्नता के लिए प्रौढ ध्वनि युक्त स्तुति करो।

यहाँ उपरव (गर्तविशेष) संस्कार का उल्लेख है।

म० : इत उत्तरमुपरवमन्त्रा देवस्य त्वेत्यस्मात् (क० 26) प्राक्। 'दक्षिणस्यानसोऽधः प्रउगं खनत्युपरवानभ्यादिकरोत्यवटवदिति' (का० 8/4/25)। यथा यूपस्यावटः क्रियते तथात्राप्युपरवनामकांश्चतुरो गर्तानभ्रिस्वीकारमारभ्य परिलेखनपूर्वकं कुर्यादित्यर्थः। अवटार्थमभ्रिस्वीकारमेवाह 'देवस्य त्वेत्यभ्रिमादायेति' (का० 6/2/8)। अभ्रिशब्देन काष्ठनिर्मितं खननसाधनमुच्यते। अभ्रिर्देवता। हे अभ्रे, सवितुर्देवस्य प्रसवे वर्तमानः सन्नश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वामाददे स्वीकरोमि। त्वं तु नार्यसि स्वननसाधनत्वेन कर्मोपयोगित्वान्नराणां पुरुषाणामनुष्ठातृणां संबन्धिनी भवसि। 'यूपावटं परिलिखतीदमिति' (का० 6/2/8)। य इदं चतुरोऽवटान्परिलिखामि। इदमिति विभक्तिव्यत्ययः। अनेन परिलेखनेन रक्षसां यज्ञघ्नानां ग्रीवा अपिकृन्तामि कण्ठप्रदेशान्छिनद्मि। बृहन्नसीति यथापरिलिखितं खनतीति' (का० 8/5/7)। आग्नेयीं विदिशमारभ्य चतसृषु विदिक्षु चतुर उपरवान्खातुं भूमिः परिलिखिता। तेन परिलेखनक्रमेणावटान्खनेदिति सूत्रार्थः। हे उपरवाख्यगर्त, त्वं बृहन्नसि महान् भवसि। वर्तुलस्य गर्तस्य प्रादेशपरिमाणेन विस्तृतत्वाद्बाहूपरिमाणेन खातत्वाच्च महत्त्वम्। तथा त्वं बृहद्रवाः बृहन्महान् रवो ध्वनिर्यस्य सः।

सकारान्तो रवस्शब्दः। खातुं भूमौ प्रहारे महान्ध्वनिर्भवतीत्यर्थः। तस्मात्त्वमिन्द्रायेन्द्रप्रीत्यर्थं बृहतीं वाचं वद प्रौढध्वनियुक्तं वाक्यं वद ।।22।।

त्रयोविंशी

रक्षोहणं वलगहनं वैष्णवीमिदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे निष्ट्यो यममात्यो निचखानेदमहं त व्वलगमुत्किरामि यम्मे समानो यमसमानो निचखानेदमहं तं व्वलगमुत्किरामि यम्मे सबन्धुर्यमसबन्धुर्निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि यम्मे सजातो यमसजातो निचखानोत्कृत्यां किरामि ।।२३।।

अन्वय : रक्षोहणं वलगहनं वैष्णवीम् इदं वाचं वदत इन्द्राय अहम् तं वलगम् उत्किरामि। मे निष्ट्यः अमात्यः यं निचखान अहम् इदं तं वलगम् उत्किरामि। मे समानः असमानः यं निचखान अहम् इदं तं बलगम् उत्किरामि। मे सबन्धुः मे असबन्धु यं निचखान अहम् इदं तं बलगम् उत्किरामि। मे सजातः असजातः यं निचखान कृत्याम् उत्किरामि।

व्याख्या : राक्षसो को नष्ट करनेवाली एवं अभिचारकर्म (शत्रुमारणरुपकर्म, जादू टोना) आदि वलगों को नाश करने वाली, विष्णुदेवता से सम्बन्धित यह वाणी इसे (इन्द्र से बोलों) मै इस आभिचारिक(शत्रुवध के लिए भूमि में अस्थि, नख, केश आदि दूषित पदार्थ भूमि में गाड़ दिये जाते हैं) ऐसे कृत्या को बाहर निकालकर अलग फेकता हूँ। (दूर करता हूँ)। किसी भी कारण से कुपित पुत्र या अमात्य (मन्त्री आदि सहयोगीजन) हमारे वध के लिए हमारी क्षति के लिए जिन लोगों ने इस प्रयोग को किया है (भूमि में गाड़ा है) मैं उसे उखाड़कर फेकता हूँ। जो हमारे कुलशील आदि में समान (मातुल आदि) अथवा मेरे बराबर या बड़े शत्रुबुद्धि रखने वाले, जिन्होंने भी इस अभिचारकर्म को किया, मैं उसको उखाड़ फेकता हूँ। जिसे हमारे समानजन्मा (सहोदर भ्राता) बन्धु बान्धवों आदि ने अथवा सगोत्रीय जनों ने इस अभिचार प्रयोग को भूमि में खोदकर रखा है मैं सभी को निकाल कर फेकता हूँ।

प्राचीनकाल में असुरगण देवताओं के वध के लिए इस प्रकार के कृत्यों का प्रयोग करते थे। परन्तु इस मन्त्र के प्रभाव से वह सफल

नहीं हो पाता था। आज भी इस मन्त्र के पाठ से घर के अमंगल नष्ट होते हैं।

यहाँ यथाक्रम परिलेखन के बाद खनन की क्रिया सम्पन्न होती है।

म० : किंभूतां वाचम्। रक्षोहणं रक्षांसि हन्तीति रक्षोहा तां रक्षोवधविषयाम्। तथा वलगहनम् वलगान् हन्तीति वलगहाताम्। 'बहुलं छन्दसि' (पा० 3/2/88) इति क्विप्। पराजयं प्राप्य पलायमानै राक्षसैरिन्द्रादि-वधार्थमभिचाररूपेण भूमौ निखाता अस्थिकेशनखादिपदार्थाः कृत्याविशेषा वलगाः। 'बलगो वृणोतेः' (निरु० 6/2) इति यास्कः। यस्य वधार्थ क्रियते तं वृण्यन्नाच्छादयन् गच्छतीति वलगः। ते वलगा बाहुमात्रे खातास्ततस्तदुद्धारार्थमुपरवस्य तावन्मात्रखननम्। 'तान्बाहुमात्रान्खनेत्' इति श्रुतिः (3/5/4/9) तदाह तित्तिरिः 'असुरा वै निर्यन्तो देवानां प्राणेषु वलगान् न्यस्वनन् तान् बाहुमात्रे त्वविन्दन् तस्माद्वाहुमात्राः स्वायन्ते' इति। तथा वैष्णवी यज्ञरक्षकस्य विष्णोः संबन्धिनीम्। ईदृशी वाचमिन्द्राय वदेति संबन्धः। 'इदमहमित्युत्किरति यथाखातं प्रतिमन्त्रमिति' (का० 8/5/8)। येन क्रमेण चत्वारो गर्ताः खातास्तेन क्रमेण चतुर्भ्यो गर्तेभ्यः स्वातं मृत्तृणादिकं चतुर्भिर्मन्त्रैरुत्किरेदिति सूत्रार्थः। 'ष्टयै स्त्यै शब्दसङ्घातयोः' नितरां स्त्यायति सङ्घातरूपेण सह वर्तत इति निष्ठयः। यद्वा निर्गत्य शरीरात् स्त्यायति विस्तीर्णो भवतीति निष्टयः पुत्रादिः। यद्वा निर्गतो वर्णाश्रमेभ्यो निष्टयः चण्डालादिः 'निसो गते' (पा० 4/2/104 वा० 4) इति वार्तिकेन 'निस उपसर्गाद्गतार्थे त्यप्' इति काशिकायाम्। अमाशब्दो गृहार्थः सहार्थो वा। अमा गृहे सह वा भवोऽमात्यः 'अव्ययात्त्यप्' (पा० 4/2/104) इति भवार्थे त्यप्। धनिकस्य स्वामिनो धनगृहादिनिर्वाहकोऽमात्यः। केनापि निमित्तेन कुपितः पुत्रोऽमात्यो वा मे मह्यं मद्वाधार्प यं वलगं निचस्वान निस्वातवान् तं वलगमहमुत्किरामि उद्वपामि उद्धृत्यान्यत्र परित्याजामि। इदंशब्दः क्रियाविशेषणम्। इदं प्रत्यक्ष यथा भवति तथोद्वपाभीत्यर्थः। द्वितीयमुत्किरिति समानो धनकुलादिभिः सदृशः। असमानो न्यूनोऽधिको वा। अन्यत्पूर्ववत्। तृतीयमुत्किरति। सबन्धुः कुलशीलादिभिः समानो मातुलपैतृष्यसेयादिः तद्विपरीतोऽसबन्धुः। अन्यत्पूर्ववत्। चतुर्थमुत्किरित। सजातः समानजन्मा भ्राता तद्विपरीतोऽसजातः। अन्यत् पूर्ववत्। 'उत्कृत्यां

किरामीति पश्चात्सर्वेभ्य:' (का० 8/5/9) इति। असाधारणैर्मन्त्रैः पूर्वोक्त क्रमेणोत्किरणं कृत्वा पश्चात्साधारणेन मन्त्रेण चतुर्भ्यो गर्तेभ्य उत्किरेदिति सूत्रार्थः। येयं कृत्या शत्रुभिरभिचरिखः संपादिता वलगरूपा तामुत्किरामि उद्धृत्य दूरे क्षिपामि ।।23।।

चतुर्विंशी

स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडस्यभिमातिहा जनराडसि रक्षोहा सर्वराडस्यमित्रहा ।।२४।।

अन्वय : हे प्रथमअवट! (गर्तविशेष) त्वं] स्वराड् असि। सपन्नहा भव (हे द्वितीयअवट) त्वं सत्रराड् असि अभिमातिहा भव। हे तृतीय गर्त, त्वं जनराड् असि, रक्षोहा भव। हे चतुर्थ अवट सर्वराड् असि, हे (अवट) अमित्रहा भव।

व्याख्या : हे (उपरवनामक) गर्तविशेष तुम स्वयं ही दीप्यमान हो अतः शत्रुघाती बनो। हे द्वितीयगर्त तुम द्वादशाह आदि सत्रों (यज्ञों) की शोभा बढ़ाने वाले हो अतः राक्षसों (शत्रुओं) का विनाशकरो। हे तृतीयगर्त। तुम सभी मनुष्यों में (यजमानों में) शोभायमान होते हैं। अतः विघ्नकारी तत्वों को नष्ट करों। हे चतुर्थ अवट, तुम सभी के राजा हो अतः शत्रुघाती बनों। इन मन्त्रों से उपरव का स्पर्श किया जाता है। जिसमें चार गर्तविशेष बनाये गये है।

म० : 'स्वराडित्यभिमर्शयति यथा खातं प्रतिमन्त्रमिति' (का० 8/5/13)। खननक्रमेण चतुर्षु गर्तेषु यजमानहस्तस्य स्पर्शं चतुर्भिर्मन्त्रैः कारयेदिति सूत्रार्थः। चत्वारि यजूंषि औपरवाणि। तत्र प्रथमं हे प्रथमगर्त, त्वं स्वराडसि स्वेनैव राजत इति स्वराड् स्वयमेव राजमानो भवसि। अतः सपत्नहा शत्रुघाती भवेति शेषः। अथ द्वितीयं सत्रराट् सत्रेषु द्वादशाहादिषु राजत इति सत्रराट्। अभिमातिहा शत्रुघाती। अथ तृतीयं जनराट् जनेषु यजमानेषु राजत इति जनराट्। रक्षोहा यज्ञविनाशकराक्षसघाती। अथ चतुर्थं सर्वराट् सर्वेषु राजत इति सर्वराट् अमित्रहा शत्रुघाती ।।24।।

पञ्चविंशी

रक्षोहणो वो वलगहनः प्रोक्षामि वैष्णवान् रक्षोहणो वो वलगहनोऽवनयामि वैष्णवान् रक्षोहणो वो वलगहनोऽवस्तृणामि

वैष्णवान् रक्षोहणौ वां वलगहना उपदधामि वैष्णवी रक्षोहणौ वां वलगहनौ पर्यूहामि वैष्णवी वैष्णवमसि वैष्णवा स्थ ।।२५।।

अन्वय : रक्षोहणो बलगहनः वः वैष्णवान् प्रोक्षामि। रक्षोहणो वलगहनः व वैष्णवान् अवनयामि। रक्षोहणो वलगहन वः वैष्णवान् अवस्तृणामि। रक्षोहणौ वलगहनौ वैष्णवी वाम्उपदधामि, रक्षोहणौ वलगहनौ वैष्णवी वां पर्यूहामि वैष्णवमसि, वैष्णवाः स्थ।

व्याख्या : राक्षसों को मारने वाले एवं अभिचार प्रयोगों को नष्ट करने वाले विष्णुदेवता से सम्बद्ध हे गर्तो! तुम्हें जल से सिंचन करता हूँ। राक्षसों के नाशक तथा अभिचार साधनों के हन्ता विष्णुदेव सम्बन्धी तुम गर्तो को प्रोक्षण करने के बाद शेष जल से सींचता हूँ। राक्षस एवं अभिचार नाशक तुमको (विष्णुसम्बन्धी गर्तों को) कुशाओं से आच्छादित करता हूँ। राक्षस विनाशक एवं अभिचारघाती विष्णुदेवता सम्बन्धी तुम दोनों को मैं (दोनों) गर्तों के ऊपर एक एक करके स्थापित करता हूँ। राक्षसों के नाशक कृत्या के विनाशक तथा विष्णु से सम्बद्ध तुम दोनों को मैं मिट्टी से दृढ़ करता हूँ (ढँकता हूँ) (हे अधिषवण चर्म) तुम यज्ञरक्षक विष्णु से सम्बद्ध हो। यहाँ सभी उपरवों पर इस मन्त्र को पढकर अध्वर्यु जल छिड़कता है।

म० : 'प्रोक्षत्येनान् रक्षोहण इति भेदे मन्त्रावृत्तिरिति' (का० 8/5/22–23) चतुरो गर्तान्मन्त्रेण प्रोक्षेत्। तस्य मन्त्रस्य गर्तभेदे सत्यावृत्तिः कर्तव्येति सूत्रार्थः। सप्त यजूंषि वैष्णवानि। वैष्णवान्विष्णुदेवताकान् गर्तान्वो युष्मान्प्रोक्षामि। कीदृशान्। रक्षोहणो राक्षसहन्तृन् वलगहनः अभिचारसाधनहन्तृन्। 'अवनयनेऽवस्तरणे चावटवद्रक्षोहणो रक्षोहण इति' (का० 8/5/24)। गर्तेषु प्रोक्षणशेषोदकसेचनमवनयनं दर्भैराच्छादनं संस्तरणं तयोर्द्वयोरपि क्रिययोर्गर्तभेदात्तन्मन्त्रावृत्तिर्द्रष्टव्येति सूत्रार्थः। तत्रावनयनमन्त्रः। अवनयामि सिंचामि। अन्यत्पूर्ववत्। अथावस्तरणमन्त्रः। आस्तृणामि दर्भैराच्छदयामि। अन्यत्पूर्ववत्। 'तनूनुपरि कुशान्कृत्वाधिषवणे फलके ह्यङ्गुलान्तरे प्रक्षालिते प्राची अरत्निमात्रे संतृण्णे वोपदधाति पर्यूहति च रक्षोहणौ रक्षोहणाविति' (का० 8/5/25) ययोः फलकयोरुपरि सोमोऽभिषूयते ते द्वे अधिषवणफलके तयोरुभयोर्मध्ये ह्यङ्गुलव्यवहिते अरत्निप्रमाणे संतृण्णे ईषद्बन्धनोपेते चतुर्णां गर्तानामुपरि स्थापयेत्। तयोः परितो मृदा छिद्रपिधानं कुर्यादित्यर्थः। तत्रोपधानमन्त्रः।

यावधिषवणफलकविशेषौ रक्षोहणौ रक्षसां नाशकौ वलगहनौ कृत्याविनाशकौ वैष्णवी वैष्णवौ विष्णुदेवताकौ। लिङ्गव्यत्ययः। तौ वां युवामहमुपदधामि द्वयोर्गर्तयोरुपरि एकैकं फलकं स्थापयामि। अथ पर्यूहणमन्त्रः। पर्यूहामि मृदा परितश्छादयामि। अन्तत्पूर्ववत्। 'तयोश्चर्माधिषवणं परिकृतꣳसर्वरोहितं निदधाति वैष्णवमसीति' (का० 8/5/26)। यस्मिंश्चर्मणि सोमोऽभिषूयते तच्चर्माधिषवणाख्यम् अग्रभागे छिन्नं सर्वमपि लोहितवर्णं तयोः फलकयोरुपरि स्थापयेदिति सूत्रार्थः। हे चर्म, त्वं वैष्णमसि यज्ञरक्षकविष्णुसंबन्धि भवसि। 'तस्मिन् ग्राव्णः पञ्च वैष्णवाः स्थेति' (का० 8/5/37)। निदधातीत्यनुवर्तते। तस्मिश्चर्मंणि। सोमाभिषवहेतून्। पञ्च पाषाणान्स्थापयेदिति सूत्रार्थः। हे ग्रावाणः, यूयं वैष्णवाः स्थ यज्ञरक्षकविष्णुसंबन्धिनो भवथ ॥25॥

षड्विंशी

दे॒वस्यं॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्। आद॑दे॒ नार्य॑सी॒दम॒हꣳ रक्ष॑सां ग्री॒वा अपि॑कृन्तामि। यवो॑ऽसि य॒वया॒स्मद्द्वेषो॑ य॒वयारा॑तीर्दि॒वे त्वा॒न्तरि॑क्षाय त्वा पृथि॒व्यै त्वा॒ शुन्ध॑न्तां लो॒काः पि॑तृ॒षद॑नाः पि॒तृ॒षद॑नमसि ॥२६॥

अन्वय : (हे अभ्रिदेव) सवितुः देवस्य प्रसवे अश्विनोर्बहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वा आददे। त्वं नारी असि, इदम् अहं रक्षसां ग्रीवा अपिकृन्तामि। हे धान्य विशेष त्वं यवः असि्। अस्मद्वेषः यवय अराती:यवय (हे औदुम्बर्यग्रभाग) त्वां दिवे त्वा अन्तरिक्षाय् त्वा पृथिव्यै (प्रीत्यै त्वां प्रोक्षामि) पितृषदनाः लोका शुन्धन्ताम् पितृषदनमसि।

व्याख्या : हे अभ्रिदेवता, सवितादेवता की प्रेरणा से अश्विनी कुमारों की बाहुओं से तथा पूषादेवता के हॉथों से तुम्हें ग्रहण करता हूँ तुम खनन के साधन होने से, अनुष्ठाता पुरुषों से सम्बद्ध हो। मैं इस परिलेखन द्वारा यज्ञविघ्नकारी राक्षसों के कण्ठप्रदेश का छेदन करता हूँ। हे धान्य विशेष तुम यव हो (पृथक करने वाले हो) अतः हमसे द्वेष करने वाले, अदानशील जनों या दुःख दौभार्ग्य को हमसे पृथक करो। हे उदूम्बर के अग्रभाग! द्युलोक अन्तरिक्ष और पृथिवी की तृप्ति के लिए तुम्हारे अग्र, मध्य एवं मूलभाग का प्रोक्षण करता हूँ। पितर लोग जिन लोकों में निवास करते हैं। वे लोग इस उदकसेचन से शुद्ध हों। हे बर्हि!

तुम पितरों के बैठने के साधनभूत हो अर्थात् पित्तृगण तुम पर आनन्दपूर्वक बैठें।

इस मन्त्र के द्वारा सदोमण्डप निर्माण के लिए उदुम्बर की शाखा का स्थापन बीच में होता है।

म० : इत उत्तरमौदुम्बरीमन्त्राः। 'औदुम्बरीं मिनोति यजमानामात्रीं यूपवच्छेतेऽभ्र्यादि करोत्यावस्तरणादिति' (का० 8/5/30–32)। उदुम्बरवृक्षादुत्पन्नां कांचिच्छाखां यजमानदेहमितां सदोमण्डपमध्ये निखनेत् सा च शाखा निखननात्पूर्वं यूपवखूमौ शयित्वा वर्तते यूपावटखननवदभ्रिस्वीकारमारभ्य दर्भोपस्तरणपर्यन्तान्पदार्थान्मंत्रैरेव कुर्यादिति सूत्रार्थः। यूपावटप्रदेशे 'देवस्य त्वेत्यभ्रिमादायेति' (का० 6/2/8) व्याख्यातं यजुः। युपावटं परिलिखतीदमहमिति' (का० 6/2/8) एतदपि व्याख्यातम्। 'यवोऽसीत्यप्सु यवानोप्येति' (का० 6/2/15)। यवदैवत्यम्। हे धान्यविशेष, त्वं यवोऽसि यौति पृथकवरोतीति यवः अस्मत् द्वेषो द्वेष्टृन् द्वेषो दौर्भाग्यं वा अस्मत् अस्मत्तो यवय पृथक्कुरु। तथा अरातीः अदानानि च यवय पृथक्कुरु। अनेन सौभाग्यं धनं च प्रार्थ्यते इति भावः। 'प्रोक्षत्यग्नमध्यमूलानि दिवे त्वेति प्रतिमन्त्रं प्रोक्षामीति सर्वत्र साकाङ्क्षत्वादिति' (6/2/15–16)। तत्र प्रथमो मन्त्रः हे औदुम्बर्यग्रभाग, दिवे द्युलोकप्रीत्यर्थं त्वा त्वां प्रोक्षामीति शेषः। द्वितीयः। हे मध्यभाग, अन्तरिक्षायान्तरिक्षलोकप्रीत्यै त्वां प्रोक्षामि। अथ तृतीयः। हे मूलभाग, पृथिव्यै पृथिवीप्रीत्यै त्वां प्रोक्षामि। 'अवटे शेषमासिञ्चति शुन्धन्तामिति' (का० 6/2/17) द्वे यजुषी पित्र्ये। पितरः सीदन्ति येषु लोकेषु ते पितृषदनाः लोकाः शुन्धन्तामनेनोदकसेचनेन शुद्धा भवन्तु। खननेनोत्पन्नस्य कौर्यस्य शान्त्यर्थमिदमुदकसेचनम्। तदाह तित्तिरिः 'क्रूरमिव वा एतत्करोति यत्खनति अत्ययोऽवनयति शान्त्यै तदिति'। बर्हीᳬंषि प्राञ्च्युदञ्चि च प्रास्यति पितृषदनमसीति' (का० 6/2/18)। तस्मिन्नवटे प्रागग्रानुदगग्रांश्च दर्भानास्तृणातीति सूत्रार्थः। पितरः सीदन्त्युपविशन्ति यस्मिन् तत्पितृषदनम्। हे बर्हिः, त्वं पितृषदनमसि ॥26॥

सप्तविंशी

उद्दिवंᳬं स्तभानान्तरिक्षम्पृण दृᳬंहस्व पृथिव्यां द्युंतानस्त्वां मारुतो मिंनोतु मित्रावरुंणौ ध्रुवेण धर्मंणा। ब्रह्मवनिं त्वा क्षत्रवनिं

रायस्पोषवनि पर्यूहामि। ब्रह्मंदृꣳहायुर्दृꣳहप्रजां दृꣳह ।।२७।।

अन्वय : (हे औदुम्बरि) त्वं दिवम् उत् स्तभान् अन्तरिक्षम् पृण, पृथिव्यां दृंहस्व। द्युतानः मारुतः त्वा मिनोतु। मित्रावरुणौ ध्रुवेण, धर्मणा, त्वा मिनोतु। ब्रह्मवनि क्षत्रवनि रायस्पोषवनि त्वा पर्यूहामि। ब्रह्म दृंह क्षत्रं दृंह आयुः दृंह प्रजां दृंह (दृढीकुरु)।

अध्वर्यु इस मन्त्र से औदुम्बरी को अवट में खड़ा करता है।

व्याख्या : हे औदुम्बरि द्युलोक को ऊर्ध्व (ऊपर) में धारण करो। अन्तरिक्ष को पूर्ण करो, पृथिवी में दृढ़ता को प्राप्त करो। तेजोमय मरुद् स्थिररुप से धारणकर तुम्हें गर्त में प्रक्षिप्त करें, तथा मित्रावरुण देवता भी तुम्हें दृढ़तापूर्वक धारण करें। (हे औंदुम्बरि) ब्राह्मण क्षत्रिय एवं धनपोषकों (वैश्यों) से अभ्यंर्चनीय तुझे मैं यहाँ दृढ़ करता हूँ। ब्राह्मण समाज को दृढ़ बनाओं क्षत्रियों को दृढ़ बनाओं तथा हमारी आयु एवं सन्तान को दृढ़ बनाओं। तुम्हारे चारों ओर मृत्तिका प्रक्षिप्त कर रहा हूँ। तुम दृढ़ हो।

म० : उद्दिवमित्युच्छ्रयतीति' (का० 8/5/33) उच्छ्रंयणमूर्ध्वाग्रत्वेन स्थापनम्। पञ्च यजूंष्यौदुम्बरीदेवत्यानि। हे औदुम्बरि, त्वं दिवं द्युलोकमुत्तभान स्तम्भ्यः ऊर्ध्वः स यथा न पतति तथा कुर्वित्यर्थः। अन्तरिक्षं पृण पूरय। पृथिवी दृंहस्व दृढा भव। पृथिव्यामिति सप्तमी द्वितीयार्थे। पृथिवीं दृढीकुरु। 'द्युतान इति मिनोतीति' (का० 8/5/34)। शाखां गर्ते प्रक्षिपतीति सूत्रार्थः स्थिरेण-धर्मणा धारणेन त्वां मिनोतु गर्ते प्रक्षिपतु 'डुमिञ् प्रक्षेपे' स्वादिः। तथा मित्रावरुणौ देवौ ध्रुवेण धर्मणा त्वां प्रक्षिपतामिति शेषः। 'पर्यूहणाद्योपसेचनात्कृत्वेति' (का० 8/5/35)। पर्यूहणमारभ्योपसेचनपर्यन्तं यथा यूपे कृतं तथात्रापि कुर्यादित्यर्थः। तत्र यूपस्थाने 'ब्रह्मवनिः त्वेति पाꣳसुभिः पर्यूहतीति' (का० 6/3/10)। हे औदुम्बरि, त्वा त्वां पर्यूहामि परितो मृत्तिकां क्षिपामि। किंभूतां त्वाम्। ब्रह्मवनि ब्रह्म ब्राह्मणजाति वनति संभजत इति ब्रह्मवनिः। क्षत्रं क्षत्रियजाति वननीति क्षत्रवनिः। रायो धनस्य पोषं पुष्टि वनतीति रायस्पोषवनिः। सर्वत्र 'सुपां सुलुक्' (पा० 7/1/39) इति विभक्तेर्लुक्। 'ब्रह्म दृꣳहेति मैत्रावरुणदण्डेन समन्तं त्रिः पर्यूषतीति' (का० 6/3/11)। परितो दृढीकुर्यादिति सूत्रार्थः। हे औदुम्बरि, ब्रह्म

ब्राह्मणजाति क्षत्रं क्षत्रियजातिमायुः जीवनं प्रजां पुत्रादिरूपां च दृंह दृढीकुरु ।।27।।

अष्टाविंशी

ध्रुवासि ध्रुवोऽयं यजमानोऽस्मिन्नायतने प्रजया पशुभिर्भूयात्। घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथामिन्द्रस्य छदिरसि विश्वजनस्य छाया ।।२८।।

अन्वय : (हे औदुम्बरी) त्वं ध्रुवा असि। अयं यजमानः अस्मिन् आयतने प्रजया पशुभिः ध्रुवो भूयात्। घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथाम्, त्वम् इन्द्रस्य छदिः असि। विश्वजनस्य छाया। (असि)

व्याख्या : हे औदुम्बरिशाखा तुम स्थिर हो, तुम्हारे समान यह यजमान भी अपने घर में सन्तान एवं गौ आदि पशुधन से समृद्ध होकर स्थिर रहे। यज्ञ में होम किये गये इस घृत से द्युलोक और पृथिवीलोक दोनों परिपूर्ण हो। हे आच्छादन के लिए प्रयुक्त) तृणमय कट! तुम इन्द्र से सम्बद्ध हो अतः तुम सभी को छाया प्रदान करो।

यहाँ यजमान औदुम्बरी का स्पर्श करते हुए अध्वर्यु के निर्देशानुसार मन्त्र पाठ करता है।

म० : 'ध्रुवासीति वाचयत्यौदुम्बरीमालम्भ्येति' (का०।5।35(। आलम्भनं स्पर्शनम् हे औदुम्बरि, त्वं ध्रुवासि स्थिरा भवसि। त्वामिवायं यजमानोऽस्मिन्नायतने स्वकीये गृहे ध्रुवो भूयात् प्रजया पुत्रादिकया पशुभिः गवादिभिश्च सह स्थिरोस्तु। 'स्रुवेण विशाखे जुहोति घृतेनेति' (का० 8/5/30)। औदुम्बर्या विशाखे यस्मिन्द्रप्रदेशे घृतेन द्यावोत्पत्तिस्तत्र जुहुयादिति सूत्रार्थः। हूयमानेनानेन घृतेन द्यावापृथिवौ द्यावापृथिव्यौ पूर्येथां पूरिते भवताम्। 'इन्द्रस्य छदिरिति मध्यमं छदिरारोपयति' (का० 8/6/10) औदुम्बरीनिखननादूर्ध्व सदोनामकं मण्डपं निर्माय तस्योपरि प्रावरणाय मध्यं कटमारोपयेदिति सूत्रार्थः। छदिःशब्देन तृणनिर्मितः कट उच्यते। हे तृणमय कट, त्वमिन्द्रस्य छदिरसि इन्द्रसंबन्धी कटो भवसि। अतस्त्वं विश्वजनस्य छाया भवेति शेषः। सदोमध्यवर्तिनः सर्वजनस्य यजमानर्त्विग्रूपस्य प्राणिनः प्रवरणाय छाया भवेत्यर्थः। सदस इन्द्रदेवताकत्वेन तदीयच्छदिष इन्द्रसंबन्धित्वम् ।।28।।

एकोनत्रिंशी

परिं त्वा गिर्वणो गिरंऽइमा भंवन्तु विश्वतंः। वृद्धायुमनु वृद्धंयो जुष्टां भवन्तु जुष्टंयः ।।२९।।

अन्वय : हे गिर्वण! (इन्द्र) इमागिरः त्वां परिगृह्णन्तु विश्वतो कट रुपेण परिगृह्णन्तु। वृद्धायुं अनुवृद्धयो गिरो जुष्टयः जुष्टा भवन्तु।

व्याख्या : स्तुतियों से पूजित हे इन्द्र हमारी ये स्तोत्र शस्त्ररुप वाणी सर्वथा आपको कट रूप में प्राप्त हों। प्रवृद्ध आयु वाले तुमको, ये हमारी उच्चस्वरादि से वृद्धि को प्राप्त हुई स्तुतियाँ (प्रातः सवन, माध्यन्दिनसवन और तृतीयसवन के रूप में प्राप्त हों। हमारी यह श्रद्धापूर्वक अर्चना तुम्हें प्रसन्न करें।

इस मन्त्र से सदस् का परिश्रयण (दीवार की तरह आवरण) किया जाता है।

म० : 'परि त्वेति परिवार्येति' (का० 8/6/12) परितः कुड्यवदावरणं कृत्वेति सूत्रार्थः। ऐनद्यनुष्टुव्निरुक्ता मधुच्छन्दोदृष्टा। गीर्भिः स्तुतिभिर्वननीयो भजनीयो गिर्वण इन्द्रः सदोऽभिमानी। हे गिर्वण इन्द्र, स्तोत्रशस्त्ररूपाः गिरः त्वा त्वां विश्वतः सर्वतः कटरूपेण परिभवन्तु परिगृहन्तु। किंभूतं त्वाम्। वृद्धायुं वृद्धा आयवो मनुष्या यजमानादयो मरुतो वा यस्य तम्। यद्वा वृद्धः श्रेष्ठश्चासावायुश्च तं महामनुष्यम्। किंभूताः गिरः। अनुवृद्धयः अनु सवनक्रमेण वृद्धिर्यासां ताः शनैः प्रातःसवनं तत उच्चैर्माध्यन्दिनं अनु सवनक्रमेण वृद्धिर्यासां ताः शनैः प्रातःसवनं तत उच्चैर्माध्यन्दिनं सवनं तारस्वरेण तृतीयं सवनमिति क्रमः। किंच जुष्टयोऽस्मत्सेवास्तव जुष्टाः प्रियाः भवन्तु 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' जोषणं जुष्टिः ।।29।।

त्रिंशी

इन्द्रंस्य स्यूरसीन्द्रंस्य ध्रुवोऽसि। ऐन्द्रमंसि वैश्वदेवमंसि ।।३०।।

अन्वय : (हे रज्जो) त्वम् इन्द्रस्य स्यूः असि, इन्द्रस्य ध्रुवः असि ऐन्द्रम् असि, वैश्वदेवम् असि।

व्याख्या : हे रज्जु (जिससे चटाई बाँधी गई हैं) तुम, इन्द्र देव के प्रसन्नार्थ किये जाने वाले यज्ञमण्डप को सीने वाली (जोड़ती) हो,

या तुम इन्द्रेव की सूची (सूई) हो। हे ग्रन्थि! तुम इन्द्र से सम्बद्ध होकर स्थिर रखने वाली हो। (हे अभिमर्शन रुप सद) तुम इन्द्र से सम्बद्ध हो। हे आग्नीध्र! तुम सभी देवताओं से सम्बंद्ध हो।

यहाँ सदोमण्डप का परिषीवण ग्रन्थिकरण तथा अभिमर्शन की विधि प्रस्तुत है।

म० : 'परिषीवणग्रन्थ्यभिमर्शनान्यैन्दैरिति' (का० 8/6/12)। इन्द्रदेवताकैत्रिभिर्मन्त्रैः परिषीवणादित्रयं कुर्यादिति सूत्रार्थः। तत्र प्रथमः। हे रज्जो, त्वमिन्द्रस्य सदोऽभिमानिदेवस्य संबन्धिनी स्यूः सीवनमसि। सीव्यतेऽनया सा स्यूः क्विप् 'छ्वोः शूडनुनासिके च' (पा० 6/4/19) इति ऊडादेशः द्वितीयः। हे ग्रन्थि त्वमिन्द्रसंबन्धी भूत्वा ध्रुवः स्थिरो भवसि। अथ तृतीयः। हे सदः, त्वमिन्द्रसंबन्धि भवसि। 'हविर्धानोपरान्तमुत्तरेणाग्नीध्रमग्न्यगारद्वारमन्तर्वेद्यर्थ भूयः सर्वं वा निष्टाप्य वैश्वदेवमसीत्यालभते' (का० 8/6/13-14) इति हविर्धानमण्डपस्योपरान्तो वायव्यकोणस्तस्तोत्तरभागे किंचिदाग्नीध्रनामकमग्निस्थानं कृत्वा तस्य स्पर्शं कुर्यादिति सूत्रार्थः। हे आग्नीध्र, त्वं सर्वदेवसंबन्धि भवसि ।।30।।

एकत्रिंशी

वि॒भूर॑सि प्र॒वाह॑णो॒ वह्नि॑रसि हव्य॒वाह॑नः। श्वा॒त्रो॑ऽसि॒ प्रचे॑तास्तु॒थो॑ऽसि वि॒श्ववे॑दाः ।।३१।।

अन्वय : (हे आग्नीध्रीयधिष्ण्य) त्वं विभूः असि प्रवाहणो वह्निः असि, हव्यवाहनः श्वात्रः असि प्रचेतः तुथः असि विश्ववेदा असि।

व्याख्या : (हे आग्नीध्रीयधिष्ण्य) (मृदानिर्मितस्वल्पवेदिका) पर स्थित अग्नि तुम सर्वत्र व्यापक हो तथा हवि के प्रवाहक हो। (हे होतृधिष्ण्य) तुम देवताओं के लिए हव्य को पहुँचाने वाले हो शीघ्र व्यापनशील हो, तथा प्रकृष्टज्ञान सम्पन्न हो, (हे ब्राह्मणाच्छंसि धिष्ण्य!) तुम ब्रह्मरुप और सर्वज्ञ हो।

म० : इत उत्तरं षोडशधिष्ण्यमन्त्रा। तदाह 'धिष्ण्यान्निपयत्युद्धतावोक्षिते पुरीषं निवपति स्फ्येनान्वारब्ध उदङ् उपविश्य विभूरसीति प्रतिमन्त्रमिति' (का० 8/6/15)। अग्नीनामाश्रयभूता मृदा निर्मिताः स्वल्पवेदिका धिष्ण्यान्युच्यन्ते। 'आग्नीध्रीयं पूर्वमिति' (का० 8/6/16)।

विभूशब्दप्रवाहणशब्दावाग्नीध्रीयधिष्ण्यस्य नामनी। 'ते वै द्विनामानो भवन्ति' (3/6/2/24) इति श्रुतेः। अष्टयजुषां धिष्ण्या अग्नयो देवताः। हे आग्नीध्रीय धिष्ण्य, त्वं विभूः प्रवाहणश्चासि। विविधं भवतीति विभूः एतस्मादेव धिष्ण्यादितरधिष्ण्येष्वग्निविहरणादेतस्य विभुत्वम् प्रवाहयतीति प्रवाहणः। तस्य हि दक्षिणोत्तरत ऋत्विजो गच्छन्ति। हविषः प्रवाहयितृत्वाद्वा प्रवाहणत्वम्। धिष्ण्यगतानग्नीन् प्रत्यन्ते देवा ऊचुः प्रत्येकं स्वं नामधेयं संपादयतेति। तदाह तित्तिरिः 'तान् देवा अब्रुवन् द्वे द्वे नामनी कुरुतेति'। मैत्रावरुणहोतृब्राह्म–णाच्छंसिपोतृनेष्ट्रच्छावाकानां धिष्ण्यान् सदसि कुर्यात्। तदाह 'षट् सदसि प्रत्यङ्मुखो द्व्यरमपरेण होतुर्दक्षिणपूर्वेणौदुम्बरीं मैत्रावरुणस्य होतृधिष्ण्यमुत्तरेण चतुरः समान्तरान्ब्राह्मणाच्छꣳसिपोतृनेष्ट्राच्छावाकानामिति' (का० 8/6/18–21)। होतुर्धिष्ण्यं हे होतृधिष्ण्य, वह्निर्हव्यवाहनश्चासि। वहति यज्ञकर्म निर्वहतीति वह्निः। हव्यं वहति देवान् प्रति प्रापयतीति हव्यवाहनः। यथाग्नीध्रीयधिष्ण्यस्य नामद्वयमुक्तं तथा होत्रादिधिष्ण्यानामपि बोध्यम्। मैत्रोवरुणधिष्ण्यं हे मैत्रावरुणधिष्ण्य, त्वं श्वात्रः प्रचेताश्चासि शु क्षिप्रमततीति श्वात्रो मित्रः। प्रकृष्टे चेतो ज्ञानं यस्य स प्रचेताः वरुणः तद्रूपोऽसि। ब्राह्मणाच्छंसिनः हे ब्राह्मणाच्छंसिधिष्ण्य, त्वं तुथो विश्ववेदाश्चासि। 'ब्रह्म वै तुथः' (4/3/4/15) इति श्रुते ब्रह्मरूपोऽसि। विश्वं वेत्ति विश्ववेदाः सर्वज्ञः। यद्वा तुथशब्देन देवान्प्रति दक्षिणानां विभागकर्ता पुरुष उच्यते। तदाह तित्तिरिः। तुथो ह स्म वै विश्ववेदा देवानां दक्षिणां विभजतीति ॥31॥

द्वात्रिंशी

उशिगसि कविरङ्घारिरसि बम्भारिरवस्यूरसि दुवस्वान् शुन्ध्यूरसि मार्जालीयः सम्राडसि कृशानुः परिषद्योऽसि पवमानो नभोऽसि प्रतक्वा मृष्टोऽसि हव्यसूदनऽऋतधामासि स्वर्ज्योतिः ॥३२॥

अन्वय : (हे पोतृधिष्ण्य) अग्ने! त्वम् उशिक् कविः असि, अङ्घारिः बम्भारिः असि, अवस्यूः दुवस्वान् असि शुन्ध्युः मार्जालीयः असि, सम्राट् कृशानुः असि, परिषद्यः असि, पवमानः नभः असि, प्रतक्वा मृष्टः असि, हव्यसूदनः ऋतधामा स्वः ज्योतिरसि।

व्याख्या : (हे पोतृधिष्ण्य) स्थित अग्नि तुम कमनीय और

विद्वान हो। पापनाशक और सभी जीवों के भरण पोषण करने वाले हो। (हे अच्छावाक् धिष्ण्य) तुम अन्न (हवि) के इच्छुक और हव्यग्रहण करने वाले हो (हे दक्षिणमुखमार्जालीयपात्र) तुम सबके शोधक हो (हे उत्तरबेदिगतआहवनीय) अग्नि! तुम बहुविधआहुति के आधार होने से सम्राट तथा प्रयोव्रतादि से कुशतनुयाजकों पर कृपा करने वाले हो–(हे बहिष्पवमान देश) पर स्थितअग्नि तुम विद्वानों की गोष्ठी में शोभा पाने वाले हों। तथा उन्हें पवित्र करने वाले हो। अन्तरिक्ष के समान व्यापक हो, शत्रुओं को पीड़ा देने वाले, और सहिष्णु हो। घृतादि हव्य पदार्थों को क्षरित करने वाले, शाश्वतिक नियमों के भण्डार और आकाश में प्रकाशमान सूर्य के समान हो।

यहाँ आहवनीयादि खरों का मन्त्रपूर्वक अवलोकन प्रस्तुत है।

म० : पोतुः। हे पोतृधिष्ण्य, त्वमुशिक् कमनीयः कविः विद्वाश्चासि ।। नेष्टुः अङ्घस्यांहसः पापस्यारिरङ्घारिः। विभर्तीति बम्भारिः त्वं तद्रूपोऽसि हे नेष्टृधिष्ण्य। दिवि सोमरक्षकौ द्वावङ्घारिबम्भारी। तथाच सोमरक्षकमन्त्रे स्वानभ्राजाङ्घारे बम्भारे (अध्या० 4 का० 20) इत्याम्नातम्। अच्छवाकस्य हे अच्छवाकधिष्ण्य, त्वमवस्यूः दुवस्वान् चासि। अवोऽन्नमिच्छतीत्यवस्युः। 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० 3/1/8) 'क्याच्छन्दसि' (पा० 3/2/170) इति क्यजन्तादुप्रत्ययः दीर्घश्छान्दसः औणादिक ऊप्रत्ययो व। दुवोऽस्यास्तीति दुवस्वान्हविष्मान्। दुव इति हविर्नाम। अच्छावाको हि पुरोडाशभागं लभते। एवं होत्रादिधिष्ण्यान्सदसि निर्माय वेदेर्दक्षिणभागे मार्जालीयं निर्माति। तदाह 'आग्नीध्राद्दक्षिणार्थ्ठसंप्रति वेद्यन्ते दक्षिणामुखो मार्जालीयमिति' (का० 8/6/21)। शुन्धयतीति शुन्ध्यूः। मार्ष्टीति मार्जालीयः। तत्र हि पात्राणि प्रक्षाल्यन्ते। 'सदोद्वारं पूर्वेण तिष्ठन्ननुदिशत्याहवनीयबहिष्पवमानदेशचात्वालशामित्रौदुम्बरी–ब्रह्मासनशालाद्वार्यप्रजाहितान् सम्राडसीति प्रतिमन्त्रमिति' (का० 8/6/23)। सदोद्वारस्य पूर्वभागेऽवस्थायाहवनीयादीन् सम्राडसीत्याद्यष्टमन्त्रैः क्रमेण निर्दिशेदिति सूत्रार्थः। तत्रादावाहवनीयम्। हे उत्तरवेदिगताहवनीय, त्वं सम्राट्। पयोव्रतादिभिः कृशं क्षीणं यजमानमनुगच्छतीति कृशानुः। बहिष्पवमानदेशम् हे बहिष्पवमानदेश, त्वं परिषद्यः अतएव शुद्धत्वात्पवमानः। चात्वालं हे चात्वाल, त्वं नभोसि स्वनने छिद्ररूपत्वादाकाशः, न भातीति वा। तथा प्रतक्वा प्रदक्षिणं तकन्ति गच्छन्ति ऋत्विजो यत्र स प्रतक्वा। तकतिर्गत्यर्थः

'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा॰ 3/2/75) इति वनिप्। शामित्रम् पशुविशसन-प्रदेशः शामित्रशब्देनोच्यते। हे शामित्र, त्वं मृष्टोऽसि पशुविशसनस्य विहितात्वेनाशुद्धिहेतुत्वाभावात्सल्यपि विशसने शुद्धोऽसि। यद्वा मृष्टः शृतत्वान्मिष्टः पक्वं हविर्मृष्टं भवति। तथा हव्यस्य हृदयजिह्वादिरूपस्य हविषः सूदनः पाकहेतुश्चासि। औदुम्बरीम् हे औदुम्बरे, त्वममृतधामा ऋतं सामगानं धामोपवेशवान्। यस्या सा। 'औदुम्बरीꣳ स्पृष्ट्वोद्गायति' इत्युक्तेः। स्वर्ज्योतिः उन्नतत्त्वेन स्वर्गे प्रकाशकः यद्वा सूर्यज्योतिः ।।32।।

त्रयस्त्रिंशी

स॒मु॒द्रोऽसि वि॒श्वव्यचाऽअ॒जो॒ऽस्येक॑पा॒दहि॑रसि बु॒ध्न्यो॒ वाग॑स्यै॒न्द्रम॑सि॒ सद॒ोऽस्यृत॑स्य द्वा॒रौ मा मा॒ सन्ता॑प्त॒मध्व॑नामध्वप॒ते प्र मा॑ तिर स्व॒स्ति मे॒ऽस्मिन्प॒थि दे॑व॒याने॑ भूयात् ।।३३।।

अन्वय : (हे ब्रह्मासन)! त्वं समुद्रोऽसि, विश्वव्यचा (हे प्राचीनवंश-शालाद्वारवर्तिअग्ने) त्वम् अजः असि। एकपाद्अहिः असि, बुध्न्यः असि। (हे सदः) ऐन्द्रम् असि, वागसि सदोऽसि। हे ऋतस्यद्वारौ (द्वारदेशस्थायिन्यौशाखे) युवां मा मां सन्ताप्तम्। हे अध्वपते! अध्वनां मा प्रतिर (प्रवर्धय), अस्मिन् देवयाने पथि (मम) स्वस्ति भूयात्।

व्याख्या : हे ब्रह्मासन, तुम समुद्र के समान अगाधज्ञानसम्पन्न हो। सम्पूर्ण कृताकृतवेक्षणरुप कर्म सम्पादन करने वाले, ब्रह्मा के समान विश्वव्यापक हो। हे अग्निदेव! आप अजन्मा हैं, और सम्पूर्णलोक आपका एकपादमात्र है। हे प्रजाहित (पुरातनगार्हपत्याग्नि) आप अपने स्वरुप से क्षीण नहीं होते हैं, तथा आधान काल में आप ही प्रथम मथित होते हैं। हे सद (मण्डप) तुम इन्द्र देवता के प्रिय हो, वेदमन्त्रों के उच्चारण स्थान होने से तुम वाग् रुप हो। ऋत्विजों के सभा स्थल हो। हे यज्ञ के द्वार देश पर स्थापितशाखे, (स्तम्भों)! तुम दोनों प्रवेश एवं निष्क्रमण के समय हमें (गिरने आदि से) रक्षा करो। हे प्रकाशद्वारा मार्गो की रक्षा करने वाले आदित्य, मार्गों में चलने वाले मेरी रक्षा करो। देवताओं को प्राप्त कराने वाले यज्ञ मार्ग में मेरा कल्याण हो।

म॰ : ब्रह्मासनम् हे ब्रह्मासन, त्वं समुद्रः विश्वव्यचाश्चासि। सर्वे देवाः सम्यगुत्कर्षेण द्रवन्त्यत्रेति समुद्रः समुद्र इवागाधो ज्ञानेन, ब्रह्मा यत्र

तिष्ठतीति वा। विश्वं सर्वं यज्ञं व्यचति गच्छति कृताकृतप्रत्यवेक्षणायेति विश्वव्यचाः। शालाद्वार्यम्। हे प्राचीनवंशशालाद्वारवर्तिन्नग्ने, त्वमजोऽसि। अजति आहवनीयरूपेण यज्ञ प्रदेशे गच्छतीत्यजः। यद्वा परब्रह्मत्वमुपचर्यते। न जायत इत्यजः। एकः पातीत्येकपात्। यद्वा एकः पादः सर्वाणि भूतानि यस्येत्येकपात्। 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' इति श्रुतेः। प्राजहितम् पत्नीशालापश्चिमभागवर्ती पुरातनो गार्हपत्योऽग्निः प्राजहित उच्यते। हे प्राजहित, त्वमहिरसि। न हीयत इत्यहिः शालाद्वारीये नूतने गार्हपत्ये उत्पन्नऽपि अयमग्निः स्वरूपेण न हीयते। बुध्नो मूलं तत्र भवो बुध्न्यः। आधानकाले प्रथममाहितत्वान्मूलभावित्वम्। स हि प्रथम मथ्यते। नामभिरेवात्र धिष्ण्यानां स्तुतिः। उक्तंच। 'स्तुतिः स्वनाम्ना कर्मणा वाथ रूपैरिति' (का० 9/8/22)। वागसीति सदोऽभिमर्शनमिति। हे सदः, त्वं वागसि वाचास्मिन्कर्म कुर्वन्तीति वाक्शब्देनाभेदोपचारेण सद उच्यते। ऐन्द्रमिन्द्रदेवताकं चासि। सीदन्त्यस्मिन्निति सदः। 'ऋतस्य द्वाराविति द्वार्ये' (का० 9/8/23) इति। द्वार्ये सदोद्वारशाखे अभिमृशतीति सूत्रार्थः। हे ऋतस्य यज्ञस्य द्वारौ द्वारदेशस्थायिन्यौ शाखे, युवां मा मां मा संताप्तं मा संतापयतं प्रवेशनिःक्रमणे स्खलनादिना। तपतेर्लुङि मध्यमैकवचने 'झलो झलि' (पा० 8/2/26) इति सिलोपे रूपम्। 'अभिमन्त्रणमुत्तरैरध्वनामध्वपत इति सूर्यम्' (का० 5/8/24-25)। उत्तरैस्त्रिभिर्मन्त्रैस्त्रयाणामभिमन्त्रणं दर्शनमित्यर्थः। तत्राध्वनामिति सूर्यमभिमन्त्रयत इति सूत्रार्थः। अध्वपते मार्गपालक रवे, अध्वनां मार्गाणां मध्ये वर्तमानं मा मा त्वं प्रतिर प्रवर्धय। तिरतिर्वृध्द्यर्थः। किंच अस्मिन् देवयाने देवयानप्रापके पथि यज्ञमार्गे मे मम स्वस्ति कल्याणं भूयात् ।।33।।

चतुस्त्रिंशी

मित्रस्यं मा चक्षुंषेक्षध्वमग्नंयः सगराः सगंरा स्थसगरेण नाम्ना रौद्रेणानींकेन पात माग्नयः पिपृतमाग्नयो गोपायतं मा नमों वोऽस्तु मा मां हिꣳसिष्ट ।।३४।।

अन्वय : (हे ऋत्विजः) मा मां मित्रस्य चक्षुषा ईक्षध्वम्। सगराः अग्नयः। यूयं सगराः स्थ, अग्नयः सगरेण नाम्ना रौद्रेण अनीकेन मां पात। मां पिपृत। मां गोपायत् वः नमः अस्तु। मा मां हिंसिष्ट।

व्याख्या : हे ऋत्विजों आप मुझे मित्र की दृष्टि से देखे। हे

स्तुतिसम्पन्नअग्नियों आप समानरुप से स्तुति के योग्य है। आप अपने उग्रसैन्यबल से या रुद्र देवता के मुख से मेरी रक्षा करें, मेरा पालन पोषण करें, आप लोगों को नमस्कार है, आप हमारी हिंसा न करें।

म॰ : 'मित्रस्येत्यृत्विजः' (का॰ 9/8/26) इति। अभिमन्त्रयत इति शेषः। हे ऋत्विजः, मित्रस्यादित्यस्य चक्षुषा नेत्रेण मा मामीक्षध्वं पश्यत सख्युर्नेत्रेण वा सखा यथा सखायं हितचक्षुषा पश्यति तथा मां पश्यध्वमित्यर्थः। 'अग्नयः सगरा इति धिष्ण्यानि' (का॰ 9/8/27) इति। अभिमन्त्रयत इति शेषः हे अग्नयः सगराः। 'गृ स्तुतौ' गरेण स्तुत्या सहिताः सगराः यूयं सगरेण नाम्रा स्तुतिसहितेन नाम्रा धिष्ण्या इति नाम्ना व्यवह्रियमाणत्वात्सगराः स्थ समानस्तुतयो भवथ। समानो गरो येषां ते सगराः। हे अग्नयः, ते यूयं रौद्रेणनीकेन शत्रुविनाशकत्वादुग्रेण भवदीयेन सैन्येन मा मां पात रक्षत। यद्वा रुद्रदेवत्येन मुखेन मां पाहि अनीकं मुखं सैन्यं च। हे अग्नयः, मा मां पिपृत धनादिभिः पूरयत। मा मां गोपायत रक्षत। 'अभ्यासे भूयांसमर्थ मन्यन्ते' (निरु॰ 10/42) इति यास्कोक्तेः निरन्तरं रक्षतेत्यर्थः। वो युष्मभ्यं नमोऽस्तु। मा मां मा हिंसिष्ट मा वधिष्ट। निर्विघ्नं मां कारयतेत्यर्थः ।।34।।

पञ्चत्रिंशी

ज्योतिरसि विश्वरूपम्विश्वेषान्देवानाᳬं समित्। त्वᳬं सोम तनूकृद्भ्यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्यऽउरु यन्तासि व्वरूथᳬं स्वाहा। जुषाणोऽ अप्तुराज्यस्य वेतु स्वाहा ।।३५।।

अन्वय : (हे आज्य) त्वं विश्वरुपं ज्योतिः असि, विश्वेषां देवानां समित् असि। (हे सोम) त्वम् अन्यकृतेभ्यः द्वेषोभ्यः तनूकृद्भ्यः यन्ता, उरु वरुथम् असि, स्वाहा जुषाणः अप्तुः आज्यस्य वेतु (आज्यं पिबतु)।

व्याख्या : हे आज्य तुम विश्वरुप (विविध आहुतियों में उपयुक्त होने के कारण) हो। सम्पूर्ण देवताओं को अच्छी तरह तेजोमय करने वाले हो। अर्थात् देवताओं द्वारा आज्य भक्षण से उनमें तेज की वृद्धि होती है। इसीलिए देवता तेजोमय होते हैं। हे सोम! तुम विरोधियों (प्रतिपक्षियों) द्वारा किये गये द्वेष पूर्वक प्रयोगों को नष्ट करने वाले हो।

हमारे शत्रुओं को नष्ट करने वाले भूत-प्रेतादि के नियामक एवं प्रबलसैन्यबल से सम्पन्न हो। तुम हमारे आश्रय हो अतः तुम्हारे लिए यह आहुति सुहुत हो। प्रीयमाण सोमदेव दिये हुए आज्य का पान करें।

म० : ध्रुवायाः पुरस्तात्पृषदाज्यमाज्यं दधिमिश्रं पञ्चगृहीतं ज्योतिरसीति समिदन्तेन' (का० 5/4/26) इति। हे आज्य, त्वं ज्योतिरसि। किंभूतम्। विश्वरूपं सर्वरूपं बहुष्वाहुतिषूपयुक्तत्वाद्विश्वरूपत्वम्। आज्यत्वाद्वा दीप्यमानत्वाद्वा ज्योतिष्ट्वम्। विश्वेषां सर्वेषां देवानां समित्समिन्धनं सम्यग्दीपकम्। देवा ह्याज्यं भुक्त्वा दीप्यन्ते। 'प्रदीप्तमिध्मं त्वꣳ सोमेति प्रचरण्याभिजुहोति' (का० 8/7/1) इति। जुहूरिव होमसाधना काचित्स्रुक् प्रचरणीत्युच्यते। अवसानरहिता सोमदेवत्या गायत्री भृगुसुतक्रतुद्दृष्टा। तनूं शरीरं कृन्तन्ति छिन्दन्तीति तनूकृतो राक्षसाः। 'कृती छेदने'। द्विषन्तीति द्वेषांसि दौर्भाग्यानि। अन्यैरस्मद्विरोधिभिः कृतानि प्रेरितान्यन्यकृतानि। हे सोम, त्वं तेभ्यो यन्ता नियन्तासि। यच्छतीति यन्ता 'यम उपरमे' तृच। तथा तादृशा अस्मान्मा बाधन्ते तथास्मान्सुरक्षितप्रदेशे संस्थाप्य पालयसीत्यर्थः। तस्मात्त्वमेवास्माकमुरु प्रभूतं वरूथं बलमसि। तस्मै तुल्यमिदं हुतमस्तु। सोमं नेतुं तदुद्दिश्यासावाज्याहुतीर्हुतेति भावः। 'जुषाणोऽप्तुरिति द्वितीयाम्' (का 7/8/2) इति। जुहोतीत्यनुवर्तते। अप्तुदेवत्यैकपदा विराट् यजुरन्ता। 'विराजो दश' इत्युक्तेर्दशाक्षरतद्विराट्। अप्मृतुश्चात्र सोमः। आप्नोति पीतः सन् शरीरमित्याप्तुः 'आप्लृ व्याप्तौ' 'आप्नोततेर्ह्रस्वश्च' (उणा० 1/74) इति तुप्रत्ययो धातोर्ह्रस्वश्च। जुषाणः प्रीयमाणोऽप्तुसोम आज्यस्य वेतु आज्यं पिबतु। कर्मण्यपीति केचित्। स्वाहा तस्मै सुहुतमसतु ।।35।।

षट्त्रिंशी

अग्ने नयं सुपथां रायेऽअस्मान्विश्वांनि देव वयुनांनि विद्वान्।
युयोध्युस्मज्जुंहुराणमेनो भूयिंष्ठां ते नमंउक्तिं विधेम ।।३६।।

अन्वय : हे अग्ने! त्वं सुपथा राये अस्मान् नय (हे) देव! विश्वानि वयुनानि विद्वान् युयोधि। अस्मद जुहुराणम् एनः ते भूयिष्ठां नम उक्तिं विधेम।

व्याख्या : हे अग्निदेव! सम्पूर्ण प्रशस्त मार्गों को जानने वाले आप हमें (अनुष्ठाताओं को) यज्ञफल की प्राप्ति के लिए सुन्दरमार्ग पर

ले चलिए, तथा हम से पापों (शुभकर्मो के प्रत्यूहभूत) को दूर करें। हम आपको बार बार प्रणाम करते हैं तथा नमस्कारपूर्वक अन्नहवि, अर्पण करते हैं।

म॰ : 'अग्ने नयेति वायचति' (का॰ 8/7/6) इति। आग्नेयी त्रिष्टुबगस्त्यदृष्टा। हे अग्ने हे देव, विश्वानि सर्वाणि वयुनानि मार्गान् ज्ञानानि वा विद्वान् जानानस्त्वमस्माननुष्टातॄन् राये धनाय यज्ञफलाय सुपथा शोभनमार्गेण नय प्रापय। किंच अस्मदस्मत्तोऽनुष्टातृभ्यः एनः पापं युयोधि पृथक्कुरु। 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' यौतेः शपः श्लुः वा छन्दसि' (पा॰ 3/4/88) इति हेः पित्त्वपक्षे 'अडितश्च' (पा॰ 6/4/103) इति हेर्धिः पित्तवादुणः।। किंभूतमेनः। जुहुराणम्। 'हुर्छा कौटिल्ये' अस्मात् हुर्छतेः सनो लुक् छलोपश्च (उणा॰ 2/88) औणादिकसूत्रेणानच्प्रत्यये रूपम्। हूर्छितुं कुटिली कर्तुमिच्छतीति जुहुराणम्। अभिलषितक्रियाप्रतिबन्धकमित्यर्थः। किंच ते तव भूयिष्ठां बहुलतमां नमउक्तिं हविषां वचनं याज्या पुरोनुवाक्यालक्षणां विधेम करवाम। नम इत्यन्ननाम। यद्वा नमस्कारविषयामुक्तिं संपादयाम ।।36।।

सप्तत्रिंशी

अ॒यं नौऽअ॒ग्निर्वरिवस्कृणोत्व॒यं मृधः पु॒रऽएंतु प्रभि॒न्दन्। अ॒यं वाजांञ्जयतु॒ व्वाजंसाताव॒यᳫ॑ शत्रूंञ्जयतु॒ जर्हृषाण॒ः स्वाहा ।।३७।।

अन्वय : अयम् अग्निः नः वरिवः कृणोतु। अयं मृधः प्रभिन्दन् पुरः एतु। अयं वाजसातौ वाजान् जयतु जर्हृषाणः। अयं शत्रून् जयतु स्वाहा।

व्याख्या : यह (पुरोदृश्यमान्) अग्नि हमें ऐश्वर्यसम्पन्न करें। यही अग्नि शत्रुकृतसंग्रामों को विदीर्णकर आगे जायें। हमें जीतने की शक्ति दें एवं प्रसन्न होकर यही अग्निदेव शत्रुओं पर विजय प्राप्त करावें। उन्हीं अग्निदेव के लिए यह आहुति समर्पित है।

म॰ : 'उत्तरेण सदो हृत्वाग्नीध्रेअग्निं निदधाति ग्रावद्रोणकलशसोम-पात्राणि चायं न इति जुहोत्यस्मिन्' (का॰ 8/7/7-9) इति। शालामुखीयमग्नि ग्रावादीनि च सदस उत्तरभागे नीत्वाग्नीध्रमण्डपे निधाय तत्रत्यधिष्ण्यगतेऽग्नौ घृतेन जुहुयादिति सूत्रार्थः। आग्नेयी त्रिष्टुब्यजुरन्ता। अयमाग्निर्नोऽस्माकं वरिवः धनं कृणोतु करोतु। अयमेवाग्निर्मृधो संग्रामान्प्रभिन्दन्विदारयन्सन्

पुर एतु अग्रतो यातु। अयमेवाग्निर्वाजसातौ वाजानामन्नानां संभजने निमित्ते वाजान् शत्रुसंबन्धीन्यन्नानि अस्मभ्यं दातुं जयतु। ततोऽयमेवाग्निर्जर्हृषाणोऽत्यर्थ हृष्यन् शत्रूञ्जयतु स्वाहा तुल्यं सुहुतमस्तु ।।37।।

अष्टत्रिंशी

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि। घृतं घृतयोने पिब प्रप्रं यज्ञपतिन्तिर स्वाहा ।।३८।।

अन्वय : हे विष्णों! उरु विक्रमस्व (पराक्रमस्व) नः क्षयाय (निवासाय) उरुकृधि (बहुकृधि) घृतयोने। (अग्नि) घृतं प्रपिब, यज्ञपतिं प्रतिर (अतिशयेन वर्धय) स्वाहा।

व्याख्या : हे सर्वव्यापक आहनीयअग्नि (हमारे विरोधियों को नष्ट करने के लिए) आप विपुलपराक्रम से सम्पन्न हैं। हमें निवास आदि के लिए उत्तम एवं विस्तीर्ण क्षेत्र प्रदान करो। हे घृत से उत्पन्न तथा वृद्धि को प्राप्त होने वाले अग्ने! आप हूयमान इस आज्य को ग्रहण करें। एवं यजमान की धनधान्यादि से वृद्धि करें। यह आहुति आपके लिए समर्पित हैं।

म० : 'उरु विष्णविति जुहोति' (का० 8/7/15) इति। पूर्वमन्त्रेणाग्नीध्रीये होमोऽनेन त्वाहवनीय इति सूत्रार्थः। वैष्णव्यनुष्टुब्यजुरन्ता। हे विष्णो व्यापिन् आहवनीय, उरु विक्रमस्व शत्रुषु बहुलं पराक्रमं कुरु। किंच क्षयाय ब्रह्मगृहनिवासाय नोऽस्मानुरुबहु यथा तथा कृधि कुरु। हे घृतयोने अग्ने, घृतं पिब हूयमानमिदमाज्यं भक्षय। 'अग्निर्यस्यै योनेरसृज्यत तस्मै घृतमुल्बमासीत्' इति श्रुतेर्घृतयोनित्वम्। किंच यज्ञपतिं यजमानं प्रतिर अतिशयेन वर्धय। 'प्रसमुपोदः पादपूरणे' (पा० 8/1/6) इति प्रशब्दस्य डित्वम्। स्वाहा तस्मै तुभ्यं हुहुतमस्तु ।।38।।

एकोनचत्वारिंशी

देवं सवितरेष ते सोमस्तꣳरक्षस्व मा त्वां दभन्। एतत्त्वन्देव सोम देवो देवाँ२ ।। उपांगाऽइदमहं मनुष्यान्सह रायस्पोषेण स्वाहा निर्वरुणस्य पाशांन्मुच्ये ।।३९।।

अन्वय : हे देव सवितः! एष सोमः ते (तव) तं रक्षस्व। त्वा

त्वामसुरा मा दभन्। देवसोम! त्वं देवः देवान् एतत् उपाग। इदम् अहं (मनुष्यः) रायस्पोषेण सह मनुष्यान् (उपागतोऽस्मि) स्वाहा। वरुणस्य पाशान् निर्मुच्ये।

व्याख्या : हे सभी के प्रेरक, सवितादेव, यह सोम आपके लिए समर्पित है, इसकी रक्षा करें। शत्रु आपकी हिंसा न करें। हे सोमदेव, आप दानशील होकर इस यज्ञ में अन्य देवों को प्राप्त करें, तथा मैं यजमान मनुष्य अपने मनुष्यों को पशु आदि धन की समृद्धि के साथ प्राप्त करुँ। सोम रुप अन्न देवों को प्राप्त हो, तथा इस सोमप्रदान द्वारा मैं वरुण के पाश (बन्धन) से निर्मुक्त होता हूँ।

म० : 'दक्षिणोऽनसि कृष्णाजिनमास्तीर्य तस्मिन्सोमं निदधाति देव सवितः' (का० 8/7/17) इति। अनसि शकटे। सावित्रं यजुः। हे सवितः सर्वस्य प्रेरक देव, एष सोमस्ते तवार्पितः तं तादृशं सोमं त्वं रक्षस्व पालय। मा त्वा दभन् सोमस्य रक्षितारं त्वामसुरा मा विर्हिसिषुः। 'एतत्त्वमिति विसृज्योपतिष्ठते' (का० 8/7/18) इति। कृष्णाजिने स्थापितं बद्धं सोमं विस्रस्योपस्थानं कुर्यादिति सूत्रार्थः। सौम्यं यजुः। हे सोम देव, त्वं देवः सन्भवदीयान्देवानेतदिदानीमुपागाः प्राप्तोऽसि। अहं मनुष्यो यजमानो मदीयान्मनुष्यानिदमिदानीं रायस्पोषेण सह पश्वादिधनेन सार्धमुपागतोऽस्मीत्व-नुषङ्ग। 'स्वाहा ग्निरिति निष्क्रम्य' (का० 8/7/19) इति हविर्धानमण्डपान्नि-र्गत्येति सूत्रार्थः। हानं हा न हा अहा स्वस्याहा स्वाहा स्वात्यागः सोमेनात्मानं निष्क्रीयात्मीयोऽहमस्मीत्यर्थः। यद्वा स्वाहा सोमरूपमन्नं देवेभ्यो दत्तमस्तु। अनेन सोमप्रदानेनाहं वरुणपाशान्निर्मुच्ये निर्मुक्तोऽस्मि ।।39।।

चत्वारिंशी

अग्ने॑ व्रतपा॒स्त्वे व्र॑तपा॒ या तव॑ त॒नूर्मय्य॒भूदे॒षा सा त्वयि॒ यो मम॑ त॒नूस्त्वय्य॒भू॑दि॒यᳪं सा मयि॑। य॒था॒य॒थं नौ॑ व्रतपते व्र॒तान्यनु॑ मे दी॒क्षान्दी॒क्षाप॑ति॒ रम॒ᳪंस्तानु॒ तप॒स्तप॑स्पतिः ।।४०।।

अन्वय : हे अग्ने व्रतपाः! त्वे (त्वं) व्रतपाः या तव तनूः मयि अभूत् एषा सा त्वयि। या मम तनूः त्वयि अभूद इयं सा मयि। हे व्रतपते अग्ने नौ व्रतानि यथायथं यथास्वं (सन्तु)। दीक्षापतिः में दीक्षाम् अन्वमंस्त, तपस्पतिः तप अनु (अन्वमंस्त)।

व्याख्या : हे अग्निदेव! आप स्वभावतः सभी व्रतों के (कर्मों के) पालक हैं। अतः आपके आश्रय में रहते हुए हमारे व्रत की रक्षा आपने की। व्रत (अनुष्ठान) के समय आपका जो शरीर मुझमें अवस्थित रहा वह शरीर आपमें हो, तथा व्रत समाप्ति के बाद मेरा शरीर जो आप में स्थित था। वह मुझमें अवस्थित हो। हे व्रत के पालक अग्ने! हम दोनों के कर्म यथास्व बनें, (अच्छी तरह से सम्पन्न हो) अर्थात् अनुष्ठान रुप व्रत (कर्म) हमारा हो, तथा फलप्रदानरूपकर्म आपका हो) दीक्षापतिअग्नि ने मेरी व्रतदीक्षा को स्वीकार किया है, तप की रक्षा करने वाले अग्निदेव मेरे तप का अनुमोदन किया है।

इस मन्त्र से यजमान हविर्द्धान मंडप से निकलकर आहवनीय अग्नि पर समिधा रखता है।

म० : 'अग्ने व्रतपा इत्याहवनीये समिधमाधायेति' (का० 8/3/4) आग्नेयं यजुः यजमानोऽग्निशरीरेणात्मशरीरस्य कृतव्यत्ययोऽधस्तनं कर्मकलापं कृत्वाथ यथा स्वशरीरं कुर्वाण आह हे अग्ने, व्रतपा स्वभावतः सर्वेषां व्रतानां पालकोऽसि तस्मात्कारणादिदानीमपि त्वे त्वं व्रतपाः मदीयव्रतस्य पालको भवेति शेषः। हे अग्ने, व्रतप्रार्थनाकाले तव संबन्धिनी या तनूर्मयि अभूदवस्थिता सा एषा तव तनूः त्वयि भवत्विति शेषः। यो या उ चा च मम तनूस्त्वय्यभूत्सा इयं मयि भवतु। किंच हे व्रतपते व्रतपालकाग्ने, नौ आवयोर्व्रतानि कर्माणि यथायथं यथास्वं स्वसंबन्धमनतिक्रम्य सन्त्विति शेषः। अनुष्ठानरूपं यथास्वं स्वसंबन्धमनतिक्रभ्य सन्तित्वति शेषः। अनुष्ठानरूपं व्रतं ममास्तु तत्पालनरूपं व्रतं तवास्त्वित्यर्थः। किंच दीक्षापतिः दीक्षाया पालकोऽग्निः मे दीक्षां मदीयदीक्षार्थ नियममन्वमंस्त अनुमतवान्। अङ्गीकृतवानित्यर्थः। तपस्पतिः तपसः पालकोऽग्निस्तपो मदीयामुपसदमन्व-मंस्तानुमतवान् ।।40।।

एकचत्वारिंशी

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि। घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा ।।४१।।

अन्वय : हे विष्णो उरु विक्रमस्व, नःक्षयाय उरुकृधि। हे घृतयोने! घृतं प्रपिब यज्ञपतिं प्रतिर स्वाहा।

व्याख्या : हे सर्वव्यापकआहवनीय (आप हमारे विरोधियों को नष्ट करने के लिए) विपुल पराक्रम से सम्पन्न है। हमें सुखपूर्वक उत्तम निवास स्थान के लिए विस्तीर्ण क्षेत्र प्रदान करें। हे घृत से उत्पन्न होने वाले अग्ने। हूयमान इस आज्य को ग्रहण करें। एवं यजमान की धनधान्यादि से वृद्धि करें। यह आहुति आपको समर्पित है।

म० : इदानीं यूपसंपादनमन्त्राः गृहेषु यूपाहुतिं जुहोति चतुर्गृहीताॅंस्रुवेण वोरु विष्णविति' (का० 6/1/3-4) इति। चतुर्गृहीतमाज्यमाहवनीये जुहोति यूपं छेत्तुं गमिष्यन्सा यूपाहुतिरिति सूत्रार्थः। व्याख्याता ।।41।।

द्विचत्वारिंशी

अत्यन्याँ २ऽ अगा नान्या २ऽ उपांगामर्वाक्त्वा परेभ्योऽविंद परोऽवरेभ्यः। तं त्वां जुषामहे देव वनस्पते देवयज्यायै देवास्त्वां देवयज्यायै जुषन्तां विष्णवे त्वा। ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनंॅं हिॅंसीः ।।४२।।

अन्वय : (हे पुरोवर्तियज्ञीययूपवृक्ष) अन्यान् अति अगाम् अन्यान् न उपगाम, त्वां परेभ्यः अर्वाक् अवरेभ्यः परम अविदम्। हे देव वनस्पते! देवयज्यायै तं त्वा जुषामहे। देवयज्यायै देवाः त्वा जुषन्ताम्। त्वा विष्णवे (उपस्पृशामि)। हे औषधे त्रायस्व, स्वधिते एनं मा हिंसीं:।

व्याख्या : हे यज्ञीययूपकेयोग्यवृक्ष, मैं अयज्ञीय वृक्षों को (त्यागकर) अतिक्रमण करके तुम्हारे पास आया हूँ। अन्य अयूप्य (निम्ब, जम्बीर आदि) वृक्षों के पास नहीं गया। तुझे मैंने दूरवर्ती यागीय वृक्षों में समीप और समीपस्थ वृक्षों में सर्वश्रेष्ठ पाया है। हे दिव्यगुणोपेत वनस्पति। देवयज्ञ के निमित्त मैं तुम्हारा उपयोग करता हूँ। हे यूपवृक्ष, तुम्हें मैं याग के लिए स्पर्श करता हूँ। हे ओषधि तुम स्वधिति के भय से मेरी रक्षा करना। हे कुठार! इस यूप की हानि न करना।

म० : 'आज्यशेषमादाय स तक्षा गच्छति यूपमभिमृशत्यत्यन्यानिति प्राङ्तिष्ठन्नभिमन्त्रयते वेति' (का० 6/1/5-7)। यूपाहुतिशेषाज्ययुतो यूपतक्षणार्थ वनं गत्वा यूपमभिमृशेदमिमन्त्रयेत्ति सूत्रार्थः। वनस्पतिदेवत्यम्। वृक्षा द्विविधः यूप्या अयूप्याश्च। पलाशरवदिरविल्वादयो यूप्याः निम्बज- म्बीरादयस्त्वयूप्याः। हे पुरोवर्तियूपवृक्ष, त्वत्तोऽन्यान्कांश्चिद्यूप्यानपि समप्रदेशजन्मादिलक्षणरहिता-

नत्यगाम् अतिक्रान्तवानस्मि अन्यांश्चायूप्यान्नोपागाम्। किंच परेभ्यो वृक्षेभ्यो दूरवर्तिभ्योऽर्वाक् निकटं त्वा त्वामविदं लब्धवानस्मि। अवरेभ्यो निकटेभ्यः परः परास्तादविदं 'विद्‌ल लाभे' पुषादि–' (पा० 3/1/55) इत्यङ् लुङि रूपम्। किंच हे वनस्पते वनस्य पते, हे देव दीप्यमान वृक्ष, देवयज्यायै देवयज्यायै त्वा जुषन्तां सेवन्ताम्। 'सुवेणोपस्पृशति विष्णवे त्वेति' (का० 6/1/11)। हे यूपवृक्ष, त्वा त्वां विष्णवे यज्ञाय उपस्पृशामीति शेषः। 'यो वै विष्णुः' इति श्रुतेः 'ओषधे इति कुशतरुणं तिरस्कृत्येति' (का० 6/1/12)। यूपवृक्षस्य कुशमन्तर्धानं कुर्यादिति सूत्रार्थः। हे ओषधे, त्वं त्रायस्व स्वधितिभयात् मां रक्ष। 'स्तधिति इति परशुना प्रहरतीति' (का० 6/1/13)। हे स्वधिते परशो, एनं यूपं मा वधीः ॥42॥

त्रिचत्वारिंशी

द्यां मा लेखीरन्तरिक्षं मा हिंसीः पृथिव्या संभव। अयꣳहि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय महते सौभगाय। अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो विरोह सहस्रवल्शाविव यꣳरुहेम ॥४३॥

अन्वय : (हे यूपवृक्ष) त्वं द्यां मा लेखीः माहिंसीः। अन्तरिक्षं मा हिंसीः पृथिव्या सम्भव। हि तेतिजानः अयम् स्वधितिः त्वा महते सौभगाय प्रणिनाय अजः। हे देववनस्पते त्वं शतवल्शः विरोह वयं सहस्रवल्शा विरुहेम।

व्याख्या : हे यूपवृक्ष द्युलोक की हिंसा मत करों, अन्तरिक्ष को हानि न पहुँचाओं तुम पृथिवी के साथ संगत हो जाओ क्योंकि अत्यन्त तीक्ष्ण यह कुठार महानयज्ञ के लिए तथा तुम्हारे अत्यन्त सौभाग्य के लिए यूपत्व को प्राप्त कराता है। अतः तुम छेदन से भयभीत न होओ)। हे वनस्पति देव, तुम सैंकड़ों अंकुर से युक्त होकर वृद्धि को प्राप्त होओ हम भी हजारों शाखाओं से समन्वित (पुत्र पौत्रादि से सम्पन्न) होकर वृद्धि को प्राप्त करें।

म० : 'द्यां मा लेखीरिति पतन्तमभिमन्त्रयते' (का० 6/1/16) इति। हे यूपवृक्ष, द्यां द्युलोकं त्वं मा लेखीः माहिंसीः। 'लिख अक्षरविन्यासे' इह तु हिंसार्थः। अन्तरिक्षां न मा हिंसीः। पृथिव्या सह संभव सङ्गतो भव। यूपस्य वज्ररूपत्वाल्लोकानां शान्तिराशास्यत इति भावः। 'अयꣳहि

त्वेति शोधनमभिमन्त्रणेशेषो वा सविशेषोदेशादिति' (का॰ 6/1/18-19) हि यस्मात् हे छिन्नवृक्ष, तेतिजानोऽतितीक्ष्णोऽयं स्वधितिः कुठारो महते सौभगाय सौभाग्याय दर्शनीयत्वाय। यद्वा सुभगो यज्ञः स एव सौभगः स्वार्थेऽण्। यज्ञाय त्वां प्रणिनाय प्रणयति यूपत्वं प्रापयति। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा॰ 3/4/6) इति वर्तमाने लिट्। 'तिज निशाने' अस्माद्यङन्ताच्छानचि तेजिजान इति रूपम्। अतस्त्वया छेदान्न भेतव्यमिति भावः। 'अतस्वत्वमित्यावृश्चने जुहोति यूपे वेति((का॰ 6/1/20-21)। हे देव वनस्पते, अतोऽस्मात्स्थाणोः त्वं शतवल्शः' बह्वङ्कुरः सन् विरोह विशेषेण जायस्व। वयं च सहस्रवल्शाः पुत्रपौत्रादिभिर्वहुशाखोपेता विरुहेम प्रजायेमहि ।।43।।

श्रीमन्महीधरकृते वेददीपे मनोरमे।

आतिथ्यात्स्थाणुहोमान्तः पञ्चमोऽध्याय ईरितः ।।5।।

इति पञ्चमोऽध्याय

अथ षष्ठोऽध्यायः

तत्र प्रथमा

दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्। आद॑दे॒ नार्य॑सी॒दम॒हꣳ रक्ष॑सां ग्री॒वाऽअपि॑कृन्तामि। यवो॑ऽसि य॒वया॒स्मद्द्वेषो॑ य॒वयाऽरा॑ती॒र्दि॒वे त्वा॒न्तरि॑क्षाय त्वा पृ॒थि॒व्यै त्वा॒ शुन्ध॑न्तां लो॒काः पि॑तृ॒षद॑नाः पितृ॒षद॑नमसि ।।१।।

अन्वय : (हे अभ्रिदेव) सवितुः देवस्य प्रसवे अश्विनोः बाहुभ्यां पूष्णोः हस्ताभ्यां त्वा अहम् आददे। त्वं नारी असि, इदम् अहं रक्षसां ग्रीवा अपिकृन्तामि। (हे धान्यविशेषत्वं यवः असि, अस्मद्वेषः यवयः अरातीः यवय। (हे उदुम्बर्यग्रभाग) त्वा अन्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यैं (प्रीत्यै त्वां प्रोक्षामि) पितृषदनाः लोकाः शुन्धन्ताम् पितृषदनमसि।

इस अध्याय में अग्नीषोमीय पशु याग के अंगभूत यूप संस्कार से लेकर सोमाभिषवपर्यन्त मन्त्रों की व्याख्या प्रस्तुत है।

व्याख्या : हे अग्निदेव! सवितादेवता की प्रेरणा से अश्विनी कुमारों की बाहुओं से तथा पुषादेवता के हॉथों से तुझे ग्रहण करता हूँ।

तुम खनन के साधन होने से अनुष्ठाता पुरुषों से सम्बद्ध हो। मैं इस परिलेखन द्वारा यज्ञविघ्नकारी राक्षसों के कण्ठप्रदेश का छेदन करता हूँ। हे धान्यविशेष। तुम यव हो (पृथक करने-वाले हो) अतः हमसे द्वेष करने वाले अदानशीलजनों या दुःख दौर्भाग्य को हमसे दूर करो। हे उदुम्बर के अग्रभाग! द्युलोक अन्तरिक्ष और पृथिवी के तृप्त्यर्थ तुम्हारे अग्र, मध्य एवं मूल भाग का प्रोक्षण करता हूँ। पितरलोग जिन लोकों में निवास करते है वे लोग इस उदकसेचन से शुद्ध हो। हे बर्हि! तुम पितरों के बैठने के साधनभूत हो अर्थात पितृगण तुम पर आनन्दपूर्वक बैठें।

इस मन्त्र से युपावटनिर्माण के लिए अभ्रिग्रहण किया जाता है।

म० : सौमिकवेदिप्रधाने पञ्चमाध्याये आतिथ्यमारभ्य यूपनिर्माणपर्यन्ता मन्त्रा उक्ता। अग्नीषोमीयपशुप्रधाने षष्ठेऽध्याये यूपसंस्कारमारभ्य सोमाभिष-वोद्योगपर्यन्ता मन्त्रा उच्यन्ते। 'देवस्य त्वेत्यभ्रिमादाय यूपावटं परिलिखतीद-महमिति' (का० 6/2/8) 'यवोऽसीत्यप्सु यवानोप्य प्रोक्षत्यग्रमध्यमूलानि दिवे त्वेति प्रतिमन्त्रं प्रोक्षामीति सर्वत्र साकाङ्क्षत्वादवटे शेषमासिञ्चति शुन्धन्तामिति वर्हीᳫ्ँषि प्राञ्च्युदञ्चि च प्रास्यति पितृषदनमसीति' (6/2/15-18)। एतानि षड् यजूंषि औदुम्बरीविषये (अ० 5 क० 26) व्याख्यातानि ।।1।।

द्वितीया

अ॒ग्रे॒णीर॑सि स्वावे॒शऽउ॑न्नेतॄ॒णामे॒तस्य॑ वित्ता॒दधि॑ त्वाऽस्थास्यति दे॒वस्त्वा॑ सवि॒ता मध्वा॑नक्तु सुपिप्प॒लाभ्य॒स्त्वौष॑धीभ्यः। द्यामग्रे॑णास्पृक्ष॒ आन्तरि॑क्ष॒म्मध्ये॑नाप्राः पृथि॒वीमुप॑रेणादृᳫ्ँहीः ।।२।।

अन्वय : (हे यूपशकल) त्वम् अग्रेणीः असि। उन्नेतृणाम् स्वावेशः एतस्य वित्तात एतत कर्म विद्धि। त्वा अधिस्थास्यति (हे यूप) सवितादेवः त्वा मध्वा अनक्तु। सुपिप्लाभ्यः औषधीभ्यः। देवः त्वा मध्वा अनक्तु सुपिप्पलाभ्यः औषधीभ्यः त्वा (प्रतिमुञ्चामि)। (हे यूप) अग्रेण द्याम् अस्पृक्षः मध्येन अन्तरिक्षम्, आप्राः उपरेण पृथिवीं अदृंहीः।

व्याख्या : हे यूप शकल! (खण्ड) तुम यूप के प्रथम अवयव' हो तथा यज्ञादिकार्यों के उन्नायक, अध्वर्यु प्रभृति ऋत्विजों के द्वारा सूखपूर्वक स्थापित किये जाते हो। तुम इस कर्म को जानो कि यह यूप

तुम्हारे ऊपर स्थित होगा। (हे यूप) सवितादेवता मधुर घृतादि से तुम्हें लिप्त करें। सुन्दरफलों से युक्त यव व्रीहि आदि औषधियों के निमित्त तुम्हें यूप के सामने स्थापित करता हूँ। (हे यूप) तुमने अग्रभाग से द्युलोक का स्पर्श किया है, मध्य भाग से अन्तरिक्ष को पूर्ण किया है। तथा अधोभाग से पृथिवी को दृढ़ किया है।

यहाँ यूपगर्त में प्रथमयूपशकल का प्रक्षेप कहा गया है।

म॰ : 'प्रथमशकलं चाग्रेणीरसीति' (का॰ 6/2/19)। यूपावटे प्रथमशकलं निक्षिपेदिति सूत्रार्थः। हे यूपशकल, त्वमग्रेणीरसि अग्रे प्रथमं यूपस्य छिद्यमानस्य नीयतेऽपनीयत इत्यग्रेणीः। यूपस्य प्रथमावयवभूतो भवसीत्यर्थः। यद्वा अग्रे प्रथमं यूपमवटं प्रति नयतीत्यग्रेणीः पुरःसरः। किंभूतस्त्वम्। उन्नेतृणामुननयनकर्तृणामध्वर्यूणां स्वावेशः सुखेनावेशयितुं शक्यः ते ह्येनं यूपावटे सुखेनावेशयन्ति लघुत्वात्। स त्वमेतस्य कर्मणो वित्तात्। कर्मणि षष्टी। एतत्कर्म विद्धि जानीहि। किं तत्कर्म। यत् यूपः त्वामधि स्थास्यति त्वदुपर्यवस्थानं करिष्यति तत्त्वया बोद्धव्यमित्यर्थः। 'देवस्य त्वेत्यनक्तीति' (का॰ 6/3/2) यूपमिति शेषः। यूपदेवत्यम्। हे यूप, सविता देवः मध्वा मधुना मधुरेणाज्येन त्वा त्वामनक्तु। मध्वा अनित्यमागम-शासनमिति नुमभावः। 'चषालमुभयतोऽक्तं प्रतिमुञ्चति सुपिप्ललाभ्य इति' (का॰ 6/3/3-4)। अध उपरि चाज्येन लिप्तं चषालं यूपाग्रे स्थापयेदिति सूत्रार्थः। हे चषाल, त्वां यूपस्याग्रे प्रतिमुञ्चामीति शेषः। किमर्थम्। ओषधीभ्यः व्रीह्याद्योषधिनिष्पत्त्यर्थम्। किंभूताभ्य ओषधीम्यः। सुपिप्पलाभ्यः शोभनफल-युक्ताभ्य इत्यर्थः। (का॰ 6/3/7) द्यामग्रेणेत्युच्छ्रयतीति। उन्नतं कुर्यादित्यर्थः। द्यूपदेवत्यम्। यूपस्य महिमोच्यते। हे यूप, त्वमग्रेणाग्रभागेन द्यां दिवमस्पृक्षः स्पृष्टवानसि। स्पृशतेर्लुङि 'शल इगुपधादनिटः क्सः' (पा॰ 3/1/45) इति क्सप्रत्ययः। मध्येन मध्यभागेनान्तरिक्षम् अप्राः आपूरितवानसि। 'प्रा पूरणे'। अपरेणाधोभागेन अनिष्टप्रदेशेन पृथिवी भूमिमदृंहीः दृढीकृतवानसि ॥2॥

तृतीया

या ते धामान्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गाऽअयासः। अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमवभारि भूरि॥ ब्रह्मवनिं त्वा क्षत्रवनिं रायस्पोषवनि पर्यूहामि। ब्रह्म दृꣳह क्षत्रं दृꣳहायुर्दृꣳह प्रजान्दृꣳह ॥३॥

अन्वय : (हे यूप) ते या यानि धामानि, गमध्यै (गन्तुम्) उश्मसि (गन्तुं वयमिच्छामः) यत्र भूरिश्रृङ्गा गावः अयासः। अत्र इह उरुगायस्य विष्णोः तत्परमं पदं भूरि अवभारि अवभाति। ब्रह्मवनि क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्यूहामि। ब्रह्म क्षत्रम् आयुः प्रजां दृंह।

व्याख्या : (हे यूप) हे प्रभो! आपके जो दिव्यधाम है हम उनमें जाने की इच्छा करते हैं, जहाँ बड़े-बड़े सींगों वाली गौवें रहती है अथवा सूर्य की प्रभूतदीप्तिवाली समस्त किरणें जाती है। इसी स्थान में ही व्यापक तथामहागतिमान् उस ब्रह्म का सर्वोत्कृष्ट स्थान (आदित्यमण्डल) है जो अत्यन्त शोभित होता है। हे यूप! ब्राह्मण क्षत्रिय-वैश्यादि से सेवनीय तुम पर मैं चारों ओर से मृतिकाप्रक्षेप करता हूँ। हे औदुम्बरि यूप! ब्राह्मबल, क्षात्रबल, हमारी आयु एवं प्रजा को तुम दृढ़ बनाओं।

म० : 'या त इति मिनोतीति' (का० 6/3/8) अवटे यूपं प्रक्षिपेदित्यर्थः। यूपदेवत्या त्रिष्टुप् दीर्घतमोदृष्टा। हे यूप, या यानि ते तव धामानि स्थानानि गमध्यै गन्तुं वयमुश्मसि उश्मः कामयामहे। 'तुमर्थे से-' (पा० 3/4/9) इत्यादिनां गच्छतेस्तुमर्थे कध्यैन्प्रत्ययः नित्त्वादाद्युदात्तः। उश्मसि 'वश कान्तौ' लटि उत्तमबहुवचने शपो लोपे संप्रसारणे 'इदन्तो मसि' (पा० 7/1/46) इति इकारः। यानि तव स्थानानि गन्तुं वयमिच्छाम इत्यर्थः। किंच यत्र येषु तव स्थानेषु गावो रश्मयः। अयासः अयन्तीति अयाः :अय गतौ' गन्तारो वर्तन्ते सर्वे किरणा येषु स्थानेषु गता इत्यर्थः। किंभूता गावः भूरिशृङ्गाः भूरि बहुशृङ्ग दीप्तिर्येषां ते भूरिशृङ्गा। प्रज्वलन्नामसु शृङगाणीति पठितम्। अहेत्येवार्थे। विष्णोः व्यापकस्य ब्रह्मणः तत् परममुत्कृष्टं पदं भूरि महत् आदित्यमण्डललक्षणमत्रैव अवभारि अवभाति। तकारस्थोने छान्दसो रेफः। यद्वा भूरि बहुप्रकारं यथा तथा अत्राह अत्रैव एष्वेव स्थानेषु अवभाति शोभते। किंभूतस्य विष्णोः। उरुगायस्य 'गाङ् गतौ' गानं गायः उरुर्गायो गतिर्यस्य। महागतेरित्यर्थः। यद्वा उरुभिर्महात्मभिर्गीयते स्तूयतेऽसावुरुगायस्तस्य। तादृशस्थानप्राप्तिहेतुभूतकर्मणे हे यूप, त्वमत्रावटे तिष्ठेतत्याशयः। 'ब्रह्मवनि त्वेति पांꣳसुभिः। ब्रह्म दृꣳहेति मैत्रावरुणदण्डेन समन्तं त्रिः पर्यूषतीति' (का० 6/3/10-11)। द्वे यजुषी औदुम्बरीविषये (अध्या० 5 क० 27) व्याख्याते ।।3।।

चतुर्थी

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा ।।४।।

अन्वय : (हे ऋत्विजः) विष्णोः कर्माणि पश्यत। यतः व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा।

व्याख्या : हे ऋत्विजों! आप यज्ञों के अधिष्ठाता यज्ञनारायण विष्णुः के सृष्टि पालन संहारादि अद्भूत कर्मों को देखें, जिन कर्मो से आपके लौकिक एवं वैदिककर्म निर्मित हुए हैं, या जिसने अग्नि वायु सूर्य आदि को प्रमादरहित होकर कर्म करने के लिए नियुक्त किया, वे विष्णु इन्द्र के (वृत्रवधादिकर्म में सहयोगदेनेवाले) मित्र हैं।

म० : 'विष्णोः कर्माणीति वाचयति यूपमन्वारब्धमिति' (का० 6/3/12)। यूपं स्पृष्टवन्तं यजमानं वाचयेदिति सूत्रार्थः। द्वे वैष्णव्यौ गायत्र्यौ मेधातिथिदृष्टे। हे ऋत्विजः, विष्णोः यज्ञाधिष्ठातुः कर्माणि सृष्टि-संहारादिचरितानि यूयं पश्यत। यतो यैः कर्मभिः व्रतानि भवदीयानि लौकिकवैदिककर्माणि पस्पशे बद्धवान् निर्मितवानित्यर्थः। 'स्पश् बन्धने' स विष्णुन्द्रिस्य युज्यः वृत्रवधादिकर्मसु योज्योऽनुरूपः सखा मित्रम्। यद्वा विष्णोः यज्ञस्य कर्माणि वीर्याणि पश्यत यतो यैवीर्यैर्व्रतानि आधानपशुसोमादीनि कर्माणि पस्पशे आत्मनि बद्धवान्। यद्वा यैवीर्यैर्व्रतानि कर्माणि अग्निवायुसूर्याणां स्वानि स्वानि एतान्यप्रमत्ताः कुरुतेत्येवं पस्पशे निबद्धवान्। शिष्टं समानम् ।।4।।

पञ्चमी

तद्विष्णोः परमं पदꣳ सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम् ।।५।।

अन्वय : तद् विष्णोः परमं पदं, सूरयः सदा (यं) पश्यन्ति। दिवि आततं चक्षुः इव (व्याप्तमस्ति)।

व्याख्या : वह वैकुण्ठधाम अथवा मोक्षप्रद भगवान विष्णु का सर्वोच्च स्थान है। जिसका दर्शन क्रान्तदर्शी मुनिजन (वेदान्तनिष्णातजन) ही किया करते हैं। यह अत्यन्त दुर्लभ है। द्युलोक में व्याप्त व

प्रकाशमान सूर्यमण्डल की तरह वह पद भी निरतिशय भासमान है।

म॰ : 'तद्विष्णोरिति चषालमीक्षमाणमिति' (का॰ 6/3/13) यूपकटकं प्रेक्षमाणं यजमानं वाचयेदिति सूत्रार्थः। सूरयः विद्वांसो वेदान्तपारगाः विष्णोः तत्परमं पदं स्वरूपं सदा पश्यन्ति। कीदृशम्। दिवि आकाशे निरावरणे चक्षुरिवाततं व्याप्तम्। यद्वा यत् दिवि आकाशे चक्षुरादित्यमण्डलमाततं विस्तारितम्। इवोऽनर्थकः। चक्षुःशब्देनान्यत्रापि मण्डलमुच्यते। 'चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्य' (अ॰ 7 क॰ 42) 'तच्चक्षुर्देवहितम् (अ॰ 36 क॰ 24) ।।5।।

षष्ठी

परिवीरसि परि त्वा दैवीर्विशो व्ययन्तां परीमं यजमानꣳरायो मनुष्याणाम्। दिवः सूनुरस्यैष ते पृथिव्यां लोकऽआरण्यस्ते पशुः ।।६।।

अन्वय : (हे यूप) त्वं परिवीः असि, दैवीर्विशः त्वा परिव्ययन्ताम्। मनुष्याणां रायः इमं यजमानं परिव्ययन्ताम्। (हे स्वरुः) दिवः सूनः असि, पृथिव्याम् एष ते लोकः, आरण्यः ते पशुः (अस्ति)।

व्याख्या : हे यूप! तुम रस्सी आदि के द्वारा चारों ओर से वेष्टित हो। दिव्यगुणगणसम्पन्न अथवा देवकार्यसम्पादन के लिए समागत ये औषध एवं पशु आदि तुम्हें चारों ओर से परिवेष्टित किये हैं। मुनष्यों के उपयोगी धन आदि भी इसी प्रकार इस यजमान को परिवेष्टित करें। हे स्वरु नामक काष्ठखण्ड तुम द्युलोक के पुत्र हो। पृथिवी पर यह तुम्हारा आश्रय स्थान है तथा वन में वर्तमान पशु भी तुम्हारे ही है।

इस मन्त्र में यूप का परिव्ययण वर्णित है जिसमें यूप के चारों ओर व्यामत्रयप्रमाणवाली कुशा से निर्मित रस्सियों को लपेटते हैं।

म॰ : 'त्रिगुणा त्रिव्यामा कौशी रशना तथा नाभिमात्रे विवृतं परिव्ययति परिवीरसीति' (का॰ 6/3/15)। त्रिभिर्गुणैरवयवैरुपेता त्रिव्याममिता कुशसंबन्धिनी या रशना रज्जुस्तया नाभिप्रमाणे यूपप्रदेशे आवृत्तित्रयं यथा भवति तथा यूपमावेष्टयेदिति सूत्रार्थः। यूपदैवत्यं यजुः। हे यूप, त्वं परिवीरसि परितो रशनया वीतो वेष्टितोऽसि। यद्वास्माभिः परिवारितोऽसि। 'व्येञ् संवरणे' इत्यस्य क्तप्रत्ययार्थे क्विपि संप्रसारणम्। किंच दैवीर्विशः देवसंबन्धिन्यः प्रजाः मरुद्गणादयः त्वा त्वां परिव्ययन्तां परितो वेष्टयन्तु।

यद्वा दैवीर्विशः पशवः त्वा परिव्ययन्ताम्। 'दैव्यो वा एता विशो यत्पशवः' इति श्रुतेः। किंच मनुष्याणां संबन्धिन्यो रायो धनानि इमं यजमानं परिव्ययन्तां वेष्टयन्तु। यद्वा मनुष्याणामिति निर्धारणे षष्ठी। मनुष्याणां मध्ये रायो धनानि इमं यजमानमेव परिव्ययन्ताम्। 'यूपशकलमस्यामवगूहत्युत्तरेणाग्निष्टां दिवः सूनुरसीति' (का॰ 6/3/17) अष्टास्रे यूपस्य यास्त्रिरग्निसमीपे स्थिता साग्निष्ठा तस्या उत्तरभागे रशनायां स्वरुनामकं शकलमवसृजेदिति सूत्रार्थः। हे स्वरो, त्वं दिवः द्युलोकस्य सूनुः पुत्रोऽसि। द्युलोकाद्वर्षति ततो यूपो जायते यूपात्स्वरुरिति प्रणालिकया दिवः सूनुः स्वरुः। 'वर्षिष्ठाद्दक्षिणं वितष्टं द्वादशं निदधात्येष त इति' (का॰ 8/8/23)। यूपैकादशिनीपक्षे वर्षिष्ठाद्यूपाद्दक्षिणभागे वितष्टमष्टास्रिं द्वादशं यूपं निदधाति स्थापयति न तु निखनतीति सूत्रार्थः। यूपदेवत्यम्। हे यूप, पृथिव्यामेष ते तव लोकः आश्रयस्थानमित्यर्थः। ननु 'पशवो वै यूपमुच्छ्रयन्ति' (3/7/3/4) इति श्रुतेः यूपे पशुना भवितव्यमित्यत आह। ते तव आरण्योऽरण्ये भवोऽरण्यसंबन्धी पशुः वने वर्तमानः पशुस्तवैवेत्यर्थः ।।6।।

सप्तमी

उपावीरस्युप देवान्दैवीर्विशःप्रागुरुशिजो वह्नितमान्। देवं त्वष्टर्वसु रम हव्या ते स्वदन्ताम् ।।७।।

अन्वय : (हे तृणविशेष) त्वम् उपावीः पशोः (द्वितीयः सखा) असि। दैवीः विशः देवान् उप प्रअगुः (उपगच्छन्तु)। उशिजः वह्नितमान् श्रेष्ठतमान्। हे देव त्वष्टः वसु रम। हे पशो हव्या ते स्वदन्ताम्। स्वादूनि भवन्ताम्।

व्याख्या : (हे औषधरुप हवि) आप समीप में आनेवालों की रक्षा करते है। दिव्यगुण सम्पन्न ये औषधियाँ उन देवताओं को प्राप्त करें, जो इस हवि की कामना करने वाले हैं तथा अग्नि द्वारा वहन की गई हवि को प्राप्त करते है। हे त्वष्टा-देव ये दिव्य पदार्थ तुम्हें प्रसन्न करे।

म॰ : 'उपावीरसीति तृणमादायेति' (का॰ 6/3/19) हे तृणविशेष, त्वमुपावीरसि उप समीपंभवति गच्छतीत्युपावीः। यद्वा उप समीपेऽवस्थितोऽवति रक्षतीत्युपावीः पशोर्द्वितीयः सखा त्वमसीत्यर्थः। 'तेन पशुमुपस्पृशत्युपदेवानिति' (का॰ 6/3/20)। गृहीतेन तृणेन पुरस्तात्प्रत्यञ्चं स्थितं पशुं

स्पृशेदिति सूत्रार्थः। दैवीर्विशः पशवो देवानग्नीषोमादीनुप प्रागुः उपगच्छन्तु। 'दैव्यो वा एता विशो यत्पशवः' इति श्रुतेः। 'इण् गतौ' इत्यस्मात् 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० 3/4/6) इति। कालमात्रे लुङ्। 'इणो गां लुङि' (पा० 2/4/45)। इति गादेशः। किंभूतान्देवान्। उशिजो मेधाविनः। यद्वा हवींषि कामयमानान् वहन्तीति वह्यः अतिवह्यो वहितमास्तान् यजमानं स्वर्गं प्रति प्रापयतां देवानां मध्ये श्रेष्ठतमानित्यर्थः। एवं पशून्प्रार्थ्य त्वष्टारमाह। हे देव त्वष्टः, त्वं वसु पशुलक्षणं धनं रम रमय। 'छन्दस्युभयथा' (पा० 3/4/117) इति शपोऽप्यार्धधातुकसंज्ञत्वाण्णिचो लोपः। एवं त्वष्टारमुक्त्वा पुनः पशुमाह। हे पशो, ते तव हव्या हवींषि स्वदन्तामास्वादयन्तु देवा इति शेषः। पूर्ववण्णिचो लोपः ।।7।।

अष्टमी

रेवती रमध्वं बृहस्पते धारया वसूनि। ऋतस्य त्वा देवहविः पाशेन प्रतिमुञ्चामि धर्षा मानुषः ।।८।।

अन्वय : (हे क्षीरादिधनवन्तः पशवः) रेवतीः रमध्वम् (हे) बृहस्पते! वसूनि धारय् हे देवहविः! त्वाऋतस्य प्राशेन प्रतिमुञ्चामि मानुषः धर्षाः।

व्याख्या : हे क्षीरादिधनयुक्तपशुओं! तुम सब यजमान के घर में रमण करो। हे बृहस्पतिदेव हमारे लिए अनेकविध गोधन गजधनादि धनों को प्रदान कीजिए। हे दिव्यहवि, हवनादि में आपका प्रयोग करके सृष्टिनियम के पाश से बाँधता हूँ। मनुष्य शक्तिमान हो।

म० : रयिर्धनं क्षीरादि यासां ता रेवत्यः। लिङ्गवचनव्यत्ययः। रेवन्तः 'रेवन्तो हि पशवः' (3/7/3/13) इति श्रुतेः। हे रेवन्तः क्षीरादिधनवन्तः पशवः, यूयं यजमानगृहे रमध्वं संक्रीडध्वम्। एवं पशुमुक्त्वा बृहस्पतिमाह। हे वृहस्पते, हे ब्रह्मन्, वसूनि पशुलक्षणानि धारया निश्चलीकुरु। 'ब्रह्म वै बृहस्पतिः पशवो वसु' (3/7/3/13) इति श्रुतेः। 'द्विगुणरशनया द्विव्यामया कौश्या पाशं कृत्वान्तरा श्रृङ्गमभिदक्षिणं ब्रध्नात्यृतस्य त्वेति' (का० 6/3/26)। अवयवद्वयोपेतया व्यामद्वयपरिमितया कुशकृतया रज्वा नागपाशं कृत्वा श्रृङ्गयोरन्तराले पशुं बध्नाति कथम्। अभिदक्षिणं दक्षिणश्रृङ्गमभिमुखं पाशं प्रतिमुञ्चेदिति सूत्रार्थः। हे देवहविः देवानां हविरूप पशो,

ऋतस्यावश्यंभाविफलोपेतत्वात्सत्यस्य यज्ञस्य पाशेन त्वा त्वां प्रतिमुञ्चामि बध्नामि। प्रतिपूर्वो मुञ्चतिर्बन्धने अर्तते। एवं पशुं संबोध्य शमित्रे समर्पयति मानुषो धर्षा। 'ञिधृषा प्रागल्भ्ये' विकरणपुरुषव्यत्ययः। मानुषः शमिता धृष्णोतु शमयितुं शक्नोतु पाशेन बद्धत्वादिति भावः। संहितायां 'द्यचोऽतस्तिङ' (पा॰ 6/3/135) इति सूत्रेण धर्षेत्यत्र दीर्घः ।।8।।

नवमी

देवस्यं त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। अग्नीषोमाभ्याञ्जुष्टन्नियुनज्मि। अद्भ्यस्त्वौषधीभ्योऽनुं त्वा माता मंन्यतामनुं पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः। अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ।।९।।

अन्वय : सवितुः देवस्य प्रसवे अश्विनो र्बाहुभ्यां पूष्णोः हस्ताभ्याम् अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं त्वा नियुनज्मि। अद्भ्यः औषधीभ्यः त्वा प्रोक्षामि। माता पिता भ्राता सगर्भ्यः सखा सयूथ्यः त्वा यागाय अनुमन्यताम्। अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं त्वां प्रोक्षामि।

व्याख्या : सर्वप्रेरकसवितादेवता की आज्ञा से, अश्विनी कुमारों की बाहुओं से, पूषा के हॉथों से (बल प्राप्त करके) अग्नि और सोम देवता के प्रिय तुमको यज्ञ में, उपयोग के लिए नियुक्त करता हूँ। हे पशु जल एवं औषधियों से तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ। जननी (भूमि माता) और उत्पादक (द्युरुप) पिता, सहोदरभ्राता समानभाव से साथ रहने वाले सखा, इस यज्ञकार्य को सम्पन्न करने की तुम्हें अनुमति प्रदान करें। अग्नि एवं सोमदेवता के अत्यन्तप्रिय, तुम्हारा मैं प्रोक्षण करता हूँ।

म॰ : 'देवस्य त्वेति यूप इति' (का॰ 6/3/27) यूपे पशुं बध्नातीति शेष इति सूत्रार्थः। अग्नीषोमदेवाभ्यां जुष्टमभिरुचितं पशुं नियुनज्मि निबध्नामि। व्याख्यातमन्यत्। 'अद्भ्स्त्वेति पशुं प्रोक्षणीभिः प्रोक्षतीति' (का॰ 6/3/30) हे पशो, अदभ्यः ओषधीभ्यः। अत्र विभक्तिव्यत्ययः। अखिरोषधिभिश्च। त्वा त्वां प्रोक्षामि मेध्यं करोमि। किंभूतं त्वाम्। अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं प्रीतं दर्भैरपामुत्पूतत्वादोषधीनामपि प्रोक्षणसाधनत्वमस्त्येव। स्वमातृभक्षिताभ्यां तृणोदकाभ्यां पशोरुत्पन्नत्वात्तेनोभयेन प्रोक्षणं युक्तम्। तदाह तित्तिरिः' 'अभ्द्यस्त्वौषधीभ्यः प्रोक्षामीत्याहाभ्द्यो ह्येष ओषधीभ्यः संभवति'। किंच हे

पशो, एवं प्रोक्षितं त्वां माता भूमिरनुमन्यतां, तथा पिता द्युरनुमन्यताम्, सगर्भ्यः समानगर्भे उदरे भवः सोदरो भ्राता अनुमन्यताम्। सयूथ्यः समा यूथे भवः सखा सुहृत् अनुमन्यताम् ।।9।।

दशमी

अ॒पां पे॒रु॒र॒स्यापो॑ दे॒वीः स्व॑दन्तु स्वा॒त्तं चि॒त्सद्दे॑वह॒विः। सं ते॑ प्रा॒णो वाते॑न गच्छता॒थ्ँ समङ्गा॑नि॒ यज॑त्रैः सं य॒ज्ञप॑ति॒रा॒शिषा ।।१०।।

अन्वय : (हे पशो!) त्वम् अपां पेरुः असि। देवीः आपः स्वदन्तु। चित् स्वात्तं देवहविः सत् ते प्राणः वातेन संगच्छताम्। अंगानि यजत्रैः सम् यज्ञपतिः आशिषा सम्। (संगच्छताम्)

व्याख्या : हे पशु! तुम जल पीने वाले हो। (अतः इस दिव्य जल का पान करो) दिव्यजलरुपदेवियाँ तुम्हारा प्रोक्षण करें। इससे (जलान्तर्गत दिव्यगुणों के कारण) देवों के लिए यह हवि आस्वादयोग्य होगी। तुम्हारा प्राण शुद्धवायु से संगत हो। (मिलजाय) तुम्हारे सभी अंग यज्ञीयकार्य के साथ संयुक्त हो। और (परिणामस्वरुप) यजमान यज्ञ फल से सम्पृक्त हो।

म॰ : 'अपां पेरुरित्यास्य उपगृह्णातीति' (का. 6।3।39) पशोर्मुखे प्रोक्षणीर्धारयेदिति सूत्रार्थः। पशुदैवतम्। हे पशो, त्वमपां जलानां पेरुः पानशीलोऽसि। पिबतीति पेरुः औणादिक एरुप्रत्ययः। उदकपानशीलो भवसि तत इदं पिवेत्यर्थः। 'आपो देवीरित्यधस्तादुपोक्षतीति' (का. 6।3। 32) पशोरधोभागे हृदि प्रोक्षेदिति सूत्रार्थः। हे पशो, आपोदेवीः अब्रूपा देव्यः स्वदन्तु पशुं भक्षयन्तु। को गुण इति चेत्। स्वात्त चित्। चिदितयव्ययं हेरर्थे। यतो देवहविः देवानां हविःपशुलक्षणं स्वातमास्वादितं सत् शोभनं देवयोग्यं भूयादिति शेषः। अद्म्यस्त्वेत्यादिमन्त्रयेणोपरिष्टान्मुखेऽधोभागे पशोः प्रोक्षणेन सर्व मेध्यं करोतीति तित्तिरिणा प्रतिपादितम्। तदाह 'उपरिष्टात्प्रोक्षत्युपरिष्टादेवैनं मेध्यं करोति पाययत्यन्तरत एवैनं मेध्यंकरोत्यध स्तादुपोक्षति सर्वमेवैनं मेध्यं करोतीति'। 'उत्तरमाधारमाधार्य पशुं पूवै. समनाक्ति ललाटांसश्रोणिषु सं त इति प्रतिमन्त्रमिति' (का. 6।4।2) उत्तराघारहोमानन्तरं ध्रुवासमजनादर्वार्गेव भाले अंसयोः श्रोण्योश्र जुह्वैव पशुं समनक्ति सं त इति त्रिभिप्रतिमन्त्रामिति सूत्रार्थः। पशुदैवतयंजूषि।

ललाटांजनमन्त्रः हे पशो, ते तव प्राणो बाह्येन वातेन संगच्छताम्। अथांसयोर्मन्त्रावृत्तिः अगांनि अंसादीनि यजत्रैः यागैः यज्ञपतिर्यजमानआशिषा यज्ञफलेन संगच्छताम् ॥10॥

एकादशी

घृतेनाक्तौ पशूँस्त्रायेथाꣳरेवति यजमाने प्रियं धाऽआविश। उरोरन्तरिक्षात्सजूर्देवेन वातेनास्य हविषस्त्मना यज समस्य तन्वा भव। वर्षो वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिन्धाः स्वाहा देवेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥११॥

अन्वय : (हे स्वरुशासौ) (युवाम् घृतेन अक्तौ, पशून् त्रायेथाम् हे रेवति! यजमाने प्रियं धाः (धेहि) आविश वातेन देवेन सजूः उरोः अन्तरिक्षात् (गोपाय)। अस्य हविषः त्मना यज। अस्य तन्वा संभव। (हे) वर्षो (तृण) वर्षीयसि यंज्ञे यज्ञपतिं धाः धेहि देवेभ्यः स्वाहा।

व्याख्या : हे स्वरु और शास (यजसाधनों) तुम घृतादि पौष्टिक पदार्थों से परिपूर्ण होकर इस पशु की रक्षा करो। हे धनवती वाग्देवता इस यजमान के निमित्त अभीष्ट पदार्थों से परिपूर्ण होकर इस पशु की रक्षा करो। हे धनवती वाग्देवता इस यजमान के निमित्त अभीष्ट पदार्थों को स्थापित करो, ज्ञान प्रदान द्वारा इसमें प्रविष्ट हो जाओ। वायुदेव के साथ समान प्रीतियुक्त होकर विस्तीर्णअन्तरिक्ष से यजमान की रक्षा करो। तथा इसके द्वारा दी गई हवि को स्वीकार करो। इस उत्सृज्यमान (लोकोपकारार्थ) पशु के शरीर से संगत (मिल) हो जाओ। वर्षा से प्रसूत (उत्पन्न) हे तृण! विस्तीर्णतर इस यज्ञ में यजमान को स्थापित करो। यह आहुति देवों को तृप्त करें।

म० : 'स्वरुमादायक्त्वोभौ जुह्वग्रे ताभ्यां पशोर्ललाटमुपस्पृशति घृतेनाक्ताविति' (का. 6।4।12)। विशसित्रा दत्तं शासं गृहीत्वा स्वयमेव यूपात् स्वरुमादाय तावसिस्वरू जुह्वग्रे घृतेनांक्त्वा ताभ्यामसिस्वरुभ्यां पशोर्ललार्ट स्पृशेदिति सूत्रार्थः। स्वरुशासदैवतम्। हे स्वरुशासौ, युवां घृतेनाक्तो सन्तौ पशून्। बहुवचनं पूजार्थम्। एतं पशुं त्रायेथां पालयेथाम्। 'रेवति यजमान इति वाचयतीति' (का. 6। 4।11) यजमानं वाचयेदित्यर्थः। वाग्देवतम् 'वाग्वै रेवती' इति श्रुतेः (3।7। 1। 12) हे रेवति धनवति वाग्देवते,

यजमानेऽस्मिन् प्रियमभिप्रेतं धाः धेहि। 'बहुलं छन्दस्यमा-ज्योगेऽपि' (पा. 6।4।74) इत्यडभावः। आविश ज्ञानप्रदानेन यजमानं प्रविश। किंच हे रेवति, वातेन देवेन सजूः समानप्रीतिर्भूत्वा उरोर्विस्तीर्णादन्तरिक्षात्यजमानं गोपायेति शेषः। किंचास्य पशुलक्षणस्य हविषा त्मना आत्मनायज। 'मन्त्रेष्वांग्यादेरात्मनः' (पा. 6।4। 141) इति आकारलोपः। किंचास्य पशोस्तन्वा शरीरेण संभव एकीभव। हे रेवति, यजमानरूपेण पशुरूपेण चात्मना भूत्वा त्मना च यजेति तात्पर्यार्थः। 'पश्चात्तृणमुपास्याति वर्षो वर्षीयसीति' (का. 6।4।14)। शामित्रस्य पश्चात्प्रागग्रं तृणमुपास्यति हस्तस्थतृणद्धयमध्ये एकं क्षिपति विशसनीयस्य पशोर्भूमिस्पर्शपरिहारार्थमिति सूत्रार्थः। तृणदेवतम्। हे तृण, यद्वा वर्षो विस्तीर्ण, वर्षीयसि विस्तीर्णतरे यज्ञे यज्ञपतिं यजमानं धां:धेहि। 'देवेभ्यःस्वाहेति जुहोतीति' (का. 6।4।24) मन्त्रयोरर्थैक्येऽपि पाठभेदतात्पर्य तित्तिरिराह। 'पुरस्तात्स्वाहाकृतयोऽन्ये देवा उपरिष्टात्स्वाहाकृतयोऽन्ये स्वाहा देवेभ्योदेवभ्यः स्वाहेति'।।11।।

द्वादशी

माहि॑र्भू॒र्मा पृदा॑कु॒र्नम॑स्तऽआतानान॒र्वा प्रेहि॑। घृ॒तस्य॒ कु॒ल्या उप॑ ऋ॒तस्य॒ पथ्या॒ऽअनु॑ ।।१२।।

अन्वय : (हे रज्जो) त्वम् मा अहि र्मा भूः। पृदाकुः मा भूः। हे आतान (यज्ञ) ते नमः। अनर्वा प्रेहि, ऋतस्य पथ्याः घृतस्य कुल्याः अनु उप एहि।

व्याख्या : हे उत्सृज्यमानपशु के गले की रज्जु तू सर्प (सर्पाकार मत बन, अजगर भी मत बन अर्थात्, भूमि पर पड़ी तू सर्पादि का भ्रम उत्पन्न करने ली मत बनो। हे विशालयज्ञदेव, तुम्हें अभिवादन करता हूँ। तुम विघ्नं से रहित होकर समाप्तिपर्यन्त उत्तम रुप से सम्पन्नता को प्राप्त होओ। यज्ञ के मार्ग में उत्पन्न (सामान्य पृषदाज्यादि) घृतकुल्या रूप फल को लक्ष्य करके मेरे समीप आओ।

म० : 'वपाश्रपणीभ्यां नियोजनीं चात्वाले प्रास्यति माहिर्भूरिति' (का. 6। 4। 26) वपा श्रप्यते याभ्यां ते वपाश्रपण्यौ काष्ठविशेषौ ताभ्यां कृत्वां नियोजनीं पशुबन्धनरजुं द्धिगुणां चात्वालेक्षिपेदिति सूत्रार्थः। रज्जुदेवत्यम्। हे रज्जो, त्वमहिः सर्पाकारा मा भूः मा भूयाः। पृदाकुः अजगराकारापि मा

भूः। पान्नेजनहस्तां वाचयति नयन्नमस्त आतानेति' (का. 6।6।1)। पादौ निज्येते क्षाल्येते येन स पान्नैजनः पादनेजनार्थउदककलशः। पादग्रहणन्यावय-योपलक्षणम्। पान्नेजनो मुखाद्यवयशोधनार्थो जलकलशो हस्ते यस्याः सा पान्नेजनो मुखाद्यवयशोधनार्थो जलकलशो हस्ते यस्याः सा पान्नेजनहस्ता तां पत्नीं नयन् गार्हपत्यसमीपात्पशुशोधनाय नयन्सन्। प्रतिप्रस्थातामुं मन्त्र तां वाचयेदिति सूत्रार्थ यज्ञ दैवतम्। आ समन्तात्तन्यते विस्तार्यते इत्यातानो यज्ञः। 'यज्ञो वा आतानोयज्ञं तन्वते' (3।7।2।2) इति श्रुतेः। हे आतान यज्ञ, ते तुभ्यं नमः। त्वमनवा शत्रुरहितः सन्! प्रेहि समाप्तिपर्यन्तं प्रकर्षेण गच्छ। इयर्ति वधार्थमित्यर्वा नास्त्यर्वा यस्यासावनर्वा। 'अनर्वा प्रेहीत्यसपत्नेन प्रेहि' इति श्रुतेः। 'अनर्वा प्रेहीत्याह भ्रातृव्यो वा अर्वा भ्रातृव्यापनुत्त्यै' इति तित्तिरिवाक्यात्। किंच ऋतस्य यज्ञस्य पथ्याः पथि भवाः घृतस्य कुल्याः घृतनदीः अनुलक्ष्य उप प्रेहिगच्छ। सान्नास्यपृषदाज्यकृल्योपलक्षणार्थं घृतकृल्यग्रहणम्। अत्र यज्ञे बहुघृतमाहुतमित्यभिप्रायः ।।12।।

त्रयोदशी

देवी॑राप॑ः शु॒द्धा वो॑ढ्व॒ꣳ सुप॑रिविष्टा दे॒वेषु॒ सुप॑रिविष्टा व॒यं प॑रिवे॒ष्टारो॑ भूयास्म ।।१३।।

अन्वय : (हे आपोदेव्यः) देवीः आपः शुद्धा सुपरिविष्टाः देवेषु वोढ्वम्। वयं सुपरिविष्टाः परिवेष्टारः भूयास्म।

व्याख्या : हे दिव्यगुणयुक्त जल तुम स्वभावत् शुद्ध हो और सर्वत्र व्याप्त हो। सर्वतः उदककलश में निविष्ट होते हुए इस याग को तथा इस यज्ञादि के शुभ संकल्प को देवताओं तक ले जाओं। हम (तुम्हारे अनुग्रह से) यज्ञादि शुभ कार्य में प्रवृत्त हुए हैं, इन्हीं देवों से तर्पित होकर हम इसके परिवेषणकर्ता (सेवक) बने। (हम देवों को हर्वि आदि प्रदान करने वाले बने)

म॰ : एवं यज्ञं स्तुत्वेदानीमापः स्तूयन्ते। अर्धमन्देवत्यम-र्धमाशीर्देवत्यम्। हे आपो देव्यः, अयं देवेषु बोढू पशुमिति शेषः। एनं पशुं देवान्प्रति बहत प्रापयत। 'वह प्रापणे' अस्य लुङि तङि मध्यमबहुवचने अडभावे रूपम्। किंभूता यूयम्। शुद्धाः स्वभावतः तथा सुपरिविष्टाः साधु परितः सर्वतो निविष्टाः पान्नेजनीपात्रे। किंच वयमपि सुपरिविष्टाः

पान्नेजनीपात्रे। देवेष्विति पदमिहाप्यनुवर्तते। वयमपि देवेषु मध्येऽवस्थितास्तैरेव देवै सुपरिविष्टाः तर्पिताः संतस्तेषामेव देवानां परिवेष्टारः परिवेषणकर्तारो भूयास्मेत्याशीः ।।13।।

चतुर्दशी

वाचं ते शुन्धामि प्राणन्तें शुन्धामि चक्षुंस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि नाभिंन्ते शुन्धामि मेढ्रंन्ते शुन्धामि पायुं तें शुन्धामि चरित्रांस्ते शुन्धामि ।।१४।।

अन्वय : (हे पशो) ते वाचं शुन्धामि, ते प्राणं शुन्धामि, ते चक्षुः श्रोत्रं नाभिं पायुं शुन्धामि्। ते मेढ्रं शुन्धामि, ते चरित्रान् शुन्धामि।

व्याख्या : हे उत्सृष्टपशु मैं (इस दिव्यजल से) तेरी वाणी को शुद्ध करता हूँ। तेरे प्राणों को शुद्ध करता हूँ। तेरे नेत्र, कान नाभि गुदा आदि समस्त अंगों को शुद्ध करता हूँ। तेरे जननेन्द्रिय को शुद्ध करता हूँ तथा तेरे पावों को स्वच्छ करता हूँ।

म० : 'पशोः प्राणाञ्छुन्धति पत्नी मुखं नासिके चक्षुषी कर्णौ नाभिं मेढ्रं पायुं पादान्संहत्य वांच ते शुन्धामीति प्रतिमन्त्रति' (का. 6। 6। 2-3)। पत्नी पशुसमीपे उपविश्य मृतस्य पशोः प्राणान्मुखादीन्यष्टौ प्राणायतनानि प्रतिमन्त्रं शुन्धति शोधयति अद्भिः स्पृशतीति सूत्रार्थः। पशुदेवज्त्यानि। हे पशो, अहं ते तब वाचं वागिन्द्रियं शुर्न्धामे शोधयामि। एवमग्रेऽपि प्राणं प्राणवायुं प्राणेन्द्रियं चक्षुरिन्द्रियं श्रोत्रेन्द्रियं नाभि नाभिच्छिंद्र मेढ्रं लिंगम् पायुं गुदं चरन्ति गच्छन्त्येभिरित चरित्राः पादाः एवं त्वदीयानि सवेन्द्रियाणि शुन्धामि ।।14।।

पञ्चदशी

मनंस्तऽआप्यांयता वाक्तऽआप्यांयतां प्राणस्त आप्यांयतां चक्षुंस्त आप्यांयता ॐ श्रोत्रंन्तऽआप्यांयताम्। यत्तें क्रूरं यदास्थिंतन्तत्त आप्यांयतान्निष्ट्यांयतान्तत्तें शुध्यतु शमहोंभ्यः। ओषंधे त्रायंस्व स्वधिंतै मैनंॐ हिॐसीः ।।१५।।

अन्वय : (हे पशो) ते मनः आप्यायतां ते वाक् आप्यायतां ते प्राणः आप्यायतां ते चक्षुः श्रोत्रम् आप्यायताम्। ते यत् क्रुरं तत् निष्ट्यायताम्।

यद् आस्थितम् तत् आप्यायताम् ते तत् शुध्यतु। अहोभ्यः शम् ओषधे त्रायस्व, स्वधिते मैनं हिंसीः।

व्याख्या : हे पशु तुम्हारा मन, वाक्, प्राण, चक्षु, नासिका आदि इन्द्रियाँ शान्त हों। जो बन्धन, निरोधादि क्रुरता (यज्ञीय पशुओं के प्रति) है सब शान्त हो। जो स्थिर स्वभाव है वह बढ़े तेरा यह सब शरीर इस प्रकार से शुद्ध एवं नीरोग हो जाए। चिरकालपर्यन्त तुम्हारा और इस यजमान का कल्याण हो। हे कुशतरुण ओषधे तुम पशु की रक्षा करो। हे स्वधिते (क्षुरा)तुम इस पशु की हिंसा न करो।

म० : 'शेषेण यजमानस्य शिरःप्रभृत्यनुषिंचतो मनस्त इति शिर इति' (का. 6। 6। 4-5)। पान्नेजनशेषेण यजमानः चकारादध्वर्युश्च पशोः शिरआद्यअंगान्यनुषिंचतः। तत्र शिरसो मन्त्रमाह मनस्त इति शिर इति सूत्रार्थः। पशुदेवतानि हे पशो, ते तव मनः आप्यायतां शाम्यतु। विलिङ्गत्वादस्य विनियोग उक्तः। वाक्त आप्यायतामित्यादिमन्त्राणां लिंगादेव विनियोगः सिद्ध इति सूत्रकृता नोक्तः। वक्त इति मुखं प्राणस्त इति नासिके चक्षुस्त इति चक्षुषी श्रोत्रं त इति कर्णौ एतानि मुखादीनि तव शाम्यन्तु। 'यत्ते क्रूरमित्यंगानीति' (का. 6। 6। 6।) सर्वांगान्यवशिष्टान्यनुषिंचत इत्यर्थः। हेपशो, यत्ते तव क्रूर बन्धननिरोधादिकं क्रूरमस्माभिः कृतं यच्च आस्थितं छेदादिकं कर्तुमुपस्थितं शमित्रा तत्सर्वं ते तवाप्यायतां शाम्यतु। किंच तत्सर्व निष्ट्यायतां संहतं भवतु। 'ष्ट्यैसंघाते' अनुन्नं भवत्वित्यर्थः। तत्सर्व निष्ट्यावायतां संहतं भवतु। 'छपै संघाते' अनुन्नं भवत्वित्यर्थः। तत्सर्व तव शुध्यतु शुद्धं भवतु! 'शमहोभ्य इति पश्चात्पशोनिर्षिचत इति' (का. 6। 6। 7) पशोर्जनदेशे पान्नेजनशेषमुभावपि निषिञ्चतामिति सूत्रार्थः। अहोभ्यः दिवसादिकालविशेषेभ्यः शं मुखमस्माकं पशोर्वाभूयादिति शेषः। 'उत्तानं पशुं कृत्वाग्रेण नाभिं तृणं निद्धात्योषध इति' (का. 6। 6। 8) नाभेरग्रेऽअंगुलचतुष्टये तृणं निदध्यादिति सूत्रार्थः। मन्त्रो व्याख्यातः(अ. 4 क. 1)। 'स्वधित इति प्रज्ञातयाभिनिधाय छित्वेति'। (का. 6। 6। 9)। प्रज्ञातया प्रस्तुतया कृतचिह्नया घृताक्तयासिधारयाभिनिधाय तृणोपर्यसिधारां निधाय तृष्णीं सतृणामुदरत्वचं छिन्द्यादिति सूत्रार्थः। एनं पशुं स्वधिते मा हिंसीः ।।15।।

षोडशी

रक्षसां भागोऽसि निरस्तꣳ रक्ष इदमहꣳ रक्षोऽभितिष्ठामीदमहꣳ रक्षोऽवबाध इदमहꣳ रक्षोऽधमं तमो नयामि। घृतेन द्यावापृथिवी प्रोर्णुवाथां वायो वेस्तोकानामग्निराज्यस्य वेत्तु स्वाहा स्वाहाकृते ऊर्ध्वनभसं मारुतं गच्छतम् ।।१६।।

अन्वय : (हे लोहिताक्ततृण) त्वं रक्षसां भागः असि। निरस्तं रक्षः। अहम् इदं रक्षः अभितिष्ठामि अहम् इदम् रक्षः अवबाधे। अहम् इदम् रक्षः अधमंतमः नयामि। द्यावापृथिवी घृतेन प्रोर्णुवाथाम्, वायो स्तोकानां वेः अग्निः आज्यस्य वेतु स्वाहा, स्वाहाकृते ऊर्ध्वनभसं मारुतं गच्छतम्

व्याख्याः (हे लोहिताक्ततृण) तुम राक्षसों के भाग हो। मैं यज्ञादि शुभकार्यों मैं तुम्हारा बहिष्कार करता हूँ। जो यागविघातक राक्षस है उन्हें निरस्त करता हूँ। जिस तृणरुप राक्षस को अध्वर्यु ने फेका हैं, उसे यजमान के पैर से चारों ओर दबाकर बैठता हूँ। बैठता ही नहीं यथासंभव विनष्टकर निकृष्टतम नरक में पहुँचाता हूँ। द्यु और भूमि घृत के समान पौष्टिक पदार्थो से या जलादि से परिपूर्ण हों। वायुदेव हमारे द्वारा प्रदत्त स्वल्प पदार्थो को भी अधिक समझकर हवि ग्रहण करें। अग्नि आज्य का पान करें। यह हवि सुहुत हो। हे अग्नि मेरे द्वारा अर्पित 'हवियों को तुम ऊर्ध्वआकाश में विद्यमान वायु को प्राप्त कराओ। अर्थात् सम्पूर्ण वायुमण्डल को आप्यायित करो।

म॰ : 'अग्रंसव्ये कृत्वा दक्षिणेन मूलमुभयतोऽनक्ति लोहितेन रक्षसामिति' (का. 6। 6। 9)। यत्तृणं नाभ्यगे स्थापितं तस्य छिन्नस्य तृणस्याग्रं वामहस्तेन धृत्वा दक्षिणहस्तेन मूलं धूत्वा तद्विगुणीकृत्याग्रे मूले च पशुच्देदननिष्पन्नेन रक्तेनाज्यादिति सूत्रार्थः। रक्षोदेवत्यम्। हे लोहिताक्त तृण, त्वं रक्षसां भागोऽसि। 'निरस्तमित्यप्रास्यतीति' (का. 6। 6। 10)। लोहिताक्तं तृणमुत्करे त्यजेदिति सूत्रार्थः। यद्यज्ञविघातकं रक्षोऽस्ति तन्निरस्तंपरित्यक्तम्। 'इदमहमित्यभितिष्ठति यजमान इति' (का. 6।6। 11)। उत्करे क्षिप्तं रुधिराक्तं तृणं यजमानोऽभितिष्ठतीति सूत्रार्थः। यत्तृणरूपं रक्षोऽध्वर्युणा निरस्तं तददिदं रक्षोऽहं यजमानोऽभितिष्ठामि अभितः पादेनोत्क्रम्य

तिष्ठामि। न केवलमभितिष्ठामि किंतु अहभिदं रक्षोऽवबाधे अवाचीनं यथा भवति तथा नाशयामि। किंच अहमिदं रक्षोऽधममत्यन्तनिकृष्टं तमो नरकं नयामि प्रापयामि। 'वपामुत्खिद्य वपाश्रपण्यौ प्रोर्णोति घृतेन द्यावापृथिवी इति' (का. 6। 6। 12)। पशुदराद्वपां निष्काश्य तया वपया वपाश्रपण्यावा-च्छादयेदिति सूत्रार्थ। वपाश्रपण्योर्द्यावापृथिव्यावध्यस्ते उच्येते। हे द्यावापृथिवी, युवां घृते-नोदकेनात्मानं प्रोर्णुवाथामाच्छादयेथां परस्परम!। 'ऊर्णुञ् आच्छादने'। आहुतिपरिणामाभिप्रायमेतत्। तथा चोक्तं 'ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामत इत्युपक्रम्याहुतिपरिणाममिदं जगदिति। तृणाग्रं चाध्वर्युर्वायोवेरिति' (6। 6। 14)। वामहस्तधृतं तृणाग्रमाहवनीये क्षिपेदिति सूत्रार्थः। वायुदेवत्यम्। हे वायो, त्वं स्तोकानां वपासंबन्धिनां विप्रुषां वेः कर्मणिच षष्ठी। स्तोकान्विद्धि जानीहि ज्ञात्वा च पिबेत्त्यर्थः ते ह्यत्र तिष्ठन्ति। 'विद् ज्ञाने' इत्यस्यलुहि. मध्यमैकवचने 'द्श्च (पा. 7। 2। 74) इति दस्य रुत्वे रूपम्। अडभाव आर्षः वेः विद्धि। 'वपास्त्रुवेणमिधारयत्यग्रिराज्यस्येति' (का. 6। 6। 18)। अग्रिराहवनीयः आज्यस्य वेतुआज्यं पिबतु स्वाहा सुहुतमस्तु। 'हुत्वा वपाश्रपण्यावनुप्रास्यति प्राचीं विशाखां प्रतीचीमितरां स्वाहाकृते इति' (का. 6। 6। 27) वपां हुत्वोत्तरत उपविश्य वपाश्रपण्यावाहवनीय एव क्षिपेत्। तत्प्रकारः विशाखां द्विश्रृगां प्रागग्रां क्षिपेदितरामेकश्रृंगां प्रत्यगमामिति सूत्रार्थः। स्वाहोकारेणाहुतिभावमुपगते सत्यौ युवां मारुतं गच्छतं वायुं प्राप्नुतां। वायुर्हिंप्रतिष्ठा यज्ञस्य। किंभूतम्। ऊर्ध्वनभसमूर्ध्वनभ आकाशोयस्य स ऊर्ध्वनभाः तं नभोमध्ये वर्तमानमित्यर्थः ।।16।।

सप्तदशी

इदमापः प्रवहतावद्यं च मलं च यत्। यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपेऽअभीरुणम्। आपो मा तस्मादेनसः पवमानश्च मुञ्चतु ।।१७।।

अन्वय : हे आपः! यद अवद्यं यत् च मलम् इदम् प्रवहत, यत् च अनृतम् अभिदुद्रोह यत् च अभीरुणं शपे, आपः पवमानश्च मा (मां) तस्माद् एनसः मुञ्चतु।

व्याख्या : हे जलदेवता। ये जल स्वयं प्रवाहित हो। हमारा जो निन्दनीय अव्यक्त पाप है एवं शारीरिक जो दोष हैं, उसको बहा दो (दूर करो)। जो हमने असत्यभाषणादि किया या किसी से द्वेष किया है तथा

जो निर्दोष व्यक्ति को शाप, दुर्वाक्य आदि से मानसिक क्लेश पहुँचाया है, तज्जन्य सभी पापों को दूर करने वाले वायु एवं सोम मुझे इन सभी पापों से मुक्त करें।

म॰ : 'चात्वाले मार्जयन्ते सपत्नीका इदमापः प्रवहतेति' (का. 6। 6। 29)। सर्वे ऋत्विजश्चावात्वालसमीपेऽद्भिरात्मानमभ्युक्षन्तीति सूत्रार्थः। अब्देवत्या त्र्यवसाना महापंक्तिः पावमानश्चान्त्यः पादः। यस्याः षट् पादा अष्टाक्षराः सा महापंक्ति। हे आपः, इदं पशुसंज्ञपननिमित्तं पापं प्रवहत। किंच यच्चावद्यमवद्नीयममिशापादि यच्च मलं शरीरलग्नं प्रसिद्धं तत्वं प्रवहत अपनयत। किंच यदहमनृतमसत्यमुक्त्वाभिदुद्रोह द्रुग्धवानस्मि' द्रुह जिघांसायाम्' यच्चाहमभीरुणं बिभेतीति भीरुर्नभीरुरभीरुस्तमभीरुणमनपराधि नमनपराधिनमपराधी हि बिभेति एवंविधं शेषे शापितवानस्मि। अनपराधि नं प्रति यन्मयाभिशापो दत्तःआपः तस्मादेनसः पापात् मा मां मुञ्चतु पृथक्कुर्वन्तु। पवमानश्च सोमो वायुर्वा तस्मात्पापान्मां मुञ्चतु ।।17।।

अष्टादशी

सं ते मनो मनसा सं प्राणः प्राणेन गच्छताम्। रेडस्यग्निष्ट्वा श्रीणात्वापस्त्वा समरिणन्वातस्य त्वा ध्राज्यै पूष्णो रंह्या ऊष्मणो व्यथिषत्प्रयुतन्द्वेषः ।।१८।।

अन्वय : ते मनः मनसा सम् (संगच्छताम्) प्राणः प्राणेन गच्छताम्। त्वं रेडोसि। अग्निः त्वां श्रीणातु (स्वीकरोतु) आपः त्वासम् अरिणन् वातस्य ध्राज्यें पूष्णः रह्यै त्वा ऊष्मणः व्यथिषत् द्वेषः प्रयुतम्।

व्याख्या : हे देवोद्देश्य से उत्सृष्टपशु तेरा मन देवों के साथ मिल जाये। अर्थात् तुम्हारा मन एवं प्राण देवों के प्राणों से मिल जाये। हे अन्न तुम अवघात आदि के द्वारा हिंसित होते हो अथवा कच्चा खाये जाने पर प्राणी हिंसक होता है, अतः आहवनीय अग्नि तुझे स्वीकार करें, जल तुझे अच्छी तरह रसयुक्त करे। वायुसदृश गतिशील और पूषा के समान बेगवान बनाने के लिए तुम्हें ग्रहण करता हूँ। ऊष्मा से इसे गतिमान करना। तेरा हानिप्रदाअंश (विकार) दूर हों।

म॰ : 'सं ते मन इति हृदयमभिधार्य सर्वमिति' (का. 6। 7। 6) जुहूस्थेन पृषदाज्येन पूर्वं हृदयमभिधार्य तृष्णीं सर्वं पशुमभिघायेदिति सूत्रार्थः।

हृदयदेवत्यम्। हे हृदय, ते तव पशोर्मनः देवानांमनसा सगच्छताम् पृषदाज्येनाभि-धारितं सत्। ते तव प्राणोऽपि देवानां प्राणेन संगच्छतां संगतोऽस्तु अभिधारितः। 'रेडसीति वसां गृहीत्वेति' (का. 6। 7। 12)। मांसपाकभाण्डे स्थितः स्नोहात्मको द्रवविशेषो वसा तां गृह्णीयादिति सूत्रार्थः। वसादेवत्यम्। हे वसे। त्वं रेट् असि। रिषतिहिंसार्थः कर्मणि विच। रिष्टासि हिंसितेवाभासि अल्पत्वात्। पूष्णोऽल्पत्वं श्रुत्योक्तम्। 'रेडसीति लेलयेव हि यूरिति' (3। 7। 3। 20) लेलयाशब्दश्चाल्पवाचकः। अग्निः त्वा श्रीणातु ' श्री पाके' क्र्यादिः। श्रपयन् भूयसीं करोति। यद्वाग्निराहवनीयस्त्वां श्रीणातु स्वीकरोतु। किंच आपः त्वा त्वां समरिणन् 'रो बधे गतौ' क्र्यादिः। अत्र रिणातिर्विभर्त्यर्थे। समभरन्नपुष्णन्। यद्वा आपः त्वां समरिणन् सम्यक् प्राप्नुवन्तु। तब शोषो मा भूदित्यर्थः। आपो हि पश्ञ्चमानेभ्यः पश्वङ्गभ्यो यं रसमुत्पादयन्ति सा वसेत्युच्यते। तां त्वां गृह्णामीति शेषः। किमर्थम्। वातस्य ध्राज्यै गस्यै वातस्यान्तरिक्षे गतिर्भवत्विति। तथा पूष्णो रैह्यौ आदित्यस्य गत्यै। रैहतिर्गत्यर्थः। आदित्यस्य द्युलौके गतिर्भवत्विति वाय्वादित्योरप्रतिहतगमनसिध्यर्थं त्वां गृह्णामि इत्यर्थः किंच उष्मणो व्यथिष्यत ऊष्मेव ऊष्माणमन्तरिक्षं वसा व्यथिषततु कर्मणि षष्ठ। यद्धा व्यत्येन प्रथमार्थे षष्ठी। ऊष्मा व्यथिष्यत् व्यथतां। वसां पीत्वा तृष्णाधिक्येन यथा सीदति। वसारूपं हविस्तधाविधंभवत्यिर्थः। हि वसा गृह्यते होममन्त्रे अन्तरिक्षस्य हविरसीति लिंगात् इयं वसाऽन्तरिक्षस्य तृप्ति कृत्वातिरिक्ता भवत्वित्यर्थः। अन्तरिक्षे च तृप्ते तत्प्रभत्वाद्धायुसूर्ययोरपि स्वकर्मक्षमता भवति तस्मादुच्यते वातस्य ते ध्राज्या इत्यादि। 'व्यथीभयचलनयोः' अस्यःलिडर्थे लेट' (पा. 3। 4। 7) इति। लेटि 'सिब्बहुलं लेटि' (पा. 3। 4। 34)इति। सिप्प्रत्यये 'इतश्चलोपः परस्मैपदेषु' तिप्इकार लोपे लेटोडाटौ (पा. 3। 4। 17) इति अडागमे व्यथिषदिति रूपम्। 'द्विरभिघार्य प्रयुतमिति पार्श्वेन संसृजत्यसिना वेति' (का. 6। 7। 12) वसां द्विरभिघार्य पार्श्वेनासिना वाज्यं वसां च मिश्रयेदिति सूत्रार्थः। द्वेषो दोर्भाग्यं प्रयुतं पृथग्भूतं वसायाः सकाशाद्धुतामिश्रणेन ।।18।।)

एकोनविंशी

घृतं घृंतपावानः पिबत् व्सां वसापावानः पिबतान्तरिंक्षस्य हुविरंसि स्वाहां। दिशंः प्रदिशं आदिशों विदिशंऽउद्दिशों दिग्भ्यः स्वाहां ।।१९।।

अन्वय : हे घृतपावानो देवाः यूयं घृतं पिबत, वसापावानः वसां पिबत। त्वम् अन्तक्षिस्य हविः असि। दिशः प्रदिशः स्वाहा। आदिशः विदिशः उद्दिशः दिग्भ्यः स्वाहा।

व्याख्या : हे घृतपान करने वाले देवों! आप घृत का पान करें। हे वसा के पानकर्ता देवों (घी तेल आदि वसावर्धक द्रव्यों को पीने वाले) आप वसा का पान करें। हे हवि! तुम अन्तरिक्ष की हवि हो। पूर्वादिदिशा और अग्निकोण आदि उपदिशाओं के अधिष्ठाताओं के लिए यह आहुति प्राप्त हो। अधोभागस्थ मध्यभागस्थ ऊर्ध्वभागस्थ दिशाधिपतियों के लिए दी गई आहुति सुहुत हो। इस प्रकार सम्पूर्ण दिग्पालों के लिए यह आहुति प्राप्त हो।

म० : 'वसैकदेशं जुहोमि घृतं घृतपावान इति' (का.6/7/17)। वसाहोमहवन्या वसाया एकदेशं जुहुयादिति सूत्रार्थः। वैश्वदेवंयजुः। वसाया द्विरभिघारितत्वाद्धृतमस्ति तत्र। अत एवमाह। हे घृतपावानः, घृतंपिवन्तीति घृतपावानः 'पा पानें'। 'आतो मानिन्' (पा. 2/2/84) इत्यादिना वनिप्। घृतस्य पातारो देवाः, यूयं घृत् पिबत। हे वसा-पावानः वसायाः पातारो देवाः, यूयंबसां पिबत। एवं देवानुक्त्वा वसामाह हे वसे, त्वमन्तरिक्षस्य हविरसि स्वाहा सुहुतमस्तु। 'दिशो व्याघारयति वसाशेषेण वाजिनवदिति' (का.6। 7। 21)। यथा वाजिनशेषेण दिग्व्याघारणमुक्तं तथेत्यर्थः। तद्यथा 'दिशो व्याघारयति दिश इति प्रतिमन्त्रं प्रदक्षिणं पुरस्तात्प्रथमुत्तमाभ्यां मध्ये पूर्वार्धेइति प्रतिमन्त्रं प्रदक्षिणंपुरस्तात्प्रथममुत्तमाभ्यां मध्ये पूर्वार्धे चेति'(का. 4। 4। 16-17)। षड् दिग्देवतानि अत्र 'स्वाहाकारः सर्वत्र साकांक्षत्वादिति' (का. 4। 4। 17) वचनात् स्वाहा सर्वत्र युज्यते। दिग्भ्य।ः स्वाहा प्रदिग्भ्यःस्वाहा आदिग्भ्यः स्वाहा विदिग्भ्यः स्वाहा उद्दिग्भ्यः स्वाहा सर्वाभ्यो दिग्भ्यः सुहुतमस्त्वित्यर्थः ॥19॥

विंशी

ऐन्द्रः प्राणोऽअङ्गेऽअङ्गे निदींध्यदैन्द्रऽउंदानो अङ्गेऽअङ्गेऽ निधींतः। देवं त्वष्टर्भूरिं ते सर्ठ्ंसमेतु सलंक्ष्मा यद्विषुंरूपं भवांति। देवत्रा यन्तमवंसे सखायोऽनुं त्वा माता पितरौं मदन्तु ॥२०॥

अन्वय : अस्य पशोः अंगे अंगे ऐन्द्रः प्राणः निदीध्यत्। अंगे

अंगे ऐन्द्रः उदानः निदीध्यत्। हे देव त्वष्टः! सलक्ष्मा यद् विषुरुपं भवाति, भवति ते (त्वानुग्रहेण) भूरि सम् (एकीभवतु)। समेतु देवत्रा देवान् प्रति यन्त (गच्छन्तं) त्वा सखायः पितरः अवसे त्वा अनुमदन्तु। (अभ्यनुजानन्तु)।

व्याख्या : इन्द्र (आत्मा) से सम्बद्ध प्राणवायु इस पशु के सम्पूर्ण अंगों में प्रकट हो। इन्द्र सम्बन्धी उदानवायु सभी अंगों में स्थिर रहे।। हे त्वष्टा देव! आप समस्त विषमताओं (न्यूनाधिकभाव) को दूर करके उसे एकरुपता प्रदान करें। (तुम्हारी कृपा से शीघ्र ठीक हो जाये) इस प्रकार देवों के प्रति जाते हुए तुमकों तुम्हारे साथी पशु, तेरे पालकजन (माता पिता) (अपने कुल की प्रसन्नता के लिए) तुम्हारे जाने की अनुमति प्रदान करें।

म० : 'ऐन्द्रः प्राण इति पशुसंमृशतीति' (का. 6। 9। 1) पशुरूपं हृदिः स्पृशेदिति सूत्रार्थः। इन्द्र आत्मा तत्संबन्धी प्राणः प्राणवायुरस्य पशोरगे अंगे सर्वेष्वंगेषु निदीध्यत् निहितः। 'दीधीङ्दीप्तिदेवनयोः'। अस्य धातोर्दधात्यर्थे वर्तमानात्कर्मणि लेट् परस्मैपदं व्यत्ययेन 'लेटोऽडाटौ' (3। 4। 94) इत्यट्। तथा ऐन्द्रः इन्द्रसंबन्धी उदानवायुः पशोः सर्वेष्वंगेषु निधीतः निक्षिप्तः 'धीङ्आदरानादरयोः'। 'अंगइत्यादौ च' (पा. 6। 1। 119) इत्यंगशब्दस्य एङ् अति प्रकृत्या।। एवमनेन यजुषा पश्वंगेषु प्राणान्दत्वा त्वष्टारमाह। त्वाष्ट्री त्रिष्टुप् हे त्वष्टः त्वष्ट्टनामक देव,यत् पश्वंगजातं सलक्ष्मासमानलक्षणं सत् छेदनेन विषुरूपं नानारूपं भवाति भवति तत् सर्व ते तवानुग्रहेण भूरि बहुलमत्यन्तं संसमेतु सम्यगेकीभवतु। 'प्रसमुपोदः पादपूरणे' (पा. 7। 1। 6) इति समित्वस्य द्वित्वम्। पुनः पशुमाह। हे पशो, एवं प्राणैः। स्वाङ्गैश्चानेन मन्त्रेण दृढीकृतं देवत्रा यन्तं देवान्प्रति गच्छन्तंत्वा त्वां सखायो मित्रभूता इतरे पशवो मातापितरश्च अनुमदन्तु अभ्यनुजानन्तु। बहुवचनं पूजार्थम्। अवसे अवितुं प्रीणायितु-तुम्। तुमर्थे असेप्रत्ययः। यद्वा अवितुं तन्मुखेंनस्वर्गप्रात्या स्वकुलं सर्वमवितुमित्यर्थः ।।20।।

एकविंशी

समुद्रं गच्छ स्वाहान्तरिक्षं गच्छ स्वाहा देवꣳसवितारं गच्छ

स्वाहा॑ मि॒त्रावरु॑णौ गच्छ॒ स्वाहा॑होरा॒त्रे ग॑च्छ॒ स्वाहा॒च्छन्दा॑ᳬ सि॒ गच्छ॒ स्वाहा॒ द्यावा॑पृथि॒वी ग॑च्छ॒ स्वाहा॑ य॒ज्ञं ग॑च्छ॒ स्वाहा॒ सोम॑ गच्छ॒ स्वाहा॑ दि॒व्यं नभो॑ गच्छ॒स्वाहा॒ग्निवैं॑श्वान॒रंग॑च्छ॒स्वाहा॒मनो॑ मे॒ हार्दि॑ यच्छ॒ दिवं॑ ते धू॒मो ग॑च्छतु॒ स्व॒र्ज्योतिः॑ पृथि॒वीं भस्म॒नापृ॑ण॒ स्वाहा॑ ।।२१।।

अन्वय : (हे हवि) समुद्रम् अन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा। सवितारं देवं गच्छ। मित्रावरुणौं गच्छ अहोरात्रे गच्छ छन्दांसि गच्छ, द्यावापृथिवी गच्छ यज्ञंसोमं गच्छ् दिव्यं नभोगच्छ। जैश्वानरम् अग्निं गच्छ, मे हार्दि मनो यच्छ ते धूमः दिवं गच्छतु। ज्योतिः स्वः भस्भना पृथिवीम् आपृण स्वाहा।

व्याख्या : (हे हवि) तुम समुद्र अन्तरिक्ष सवितादेव, मित्रावरुणदेव, अहोरात्र (दिन और रात्रि के अभिमानी देवता) समस्त छन्दों द्याापृथिवी यज्ञ, सोम, दिव्यनभ और वैश्वानरअग्नि नामक देवों तक विस्तार को प्राप्त होवो। इन सभी देवों को यह हवि सुहुत हो। हे देवों हमारा हृदय मन से सम्बद्ध हो। अर्थात् मन नियन्त्रित रहे। तुम्हारा धूम आकाश में जाये (वृष्टि के निमित्त) तुम्हारी ज्वाला आदित्य को प्राप्त हो। भस्म से पृथिवी परिपूर्ण हो।

म० : 'प्रतिप्रस्थातोपयजति गुडतृतीयस्य प्रच्छेदमनुयाजेषु समुद्रं गच्छेति प्रतिमन्त्रमिति' (का० 6/9/10) अनुयाजेषु हूयमानेषु प्रतिस्थाता पूर्वस्थापितं गुडतृतीयभागमेकादशधा तिर्यक्प्रच्छिद्य प्रतिमन्त्रं जुहोतीति सूत्रार्थः। हे हविर्गुडावयरूप, त्वं समुद्रादिनामकान्देवान्गच्छ प्राप्नुहि। तर्पणायेति शेषः। स्वाहा सुहुतमस्तु। 'प्रतिवषट्कारंᳬहुत्वा मनो म इति सुखोपस्पर्शनमिति' (का० 6/9/11) प्रतिवषंट्कारमेकैकं हुत्वा सर्वान्ते मुखं स्पृशेदिति सूत्रार्थः। हे समुद्रादिदेवतासमूह, हार्दि हृदयसंबन्धि मे मनो यच्छ निबध्नीहि। निबद्धं मनो हि स्वादायतनान्य च्यवते। 'अनुयाजान्ते स्वरुं जुहोति दिवं ते धूमः इति' (का० 6/9/12) स्वरुदैवतम् हे स्वरो, ते तव धूमः दिवं द्युलोकं गच्छतु वृष्ट्यै। तव ज्योतिः ज्वाला स्वः आदित्यं गच्छतु। स्वःशब्देनादित्योऽभिधीयतेऽन्तरिक्षं वा। भस्मना पृथिवीमापृण समन्तात्पूरय। स्वाहा सुहुतमस्तु ।।21।।

द्वाविंशी

मापो मौष॑धीर्हिᳬसी॒र्धाम्नो॑ धाम्नो राज॒स्ततो॑ वरुण नो मुञ्च।

यदाहुरध्न्याऽइति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च। सुमित्रिया न आपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ।।२२।।

अन्वय : (हे) राजन वरुण! त्वम् आपः ओषधीः मा हिंसी धाम्नः धाम्नः वयं बिभीमः ततः नः मुञ्च, यत् अध्न्याः इति आहुः। हे वरुण वयं इति शपामहे ततो नः मुञ्च। ओषधयः आपः नः सुमित्रियाः सन्तु। यः अस्मान् द्वेष्टि तस्मै दुर्मित्रिया सन्तु, यं चं वयं द्विष्मः।

व्याख्या : (हे वरुण) तुम जल और औषधियों की हिंसा न करो अर्थात् उनकी रक्षा करें। हे राजा वरुण। पापसमन्वित दृश्य एवं अदृश्य) स्थानों से हमें मुक्त करो। जो पूर्वोक्त औषधि आदि पदार्थ है उनको विद्वानों ने "व्यर्थ नाश न करने योग्य" पूजनीय कहा है। हे वरणीयदेव ऐसा जानकर भी जो हम उनका दुरुपयोग करते हैं उस पाप से हमें मुक्त करो। औषधियाँ और जल हमारे लिए मित्रवत् हितकारी हो। जो हमसे द्वेष करता है उसके लिए ये शत्रुवत् दुःख देने वाली होवें, जिससे हम द्वेष करते हैं उनके लिए भी अनिष्टकारी हों।

म० : 'अभ्यवेत्य शुष्कार्द्रसन्धी हृदयशूलमुपगूहति शुगसि तमभिशोच योऽस्मान् द्वेष्टि चं च वयं द्विष्मो मापो मौषधीरिति चेति' (का. 6। 10। 3) जले प्रविश्य आलब्धस्य पशोर्हृदयस्थं मांसं यस्मिन् श्रितं स हृदयशूलस्तं शुष्कार्द्रभूप्रदेशयोः सन्धौ निगूहेत् भूमावधोमुखं क्षिपेत् शुगसि माप इति मन्त्राभ्यामिति सूत्रार्थः। हृदयशूलदैवतं यजुः। हे हृदयशूल, त्वमपो जलानि ओषधी श्च मा। हिंसीः 'धाम्नो धाम्नः सुमित्रिया न इत्युपस्पृशन्त्यप इति' (का.6। 10। 14) सर्वे ऋत्विग्यजमाना मन्त्राभ्यां जलं स्पृशन्तीति सूत्रार्थः। वरुण-देवतं यजुः। हे राजन् वरुण, धाम्नो धाम्नः यस्माद्यस्मात् त्वदीयपाशसमन्वितात्स्थानात् वयं बिभीमस्तस्मात्तरमास्त्स्थानात् नोऽस्मान्मुञ्च-मोचय। यदाहुः। वरुणदेवत्या गायत्री अवसानहीना। अध्न्या इति गोनाम प्रकरणदिहानूबन्ध्याविषयम्। बहुवचनमनुबन्ध्याबहुत्वेऽर्थवत्। एकानूबन्ध्यापक्षेतु पूजार्थम्। अध्न्या इतियदाहुः वेदस्मृतिलोकवाक्यानि अध्न्या अहन्तव्या अवध्याःपूजनीया इतिवदन्ति। इतिकरणेन वाक्यस्यार्थम- भिनयेनदर्शयति। हे वरुण, वयं तु इति शपामहे। इतिकरणं प्रदर्शनार्थम्। शपतिर्हिंसार्थः। इति

एवमनेन विधिना अध्न्या हि स्मः। अतएव त्वां याचामहे। हे वरुण, ततस्तस्मादध्न्यावध-जातादेनसो नोऽस्मान्मुञ्च मोचय! सुमित्रिया: आपः ओषधयश्चनोऽस्मांकं सुमित्रियाः साधुमित्रत्वेनावस्थिताः सन्तु। यः शत्रुरस्मानन्द्वेष्टि वयं च यं शत्रुं द्विष्मः द्वेषं कुर्मःतस्मै उभयात्मकाय शत्रवे आप ओषधयश्चध सुमिंत्रियाः अभित्रेत्वनाव-स्थिताः सन्तु। धाम्नों धाम्र इति बन्धः शूलोपगूहनमन्त्रस्य शेषो वा। सुमित्रिया इति मन्त्रोऽपामभिमन्त्रणे वा ।।22।।

एवमग्नीषोमीयः पशुःयागःपूर्णः।

त्रयोविंशी

हुविष्मंतीरिमाऽआपों हुविष्माँ २ आ विंवासति। हुविष्मांन्देवो अंध्वुरो हुविंष्माँ २।। अस्तु सूर्यः ।।२३।।

अन्वय : हविष्मती इमा आपः हविष्मान् यजमानः आविवासति परिचरति। देवः अध्वरः हविष्मान् अस्तु। सूर्यः हविष्मान् अस्तु।

व्याख्या : हवि से संयुक्त इस (वसतीवरीसंज्ञक) जल; को हविष्मान् (यज्ञ करने वाला यजमान ग्रहण करता है। प्रयोग में लाता है। दिव्यगुणगणसम्पन्न देवता भी जिस हिंसारहित याग में हवि स्वीकार करते है वे हवि से सन्तुष्ट हों, तथा सूर्यदेव भी इस यज्ञ में प्रदत्त हवि को ग्रहण करते हुए यज्ञफल प्रदान करे। इस मन्त्र में वसतीवरी संज्ञक जल के ग्रहण का विधान है। जिसकी विधिभाष्य में वर्णित है।

म॰ : अथ सोमाभिषवोपयुक्तानां वसतीवरीसंज्ञानामपां ग्रहणमभिधी-यते। 'अग्नीषोमीयस्य वपामार्जनान्ते वसतीवरीग्रहणं स्यन्दमानानमनस्तमितेऽ-स्तमित श्चेन्निनाह्यात्पुरेजान श्चदभीजानोऽन्यस्यापि समीपावसितस्य पुरेजानस्योभयाभाव उल्कुषीहिरण्यं वोपर्युपरि धारयन् हविष्मतीरिति' (का. 7। 9। 7। 10) अग्नीषोमीयस्य पशोर्वपामार्जनपर्यन्ते कर्मणि कृते अनस्तंगते रवौ वहन्तीनामपामेकदेशाद्वसतीवरीसंज्ञानां सोमार्थानामपां ग्रहणं कार्यम् हविष्मतीरिति मन्त्रेण।यदि रविरस्तं गतो यजमानश्च पुरा ईजानः सोमयाजी तदा गृहे एव निनाह्यन्माणिकाद्वसतीवरीग्रहणम्। निनहनीयो निखननीयो निनाह्यः। यदिच यजमानः पुरा न सोमयाजी तर्हि समीपस्थितस्य यष्टुर्मणिकाद्ग्रहणम्। स्वस्य अन्नस्य यज्ञकर्तृत्वाभावे उल्का कनकंवा

वहन्तीनामपां समीपे धारयन्वहन्तीभ्यो वसतीवरीर्गृह्णीयादिति सूत्रार्थः। अनुष्टुब्लिङ्गोक्तदेवता। हांवेष्मान् हविषा संयुक्तो यजमानः हविष्मतीर्हविषा संयुक्ता इमाआपःअपः आविवासति वसतीवरीः परिचरति। विवासतिः परिचर्यायाम्। 'यत्र वै यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यन्त तस्य रसोदुस्वापः प्रविवेश' (3। 9। 2। 1) इति श्रुतेरपां हविष्मत्त्वम्। ततो देवो द्योतमानोऽध्वरो यागोऽपि स्वशरीरनिष्पत्तये हविष्मानस्तु आभिरद्भिरित्यर्थः। किंच सूर्योऽपि देवो यजमानस्य फलदानाय तृप्यर्थ च हविष्मान्हविः संपन्नोऽस्तु भवतु। एतस्मै वै गृह्णाति य एष तपति'(3। 6। 2। 12) इति श्रुते वसतीवरीभिः सूर्यस्य हविष्मत्त्वम् ।।23।।

चतुर्विंशी

अ॒ग्नेर्वोऽप॑न्नगृहस्य॒ सद॑सि सादयामीन्द्रा॒ग्न्योर्भा॑ग॒धेयीं स्थ मि॒त्रावरु॑णयोर्भा॒ग॒धेयीं स्थ॒ं व्विश्वै॑षां दे॒वाना॑ं भाग॒धेयीं स्थ। अ॒मूर्या उप॒ सूर्ये॒ याभि॑र्वा॒ सूर्यः स॒ह। ता नौ॑ हिन्वन्त्वध्व॒रम् ।।२४।।

अन्वय : (हे वसतीवर्यः आपः) युष्मान् अपन्न गृहस्य अग्नेः सदसि सादयामि। यूयम् इन्द्राग्न्योः भागधेयीस्थ, मित्रावरुणयोः भागधेयीस्थ, विश्वेषां देवानां भागधेयीस्थ। अमूर्या उपसूर्ये वा याभिः सह सूर्यः ताः नः अध्वरम् हिन्वन्तु।

व्याख्या : हे वसतीवरीसंज्ञक जल! आप को अविनस्वरगृह वाले (शालाद्वार्य) अग्नि के निकट तुम्हें (अपतनशीलयज्ञशाला में) स्थापित करता हूँ। तुम इन्द्र और अग्निदेवता के अंशरुप हो। मित्र और वरुण देव के अंशरुप हो। सम्पूर्ण देवों के अंशरुप हो। प्रसिद्ध ये वसतीवरीनामक जल, जो अन्तरिक्ष में व्याप्त सूर्य के समीप है अथवा जिनके सहयोग से सूर्य वृष्टि करते हैं वे सब हमारे यज्ञ को आप्यायित (तर्पित) करें।

म॰ : 'अग्नेर्व इति निदधाति शालाद्वार्यमपरेणेति' (का. 7। 9। 11) नूतनगार्हपत्यात्पश्चिमभागे ता वसतीवरीरासादयतीति सूत्रार्थः। चत्वारि यजूंष्यब्देवत्यानि। हे वसतीवर्यः, वो युष्मान् अग्नेः शालाद्वार्यस्य सदसि सीदन्त्यस्मिन्निति सदो निकटस्थाने तत्र सादयामि स्थापयामि। किंभूतस्याग्नेः। अपन्नगृहस्य न पन्नं पतितं गृहं यस्य तस्य। अविनश्वरगृहस्येत्यर्थः।

'दक्षिणेन निर्हृत्य दक्षिणस्यामुत्तरवेदिश्रोणौ निदधातीन्द्राग्न्योरिति' (का. 7। 9। 17) शालाद्वार्यसमीपस्था वसतीवरीरादाय शालादक्षिणद्वारेण नीत्वोत्तरवेदेर्दक्षिणश्रोणौ निदध्यादिति सूत्रार्थः। हे वसतीवर्यः, यूयमिन्द्राग्नयोः इन्द्राग्निदेवतयोः स्थ भागधेयो भागरूपा भवथ। भाग एव भागधेयः। 'नामरूपभागेभ्यः स्वार्थे धेयप्रत्ययः' (पा. 5। 4। 36) 'केवल मामक-' (पा. 4। 1। 30) इत्यादिना डीप्। 'उत्तरस्यां पूर्ववन्मित्रावरुणयोरिति वेति' (का. 7। 9। 29-22) पूर्ववदिन्द्राभ्योरेति मन्त्रेणैव मित्रावरुणयोरिति मन्त्रेणवोत्तर वेदेरुत्तरश्रोणौ वसतीवरीनिर्दध्यादिति सूत्रार्थः। हे वसतीवरी-संज्ञका आपः, यूयं मित्रावरुणयोर्देवतयोर्भागरूपाभवथ। 'विश्वेषां देवानामित्याग्नीध्र इति' (का. 7। 9। 23) उत्तरवेदिश्रोणेः सकाशाद्वसतीवरीरादायाग्नीध्रीयस्य पश्चान्निदध्यादिति सूत्रार्थः। हे वसतीवर्यः, यूयं सर्वेषां देवानां भागरूपा भवथ। इदानीमभिनयेन दर्शयन्नाह। अमूर्याः ऋक् अब्देवत्या गायत्री याःप्रसिद्धा अमूरीदृश्यो वसतीवर्याया आपः। उपसूये सूर्ये-समीपेस्थिताः। विभक्तिव्यत्यः। याभिर्वा। वाशब्दः समुच्चे। याभिश्चाद्भिः सह सूर्यो यातिता आपो नोऽस्माकमध्वरं यज्ञं हिन्वन्तु तर्पयन्तु। हिन्वतिः तर्पणार्थः ॥ 24॥

पञ्चविंशी

हृदे त्वा मन॑से त्वा दिवे त्वा सूर्या॑य त्वा। ऊर्ध्वमिममध्वरं दिवि देवेषु होत्रा॑ यच्छ ॥२५॥

अन्वय : (हे सोमराजन् हृदेत्वा उपावहरामि), मनसे त्वा, दिवे, त्वा सूर्याय, त्वा उपावहरामि। इमम् अध्वरम् दिवि ऊर्ध्वं कृत्वा देवेषु होत्राः यच्छ। निबध्नीहि।

व्याख्या : हे सोम! हृदयोपलक्षित संवेदनाशक्तिसम्पन्न मुनष्यों के लिए तुम्हारा आहरण करता हूँ। अथवा यह मेरा ही हो" ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि के लिए तुम्हारा आहरण करता हूँ। मन के लिए या मनन शक्तिसम्पन्न पितृगणों के लिए तुम्हारा आहरण करता हूँ। द्युलोकवासी देवों के लिए और सूर्यनारायण के लिए तुम्हारा आहरण करता हूँ। इस हिंसारहित यज्ञ को द्युलोक में ऊपर विद्यमान देवों के लिए होताओं के माध्यम से प्राप्त होओ।

म० : 'आज्यासादनात्कृत्वेषान्तरेणार्धसोममद्रिषु संमुखेषु निदधाति हृदे त्वेति' (का. 9। 1। 5) आज्यासादनपर्यन्तं कर्म कृत्वा सोममादाय हविर्धाने गत्वा सोमं विस्म्रंस्य तदर्धं दक्षिणशकटेषान्तरालेन संमुखेष्वभिषवार्थपाषाणेषु निदध्यात्। अश्मनां स्थूलो भागो मुखमिति सूत्रार्थः। सोमदेवत्यानुष्टुप्। हे सोम, हृदे बुध्यै निश्चयात्मिकायै एतन्मम स्यादिति कामरूपायै त्वा त्वामुपावहरामीति शेषः। मनसे संकल्पविकल्पात्मकाय त्वामुपावहरामि। त्वाशब्दानामावृत्या क्रियावृत्तिर्बोध्या। दिवे द्युलोकप्राप्तये त्वामुपावहरामि। सूर्याय सूर्यमु-खेभ्यो देवेभ्यस्ततृप्तये त्वामुपावहरामि। यद्वायमर्थः। हे सोम, हृदे हृदयवद्भ्यो मनुष्येभ्यः। मनसे मनस्विभ्यः पितृभ्यः दिवे द्युलोकवासिभ्यो देवेभ्यो विशेषतः सूर्याय च त्वामुपावहरामीति शेषः। एतदर्थे तित्तिरिः 'स वा अध्वर्युः सोममुपावहरतेन करोति मनसे त्वेत्याह पितृभ्य एवैतेन करोति दिवे त्वा सूर्याय त्वेत्याह देवेभ्य एवैतेन करोत्येतावतीर्वै देवतास्ताभ्य एवैन सर्वाभ्य उपावहरतीति'। किंच एवमुपावहतोऽभिषुतश्च त्वमिममध्वरंमदीयं यज्ञमूर्ध्वमुत्कृष्टं कृत्वा दिवि द्युलोकवर्तमानेषु देवेषु होत्राः वषट्कारावादिनः सप्तहोतृकान् यच्छ निबध्नीहिं ।।25।।

षड्विंशी

सोमं राजन्विश्वास्त्वं प्रजा उपावरोह विश्वास्त्वां प्रजा उपावरोहन्तु। शृणोत्वग्निः समिधा हवंम्मे शृण्वन्त्वापो धिषणाश्च देवीः। श्रोता ग्रावाणो विदुषो न यज्ञं शृणोतु देवः संविता हवंम्मे स्वाहा ।।२६।।

अन्वय : हे सोमराजन् त्वं विश्वाः प्रजाः उपावरोह, विश्वाः प्रजाः त्वाम् उपावरोहन्तु। अग्निः समिधा मे हवम् श्रृणोतु। देवीः घिषणा आपः श्रृण्वन्तु। ग्रावाणो विदुषो न, नः यज्ञं श्रोता (श्रृणुत)। देवसविता में हवं श्रृणोतु स्वाहा।

व्याख्या : हे सोमराजा! आप समस्तप्रजा के पालक बनें। या अपने (अनुग्रह से तृप्त करें) तथा सभी प्रजायें प्रत्युत्थान अभिवादनादि द्वारा (अपनी श्रद्धा-भक्ति के द्वारा) आप को सन्तुष्ट करें। अग्निदेव सम्यक् रुप से प्रदीप्त होकर मेरे आह्वान को सुने तथा जल और बुद्धि

प्रदात्री वाक्देवी भी हमारे आह्वान को सुनें। हे सोमामिषवसाधनभूत प्रस्तर तुम भी ज्ञानवान् की तरह हमारे यज्ञप्रयुक्त आह्वान को सुनो। सविता देवता भी हमारी प्रार्थना को सुने और मेरी यह आहुति उन्हें तृप्तिदायक हो।

यहाँ प्रातःसवन के कृत्य में अध्वर्यु प्रचरणीपात्र से आहवनीय अग्नि में आज्याहुति देता है।

म० : किंच। हे सोम राजन्, विश्वाः सर्वाः प्रजा उपावरोह आधि पत्यं प्रजानां कुर्वित्यर्थः। 'विश्वास्त्वामिति विसृज्योपतिष्ठत इति' (का. 9। 1। 6) ग्रावासु स्थापितं सोमं विमुच्योपस्थापनं कुर्यादिति सूत्रार्थः। हे सोम, विश्वाः सर्वाः प्रजाः त्वामुपावरोहन्तु प्रत्युत्थानादिभिः प्राप्तुवन्तु। 'अभूदुषा रुशत्पशुरित्युच्यमाने चतुर्गृहीतंप्रचरण्या जुहोति श्रृणोत्वग्निरिति' (का. 9। 2। 24) अभूदिति मन्त्रे होत्रा शस्यमाने चतुर्गृहीतमाज्यं प्रचरणीसंज्ञया स्रुचाध्वर्युरतिप्रणीते जुहोतीति सूत्रार्थः। त्रिष्टुब्लिगोक्तदेवता। अग्निः समिधा समित्पूर्विकयाआहुत्या मे हवं मदीयमाह्वानं शृणोतु। आपो ममाह्वानं श्रण्वन्तु। चकारः। समुच्चयार्थः। धिषणा देवीः वाचो देव्यश्च मे हवं श्रृण्वन्तु। 'धि षणा धीसादिन्यो वा धीमानिन्यो वा' (निरु. ।7।4) इति यास्कः। धियं सन्वन्ति ददति घिषणाः 'षणु दाने' तनादिः। तृतीयः पादः प्रत्यक्षकृतो मध्यमपुरुषयोगात्। हे ग्रावाणः, अभिषवार्थमिहोपस्थिता यूयं मम हवं श्रोत श्रणुत। 'तप्तनप्त-नथनाश्च' (पा. 7। 1। 45) लोण्मध्यमपुरुषबहुवचनस्य तवादेशे गुणे विकरणव्यत्ययेच श्रोतेति रूपम्। संहितायांतु दीर्घः। विदुषो न। न इवार्थे विभक्तिव्यत्ययः। विद्वांसो यज्ञमिव यथा विद्वांसः प्रत्यक्षतो जानन्तो यज्ञं श्रृण्वन्ति तथा यूयं इदं श्रणुत। तथा सवितादेवः में मम हवं श्रणोतु। स्वाहा सुहुतमस्तु स्वाहा वागाहेति वा।।26।।

सप्तविंशी

दे॒वीरा॑पोऽअपान्नपा॒द्यो व॑ ऊ॒र्मिर्ह॑वि॒ष्य॒ इन्द्रि॒यावा॑न्म॒दिन्त॑मः।
तं दे॒वेभ्यो॑ देव॒त्रा द॑त्त शुक्र॒पेभ्यो॒ येषां॑ भा॒ग स्थ॒ स्वाहा॑ ।।२७।।

अन्वय : (हे) देवीः आपः व अपांनपात् यः ऊर्म्मिः हविष्यः इन्द्रियावान् मदिन्तमः तं देवत्रा देवेभ्यो दत्त। शुक्रपेभ्यः येषां भागः स्थ।

व्याख्या : हे दिव्यजलों! तुम्हारा पुत्र स्वरूप यह जलसंघात

(ऊर्मि) हैं, यह हवि के योग्य है, बलशाली एवं प्रसन्नता देने वाली है। अतः दया दाक्षिण्यादि शुभगुणों की रक्षा के लिए इसे देवताओं को प्रदान करो जो कि सोमपान करनेवाले हैं तथा दीप्तिमान् है। इन्हीं के तुम अंशस्वरूप हो। यहआज्य तुम लोगों को प्राप्त हो।

यहाँ नदी के समीप जाकर जल के ऊपर तृण डालकर आज्याहुति दी जाती है।

म॰ : 'आपो गत्वा देवीराप इत्यप्सु जुहोतीति' (का. 9। 3। 7) यच्चतुर्गृहीतमाज्यं सहनीतं तज्जलं प्रति गत्वाजुहोतीति सूत्रार्थः। अब्देवत्या पंक्तिः पञ्चपदा चत्वारिंशद्वर्णा पंक्तिः। अत्र द्वितीयः सप्ताक्षरः तुर्यपञ्चमो नवार्णौ तेनैकाधिका स्वाहेति यजुः।हे आपोदेवोः देव्यः, वो युष्माकमपांनपात् अपत्यरूपो योऽयमूर्मिरप्संघातः कल्लोलोऽस्ति देवत्रा देवान्प्रति यायिनं तमूर्मिं देवेभ्यो दत्त प्रयच्छत। येषां देवानां यूयं भागः स्थ भागरूपा भवथ किंभूत। ऊर्मिः। हविष्यः तथा इन्द्रियावान् इन्द्रियं वीर्यमस्यास्तीति इन्द्रियावान्। दीर्घश्च्छान्दसः। प्रीतः सन्निन्द्रियवीर्यवृद्धिकारी। तथा मदिन्तमः मदयतीति मदी अतिशयेन मदी मन्दितमः पीयमानोऽत्यन्तहर्षकारी तर्पयितृतमः। 'नाद्धस्य' (पा. 7। 2। 17) इति तमपि नुमागमः। किंभूतेभ्यो देवेभ्यः। शुक्रपेभ्यः शुक्र इत्युपलक्षणम्। शुक्रादीन् सोमग्रहान् पिबन्तीति शुक्रपाः तेभ्यः। यदा शुकं दीप्तं सोमं पिबन्तीति। स्वाहाइदमाज्यं युष्मभ्यं हुतमस्तु। ग्रहीष्यमाणानामपां मूल्यत्वेनेयमाहुतिरित्युक्तं तिक्तिरिण। 'देवीरापो अपांनपादित्याहाहुत्या वै निष्क्रीय गृह्णातीति' ।।27।।

अष्टाविंशी

कार्षिरसि समुद्रस्य त्वाक्षित्या उन्नयामि। समापो अद्भिरग्मत समोषधीभिरोषधीः ।।२८।।

अन्वय : (हे आज्य) त्वं कार्षिः असि (हे आपः समुद्रस्य अक्षित्यै त्वा उन्नयामि गृह्णामि। अद्भिः संजग्मत, ओषधीः, ओषधीभिः सम्। (संगच्छन्ताम्)।

व्याख्या : हे आज्य! तुम देवों द्वाराभक्षित हो तथा मनुष्य के सभी पापतापों को दूर करने वाले हो। (वसतीवरीरुप) हे जलों! समुद्र की अक्षीणता के लिए मैं तुम्हें उचित मात्रा में ग्रहण करता हूँ।

मैत्रावरुणचमस में स्थित जल। तुम वसतीवरीजलों के साथ मिल जाओ। ओषधियाँ औषधियों मुद्गमसूरादि (व्रीहियवादि) के साथ अच्छी तरह मिल जाए।

इस मन्त्र के द्वारा अध्वर्यु पूर्वआहुतिशेष आज्य को गिराकर मैत्रावरुणचमस द्वारा जल ग्रहण करता है तथा आगे मैत्रावरुणस्थजल को वसतीवरी जल में मिलाता है।

म॰ : 'कार्षिरसीति मैत्रावरुणचमसेनाज्यमपोहतीति' (का. 9। 3। 7)। अप्सुहुतमाज्यं मैत्रावरुणचमसेन दूरीकरोतीति सूत्रार्थः। कार्षिरसीत्यादिमन्त्रत्रयं मिलित्वानुष्टप्छन्दः। आद्यस्याज्यं देवता। हे आज्यपदार्थ, त्वं कार्षिराकृष्टोऽसि देवतया भक्षितोऽसीत्यर्थः। यद्वा कर्षतीत्येवंशील: कार्षिः अन्तर्गतशमलापनेतासि। तदाह तितिरि: 'कर्षिरसीत्याह शमलमेवासामुपप्लावयतीति'। 'समुद्रस्य त्वेति तेन गृह्णातीति' (का. 9। 3। 9)। मैत्रावरुणचमसेन तदडागादिस्था अपो गृह्णातीति सूत्रार्थः, द्वे यजुषी अपि। 'आपो वै समुद्रः' (3। 9। 3। 27) इति श्रुतेवसतीवरीलक्षणस्य समुद्रस्याक्षित्यै अक्षीणत्वाय हे जल, त्वा त्वामुन्नयामि गृह्णामि। वसीतवरीणां वृद्धौ जलमेतद्गृह्यते। 'प्रत्येत्य चात्वालस्योपरि मैत्रावरुणचमसं वसीतवरीश्च संस्पर्शयति समाप इति' (का. 9। 3। 12) जलाशयात्प्रत्यागत्य चात्वालोपरि मैत्रावरुणचमसस्थाअपो वसतीवरीभिः संयोजयतीति सूत्रार्थः। आपो मैत्रावरुणचमसस्था अद्भिः वसतीवरीभिः समग्मत संगच्छन्ताम् गमेर्लुङितङि प्रथमा बहुवचने शपिलुप्ते गमन (पा. 6-4-98) इत्युपधा लोपे समग्मतेति रूपम्। तथा ओषधीः ओषधयः मुद्गमसूरादिका ओषधीभिर्व्रीहियवादिभिः संगच्छन्ताम् अपां करणभूतत्वादोषधीनामपि योगोऽस्तु ॥28॥

एकोनत्रिंशी

यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः। स यन्ता शश्वतीरिषः स्वाहा ॥२९॥

अन्वय : (हे) अग्ने! यं मर्त्यं पृत्सु अवाः (अवसि) वाजेषु यं जुनाः (गच्छसि) सः शश्वतीः इषो यन्ता प्राप्स्यति स्वाहा।

व्याख्या : हे अग्निदेव आप संग्रामों में जिसमनुष्य की रक्षा करते हैं तथा जिसके हविष्यान्नों को ग्रहण करने केलिए आप उसके

पास जाते है, वह मनुष्य आप के अनुग्रह से नित्य ही अन्नों को प्राप्त करेगा। यह हवि आपको प्रसन्न करें।

यहाँ प्रचरणी संस्रव होम का विधान विहित है।

म॰ : 'प्रचरणीसंस्त्रवमग्निष्टोमे जुहोत्यभावे चतुर्गृहीतंयमग्ने' (का. 9। 3। 16) इति अग्निष्टोमसंस्थे क्रतौ प्रचरणीपात्रलिप्तमाज्यशेषं जुहुयात् शेषाज्यस्य होमपर्याप्तभावे चतुर्गृहीतमादाय जुहोतीति सूत्रार्थः। आग्नेयी गायत्री मधुच्छन्दोदृष्टा। हे अग्ने, पृत्सु संग्रामेषु यं मर्त्यं मनुष्यं त्वमवाः अवसि रक्षसि। अवतेः 'इतश लोपः परस्मैपदेषु' (पा. 3। 4। 97) इति सिप् इकारलोपे 'लेटोऽडाटौ' (पा. 3। 4। 94) इत्याडागमे वा इति रूपम्। किंच वाजेषु वाज इत्यन्ननाम। हविर्लक्षणेष्वेषु अन्ननिमित्तिं यं पुरुषं त्वं जुनाः गच्छसि। हवींषि ग्रहीतुं यस्य सकाशं गच्छसीत्यर्थः। 'जु गतौ' श्राप्रत्ययः 'इतश्च लोपः–' (पा. 3। 4। 97) इतीकारलोपे रूपं जुना इति। स मर्त्यस्त्वदनुग्रहेण शश्वतीरिषः नित्यान्यन्नानि धनरूपाणि यन्ता नियस्यति प्राप्स्यतीत्यर्थः लुट्। स्वाहा सुहुतमस्तु। उक्थसंस्थे यमग्ने इति मन्त्रेणाद्यं परिधिं स्पृशेत्। षोडशिसंस्थे रराटीं स्पृशेत्। अतिरात्रे छदिः स्पृशेत्। अन्यसंस्थासु हविर्धानं प्रविशेत् ।।29।।

त्रिंशी

देवस्यं त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। आददे रावासि गभीरमिममध्वरङ्कृधीन्द्राय सुषूतमम्। उत्तमेनं पविनोर्जस्वन्तं मधुमन्तं पयस्वन्तं निग्राभ्या स्थ देवश्रुतस्तर्पयत मा ।।३०।।

अन्वय : (हे प्रस्तर) सवितुः देवस्य प्रसवे अश्विनो र्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वा आददे। हे (अभिषवसाधनपाषाण) त्वं रावा असि इमम् अध्वरं गभीरं कृधि। इन्द्राय सुषूत्तमम् उत्तमे पविना ऊर्जस्वन्तं मधुमन्तं पयस्वन्तं कृधि। (हे आपः) यूयं निग्राभ्यः देवश्रुतः स्थ मा तर्पयत।

यहाँ सोमरस निकालने के लिए ग्रावा (पाषाण) का ग्रहण किया जाता है।

व्याख्या : हे प्रस्तर! सवितादेवता की प्रेरणा से मैं अश्विनीकुमारों

की भुजाओं से तथा पूषादेवता के हाथों से तुम्हें ग्रहण करता हूँ। (हे अभिषवसाधनपाषाण) तुम अभीष्ट पदार्थों के दाता हो, हमारे इस याग को महान् बनाओं। (समुद्र के समान गंभीर एवं ऐश्वर्यवान् बनाओं) हे इन्द्र! तुम अपने श्रेष्ठवज्र से इसे (सोम को) बलयुक्त माधुर्ययुक्त रसयुक्त और दुग्धादिपौष्टिक पदार्थों से युक्त करो। हे जल तुम मेरे लिए ग्रहण योग्य बनों। देवों में विख्यात आप हमें तृप्त करें।

म॰ : 'देवस्य त्वेत्यद्रिमादाय वाचं यच्छति प्राग्धिङ्कारात् स उपांशुसवन इति' (का. 9। 4। 5। 6) सोमाभिषवहेतुमश्मानं गृहीत्वा हिंकारात्प्राक् मौनी स्यात् सोऽश्मोपांशुसवनसंज्ञः उपांशुग्रहाय सोमः सूयते येनेति सूत्रार्थः देवस्य त्वेति व्याख्यातम्। हे अभिषवसाधन पाषाण, त्वं रावासि। 'रा दाने' रातीति रावा वनिप्। आहुतीनां दक्षिणानां च दाता भवसि। तत इममध्वरं मदीयं यार्गं गभीरं गम्भीरं महान्तं कृधि कुरु। 'श्रुश्रृणपृकृवृभ्यश्छन्दसि' (पा. 6। 4। 102) इति हेर्धिः उत्तमेनोत्कृष्टेन पविना वज्रसदृशेन त्वयाहं सोममीदृशं करोमि। किंभूतम्। इन्द्रायेन्द्रार्थं सुषूतं सुष्टु अभिषुतंतमम्। निष्ट्रातकारलोपो दीर्घश्च छान्दसः। तथा ऊर्जस्वन्तं मधुस्वादेन रसेनोपेतं पयस्वन्तं पयःस्वादुना रसेनोपेतं एवंविधं सोमं त्वयाहं करोमीत्यर्थः। 'निग्राभ्यासु वाचयत्युरस्येनानिगृह्य निग्राभ्या स्मेति'(का. 9। 4। 7) अभिषोतव्यस्य सोमस्य सेवनीया आपो निग्राभ्या उच्च्यन्ते तासु गृह्यमाणासु वाचयेत्। यजमानश्च स्वोरसि निग्राभ्या निगृह्यालभ्य च मन्त्रं वक्तीति सूत्रार्थः। हे आपः, सूर्य निग्राभ्या निग्राह्या अस्माभिर्नितरां ग्रहीतव्यः स्थ भवथ। यस्मादिन्द्रेणीरसि यूयं ग्रहीतास्ततो निग्राभ्याः। हग्रहोर्भः। देवश्रुतः देवैः श्रूयन्ते ताः देवेषु प्रख्याताः ततो बहुमानान्विता यूयं मां मां तर्पयत प्रीतिं कुरुत ।।30।।

एकत्रिंशी

मनों मे तपर्ययत वाचं मे त पर्ययत प्राणं मे तर्पयत चक्षुर्मे त पर्ययत श्रोत्रं मे तर्पयतात्मानं मे तर्पयत प्रजां मे तर्पयत पशून्मे तर्पयत गणान्मे तर्पयत गणा मे मा वितृषन् ।।३१।।

अन्वय : (हे आपः) मे मनः तर्पयत मेंवाचः प्राणं तर्पयत। मे चक्षुः श्रोत्रं तर्पयत। में आत्मानं तर्पयत, में प्रजापशून् गणान् तर्पयत। मे

गणः मा वितृषन्।

व्याख्या : (हे निग्राभ्यजल) मेरे मन, वाणी, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, आदि इन्द्रियों को तृप्त करो। मेरी आत्मा को तृप्त करो, मेरी प्रजा (पुत्र पौत्रादि) पशु और बन्धुबान्धव तथा हितैषीजनसमुदाय को सन्तुष्ट करो। मेरे आत्मीयजन भूखे प्यासे न रहे। सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति के लिए भटकते न रहे या मेरे द्वारा प्रदत्त पदार्थों को पाकर भी तृष्णायुक्त न हो, उनमें मैं अनुरक्त रहूँ तथा वे मेरे में।

म० : एवं समासेनोक्त्वा व्यासेनाह। मे मम मनः वाचं प्राण चक्षुः श्रोत्रं तर्पयत। मदीयानि मनःप्रभृतीनिन्द्रियाणि तर्पयतेत्यर्थः। एवं व्यासेनोक्त्वा पुनः समासेनाह। आत्मानं शरीरं प्रजां पुत्रादिसंपत्तिं पशुन्गावादीन्गणान् मनुष्यसंघातश्च तर्पयत। मे मदीयागणा मनुष्यसहा मा वितृषन् मया द्रव्यदानेन पूरिता अपि सन्तो विगततृष्णा मा भवन्तु। अनुरक्तगणोऽहं भवेयमिति यजमान आशास्त इत्यर्थः ।।31।।

द्वात्रिंशी

इन्द्रा॑य त्वा वसु॑मते रु॒द्रव॑त॒ऽइन्द्रा॑य त्वादि॒त्यव॑त॒ऽइन्द्रा॑य त्वाभिमाति॒घ्ने। श्ये॒नाय॑ त्वा सोम॒भृते॒ग्नये॑ त्वा रायस्पोष॒दे ।।३२।।

अन्वय : (हे सोम) त्वा त्वाम् इन्द्राय वसुमते रुद्रवते त्वा, आदित्यवते इन्द्रायत्वा, अभिमातिघ्ने इन्द्राय त्वा, त्वा सोमभृते श्येनाय् त्वा रायस्पोषदे अग्नये अहं (मिमे)।

व्याख्या : हे सोम, वसुसंज्ञक प्रातःसवन के देवता से युक्त इन्द्र के लिए) एकादशरुद्रों से युक्त, इन्द्र के लिए तथा द्वादशआदित्य से युक्त इन्द्र के लिए मैं तुम्हें प्रदान करता हूँ। तुझे शत्रुविनाशक इन्द्र के लिए परिमित करता हूँ। सोम को धारण करने वाले श्येनरुप गायत्री केलिए परिमित करता हूँ, तथा धन एवं पुष्टि देने वाले अग्नि के लिए तुझे परिमित करता हूँ।

यहाँ उपांसुसवन पर एक एक करके पाँचमुष्टि सोम अध्वर्यु द्वारा रखा जाता है।

म० : उपांशुसवने सोमं मिमीत इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवत इति पञ्चकृत्वः प्रतिमन्त्रमिति' (का. 9। 4। 8) उपांसुसवनं पूर्वोक्तमश्मानमधि

षवणचर्मणि निधाय तदुपरि पञ्च मन्त्रैः पञ्चवारमभिषोतव्य-सोममुष्टिं प्रक्षिपतीति सूत्रार्थः। पञ्च यजूंषि सौम्यानि। तत्राद्यम् हे सोम, इन्द्रायेन्द्रार्थं त्वा त्वां मिमे इति शेषः। किंभूतायेन्द्राय। वसुमते वसवोऽस्य सन्तीति वसुमान् तस्मै। वसुसंज्ञकप्रातःसवनदेवतायुक्तायेत्यर्थः। रुद्रवते रुद्राःसन्तियस्येति रुद्रवान् तस्मै रुद्रनामकमाध्यन्दिसवनदेवतायुक्ताय। अद्वितीयम्। आदित्यवते तृतीययसवनदेवतायुक्तायेन्द्राय हे सोम, त्वां त्वां मिमे। अथ तृतीयम्। अभिमातीन् शत्रुन् हन्तीत्यभिमातिहा तस्मै अभिमातिघ्ने शत्रुहन्त्रे इन्द्राय सोम,त्वां मिमे। 'सपत्नो वा अभिमातिः' (3। 9। 4। 9) इति श्रुतेः। अथ चतुर्थम्। सोमं हरतीति सोमहृत् तस्मै। 'हग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा. 8। 2। 32) इति हस्य भः। सोमाहरणकर्त्रे श्येनाय श्येनपक्षिरूपायै गायत्र्यै हे सोम, त्वां मिमे। 'गायत्री श्येनो भूत्वा दिवः सोममाहरत्' (6। 9। 4। 10) इति श्रुतेः। अध पञ्चमम्। रायस्पोषदे रा धनं तस्य पोषो वृद्धिः तं ददातीति रायस्पोषदास्तस्मै धनपुष्टिदात्रेऽग्नये हे सोम, त्वां मिमे ।।32।।

त्रयस्त्रिंशी

यत्ते॑ सोम दि॒वि ज्योति॒र्यत्पृ॑थि॒व्यां यदु॒राव॒न्तरि॑क्षे। तेना॒स्मै यज॑माना॒योरु रा॒ये कृ॒ध्यधि॑ दा॒त्रे वो॑चः ।।३३।।

अन्वय : (हे सोम) दिवि यत् ते ज्योतिः, यत् पृथिव्यां, यत् उरौ अन्तरिक्षे, तेन अस्मै यजमानाय राये उरुकृधि दात्रे अधि वोचः।

व्याख्या : हे सोम! तुम्हारा जो तेज द्युलोक में है। तथा जो तेज पृथिवी में हैं, और जो विस्तीर्णअन्तरिक्ष में शरीररुपज्योति है, उसके प्रभावसे इस यज्ञकर्ता यजमान को धनादिऐश्वर्य से महान बना दो, और फलदाता इन्द्र से यह कहो कि यह यजमान सर्वविध सम्पन्न होवें।

यहाँ रखे गये सोम का स्पर्श किया जाता है।

म० : 'यत्त इति मितालम्भनमिति' (का. 9। 4। 9) मितस्योपांशुसवने' पंचवारं प्रक्षिप्तस्य सोमस्य स्पर्शं कुर्यादिति सूत्रार्थः। सोमदेवत्यः विपरीताबृहती आद्यतृतीयवष्टार्णौ द्वितीयतुर्थी द्वादशार्णौ पादौ सा विपरीता बृहतीं व्यूहेन द्वादशत्वम्। अस्य मन्त्रस्य श्रुतौ निदानमुक्तम् 'यदा सोमोदेवानां हविरभूत्तदा तिस्त्रः स्वतनुरेषु लोकेषु न्यदधादिति' (3। 9। 4। 12)। तासां तनूनामनेन मन्त्रेण प्राप्तिः क्रियते। हे सोम, दिवि

द्युलोके ते तव यज्योतिस्तेजः यश्च पृथिव्यां ज्योतिः उरौ विस्तीर्णे अन्तरिक्षे यत् ज्योतिः शरीरलक्षणं तेन तन्वाख्येन ज्योतिषा अस्मै यजमानाय। विभक्तिव्यत्ययः। अस्य यजमानस्य यज्ञे उरु विस्तीर्ण स्वशरीरं कृधि कुरु। राये धनाय ऋत्विजां दक्षिणाप्राप्तये च उरु शरीरं कृधि। किंच दात्रे अधि वोचः अधिकं ब्रूहि। यजमानाय कृत्स्नशरीरोऽहमागत इति वदेत्यर्थः। वचेर्लुङि 'वचेरुम्' (पा. 8। 4 20) इति उमागमेऽडभावे च वोच इति मध्यमैकवचने रूपम्। यद्वास्य मन्त्रस्यं व्याख्यान्तरम्। हे सोम, त्रिषुयत्वदीयं ज्योतिरस्ति तेन ज्योतिषास्मै यजमानाय राये। चतुर्थ्यर्थे तृतीया। राया धनेन समृद्धंकुरु विस्तीर्णं स्थानं कृधि। किंच दात्रे फलदायेन्द्राय इति वोचः ब्रूहि यत् अधि अधिकोऽयं यजमानो भवत्विति ॥33॥

चतुस्त्रिंशी

श्वात्रा स्थं वृत्रतुरो राधोंगूर्ताऽअमृतस्य पत्नीः। ता देवीर्देवत्रेमं यज्ञं नयतोपहूताः सोमस्य पिबत ॥३४॥

अन्वय : (हे आपः) युयं श्वात्राः स्थ, वृत्रतुरः राधोगूर्ताः अमृतस्य पत्नीः, ताः देवीः इमं यज्ञं देवत्रा नयत उपहूताः सोमस्य पिबत।

व्याख्या : हे जल तुम शीघ्रगतिशील हो, और अज्ञानादि रुप आवरण के विनाशक, इष्टफलदाता जीवनामृतदायी सोम के पालक हो। ऐसे दिव्यगुणयुक्तजल तुम इस यज्ञ को देवताओं तक ले जाओं तथा आह्वान किये हुए तुम सोम का पान करो।

यहाँ रखे हुए सोम पर निग्राभ्या का जल छिड़का जाता है। आग्नीध्र के हाथ में रखे हुए होतृचमस में अध्वर्यु वसतीवरीसंज्ञक जल छोड़ता है, उसे निग्राभ्या कहा जाता है।

म॰ : 'श्वात्रा स्थेत्यासिञ्चति निग्राभ्या इति' (का. 9। 4। 12)। सोमस्योपरि होतुचमसेंनैव निग्राभ्या आसिंचतीति सूत्रार्थः। पथ्या बृहती तृतीयो द्वादशार्णोऽन्ये त्रयोऽष्टार्णाः पादा यस्याः सा पथ्याबृहती। इयं व्यधिका। हे आपः, यूयमेवंविधाः स्थ भवथ। किंभूताः। श्वात्राः। श्वात्रमिति क्षिप्रनाम। क्षिप्रकार्यकारिण्यः शिवा वा। वृत्रतुरः। तुर्वतिर्वधकर्मा, वृत्रदैतयं तूर्वन्ति हिंसन्ति ता वृत्रतुरः क्विपि 'राल्लोपः' (पा. 6। 4। 21) इति वलोपः। राधोगूर्ताः राधो धनं गुरन्ते उद्यच्छन्ति ददति ता राधोगूर्ताः। 'गुरी

उद्यमे' अस्मात् 'नसत्तनिषत्त-' (पा. 8। 2। 61)इत्यादिना कर्तरि क्तोनत्वाभावश्च निपात्यते। अमृतस्य सोमस्य पत्नीः पालयित्र्यः। हे देवीः देव्यः, तास्तथाविधा यूयमिमं यज्ञं देवत्रा देवान् प्रति नयत प्रापयत उपहूता अनुज्ञाताः सत्यो यूयं सोमस्य। कर्मणि षष्टी। सोमं पिबत ।।34।।

पञ्चत्रिंशी

मा भेर्मा संविंक्था ऊर्जं धत्स्व धिषणे वीड्वीसती व्वींडयेथामर्जेन्दधाथाम्। पाप्मा हतो न सोमः ।।३५।।

अन्वय : (हे सोम) त्वं मा भेः, संविक्थाः, ऊर्जं धत्स्व। हे धिषणे! (द्यावापृथिव्यौ) वीड्वीसती वीडयेथाम् ऊर्जं दधाथाम् (यजमानस्य) पाप्पा हतः सोमः न।

व्याख्या : हे सोम तुम डरो मत, कम्पन मत करो, क्योंकि देवों की तृप्ति के लिए मैं तुम्हें अभिषुत करता हूँ। अतः रस को धारण करो। हे द्यावापृथिवी तुम दोनों दृढ़ होतेहुए अपनेआपको दृढ़ बनाओं। तथा इस सोम में रस प्रदान करो। इस प्रकार वज्ररुप इस पत्थर की स्तुति से यजमान का पाप ही नष्ट होता है, सोम नहीं।

यहाँ उपांशुसवननामक पत्थर से सोम पर प्रहार किया जाता है।

म॰ : 'मा भेरिति प्रहरतीति' (का. 9। 4। 14) उपांशुसवनेनाश्मना सोमं प्रहरेदिति सूत्रार्थः। अर्ध सौम्यंमर्धद्यावापृथिव्यम्। हे सोम, त्वं मा भेः मा भैषीः। शपो लुकिलङि रूपम्। मा संविक्थाः कम्पनं मा कृथाः। 'ओविजी भयचलनयोः' लुङि रूपम्। यतो देवतर्पणायाहं त्वामभिषुणोमि अत ऊर्जं धत्स्व रसं धेहि। एवंसोमं संबोध्य द्यावापृथिव्यौ संबोधयति। हे धिषणे हे द्यावापृथिव्यौ, युवां वीडु सती वीडयेथाम्। वीडुशब्दो दृढवचनः। दृढे सत्यौवात्मानं दृढं कुरुतम् अस्मादुद्यताद्ग्राव्णः। किंच ऊर्जं दधाथां रसं धत्तम् अस्मिन् सोमे। अनैन तु वज्रसंस्तुतेन ग्राव्णा यजमानस्य पाप्मा हतो न तु सोमः ।।35।।

षट्त्रिंशी

प्रागपागुदंगधराक्सर्वतंस्त्वा दिशऽआधांवन्तु। अम्ब निष्पंर समरीविंदाम् ।।३६।।

अन्वय : (हे सोम) प्राक्, अपाक्, उदक्, अधराक् सर्वतः दिशाः त्वा आधावन्तु। (हे) अम्ब निष्पर, अरीः सम् विदाम्।

व्याख्या : हे सोम, पूर्व पश्चिम उत्तर और दक्षिण तत्तत् दिशाओं के अधिष्ठाता देवता चारों ओर से तुम्हें प्राप्त करने के लिए शीघ्र आवें। हे भूमिमाता सोम को रस से पूर्ण करो। सम्पूर्ण प्रजा इस यज्ञ को जाने तथा फल प्राप्त करे अर्थात यज्ञ में सहयोग प्रदान करते हुए फल प्राप्त करें।

म० : 'प्रतिवर्ग निग्राभं वाचयति होतृचमसेऽल्पान्शूनवधाय प्रागपागिति' (का. 9। 4। 20) प्रतिप्रहारवर्ग होतृचमसामर्थ्य स्तोकान्सोमांशून्निधाय प्रागपागिति ऋग्द्धयं निग्राभसंज्ञं यजमानं वाचयेदिति सूत्रार्थः। सोमदेवत्योष्णिक्। सोमो दिग्भिर्मिथुनमैच्छत्तश्च देवाः संपादितवन्तस्तदेतहऋचाभ्युक्तम्। हे सोम, प्राक् प्रागञ्चनाः अपाक् अपागञ्चनाःदक्षिणाः पश्चिमाश्च उद्क् उदगञ्चना उतराः अधराक् अधराश्चनाः एवं प्रागादयः सर्वा दिशः स्वस्वप्रदेशात्त्वा त्वामाधावन्तु आभिमुख्येन गच्छन्तु। परस्परं किं भाषमाणास्त्वामभिधावन्त्विति तदाह। हे अम्ब हे माता, निष्पर स्वैर्भागैः सोमं पूरय। 'पृ पालनपूरणयोः' विलरणव्यत्यये लोटि रूपम्। किं प्रयोजनमिति चेत्। अरौः अर्यः प्रजाः संविदा संविदताम् 'प्रजा वा अरीः' (3। 9। 4। 21) इति श्रुतिः। अस्माकं सोमसमागमं नानादिग्वासिनो जना जानन्त्वित्यर्थः। इति भाषमाणास्त्वामागच्छन्तु। 'विद् ज्ञाने' अस्माल्लाटि तडि प्रथमाबहुवचने 'आत्मनेपदेध्वनतः' (पा. 7। 1 ।4) इति झस्यादादेशे 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा. 7। 1। 41) इति तकारलोपे सवर्णदीर्घे विदामिति रूपम्। 'समो गम्' (पा. 1। 3। 29) इत्यादिना लङ् ।।36।।

सप्तत्रिंशी

त्वमङ्ग प्रशꣳसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम्। न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः ।।३७।।

अन्वय : हे अङ्ग देव! इन्द्र शविष्ठ! त्वं मर्त्यं प्रशंसिषः स्तोषि। (हे) मधवन् त्वद् अन्यः मर्डिता न अस्ति। इन्द्र ते वचः ब्रवीमि।

व्याख्या : हे शीघ्रप्राप्त होने वाले एवं बलवान इन्द्रदेव! तुम अपने भक्त या याजक को स्वयं प्रसन्न होकर उसे प्रशंसायुक्त बनाते हो।

हे इन्द्र, यजमान को सुख प्रदान करनेवाला आपसे अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है। हे इन्द्र इसीलिए मैं आपकी ही स्तुति करता हूँ या आप से ही याचना करता हूँ। यह मन्त्र जीव के अनन्यता का द्योतक है।

म० : इन्द्रदेवत्यः पथ्याबृहती गोतमदृष्टा। अंगेति क्षिप्रनाम। हे शविष्ट अतिशयेन बलवन् इन्द्र, देवःदीप्यमानस्त्वं मर्त्यं मनुष्यं यजमानं प्रशंसिषः प्रसंससि स्तौषि। समीचीनोऽयं यजमानो होता श्रद्धावानित्यादिस्तुति करोषित्यर्थः। 'शंसु हिंसास्तुत्योः' लिडर्थे लेट् मध्यमैकवचने सिबादेशः 'सिव्बहुलं लेटि' (3। 1। 34) इति सिप्प्रत्ययः तस्यआर्धधातृकस्येड्वलादेः (पा. 7। 2। 34) इति इडागमः 'लेटोऽडाटौ' (पा. 3।4।14) इति सिपोऽडागमः 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा. 3। 4। 97) इति सिपं इकारलोपः तस्य रुत्वविसर्गौ षत्वम्। प्रशंसिष इति रूपम् 'तिङतिङः' (7। 1 27) इति सर्वानुदात्वम्। किंच हे मघवन् हे धनवन् इन्द्र, मर्डिता 'मुड सुखने' मृडीति मडिता यजमानस्य सुखयिता त्वदन्यो नास्ति न विद्यते। अतो हे इन्द्र,ते तववाचः त्वमेव सुखयितेत्येवंरूपं त्वदीयं वचनमहं व्रवीमि वदामि ।।37।।

श्रीमन्महीधरकृते वेददीपे मनोहरे।
अभ्रादानाद्वाचनान्तः षष्टोऽध्यायः समीरितः ।।6।।

इतिषष्ठोऽध्यायः

अथ सप्तमोऽध्यायः

तत्र प्रथमा

वाचस्पतये पवस्व वृष्णो अंशुभ्यां गभस्तिपूतः। देवो देवेभ्यः पवस्व येषां भागोऽसि ।।१।।

अन्वय : (हे सोम) त्वं वाचस्पतये पवस्व (गच्छ) वृष्णःअंशुभ्याम् गभस्तिपूतः। हे सोम देव देवेभ्यः पवस्व, येषांभागोऽसि।

व्याख्या : हे सोमलता वाणी के पति एवं प्राणों को शक्तिप्रदान करने हेतु इस पात्र में जाकर शुद्ध हो जाओ। सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाले अपने दो अंशुओं सहित सूर्य की किरणों से या हमारे हॉथों से पवित्र होकर दिव्यगुणवाले तुम देवताओं की तृप्ति के लिए शुद्ध बनो

जिनके तुम अंश हो।

इस अध्याय में ग्रहपात्रों के ग्रहण सम्बन्धिमन्त्र कहे गये है। इस मन्त्र में उपांशुग्रह का ग्रहण किया गया है। गृह्यते स्थाप्यते यस्मिन् इति ग्रहः। जिसमें सोमरस रखा जाए उसे ग्रह कहा जाता है। इन्हीं ग्रह पात्रों को ही यहाँ पर भिन्न-भिन्न नामों से कहा गया है।

म० : षष्ठेऽध्याये यूपसंस्कारादिसोमाभिषवपर्यन्ता मन्त्राउक्ताः। सप्तमे ग्रहग्रहणमन्त्रा उच्च्यन्ते। 'उपांशुं च गृह्यति वाचस्पतये देवो देवेभ्यो मधुमतीरिति' (का. 9। 4। 23) मन्त्रत्रयस्य प्रतीकोपादान्तत्रैकैकेन मन्त्रेणोपांशुग्रहमेकैकवारं गृह्णीयात्। उपयामगृहीतोऽसीति मन्त्रत्रस्यादौ योज्यम्। प्राणदेवत्या विराट् नववैराजत्रयोदशैर्नष्टरूपेति लक्षणान्नषट्रूपा विराट् नववैराजत्रयोदशैर्नषष्टरूपेति लक्षणान्नषटरूपा विराट् प्रथमोऽष्टार्णस्तेनैकोना। पूर्वोत्तरार्धयोरुपांशुग्रहस्य प्रथमद्वितीयग्रहणे क्रमेण विनियोगः। हे सोम, त्वं वाचस्पतये प्राणाय पवस्व गच्छ। 'पव गतौ'। 'प्राणो वै वाचस्पतिः' यद्वा पतये पालकाय वाचः वाचा विभक्तिव्यत्ययः देवार्थं मन्त्रेण शुद्धो भव। किंभूतस्त्वम् वृथाः वर्षितुस्तव सम्बन्धिभ्यामशुभ्यां तौ हि तत्र क्षिप्यते। (4। 1। 1। 9) इति श्रुतेरध्वर्योर्गभस्तिभ्यां पाणिभ्यांच पूतः। समासगतः पूतशब्दो विच्छिद्यांशुभ्यामित्यनेनापि योज्यः। द्वितीयं गृह्णाति। हे सोम, देवः सन् देवेभ्योऽर्थाय पवस्व प्रवृत्तिं कुरु। न हय यदेवो देवांस्तर्पयितुमलम्। केभ्यो देवेभ्यः। येषां देवानां त्वं भागोऽसि तान्प्रति गच्छेत्यर्थः ।।1।।

द्वितीया

मधुंमतीर्नऽइषंस्कृधि यत्तें सोमादांभ्यं नाम जागृंवि तस्मैं ते सोम सोमांय स्वाहा स्वाहोर्वुन्तरिंक्षमन्वेंमि ।।२।।

अन्वय : (हे सोम) त्वं नः इषः (अन्नानि) मधुमतीः कृधि (कुरु) हे सोम! यत् ते जागृवि अदाभ्यं नाम ते तस्मै, सोमाय स्वाहा। उरु अन्तरिम् अन्वेमि।

व्याख्या : हे सोम तुम हमारे अन्नों को मधुर रस से युक्त बनाओं। हे सोम, जो तुम्हारा जागरणशील (स्फूर्तिदायी।) अहिंस्य (हानिरहित) प्रसिद्ध नाम (यश) है, ऐसे सोम के लिए आहुति प्रदान करता हूँ। मैं विस्तीर्णअन्तरिक्ष का अनुगमन करता हूँ। (इस यज्ञ धूम के साथ मैं भी

भावनामय शरीर से विशाल अन्तरिक्ष में पीछे पीछे चलता हूँ)

म॰ : तृतीयं गृह्णाति। लिंगोक्तदेवतम्। हे सोम, त्वं नोऽस्माक-मिषोऽन्नानि मधुमतीःमधुररसोपेताः कृधि कुरु। 'यत् इत्यात्तान्सोमे निदधाति' (का. 9। 4। 28) इति स्वीकृतानंशून्सोमे स्थापयेत्। सौम्यम्। हे सोम,ते तव अदाभ्यमहिंस्यम्। दभ्नोतिहिंसार्थः। जागृवि जागरणशीलं यन्नामास्ति सोमेति हे सोम, तस्मै तन्नामवते तुभ्यं सोमायस्वाहा दत्तमस्तु। 'स्वाहेत्युक्त्वोर्ध-न्तरिक्षमिति निष्क्रमणमिति' (का. 9। 4। 34) 'स्वाहेत्यक्षरद्वयमुक्त्वा निष्क्रमेत'। उरुविस्तीर्णमन्तरिक्षमन्वेमि अनुगच्छामि ।।2।।

तृतीया

स्वांकृतोऽसि विश्वेभ्यऽइन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यो देवांशो यस्मै त्वेडे तत्सत्यमुपरिप्रुता भङ्गेन हतोऽसौ फट् प्राणाय त्वा व्यानाय त्वा ।।३।।

अन्वय : हे प्राणरुपोपांशुग्रह! (त्वं) विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यः दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यः स्वाङ्कृतः असि। मनस्त्वा अष्टु। हे सुभव! त्वां सूर्याय स्वाहा। त्वां देवेभ्यः, मरीचिपेभ्यः सम्मार्ज्मि। हे देव अंशों! यस्मै त्वा दूडे तत् सत्यम् उपरिप्रुता भंगेन हतः। असौ फट्। हे उपांशुपात्र! त्वा व्यानाय त्वा। आसादयामि।

व्याख्या : हे प्राणरुपउपांशुग्रह (सोम विशेष)तुम सम्पूर्ण इन्द्रियों के कल्याण के लिए एवं द्युलोक में तथा पृथिवी में स्थित, सभी प्राणियोंके सुख केलिए मेरे द्वारा स्वीकार किये गये हो। तुम स्वयं ही उत्पन्न हो। प्रजापति तुम्हें प्राप्त करें। हे उत्तमजन्मवाले ग्रह! सूर्य के निमित्त मैं तुम्हें स्वाहाकार पूर्वक हवि प्रदान करता हूँ। देवताओं की तृप्ति के लिए तुम्हें अर्पण करता हूँ। किरणों के रक्षक देवताओं के निमित्त मैं तुम्हें पारिधि में शुद्ध करता हूँ। हे देवस्वरूपसोमखण्ड! जिस विरोध को नष्ट करने केलिए तुम्हारी प्रार्थना की है वह सत्य हो। मर्यादाभंग करनेवाला द्वेषी नष्ट होकर विर्शीर्ण हो जाय। हे उपांशुपात्र! प्राण एवंव्यान देवता की प्रीति केलिए मैं तुम्हें प्राप्त होता हूँ। या अपने प्राण एवं व्यान के रक्षण केलिए तुझे ग्रहण करता हूँ।

म० : 'स्वांकृत इति हुत्वा पात्रमुन्मार्ष्टीति' (का. 9। 4। 37) उपांशुग्रहं हुत्वा पात्रमार्जनं कुर्यात्। ग्रहदैवतम्। 'प्राणो वा अस्यैष ग्रहः स स्वयमेव कृतः स्वयं जातः' (41। 1। 22) इति श्रुतेरुपांशुग्रहः प्राण। हे प्राणरूपोपांशुग्रह, त्वं स्वांकृतो भवति। छान्दसो यलोपः। स्वयमुत्पन्नोऽसि। केभ्यः। विश्वेभ्यः सर्वेभ्यः इन्द्रियेभ्यः सकाशात् दिव्येभ्यः दिवि भवा दिव्या देवास्तेभ्यश्च सकाशात् पार्थिवेभ्यः पृथिवीभवेभ्यो द्विपदचतुष्पदेभ्यः सकाशात्स्वयमुत्पन्न इत्यनुवर्तते। यस्तत्वमेवमकृतकः स्वतन्त्रस्तं त्वां मनः प्रजापतिरष्टु व्याप्नोतु। 'अशूङ् व्याप्तौ' पदविकरणव्यत्ययः। 'प्रजापतिर्वै मनः प्रजापतिष्ट्वाश्नुताम्' (4। 1। 1। 22) इति श्रुतेः। शोभनोभव उत्पत्तिर्यस्य तत्संबोधनं हे सुभव उत्तमजन्मन् ग्रह, सूर्याय सूर्यार्थं त्वा त्वां स्वाहाकरेण जुहोमि। यद्वास्य होममन्त्रस्यायमर्थः। हे प्राणरूप ग्रह, त्वं स्वांकृतोऽसि मयास्वीकृतोऽसि। किमर्थम्। दिव्येभ्यः देवजन्मनि स्थितेभ्यः पार्थिवेभ्यः मनुष्यजन्मनि स्थितेभ्यः देवजन्मनि स्थितेभ्यः पार्थिवेभ्यः मनुष्यजन्मनि स्थितेभ्यः सर्वेभ्य इन्द्रियेभ्यः इन्द्रियाणां हितायेत्यर्थः। मनश्च तेषामिन्द्रियाणाम- धीशं त्वामष्टु व्याप्नोतु। हे सुभव प्राणरूपोपांशुग्रह। तादृग्रूपं त्वां बहिःप्राणरूपाय सूर्याय स्वाहाकारेण जुहोमि। 'आदित्यो ह वै ब्राह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णीत' इत्यार्थर्वणिकश्रुतेः सूर्यस्य बहिःप्राणत्वम्। स्वांकृतशब्देन प्राणरूपग्रहस्य स्वाधीनत्वं दिव्यपार्थिवशब्दाभ्यां च जन्मद्वयं विवक्षितमिति तित्तिरिणोक्तम्। 'स्वांकृतोऽसीत्याह प्राणमेव समकृत विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्य इत्याहोभयेष्वेव देवमनुष्येषु प्राणान् दधातीति'। 'प्रथमे परिधावुत्तानं पाणिं प्रागुपमार्ष्टि देवेभ्यस्त्वेति' (का. 9। 4। 38)। पश्चिमस्थे परिधौसोमलिप्तमूर्ध्वाभिमुखं हस्तं कृत्वा प्रागभिमुखं यथा तथा मार्जनं कुर्यात्। दैवं यजुः। हे लेप, मरीचिपेभ्यः। मरीचिपालकेभ्यो देवेभ्योऽर्थाय त्वा त्वां परिधौ मार्ज्मि इति शेषः। 'वास उरोवाहुषु शिलष्टमंशुमभिचरन्जुहुयादेवांशविति' (का. 9। 4। 39)। वस्त्रादिषु शिलष्टो यः सोमांशुस्तमभिचारार्थं जुहुयात्। आभिचारिकं सोमांशुदेवतं यजुः। हे देव दीप्यमान हे अंशो सोमांशो, यस्मै बधाय त्वामीडे प्रार्थयामि। ईडिरध्येषणकर्मा। तत् वधकर्म सत्यमस्त्विति शेषः। उपरिप्रवते गच्छतीत्युपरिप्रुत्। प्रवतिर्गत्यर्थः। तेनोपरि आगतेन भङ्गेनामर्देनासाविति देवदत्तादिनामनिर्देशः। असौ द्वेष्यो हतो निहतः सन् फट् विशीर्णो भवतु। 'ञ्फिला विशरणे'। अस्य क्विबन्तस्यैतद्रूपम्। फलतीति फट् डलयोरैक्यम्।

स्वाहाकारस्थाने फडित्यभिचारे प्रयुज्यते। 'प्राण-य त्वेति पात्रासादनम्' (का. 9। 4। 41)। यस्मिन्प्रदेशे पूर्वमुपांशुपात्रं स्थापितं तत्रैव स्थापयेत्। हे उपांशुपात्र, प्राणदेवतासंतोषार्थं त्वाम् आसादयामीति शेषः। 'उपाशुसवनं पाणिना प्रमृज्योदञ्चं व्यानाय त्वेति संस्पृष्टमिति' (का. 9। 4। 42)। येनाश्मना सोमोऽभिषुतः स उपांशुसवनस्तं हस्तेन प्रमृज्योदगाभिमुखग्रहसंलग्नं सादयेत्। हे उपांशुसवन, व्यानदेवताप्रीत्यर्थं त्वामासादयामि ।।3।।

चतुर्थी

उपयामगृंहीतोऽस्यन्तर्यंच्छ मघवन्पाहि सोमंम्। उरुष्य रायु एषों यजस्व ।।४।।

अन्वय : (हे सोम) त्वम् उपयामगृहीतः असि। हे मघवन् अन्तः यच्छ, सोमं पाहि, रायः उरुष्य इषः आयजस्व।

व्याख्या : हे सोमरस! तुम उपयामसंज्ञक छोटे कलश में रखे गये हो या उपयामग्रहद्वारा गृहीत हो। हे ऐश्वर्यवान् इन्द्र! इस सोम को अन्तर्ग्रहपात्र में ग्रहण करो, और सोम की रक्षा करो। पशुधन की रक्षा करो हमें अन्नादि भोज्यपदार्थों से सम्पन्न करो, जिससे हम यज्ञादि करते रहें।

म॰ : 'उदितेऽन्यतर्यामग्रहणमुपयामगृहीत इति' (का.9। 6। 1)। सूर्योदयानन्तरमन्तन्तर्यामग्रहं गृह्णीयात्। उपयामयतीत्युपयामो ग्रहस्तेन गृह्यत इत्युपयामगृहीतः पचाद्यच् चित्त्वादन्तोदात्तः। यमोडपरिवेषणे इति परिवेषणादन्यत्र मित्वा भवाद्वृद्धिः। तत्पुरुषो तुल्यार्थ (पा. 6/2/2) 'तत्पुरुषे तुत्यार्थ-' (पा. 6। 2।2) इति पूर्वपदस्वरं बाधित्वा 'थाथधञ्-' (पा. 6। 2। 2।) इति अजन्तस्यान्तोदात्तत्वम्। पुनस्तृतीयासमासे 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ-' (प. 6। 2। 2) इत्यादिना तृतीयान्तस्य प्रकृतिस्वरत्वेन तदेव स्थितम्। हे सोमरस, त्वं तादृशोऽसि। हे मघवन् धनवन्निन्द्र, त्वं तादृशं रसमन्तर्ग्रहपात्रमध्ये यच्छ निगृह्णीष्व। यद्वा शत्रुभ्योऽन्तर्धानं व्यवधानं यथा तथा नियमय। ततः सोमं पाहि पालय। तथा रायो धनानि उरुष्य रक्ष। उरुष्यती रक्षणकर्मा। यद्वा 'पशवो वी रायः' (4। 1। 15) इति श्रुतेः पशून्रक्ष। आ इषो यजस्व इषोऽन्नानि आयजस्व समन्ताद्देहि। यद्वान्नप्रभवत्वादिषो लक्षणया प्रजाः। 'प्रजा वा इषः' (4। 1। 2। 15) इति श्रुतेः। ता यजस्व याजयस्व यायजूकाः कुरु। श्रुत्यैयं व्याख्यातत्वात् ।।4।।

पञ्चमी

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम्। सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन्मादयस्व ।।५।।

अन्वय : हे मघवन् इन्द्र! ते अन्तः द्यावापृथिवी दधामि, उरु अन्तरिक्षम् अन्तर्दधामि, अवरैः परैः देवेभिः सजूः अन्तर्यामे मादयस्व।

व्याख्या : हे धनवन् इन्द्र! प्राणरूप आपके भीतर से द्युलोक एवं पृथिवीलोक को अलग अलग धारण करता हूँ, तथा विस्तीर्ण अन्तरिक्ष को द्यावापृथिवी के मध्य में स्थापित करता हूँ। हे इन्द्र पृथिवी-स्थानीय एवं द्युस्थानीय देवताओं के साथ समान प्रीति युक्त होकर आप अन्तर्यामग्रह संज्ञक पात्र में स्थित सोम को ग्रहण कर तृप्त हों। यहाँ अन्तर्यामग्रह के ग्रहण की विधि प्रस्तुत है।

म० : मघवदेवत्या त्रिष्टुप्। अन्तर्यामग्रहण एव विनियोगः। हे मघवन्, ते तवानुग्रहात् द्यावापृथिवी अन्तर्दधामि व्यवधायिके करोमि। यद्वा हे अन्तर्याम, प्राणरूपापन्नस्य तवान्तः शरीरमध्ये द्यावापृथिव्यौ दधामि द्यावापृथिव्योर्मध्ये स्थापयामि। हे मघवन्धनवनिन्द्र, अवरैः पृथिवीस्थानैः देवेभिर्देवैः परैः द्युस्थानैश्च देवैः सजूः समानजोषणः समानप्रीतियुक्तः सन्नन्तर्यामे ग्रहे मादयस्व हर्षयस्वात्मानम्। यद्वा तृप्यस्व 'मद तृप्तौ चुरादिरात्मनेपदी। देवेभिरित्यत्र 'बहुलं छन्दसि' (पा. 8। 1। 10)इति ऐसोऽभावे 'बहुवचने झल्येत्' (पा. 8। 3। 103) इति एकारः ।।5।।

षष्ठी

स्वांकृतोसि विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्य उदानाय त्वा ।।६।।

अन्वय : (हे उपांशुग्रह!) त्वं विश्वेभ्यः इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यः स्वांकृतोसि। मनः त्वा अष्टु। हे सुभव! त्वा सूर्याय स्वाहा, त्वा देवेभ्यः मरीचिपेभ्यः सम्मार्ज्मि। हे देव, अंशो! यस्मै त्वा इडे तत् सत्यम्। उपरिप्रुता भंगेन हतः असौ फट्। हे उपांशु पात्र! उदानाय त्वा सादयामि।

व्याख्या : हे प्राणरुपउपांशुग्रह! तुम सम्पूर्ण इन्द्रियों के कल्याण के लिए तथा द्युलोक में स्थित पृथिवी में स्थित सभी प्राणियों के सुख

के लिए मेरे द्वारा ग्रहण किये गये हो। प्रजापति तुम्हें प्राप्त करें। हे उत्तमजन्म वाले प्राणरुप उपांशुग्रह तुमको मैं सूर्यदेव के लिए हविप्रदान करता हूँ। हे लेप! मरीचि के (किरणों) के रक्षक देवों के लिए तुम्हें परिधि में शुद्ध करता हूँ। हे ग्रह, उदान के सन्तोष के लिए तुम्हें प्राप्त करता हूँ।

म॰ : स्वांकृत इति निःशेषस्यैव होमस्तिष्ठतः। व्याख्यातः। 'प्रथमे च न्युब्जेन पाणिना प्रत्यगिति' (का. 9। 6। 4)। प्रथमे परिधावमुखहस्तेन प्रत्यक्संस्थं मार्ष्टि देवेभ्यस्त्वेति मन्त्रेण। व्याख्यातः। उदानाय त्वेति पात्रासादनम्। हे ग्रह, उदानसन्तोषार्थं त्वां सादयामि ॥6॥

सप्तमी

आ वा॑यो भूष शुचिपा उप॑ नः सहस्र॑न्ते नियुतो॑ विश्ववार। उपो॑ ते अन्धो मद्य॑मयामि यस्य॑ देव दधिषे पू॑र्व्वपेय॑ वायवे॑ त्वा ॥७॥

अन्वय : हे शुचिपाः वायो! नः उप आ भूष। हे विश्ववार! ते सहस्त्रं नियुतः ते उप उमद्यम् अन्धः अयामि। देव! यस्य पूर्वपेयं दधिषे त्वां वायवे (गृह्णामि)।

व्याख्या : हे पवित्रसोमपान करने वाले वायुदेवता। हे सर्वव्यापकवायु तुम्हारे पास हजारों वेगवान-अश्वादि वाहन हैं (उनके द्वारा हमारे यहाँ आओ)। तुम्हारे समीप तृप्तिकर सोम को समर्पित करता हूँ। (पहुँचाता हूँ) हे दिव्यगुणोपेत वायु, जिस सोम के पूर्वपान का आस्वाद तुम्हें ज्ञात है अथवा सर्वप्रथम सोमपान के अधिकारी तुम ही हो, वही सोम आपको अर्पित करते हैं। हे सोम तुम्हें वायुदेवता के लिए ग्रहण करता हूँ।

म॰ : 'ऐन्द्रवायवं गृह्णात्या वायविति' (का. 9। 6। 5।)। वायुदेवत्या त्रिष्टुप् वसिष्टदृष्टा वायवे त्वेति यजुरन्ता। हे वायो, हे शुचिपाः शुचिं पवित्रं वषट्कृतमप्राप्तिमन्यदेवैः ईद्दशं सोमं पिबतीति शुचिपाः पवित्रसोमपान, त्वं नोऽस्माकमुप समीपे आ भूष आक्रमस्वागच्छेत्यर्थः। 'भूष अलंकारे' इह गत्यर्थः। केनाहं आक्रमे इति चेत्। सहस्त्रं ते नियुतो विश्ववार। विश्वं सर्वं वृणोति व्याप्नोति विश्वैर्वा व्रियते प्रार्थ्यते इति

विश्ववारस्तत्संबोधनम् हे विश्वार सर्वव्यापक, ते तव सहस्त्रं नियुतः सन्ति। 'नियुतो वायोः' इत्युक्तेर्नियुच्छन्देन वायुवाहनभूता मृगा उच्यन्ते। तवासंख्याता वाहनभूता मृगास्तैरागच्छेत्यर्थः। किंच मद्यं मदनीयं तृप्तिजनकमन्धः सोमलक्षणमन्नं ते तव उप समीपे एव अयामि गमयामि। सोमं ते समर्पयामीत्यर्थः। हे देव दीप्यमान वायो, यस्य सोमस्य पूर्वपेयं प्रथमवषटकारलक्षणं पूर्वपानं त्वं दधिषे धारयसि। दधातेर्लिटि रूपम्। एवं वायुं प्रार्थ्य सोममाह हे सोमरस, वायवे वायुदेवतार्थ त्वां गृह्णामीति शेषः ॥7॥

अष्टमी

इन्द्र॑वायू इ॒मेऽसु॒ता उप॒ प्रयो॑भि॒रा ग॑तम्। इन्द॑वो वामु॒शन्ति॒ हि। उ॒प॒या॒म गृ॑हीतोसि वा॒यवे॑ इन्द्रवा॒युभ्यां॑न्त्वै॒ष ते॒ योनिः॑ स॒जोषो॑भ्यान्त्वा ॥८॥

अन्वय : हे इन्द्रवायू इमे सुताः (अभिषुताः) प्रयोभिःउप आगतंहि इन्दवः वाम् उशन्ति (कामयन्ते)। हे सोमरस! वायवे उपयामगृहीतः असिः। इन्द्रवायुभ्यां त्वां (गृह्णामि)। एष ते योनिः। अतः सजोषोभ्यां त्वा (सादयामि)

व्याख्या : हे इन्द्रवायूदेव आपके लिए ही यह सोम अभिषुत है। अतः आप अपने शीघ्रगतिवाले अश्वों द्वारा हमारे पास आइए। ये सोम रस आप दोनों की कामना करते हैं। हे सोमरस वायुदेव की प्रसन्नता के लिए "उपयाम्" पात्र में ग्रहण किये गये हो। हे सोम, इन्द्र और वायु की प्रसन्नता के लिए तुम्हें ग्रहण करता हूँ। हे पात्र् यह(पृथिवीरुप) एकदेश तुम्हारा स्थान है अतः समान प्रीतिवाले इन्द्रवायू के निमित्त तुम्हें स्थापित करता हूँ।

म० : 'अपगृह्य पुनरिन्द्रवायू इतीति' (का. 9। 6। 6।)। एकवारर्धमादाय पृथकृत्य पुनरैन्द्रवायवं गृह्णाति। ऐन्द्रवायवी गायत्री मधुच्छन्दोदृष्टा। उपयामेति यजुःसहितो मन्त्रः। हे इन्द्रवायु, युष्मदर्थमिमे सोमाः सुता अभिषुताः। प्रय इत्यन्न नाम। प्रयोभिः एतैः सोमरसरूपैरन्नै- निर्मितैरुप समीपे युवामागतमागच्छतम्। यद्वा प्रयःशब्द 'इण् गतौ' इति ध ातोः शतृप्रत्ययान्तस्य रूपम्। प्रतीति प्रयन्। इणो यण् तस्य भिसिपरे

तकारस्य छान्दसः सकारः तस्य रुत्वादौ प्रयोभिरिति सिध्यति। प्रयोभिः प्रयद्भिः शीघ्रैरश्वैरागच्छतम्। हि यस्मादिन्दवः सोमा वां युवामुशन्ति कामयन्ते तस्मादागच्छतमित्यर्थः। सोममाह हे सोमरस, त्वमुपयामेन पात्रेण गृहीतोऽसि वायवे वायुदेवतार्थं इन्द्रवायुभ्यांइन्द्रवायुदेवतार्थच त्वां गृह्णामीति शेषः। 'दशापवित्रेण परिमृज्यैष ते योनिरिति ग्रहसादनमिति' (का. 9। 4। 25)। दशापवित्रेण गृहीतं ग्रहं परिमृज्य पात्राद्बहिर्निर्गतं सोमं मार्जयित्वा एष ते योनिरिति मन्त्रेण ग्रहस्य सादनं करोति। वीप्सा सर्वग्रहार्था। इति सूत्रार्थः। हे पात्र, एष खरस्यैकदेशः ते योनिः तब स्थानम्। अतोऽत्र सजोषोभ्यां समानप्रतिभ्यामिन्द्रवायुभ्यामर्थं त्वां सादयामीति शेषः ।।8।।

नवमी

अयं वां मित्रावरुणा सुतः सोम ऋतावृधा। ममेदिह श्रुतꣳहवम्। उपयामगृहीतोऽसि मित्रावरुणाभ्यां त्वा ।।९।।

अन्वय : (हे) मित्रावरुणौ (युवाम्) ऋतावृधौ स्थ। अयं सोमः वाम् (युवयोः) सुतः। इह मम् इत् हवं श्रुतम्। (हे सोमरस) उपयाम गृहीतोसि, त्वा मित्रावरुणाभ्याम् (गृह्णामि)।

व्याख्या : हे मित्र और वरुण देव आप दोनों यज्ञ का विस्तार करने वाले हैं। यह सोम आप दोनों के लिए अभिषुत है (निचोड़ा गया है) अतः इस यज्ञ में मेरी प्रार्थना को सुनिए। हे सोमरस, तुम मित्रावरुण ग्रह पात्र से गृहीत हो, अतः इनके निमित्त (मित्रावरुण की तृप्ति के लिए) ग्रहण करता हूँ।

म० : 'मैत्रावरुणमयं वामिति' (का. 9। 6। 7) मैत्रावरुणं ग्रहं गृह्णीयात्। मित्रावरुणदेवत्या गायत्री गृत्समददृष्टा यजुरन्ता। हे मित्रावरुणौ, विभक्तेराकारः। हे ऋतावृधा, ऋतं यज्ञं सत्यं वा वर्धयत इति ऋतुवृधौ ऋतस्य वर्धयितारौ वां युवयोरर्थायायं सोमः सुतः अभिषुतः तस्मादिहास्मिन् यज्ञे ममेत्। इत् एवार्थे। ममैव यजमानानां मध्ये ममैव हवमाह्वानं श्रुतं युवां श्रृणुतम्। हे सोमरस, त्वमुपयामेन मैत्रावरुणग्रहपात्रेण गृहीतोऽसि। मित्रावरुणाभ्यामर्थे त्वा त्वां गृह्णामीति शेषः ।।9।।

दशमी

राया वयꣳससवाꣳसो मदेम हव्येन देवा यवसेन गावः।

तां धेनुं मित्रावरुणा युवं नो विश्वाहा धत्तमनपस्फुरन्तीमेष ते योनिर्ऋतायुभ्यां त्वा ।।१०।।

अन्वय : वयं राया ससवांसः सम्पन्नाः मदेम हृष्टाः स्याम, यथा हव्येन देवाः यवसेन गावः। हे मित्रावरुण! युवं ताम् अनपस्फुरन्तीं धेनुं विश्वाहा नः, धत्तम्। एष ते योनिः ऋतायुभ्यां त्वा सादयामि

व्याख्या : (जिस धेनु के घर में होने पर) हम लोग धनादि से सम्पन्न होकर ऐसे हर्षित होते हैं, जैसे हवि से देवगण प्रसन्न होते हैं। तथा हरी हरी घास से पशुसमूह प्रसन्न होते है। हे मित्रावरुण देवताओं, दूसरी जगह न भागने वाली उस गाय को सर्वदा के लिए हमकों प्रदान करो। हे ग्रह! यह तुम्हारा स्थान है। मित्रावरुण देवों की तृप्ति के लिए तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ।

म० : 'पयसा श्रीणात्येनं कुशावन्तर्धाय राया वयमिति' (का. 9। 6। 7) मैत्रावरुणपात्रे कुशद्वयं व्यवधाय तत्र स्व सोमरसं क्षीरेण मिश्रीकुर्यात्। मित्रावरुणदेवत्या त्रिष्टुप् त्रसदस्यद्रष्टा। उत्तरार्धे तामिति तदःश्रवणादिह यदोऽध्याहारः। मन्त्रदृक्कामदुधां प्रार्थयते। यया धेन्वा गृहे सत्या वयं राया धनेन ससवांसः। 'वन षण संभक्तौ' इत्यस्य क्वसौ रूपम्। धनेन संभक्ताः संपन्नाः सन्तो मदेम हृष्टाः स्याम। कथमिव। हव्येनेव। यथा हविषा संभक्तादेवा हृष्यन्ति, अथ च यवसेन घासेन गवाह्निकादिना गावो हृष्यन्ति हे मित्रावरुणौ, युवं युवां तां धेनुं नोऽस्मभ्यं विश्वाहा सर्वदा धत्तं दत्तम्। किंभूतां धेनुम्। अनपस्फुरन्तीम्। स्फुरतिर्गत्यर्थः। अपस्फुरति पुरुषान्तरं गच्छतीत्यपस्फुरन्ती न अपस्फुरन्ती अनपस्फुरन्तीं ताम्। अनन्यगामिनीं दत्तमित्यर्थः। एष त इति सादनम्। हे ग्रह, एषते योनिः स्थानम् ऋतायुभ्यां मित्रावरुणाभ्यामर्थे त्वां सादयामीति शेषः। 'ब्रह्म वा ऋतं ब्रह्म हि मित्रो ब्रह्म ऋतं वरुण एवायुः' (4। 1। 4। 10) इति श्रुतेः ऋतशब्देन मित्रः आयुशब्देन वरुणः इति श्रुतिव्याख्या। पदकारस्तु ऋतयुभ्यामिति पदं कृतवान् तेन ऋतं सत्यं यज्ञंवा कामयेते तौ ऋतयू ताभ्यामृतयुभ्याम्।संहितायां दीर्घः। यज्ञमिच्छद्भ्यां मित्रावरुणाभ्यामित्यर्थः पदकारस्य ।।10।।

एकादशी

या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती। तया यज्ञं मिमिक्षतम्।

उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वैष ते योनिर्माध्वीभ्यां त्वा ।।११।।

अन्वय : हे अश्विनौ वाम् युवयोः या कशा वाक्, मधुमती सुनृतावती (वाक्) तया यज्ञं मिमिक्षतम्। (हे ग्रह) त्वम्) अश्विभ्यां उपयामगृहीतः असि। (हे अश्विग्रह) एष ते योनिः माध्वीभ्यां अश्विभ्यां त्वा (सादयामि)।

व्याख्या : हे अश्विनीकुमारों, आप दोनों की वाणी मधुर (सरस) प्रिय और सत्यज्ञान से युक्त है इसके द्वारा आप दोनों हमारे याग को सम्पादित करें। हे ग्रह! तुम अश्विनीकुमारों के लिए उपयामसंज्ञकपात्र में गृहीत है। हे ग्रह! यह तुम्हारा स्थान है, मधुब्राह्मण के अध्येता अश्विनीकुमारों के निमित्त में तुम्हें स्थापित करता हूँ।

म॰ : 'आश्विनं गृह्णात्यन्वारब्धे वा यावामिति' (का. 9। 7। 8)। यजमानेन्वारब्धे वाश्विनं ग्रहं गृह्णाति। आश्विनी गायत्रीमेधातिथिदृष्टा यजुरन्ता। हे अश्विनौ अश्विदेवौ, वां युवयोर्या कशा। कशेति वाक्नामसु पठितम्। मधुमती मधु ब्रह्म तद्वती मधुब्राह्मणोपनिषत्प्रशंसायुता। तथा सूनृतावती प्रियं सत्यं वचः सूनृतं तद्वती सत्यप्रियवचनोपेता। हे अश्विनौ, तया वाचास्मदीयं यज्ञं मिमिक्षतं 'मिह सेचने' सनन्तः। सेक्तुमिच्छतम्। निष्पादयतमित्यर्थः। हे ग्रह, त्वमुपयामेन गृहीतोऽसि अश्विभ्यामर्थे त्वां गृह्णामीति शेषः। (का. 9। 6। 8) साधयत्येष ते। हे ग्रह, एषते योनिः स्थानं माध्वीभ्यां मधुब्राह्मणाध्येतृभ्यामश्विभ्यामर्थे त्वां साद्यामीति शेषः। मधुब्राह्मणं यावधीयाते तौ माध्यौ ताभ्याम्। तद्धित ईप्रत्ययः। 'दध्यङ् ह वा आभ्यामाथर्वणो मधु नाम ब्राह्मणमुवाच' (4। 1। 4। 18) इति श्रुतेः ।।11।।

द्वादशी

तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ज्येष्ठतातिं बर्हिषदं स्वर्विदम्। प्रतीचीनं वृजनं दोहसे धुनिमाशुं जयन्तमनु यासु वर्धसे। उपयामगृहीतो-ऽसि शण्डाय त्वैष ते योनिर्वीरतां पाह्यपमृष्टः शण्डो देवास्त्वा शुक्रपाः प्रणयन्त्वनाधृष्टासि ।।१२।।

अन्वय : (हे इन्द्र!) प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथा, इमथा (त्वां स्तुमः) तं ज्येष्ठतातिं स्वर्विदं बर्हिषदं दोहसे। प्रतीचीनं वृजनं धुनिम् आशुं जयन्तं यासु अनुवर्द्धसे। [हे सोम] शण्डाय, उपयाम गृहीतः असि। एष

ते योनिः वीरतां पाहि। शण्डः अपमृष्टः शुक्रपा देवा त्वा प्रणयन्तु। (हे उत्तरवेदि) त्वम् अनाधृष्टा असि।

व्याख्या : हे इन्द्र! प्राचीनकाल के भृगु आदि ऋषियों की तरह पूर्वकालवर्ती ऋषिपुत्रों की भाँति, एवं इस समय के सभी यजमानों की भाँति हम तुम्हारी स्तुति करते हैं। क्योंकि तुम सबसे बड़े हो, स्वर्ग प्रदान करने वाले हो, यज्ञों में बर्हिरूप आसन पर विराजमान होने वाले तथा यज्ञ फल प्रदान करने वाले हो। इसके साथ प्रतिकूल आचरणवालें शत्रुओं पर चढ़ाई करने वाले हो, बलवान शत्रुओं को कपाने वाले, शीघ्र विजयप्रदान करने वाले हो। जिस यज्ञ की क्रियाओं में सोमरस का पान करके तुम वृद्धि को प्राप्त होते हो, उसका हम अनुष्ठान करते हैं। हे सोम! तुम्हें शुक्राचार्य के पुत्र शण्ड नामक असुरपुरोहित के लिए यह सोम कलश में गृहीत किया है। हे शुक्रग्रह यह तुम्हारा स्थान है, यजमान के वीरभाव की रक्षा करो। शण्ड का अपमार्जन कर दिया गया शुक्रनामक ग्रह में स्थित सोम को पीने वाले देव तुझे उन्नत करें। हे उत्तरवेदि तुम अतिरस्कृत हो।

इस मन्त्र में यज्ञ फलदाता के रूप में इन्द्र की स्तुति की गई है।

म॰ : 'शुक्रं बैल्वेन वा तं प्रत्नथेति' (का. 9। 6। 10) बिल्वपात्रेण वैकंकतेन वा शुक्रं ग्रहं गृह्णाति। जगती वैश्वदेवी काश्यपावत्सार-दृष्टा द्वादशार्णश्चतुःपादा जगती उपयामेत्यन्ते यजुः। हे इन्द्र, त्वं यासु यज्ञक्रियासु अनुवर्धसे पुनः पुनः सोमपानेन वृद्धिं प्राप्नोषि तासु। वृजनमिति बलनाम। बलं बलवद्यज्ञफलं दोहसे क्षारयसि ददासीत्यर्थः। यजमानायेति शेषः। कथं दोहसे तत्र इष्टान्तमाह। प्रत्नथा। 'प्रत्तपूर्व-' (पा. 5। 3। 111) इत्यादिना थालप्रत्यय उपमार्थीयः। प्रत्नशब्दःपुराणवचनः चिरन्तनानां भृग्वादीनामिवफलं दोहसे। पूर्वथा पूर्वेषामिव ऋषीणांसाध्यादीनामिव। विश्वथा विश्वेषां सर्वेषामृषिपुत्राणामिव। इमथा इदानीन्तनानां यजमानानामिवास्य फलं दोहसे तं त्वं स्तुम इति शेषः। किंभूतं तम्। ज्येष्टतातिम् तननं तातिः विस्तारः। ज्येष्टा उत्कृष्टा तातिर्विस्तारो यस्य तम्। यद्वा 'वृकज्येष्टाभ्याम्-' (पा. 5। 4। 41) इत्यादिना प्रशंसायां तातिल्प्रत्ययः।प्रशस्तो ज्येष्टो ज्येष्ठेषु प्रशस्यो वा ज्येष्ठतातिः। तथा बर्हिषदं यज्ञेषु बर्हिषि सीदतीति बर्हिषदस्तम्। स्वर्विदम्। स्वः द्युलोकं वेत्ति जानातीति स्वर्वित्तम्। तत्र हि तस्य निवासः। प्रतीचीनमात्मनोऽभिमुखं धुनिम्। 'धुञ् कम्पने'। कम्पितारं

शत्रुणाम् आशुं शीघ्रं जयन्तं जेतव्यानि वस्तूनि। यद्वास्या ऋचोऽर्थान्तरम्। हे इन्द्र, यस्त्वं प्रतीचीनं प्रतिगमनमस्मत्प्रतिकूलं वृजनं वर्जनीयमालस्याश्रद्धादिकं दोहसे रिक्तीकरोषि विनाशयसि। 'दुह प्रपूरणे' प्रपूरणं रिक्तीकरणमिति क्षीरस्वामी। किंच यासु क्रियासु धुनि त्वदनुग्रहाच्छत्रून्कम्पयन्तमाशुं क्षिप्रकारिणं जयन्तं सम्यगनुष्ठानेन यजमानान्तराण्यतिशयानमेनं यजमानमनु सोमपानेन स्तुत्या च यः त्वं वर्धसे तासुक्रियासु तं त्वां स्तुम इति शेषः कथमिव। प्रत्नथा थाप्रत्यय उपमार्थः। प्रत्नाः पुरातना भृग्वादयो यथा त्वामस्तुवन् पूर्वथापूर्वे पित्रादय इव विश्वथा अतीताः सर्वे यजमाना इव इमथा इदानीन्तना वर्तमाना यजमाना इव वयं त्वां स्तुम इत्यर्थः। कीदृशं त्वाम्। पूर्वे पित्रादय इव विष्ठवथा अतीताः सर्वे यजमाना इव इमथा इदानीन्तना बर्तमाना यजमाना इव वयं त्वां स्तुम इत्यर्थः। कीदष्ठां त्वाम्। ज्येष्ठताति स्वार्थे तातिः। ज्येष्टमित्यर्थः। बर्हिषंदं यागे संनिहितत्वेन तिष्ठन्तम्। स्वर्विदं यजमानाय दातव्यं स्वर्गं वेत्ताति स्वर्विदं। एविमन्द्रमुक्त्वा सोममाह। हे शुक्रग्रह, त्वमुपयामेन गृहीतोऽसि षण्डाय शुक्रपुत्राय षण्ढनाग्म्नेसुराय वा त्वां गृह्वामीति शेषः। सादयत्येष ते। हे ग्रह, एष खरप्रदेशस्तव स्थानम्। त्वं यजमानस्य वीरतां वीरत्वं शूरत्वं पाहि पालय। 'शुकामन्थिभ्यां चरतः शुक्रेणाध्वर्युर्मन्थिना प्रतिप्रस्थाता प्रोक्षिताप्रोक्षितौ यूपशकलावादायापिधानं प्रोक्षिताभ्यामपमार्जनमप्रोक्षिताभ्यामपरमृष्टः षण्ड इत्यवध्वर्युरिति' (का. 9। 10। 1–5) अध्वर्युप्रतिस्थातारौ शुक्रामन्थिग्रहाभ्यां यथाक्रममनुतिष्ठेताम्। तत्प्रकारः। प्रोक्षिताभ्यांद्वाभ्यां यूपशकलाभ्यां सहाप्रोक्षितौ द्वौ यूपशकलावादाय प्रोक्षिताभ्यां तयोर्ग्रहयोः क्रमेणाच्छादनं कृत्वा प्रोक्षिताभ्यां ग्रहावपमृज्यात्। तत्र प्रोक्षितेन शकलेन ग्रहं पिधायाप्रोक्षितेनाध्वर्युः शुक्रग्रहमपमार्ष्टि इति सूत्रार्थः। आभिचारकं यजुः। शण्डनामकोऽसुरपुरोहितः शुक्रपुत्रेऽपमृष्टः अपमार्जनीकृतः। 'देवास्त्वेति निष्क्रामतो यथालिंगामिति (का. 9। 10। 6) अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ यथाक्रमेण शुक्रमन्थीत्येतत्पदद्वयवाचक मन्त्रलिंगमन–तिक्रम्य हविर्धानमध्यान्निर्गच्छेताम्। तत्र शुक्रलिंगेनाध्वर्युनिष्क्रामति। शुक्रदैवतम्। शुक्रनामकग्रहस्थं सोमं पिबन्ति शुक्रपा देवाः हे शुक्रग्रह, त्वां प्रणयन्तु यजतिस्थानं प्रापयन्तु (का. 9। 10। 7)। अपरेणोत्तरवेदिमरत्नी सन्धायोत्तरवेदिश्रोण्योर्निधत्तोऽविसृजन्तो दक्षिणस्थामध्वर्युरुत्तरस्यां प्रतिप्रस्थाताना–धृष्टासीति। अध्वर्युप्रतिस्थातारौ वेदिपश्चाद्भागे अरन्ती संयोज्य ग्रहयोर्विसर्ग–कमकुर्वन्तौ उत्तरवेदिश्रोण्योर्ग्रहौ सादयतः दक्षिणश्रोणावध्वर्युः शुक्रम् उत्तरवेदिश्रोणौ प्रतिप्रस्थाता मन्थिनं सादयति। वेदिश्रोणिदैवतम्। हे उत्तरवेदिश्रोणे,

त्वमनाघृष्टानुपहिंसितासि ।।12।।

त्रयोदशी

सुवीरो वीरान्प्रजनयन्परीह्यभिरायस्पोषेण यजमानम्। संजग्मानो दिवा पृथिव्या शुक्रः शुक्रशोचिषा निरस्तः शण्डः शुक्रस्याधिष्ठानमसि ।।१३।।

अन्वय : (हे शुक्रग्रह) (त्वं) सुवीरः वीरान् प्रजनयन् यजमानं रायस्पोषेण अभि परीहि=परितोगच्छ। हे शुक्र शुक्रशोचिषा दिवा पृथिव्याः संजग्मानः शण्डः निरस्तः (हे यूपकाष्ठ) त्वं शुक्रस्य अधिष्ठानम् असि।

व्याख्या : हे शुक्रग्रह! तुम उत्तमशौर्यभाव से सम्पन्न हो अतः यजमान के घर में वीरसन्तान के जन्म का वर देते हुए इसके यहाँ धन समृद्धि सहित पधारो। यह शुक्रग्रह अपनी शुभकान्ति से द्युलोक और भूलोक से मिलकर यूप को धारण करता है। शण्डनामक असुर निरस्त हुआ। (यज्ञ से बाहर निक्षिप्त कर दिया गया) हे यूपशकल! तुम शुक्र ग्रह के अधिष्ठान रुप हो।

यहाँ अध्वर्यु एवं प्रतिप्रस्थाता दोनों इस मन्त्र से यजमान को आशीर्वाद देते हैं।

म० : 'सुवीर इति दक्षिणं यूपदेशं गच्छत्यध्वर्युरिति' (का. 9। 10। 8)। शुक्रदैवतम्। हे शुक्रग्रह, त्वं सुवीरः शोभनवीर्योपेतः सन् वीरान् यजमानस्य शौर्योपेतान्भृत्यादीन् प्रजनयनुत्पादयन् रायः पोषेण धनस्य पुष्ट्या यजमानमभिलक्ष्य परीहि परितो गच्छ। 'अपरेणं यूपमरत्नी संघातः संजग्मान इति यथालिंगमिति' (का. 9। 10। 10) अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ यूपपश्चिमभागे तत्तद्ग्रहवाचकपदलिंगानतिक्रम्यारत्न्योः संधानं कुर्यातां शुक्रलिंगेनाध्वर्युः। शुक्रोग्रहः शुक्रशोचिषा शुद्धदीप्त्या कृत्वा यूयं बिभर्तीति शेषः। किंभूतः शुक्रः। दिवा द्युलोकेन पृथिव्या भूलोकेन च संजग्मानः सगच्छमानः। 'अप्रोक्षितौ निरस्यति निरस्तः शण्डइत्यध्वर्युरिति' (का. 9। 10। 12) अध्वर्युरप्रोक्षितं यूपशंकलं निरस्येत्। आभिचारकं शण्डनामकः शुक्रपुत्रेऽसुरपुरोहितः प्रास्यतः शुक्रस्याधिष्टानमित्यध्वर्युरिति' (का. 9। 10। 13) अध्वर्युराहनवीये प्रोक्षितं यूपशकलं क्षिपेत्। शकलदैवतम्। हे यूपशकल, त्वं शुक्रग्रहस्याधिष्ठानमधिकरणमसि ।।13।।

चतुर्दशी

अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम। सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रोऽअग्निः ।।१४।।

अन्वय : हे देव सोम! अच्छिन्नस्य सुवीर्यस्य ते, रायस्पोषस्य ददितारः दातारः स्याम। सा विश्ववारा संस्कृतिः प्रथमा। स वरुणः मित्रः अग्निः प्रथमः।

व्याख्या : हे दिव्यगुणगणसमन्वितसोम, अविच्छिन्न (अखण्डित) कल्याणमय प्रभाव वाले उत्तमंशक्तिप्रदान करने वाले, तुम्हारी कृपा से हम यज्ञादि में धनादि प्रदान करने वाले हों। इन्द्र के लिए यह सोमसंस्कार अत्यन्त प्रधान हैं, क्योंकि यह सोम सभी के द्वारा आदृत (वरणीय) है। यह सोम वरुण मित्र, अग्नि, आदि देवों का स्वामी है।

इस मन्त्र से शुक्रामन्थिग्रह होम का विधान किया गया है।

म० : 'अच्छिन्नस्येति जपित्वेति' (का. 9। 10। 14) यजमानो जपति। सौम्यम्। हे देव दीप्यमान सोम, अच्छिन्नस्य अनवखण्डितस्य संततस्य सुवीर्यस्य कल्याणप्रभावस्य ते तव ददितारः दातारः वयं स्याम भवेम। रायः पोषस्य धनपोषस्य च दातारः स्याम। भूयोभूयो यंज्ञकरणमाशास्यते। यद्वा ते तव प्रसादात् रायः पोषस्य ददितारः स्याम। अच्छिन्नेस्येति विषेशणद्वयं धनपोषस्यैव। 'उभयतो यूपं प्रत्ङ्मुखौ जुहुतः सा प्रथमेत्यध्वर्युः प्रथमं तमनु प्रतिप्रस्थातेति' (का. 9। 11। 1) अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ यूपोभयपार्श्वयोः स्थित्वा पश्चिमाभिमुखौ सन्तौ जुहुयाताम्। अध्वर्युरादौ। शुक्रं प्रतिप्रस्थाता ततो मन्थिनं जुहोति। इन्द्रदेवत्य। त्रिष्टुप्। सा प्रथमा मुख्या संस्कृतिः सोमसंस्कारो यस्येन्द्रस्य क्रियते इन्द्रार्थं क्रियत इत्यर्थः। सोमक्रये सा देवि देवमच्छेहीन्द्राय सोममित्युक्तवात् (अध्या. 4 का. 20)। किंभूता संस्कृतिः। विश्ववारा विश्वैः सवैर्ऋत्विग्भिरनृत्विग्भिश्च व्रियते यत्र सोमः सा विश्वारा। यद्वा विश्वं वृणोति क्रियमाणः सोमो यत्रेति विश्ववारा जगदुत्पत्तिबीजत्वात्। सोमस्य वरुणो मित्रः अग्निश्च स प्रसिद्धो यस्य प्रथमो भृत्य इति शेषः। वरुणमित्राग्नयोऽन्येषामप्युपलक्षकाः। देवगणानां यः प्रभुरित्यर्थः ।।14।।

पञ्चदशी

स प्रथमो बृहस्पतिंश्चिकित्वांस्तस्माऽइन्द्राय सुतमाजुहोत स्वाहा ।। तृम्पन्तु होत्रा मध्वो याः स्विष्टा याः सुप्रीताः सुहुता यत्स्वाहाऽयांडग्नीत् ।।१५।।

अन्वय : स प्रसिद्धः चिकित्वान् बृहस्पतिः प्रथमः इन्द्रस्य मुख्योमन्त्री तस्मैं इन्द्राय सुतम् सोमम् आजुहोत स्वाहा। याः मध्वः स्विष्टाः याःसुप्रीताः होत्राः तृपन्तु यत् सुहुताः स्वाहा। अग्नीत् अयाड् (अयाक्षीत्)।

व्याख्या : यह प्रज्ञासम्पन्न वाणियों का अधिष्ठाता बृहस्पति ही जिनके प्रमुख सहायक हैं, हे ऋत्विजों! ऐसे इन्द्र के लिए आप अभिषुत सोम का स्वाहाकार पूर्वक होम करें। यह आहुति उन्हे सन्तुष्ट करें जो मधुरसोम रस की अभिलाषा करने वाले है, जो प्रसन्न रहने वाले है (याजकों पर) ऐसे ऋतुओं के अभिमानी देवता भी इस होम से तृप्त हों। जिस सोम के निमित्त वे यहाँ बुलाये गये हैं उनके लिए यह स्वाहाकारपूर्वक आहुति है। आग्नीध्र ''याग होगया है'' ऐसा होता से कहता है।

म० : स प्रसिद्धः चिकित्वान् चेतनावानुत्कृष्टधीः बृहस्पतिः यस्येन्द्रस्य प्रथमो मुख्यो मन्त्री इति शेषः। यद्वा संस्कृतिः समीचीना कृतिर्विष्वैर्देवैर्वरणीया सा प्रथमा देवानां मध्ये मुख्या यस्येन्द्रस्य वरुणमित्राग्नयोपि स प्रथम इन्द्र एव। चिकित्वान् बृहस्पतिरपि स इन्द्र एव। हे ऋत्विजः, तस्मैतादृशायेन्द्राय सुतमभिषुतं सोमं स्वाहेति स्वाहाकारेणाजुहोत आभिमुख्येन जुहुत् स्वाहाकारेण होमं कुरुत। 'तृम्पन्त्विति जपतीति' (का. 9। 11। 9) होत्रदैवतम्। ताः होत्रः छन्द्रोभिमानिन्यो देवताः तृम्पन्तु तृप्ता भवन्तु। 'तृम्प प्रीतौ'। होत्रशब्देन याज्याच्छन्दांस्यभिधीयन्ते। ताः काः। याः मध्वो मधुनो मधुस्वादस्य सोमस्य शिष्टाः साधु इष्टाः तद्धोमे नियुक्तत्वात् याश्च होत्रः। सुष्ठु प्रीताः। कथंज्ञायन्ते। यद यस्मात् स्वाहाकारेण सुहुताः साधु हुताः। होमार्थं नियुक्ता इत्यर्थः। 'होतारं प्रत्यङ्ङुपसीदव्ययाडग्रीदिति' (का. 9। 11। 10)। अध्वर्युर्होतुसमीपे प्रत्यङ्मुखस्तिष्ठेत्। होतृदैवतम्। अग्रिरयाट् अयाक्षीत् अग्रिध्रा यागः कृत इति होतुः कथयति ।।15।।

षोडशी

**अयं व्वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो व्विमाने।
इममपाᳮसंङ्गमे सूर्यस्य शिशुन्न व्विप्रा मतिभी रिहन्ति ।।
उपयामगृहीतोऽसि मर्काय त्वा ।।१६।।**

अन्वय : अयं ज्योतिर्जरायुः वेनः चन्द्रः रजसो विमाने पृश्निगर्भाः अपः अचोदयत् प्रेरयति। सूर्यस्य अपां संगमे इमं सोमं विप्राः शिशुं न मतिभिः रिहन्ति बालमिव स्तुवन्ति। (हे सोम) त्वम् उपयाम गृहीतः असि, त्वा मर्काय (गृह्णामि)।

व्याख्या : विद्युत्दीप्ति रुप जरायु से घिरा हुआ प्रकाशमान कमनीय सोमदेवता वर्षाऋतु आने पर सूर्यमण्डल में स्थित जल को बरसने के लिए प्रेरित करता है। सूर्य एवं जलों के संगम से जल लेकर अभिषुत हुए इस सोम को मेधावीजन बालक की तरह यथाबुद्धि वाणी से स्तवन करते है। हे सोम तुम उपयामग्रहपात्र में गृहीत हो। तुम्हें शुक्रपुत्र मर्कनामा (असुरों के पुरोहित) के निमित्त ग्रहण करता हूँ।

यहाँ देवता के रूप में सोम की स्तुति की गई है लता के रूप में नहीं।

म० : 'मन्थिनमयं वेन इति' (9। 6। 12)। मन्थिग्रहं गृह्णीयात्। त्रिष्टुप् अनयाधिदैवमधियज्ञं चावस्थितः सोमः स्तूयते। अधिदैवं चन्द्रात्मना स्तूयते। 'वेनो वेनतेः कान्तिकर्मणः' (नि. 10 । 38) इति यास्कः। 'विनि कान्तौ' इत्यस्य रूपम्। अयं वेनः कान्तश्चन्द्रो रजसो विमाने उदकं रज उच्यते। उदकस्य निर्माणकाले ग्रीष्मान्ते प्राप्ते पृश्निगर्भा अप चोदयत् चोदयति प्रेरयति वर्षति। किंभूतो वेनः। ज्योतिर्जरायुः ज्योतिर्विद्युल्लक्षणं जरायुवद्वेष्टनं यस्य स ज्योतिर्जरायुः इदानीमधियज्ञं लतात्मना सोमस्तूयते। विप्रा मेधाविनो ब्राह्मणाइमं सोमं शिशुंन शिशुमिव बालमिव मतिभिः मतिपूर्वाभिर्वाग्भिः रिहन्ति स्तुवन्ति। बालं यथा कश्चिल्लालयति तद्वंद्यं सोमं स्तोत्रशस्त्रंरुपाभिर्वाग्भिः स्तुवन्ति। रिहतिरर्चनकर्मसु पठितः। अर्चनं स्तवनमेव। किंभूतमिमम्। सूर्यस्यापां च संगमे गृहीताभिरद्भिरभिषुतमिति शेषः। सोमाभिषवार्थं वसतीवर्य आपो अपां सूर्यस्य च संगमे गृह्णन्ते 'ता वै वहन्तीनां स्यन्दमानानां गृह्णीयाद्दिवा गृह्णीयात्' इति श्रुतेः। यद्वायमर्थः। अपां सूर्यस्य संगमे निमित्ते उदकं सूर्यसमागमनिमित्तं वृष्टिर्भनिष्पत्त्यर्थं विप्रा इमं सोमं स्तुवन्ति यथा बालं कस्यचिद्वस्तुनो लाभाय यथा कश्चित्स्तौति।

ईदृश हे सोम, त्वमुपयामेन ग्रहपात्रेण गृहीतोऽसि। मर्कः शुक्रपुत्रेऽसुरपुरोहितस्तस्मै त्वां गृह्णामीति शेषः ।।16।।

सप्तदशी

मनो न येषु हवनेषु तिग्मं विपः शच्या वनुथो द्रवन्ता। आ यः शर्याभिस्तुविनृम्णो अस्या श्रीणीताऽऽदिशं गभस्तावेष ते योनिः प्रजाः पाह्यपमृष्टो मर्को देवास्त्वां मन्थिपाः प्रणयन्त्वनाधृष्टासि ।।१७।।

अन्वय : द्रवन्तौ गच्छन्तौ विपः (विपश्चितौ) मेधाविनौ मनो नयेषु हवनेषु शच्या कर्मणा तिग्मं वनुथः व्याप्नुतः यः तुविनृम्ण गभस्तौ अस्य शर्याभिः आदिशम् अश्रीणीत। (हे मन्थिग्रह) एष ते योनिः प्रजा पाहि। मर्कः अपमृष्टः, मन्थिपाःदेवाः त्वां प्रणयन्तु। (हे यज्ञवेदि) त्वम् अनाघृष्टा असि।

व्याख्या : उत्साहपूर्वक स्फूर्ति से कार्य करने वाले (अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता) उत्साह से सम्पन्न होनेवाले सोमरसयुक्त होमकार्यो में अपने कर्म के द्वारा शीघ्रता से (एक साथ शुक्र एवं ग्रन्थीग्रहों को) प्राप्त करते हैं। अधिक दक्षिणायुक्त अध्वर्यु हॉथ में लिए हुए इस सोमरस को अपने अंगुलियों द्वारा सभी ओर से सक्तु आदि हवि से मिला रहे हैं। (हे मन्थिग्रह) तुम्हारा यही स्थान है, तू प्रजाओं की रक्षा करो। मर्कासुर दूर भगा दिया। मन्थीग्रह नामक पात्रविशेषसे सोमपीनेवाले देवता तुमको यज्ञ स्थान में ले जायें। हे यज्ञवेदि! तुम अनुपहिंसित (अतिरस्कृत)हो।

इस मन्त्र से सोमरस में सत्तू मिलाकर होम किया जाता है।

म॰ : 'संक्तुभिः श्रीणात्येनं मनो न येष्विति' (का. 9। 6। 13)। एनं मन्थिग्रहं यवपिष्टैर्मिश्रीकुर्यात्। त्रिष्टुप् सोमस्तुतिः। विपः विपश्चितौ मेधाविनौ अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ। विप, इत्यत्र छान्दसः प्रातिपदिकैकादेशलोपः। येषु हवनेषु सोमहोमेषु शच्या कर्मणा कृत्वा। शचीति कर्मनाम। मनो न मन इव तिग्मम्। 'तिग्मं तेजतेरुत्साहकर्मणः' (नि. 10। 6)। इति यास्कः। मनोवदुत्साहयुक्तं यथा तथा वनुथः। प्रथमपुरुषस्थाने मध्यमपुरुशः। वनुतः व्याप्नुतः युगपत् शुक्रामन्थिग्रहाविति शेषः। शच्येति निमित्ततृतीया वा। कर्मनिमित्तं व्याप्नुत इत्यर्थः। किंभूतौ। विपश्चितौ द्रवन्ता द्रवन्तौ गच्छन्तौ

हवनेषु तेष्वेव कर्तव्ये] होमेषु प्रचरन्तौ। योऽध्वर्युः शर्याभिः अङ्गुलीभिर्गभस्तौ पाणौ स्थितस्यास्य मन्थिग्रहस्य। कर्मणि षष्ठी। इमं मन्थिनमार्दिशं प्रतिदिशमा अश्रीणीत समन्तात् श्रीणीते सक्तुभिर्मिश्रयति। किंभूतो यः। तुविनृम्णः तुवि नृम्णं यस्य बहुधनः महादक्षिणः। तुवीति बहुनाम। नृम्णामिति धाननाम। यद्यप्यत्रध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ समानकर्माणौ तथापि यः सक्तुभिः श्रपणं करोति स एव प्रधान इत्याशयः एष त इति सादयति। हे मन्थिग्रह, ते तव एष योनिः प्रदेशः। त्वं प्रजाः यजमानसंवन्धिनीः पाहि पालय। 'अपमृष्टौ मर्क इति प्रतिप्रस्थातेति' (का. 9। 10। 15) प्रतिप्रस्थाता प्रोक्षितेन यूपशकलेन मन्थिनमाच्छाप्रोक्षितेनापमार्ष्टि। अपमार्जनीकृतो मर्को नामासुरपुरोहितः (का. 9। 10। 6) देवास्त्वेवेति निष्क्रामतो यथालिंगमिति। प्रतिप्रस्थाता हविर्धानान्नि क्रामेत्। मन्थिदैवतम् हे मन्थिग्रह, मन्थिनं ग्रहं पिबन्तीति मन्थिपाः देवाः त्वा प्रणयन्तु यजतिस्थानं प्रापयन्तु। अनाधृष्टासीति मन्त्रे विनियोगसहितः पूर्व व्याख्यातः ।।17।।

अष्टादशी

सुप्रजाः प्रजाः प्रंजनयन्परींह्यभि रायस्पोषेंण यजंमानम्। संजग्मानो दिवा पृंथिव्या मन्थी मन्थिशोंचिषा निरंस्तो मर्को मन्थिनोंऽधिष्ठानंमसि ।।१८।।

अन्वय : (हं मन्थिग्रह) त्वं सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन् रायस्पोषेण यजमानम् अभि परीहि। (आगच्छ)। मन्थी मन्थीशोचिषा दिवा पृथिव्या संजग्मानः संगच्छमान यूपंबिभर्ति। मर्कः निरस्तः त्वं मन्थिनः अधिष्ठानम् असि।

व्याख्या : हे मन्थिग्रह तुम सुन्दरप्रजा से सम्पन्न हो। अतः प्रजोत्पादन का सामर्थ्य एवं प्रेरणा देते हुए धन की पुष्टि के द्वारा यजमान के सम्मुख आओ। यह मन्थी नामक ग्रह, द्युलोक और भूलोक से संगत होकर अपनी ही दीप्ति से यूप को धारण करता है। मर्कासुर भगा दिया गया । हे यूपशकल, तुम मन्थीग्रह के अधिष्ठान (आश्रय) हो।

म० : 'सुप्रजा इति प्रतिप्रस्थातोत्तरमिति' (का. 9। 10। 9)। प्रतिप्रस्थातोत्तरं यूपदेशं गच्छति। मन्थिदैवतम्। हे मन्थिग्रह, शोभना प्रजा यस्य स सुप्रजास्त्वं यजमानसंबन्धिनोः प्रजाः प्रजनयनुत्पादयन्सन् रायस्पोषेण

धनस्य पुष्ट्या सह यजमानमभि यजमानसंमुखं परीहि परिगच्छ आगच्छ। 'अपरेण यूपमरत्नी संधतः संजग्मान इति' (का. 9। 10। 10)। प्रतिप्रस्थातारत्नी संधत इत्युक्तम्। मन्थी नाम ग्रहो दिवा पृथिव्या द्युलोकभूलोकाभ्यां संजग्मानः संगच्छमानः सन्मन्थिशोचिषा मन्थिनः स्वस्यैव दीप्त्या यूपं बिभर्तीति शेषः 'निरस्तो मर्क इति प्रतिप्रस्थातेति' (का. 9। 10। 11)। प्रतिप्रस्थाता अप्रोक्षितं यूपशकलं निरस्येत्। आभिचारिकम्। मर्कनामासुरपुरोहितो निरस्तो निराकृत्ः। 'मन्थिन इति प्रतिप्रस्थातेति' (का. 9। 10। 12) प्रतिप्रस्थाता प्रोक्षितं यूपशकलमाहवनीये प्राक्षिपेत्। शकलदेवतम्। हे यूपशकल, त्वं मन्थिग्रहणस्याधिष्ठानमधिकरणमसि ।।18।।

एकोनविंशी

ये दे॑वासो दि॒व्येका॑दश॒स्थ पृ॑थि॒व्यामध्येका॑दश॒ स्थ। अ॒प्सु॒क्षितो॑ मह्नि॒नैका॑दश॒ स्थ ते दे॑वासो य॒ज्ञमि॒मं जु॑षध्वम् ।।१९।।

अन्वय : (हे) देवासः यूयं महिना दिवि एकादश स्थ, पृथिव्याम् अधि एकादश स्थ, अप्सुक्षितः एकादशस्थ, ते देवासः इमं यज्ञं जुषध्वम्।

व्याख्या : हे देवों! जो आप लोग अपनी महिमा से द्युलोक में एकादश संख्या में रहते हैं, पृथिवी के ऊपर एकादश संख्या में रहते हैं तथा अन्तरिक्ष में ग्यारह रुपों में निवास करते है। ऐसे (त्रिविध) आप इस सोमयज्ञ में आग्रयणग्रह का प्रसन्नतापूर्वक सेवन करें।

यहाँ अध्वर्यु इस मन्त्र से सोम की दो धाराओं में आग्रयण स्थाली में सोमग्रहण करता है।

म० : 'आग्रयणं द्वयोर्धारयोर्ये देवास इति' (का. 9। 6। 14)। धाराद्वये क्षरति सत्याग्रयणं ग्रहं गृह्णीयात्। वैश्वदेवी त्रिष्टुप् परुच्छेपदृष्टा। हे देवासः देवाः, ये यूयं दिविद्युलोके एकादश स्थ एकादशसंख्याका भवथ। केन। महिना महिम्रा स्वस्वमहिन्ना स्वस्वमाहात्म्येन। महिनेति पदं त्रिष्वपि स्थानेषु संबध्यते। सर्वत्र महाभाग्याविशेषात्। तथा पृथिव्यामधि पृथिव्युपरि एकादश स्थ। तथा ये यूयमप्सुक्षितः अन्तरिक्ष निवासिनः एकादश स्थभवय अप्स इति अन्तरिक्ष नामसु पठितम्। क्षियतिर्निवासार्थः। अप्सु अन्तरिक्षे क्षियन्ति निवसन्तीत्यर्थः। हे देवासः देवाः, ते त्रिविधा यूयमिमं यज्ञं यजनीयमाग्रयणग्रहं जुषध्वं सेवध्वम् ।।19।।

विंशी

उपयामगृंहीतोऽस्याग्रयणोऽसि स्वाग्रयणः पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपंतिं विष्णुस्त्वामिंन्द्रियेणं पातु विष्णुं त्वं पांह्यभिसवंनानि पाहि ।।२०।।

अन्वय : (हे आग्रयणग्रह! त्वम् उपयाम पात्रेण गृहीतः असि। आग्रयणोसि स्वाग्रयणः त्वं पाहि, यज्ञं, पाहि यज्ञपतिं। विष्णुः इन्द्रियेण त्वां पातु, त्वं विष्णुं यज्ञं पाहि, सवनानि अभिपाहि।

व्याख्या : हे आग्रयणग्रह! तुम उपयामसंज्ञक पात्र में गृहीत हो। तुम आगे-आगे ले जाये जाने के कारण आग्रयण नामवाले हो, तथा श्रेष्ठता को प्राप्त कराने वाले हो।यज्ञ की रक्षाकरो, यजमान की रक्षा करो। यज्ञाधिष्ठाता विष्णु अपने इन्द्रियों (सामर्थ्य) से तुम्हारी रक्षा करें। तुम विष्णुरुप यज्ञ की रक्षाकरो। प्रातःसवन, माध्यन्दिन सवन एवं तृतीय सवर्नो की सभी ओर से रक्षा करो।

म० : 'आग्रयणदेवतं यजुराग्रयणग्रहण एव विनियुक्तम्। हे आग्रयणग्रह, त्वमुपयामेन पात्रेण स्वीकृतोऽसि। आग्रयणोऽसि आग्रयणनामा भवसि। किंभूतस्त्वम्। स्वाग्रयणः अग्रस्य भावः आग्रम् सुष्टु आग्रं स्वाग्रं श्रेष्ठाम् अयति प्रापयतीति स्वाग्रयणः। अग्रशब्दस्यायतौ परे टिलोपः। तादृशस्त्वं यज्ञं पाहि रक्ष। यज्ञपतिं यजमानं च पाहि। विष्णुः यज्ञाधिष्ठाता देव इन्द्रियेण स्वसामर्थ्येन त्वां पातु। त्वमपि तादृशं विष्णुं पाहि रक्ष। सवनानि प्रातरादीनि अभि पाहि सर्वतो रक्षं ।।20।।

एकविंशी

सोमंः पवते सोमंः पवतेऽस्मै ब्रह्मंणेऽस्मै क्षत्रायास्मै सुंन्वते यजंमानाय पवत इष ऊर्जे पंवतेऽद्भ्यऽओषंधीभ्यः पवते द्यावांपृथिवीभ्यां पंवते सुभूतायं पवते विश्वैंभ्यस्त्वा देवेभ्यं एष ते योनिर्विश्वैंभ्यस्त्वा देवेभ्यंः ।।२१।।

अन्वय : अयं सोमः पवते, अस्मैं, ब्रह्मणे अस्मै क्षत्राय अस्मै सुन्वते यजमानाय इषे ऊर्जे पवते, अद्भ्यः ओषधीभ्यः द्यावापृथिवीभ्यां सुभूताय विश्वेभ्यो देवेभ्यः त्वा गृह्णामि त्वा (सादयामि)। एष ते योनिः विश्वेभ्यः देवेभ्यः त्वा (सादयामि)।

व्याख्या : यह सोम ब्राह्मणजाति की प्रसन्नता के लिए क्षत्रिय जाति की प्रसन्नता के लिए (क्षात्रगुण विशिष्ट समाज के हित के लिए) इस सोमयाजी यजमान के लिए अन्नवृद्धि और क्षीरादिरसों की वृद्धिके लिए (यह सोम) ग्रहपात्रों में जाता है। यहसोम ब्रीहियवादि औषधियों के उत्पादन के लिए पात्रों में गति करता है। यह द्यावा (द्युलोक) एवं पृथिवीलोक के मंगल के लिए प्राणिसमुदाय या पंचमहाभूतों की तृप्ति के लिए एवं सभीदेवों की प्रसन्नता के लिऐ है। हे आग्रयणग्रह! तुम्हें ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है, सभी देवताओं की प्रसन्नता के लिए तुम्हें स्थापित करता हूँ।

म० : 'त्रिर्हिङ्कृत्य सोमः पवत इति' (का. 9। 6। 15) हिङ्कारत्रयं कृत्वा जपेदिति शेषः। वैश्वदेवत्यम्। सोमः पवते। पवतिर्गत्यर्थः। सोमो गच्छति ग्रहपात्रेषु स्वकीये कर्मणि प्रवर्तत इत्यर्थः। द्विरुक्तिरादरार्थः किमर्थम् अस्मै ब्रह्मणे ब्राह्मणजातिप्रीत्यर्थम्। अस्मै क्षत्राय एतर्त्क्षत्रियजाति-प्रीत्यर्थम्। अस्मै सुन्वते सोमाभिषवं कुर्वते यजमानाय कामप्राप्त्यर्थं पवते इषेऽन्नाय ऊर्जे तदुपसेचनाय क्षीरादये पवते निष्पत्त्यर्थमित्यर्थः। अद्भ्यो वृष्टिभ्यः ओषधीभ्यो ब्रीहियवादिभ्यस्तत्सिध्द्यर्थं पवते। द्यावापृथिवीभ्यां लोकद्वयप्रीणनाय पवते। किंवा बहुनोक्तेन। सुभूताय सर्वेषां साधुभवनाय पवते। हे आग्रयणग्रह, तादृशं त्वा त्वां विश्वेभ्यो देवेभ्यः सर्वदेवताप्रीत्यर्थं गृह्णामीति शेषः। एष त इति सादयति। हे ग्रह, एष ते योनिः स्थानं विश्वेभ्यः सर्वेभ्यो देवेभ्योऽर्थे त्वां सादयामीति शेषः ।।21।।

द्वाविंशी

उपयामगृंहीतोऽसीन्द्रांय त्वा बृहद्वंते वयंस्वत उक्थाव्यं गृह्णामि। यत्तंऽइन्द्रऽबृहद्वयस्तस्मैं त्वां विष्णंवे त्वे ष ते योनिंरुक्थेभ्यंस्त्वा। देवेभ्यंस्त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुंषे गृह्णामि ।।२२।।

अन्वय : (हे) सोम) त्वम् उपयाम पात्रेण गृहीतः असि (हे उक्थ्यग्रह) उक्थाव्यं, बृहद्वते वयस्वते इन्द्राय गृह्णामि। हे इन्द्र! यत् ते बृहद्वयः तस्मै त्वा (गृह्णामि)। (हे सोम) त्वा विष्णवे (गृह्णामि)। एष ते योनिः उक्थेभ्यः त्वा (गृह्णामि) देवाव्यं त्वा देवेभ्यः यज्ञस्य आयुषे गृह्णामि।

व्याख्या : हे सोम तुम उपयाम पात्र से गृहीत हो। हे उक्थग्रह मैं मित्रावरुण ब्राह्मणाच्छंसी अच्छावाक् सम्बन्धी स्तोत्र शस्त्रों की रक्षा करने वाले, इन्द्र के लिए तुम्हें स्वीकार करता हूँ। जिन्हें बृहत्सामस्तोत्र अत्यन्त प्रिय है, या इस स्तोत्र से स्तुत होने वाले है। सोमरुप अन्नवाले या सदा नूतन वय में रहने वाले इन्द्र को प्रदान करने के लिए ग्रहण करता हूँ। हे इन्द्रदेव! प्रभूतसोम ही आपका अन्न हैं, इसे पीने के लिए आपसे प्रार्थना करता हूँ। हे सोम, मैं तुम्हें विष्णुदेव की प्रसन्नता के लिए ग्रहण करता हूँ। हे ग्रह! यह तुम्हारा स्थान है। मैं उक्थ के प्रिय देवों की तृप्ति के लिए तुम्हें ग्रहण करता हूँ। हे सोम! तुम देवों को तृप्त करने वाले हो, मैं तुम्हें यजमान की आयुवृद्धि के निमित्त ग्रहण करता हूँ।

म० : 'उक्थ्यमुपयामगृहीत इति' (का. 9। 6। 20) उक्थ्यं ग्रहं गृह्णीयात्। उपयामग्रहदेवतानि यजूंषि। हे सोम, त्वमुपयामेन पात्रेण गृहीतोऽसि। हे उक्थ्यग्रह, त्वा त्वामिन्द्रार्थं गृह्णामि स्वीकरोमि। किंभूतायेन्द्राय। बृहद्वते बृहत्सामतद्वते। बृहत्सामप्रियायेत्यर्थः। तथा वयस्वते वयः सोमरूपमन्नं तद्वते। यद्वा वयो यौवनलक्षणं वीर्यसमेतं सदा तद्वते। किंभूतं त्वाम्। उक्थाव्यं उक्थानि मित्रावरुणब्राह्मणाच्छस्यच्छावाकसंबन्धीनि शस्त्राणि अवति रक्षतीत्युक्थावीः तम्। तत्र ह्यस्य विनियोगः। किंच एवं सोममुक्त्वा इन्द्रमाह। हे इन्द्र, यत् ते तव बृहत् महत् वयोऽन्नं सोमरूपमस्ति तस्मैतत्पानार्थं त्वां प्रार्थये इति शेषः। हे सोम, विष्णवे विष्णुदेवतार्थं त्वां गृह्णामि। यद्वा हे इन्द्र यत् ते तव बृहत् महत् ऊर्जितंवयः यौवनलक्षणं तस्मै, सोम, त्वां गृह्णामि। अत्र च ते इन्द्रेति युष्मदामन्त्रिताभ्यां प्रत्यक्ष इन्द्र उच्यते। त्वेति युष्मदा सोम उच्यते। प्रत्यक्षतः तयोः सामर्थ्यं नास्ति। ततस्ते इत्यस्य पदस्य अस्येत्यनेन व्यत्ययः। इन्द्रेस्यस्येन्द्रस्येत्यनेन पदेन व्यत्ययः। ततश्चायमर्थः। हे सोम, यदस्येन्द्रस्य बृहद्वयः तस्मै त्वां गृह्णामि। विष्णवे यज्ञाय च त्वां गृह्णामि। एष त इति सादनम्। हे ग्रह, एष ते तव योनिः स्थानमुक्थेभ्योऽर्थाय त्वां सादयामीति शेषः। 'उक्थं विगृह्णाति त्रेधां देवेभ्यस्त्वेति सर्वेभ्यइति' (का. 9। 14। 8)। उक्थस्थालीस्थं सोम त्रेधा विभज्य गृह्णाति। सर्वेभ्यः प्रशास्तृब्राह्मणाच्छंस्यच्छावाकेभ्यस्तत्कृतयागार्थमित्यर्थः। हे सोम, देवेभ्योऽर्थाय त्वां गृह्णामि। किंभूतंत्वाम्। देवाव्यं देवानवति तर्पयतीति देवावीस्तम्। किमर्थम्। यज्ञस्यायुषे अनवच्छिन्ना कर्मैकदोषपरहिता परिसमाप्तिर्यज्ञस्यायुस्तस्मै यज्ञसमाप्तये फलपर्यन्तमवस्थानाय च गृह्णामि। यद्वा यज्ञो यजमानस्य

शरीरमिति यजमानस्यायुषे गृह्णामि ॥22॥

त्रयोविंशी

मि॒त्रावरु॑णाभ्यां त्वा देवा॒व्यं॑ य॒ज्ञस्यायु॑षे गृह्णामीन्द्रा॑य त्वा देवा॒व्यं॑ य॒ज्ञस्यायु॑षे गृह्णामीन्द्रा॒ग्निभ्यां॑ त्वा देवा॒व्यं॑ य॒ज्ञस्यायु॑षे गृह्णामीन्द्रा॒वरु॑णाभ्यां त्वां देवा॒व्यं॑ य॒ज्ञस्यायु॑षे गृह्णामीन्द्रा॒बृह॒स्पति॑भ्यां त्वा देवा॒व्यं॑ य॒ज्ञस्यायु॑षे गृह्णामीन्द्रा॒विष्णु॑भ्यां त्वा देवा॒व्यं॑ य॒ज्ञस्यायु॑षे गृह्णामि ॥२३॥

अन्वय : (हे सोम) देवाव्यं त्वा मित्रावरुणाभ्यां यज्ञस्य आयुषे गृह्णामि। देवाव्यं त्वा इन्द्राय यज्ञस्य आयुषे गृहणामि्। देवाव्यं त्वा इन्द्राग्निभ्यां इन्द्रावरुणाभ्यां इन्द्राबृहस्पतिभ्यां इन्द्राविष्णुभ्यां यज्ञस्य आयुषे गृह्णामि।

व्याख्या : हे सोम! देवताओं को तृप्त करने वाले तुमको, मित्रावरुण के लिए एवं यज्ञ की फल प्राप्ति के लिए तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। हे देवतृप्तिकर (सोम) इन्द्र की प्रसन्नता के लिए एवं याग की निर्विघ्नसमाप्ति के लिए तुम्हें ग्रहण करता हूँ। हे देवों के तर्पक, इन्द्र, अग्नि, इन्द्र, वरुण, इन्द्रबृहस्पति एवं इन्द्रविष्णु की तृप्ति के लिए तथा यजमान के दीर्घजीवन के लिए तुम्हें ग्रहण करता हूँ।

म० : 'मित्रावरुणाभ्यां त्वेति वा प्रशास्त्र इति' (9। 14। 9)। मैत्रावरुणायोक्थ्यविग्रहे मन्त्रविकल्पः। मित्रावरुणाभ्यामर्थे देवाव्यं देवतर्पकं त्वां यज्ञस्यायुषे गृह्णामि। एवं प्रतिप्रस्थतोत्तराभ्यामिन्द्राय त्वेति ब्राह्मणार्च्छंसिन इन्द्राग्निभ्यां त्वेत्यच्छावाकायेति' (का. 9। 14। 15) ब्राह्मणाच्छंस्यच्छवाकाभ्यां मन्त्रविकल्पावेवम्। इन्द्राय त्वां गृह्णामि इन्द्राग्रिभ्यामर्थे त्वां गृह्णामि। शेषं पूर्ववत्। 'उत्तरेष्विन्द्रावरुणाभ्यामिन्द्राबृहस्पतिभ्यामिन्द्राविष्णुभ्यामिति' (का. 10। 7। 11) उक्थ्यादिसोमसंस्थेषु मैत्रावरुणादीनां तृतीयसवने उक्थ्यविग्रहमन्त्राः। इन्द्रावरुणयोरर्थे त्वां देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि। एवमिन्द्रबृहस्पतिभ्यामर्थे त्वां गृह्णामि। इन्द्राविष्णुभ्यामर्थे त्वां गृह्णामि। मित्रावरुणाभ्यामित्यादौ 'देवताद्वन्दे च' (पा. 6। 3। 26) इति पूर्वपदान्तस्य दीर्घः ॥ 23॥

चतुर्विंशी

मूर्धानंन्दिवोऽअरतिम्पृंथिव्या व्वैश्वानरमृतऽआ जातमग्निम्।
कविंशं सम्राजमतिंथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः ।।२४।।

अन्वय : देवाः अग्निं जनयन्तः दिवो मूर्धानं, पृथिव्याः अरतिं वैश्वानरम् ऋते यज्ञे आजातं उत्पन्नम् कविं सम्राजं जनानाम् अतिथिं जनानां आ पात्रम् आसन्। आस्ये मुखे आभिमुख्येन पीयते अनेन आपत्रम् ईदृशमग्निं अजनयन्त।

व्याख्या : देवताओं ने उस अग्नि को प्रकट किया जो सूर्य रुप से द्युलोक के शिरोमणि (उन्नत प्रदेश) के समान है, तथा अन्तरिक्ष में स्थित होकर यथा समय वृष्टि द्वारा जीवों का पोषण करता हैं वह अग्नि सभी मनुष्यों का (जठराग्नि के रुप में) हितैषी है तथा वैश्वानर नाम से प्रसिद्ध है। यही अग्नि यज्ञ में अरणिमन्थन द्वारा प्रकट होने वाला, क्रान्तदर्शी तथा सम्यक्प्रदीप्त होकर शोभित होने वाला है। लोगों के लिए अतिथि के समास पूज्य है। समस्त जीवों के रक्षक एवं विराट्पूरुष का मुखरुप है। वह अग्नि अपने मुख में चमस पात्र द्वारा आज्य पान करता है। ऐसे अग्नि को देवों ने उत्पन्न किया।]

यहाँ ध्रुवस्थाली से अध्वर्यु इस मन्त्र को पढ़कर ध्रुवग्रह का ग्रहण करत है

म० : 'ध्रुवं मूर्धानं दिव इति' (का. 9। 6। 21) ध्रुवसंज्ञं ग्रहं गृह्णीयात्। वैश्वानरदेवत्या त्रिष्टुम्भरद्वाजदृष्टा। वैश्वानरश्चात्र सर्वात्मना स्तूयते। देवा ईद्दशमग्निं जनयन्त उत्पादितवन्तः। अडागमाभाव आर्षःाकिंभूतमग्निम्। दिवो मूर्धानं द्युलोकस्य शिरोवदुन्नतप्रदेशे सूर्यरूपेणावस्थाय भासकम्। तथा पृथिव्या अरतिम् रतिरुपरतिस्तद्रहितम्। नहि पृथिव्या उपरि कदाचिदप्यग्निरु-परमते किंतु दाहपाकप्रकाशैः सर्वाननुगृह्वन् सर्वदा वर्तत एव। यद्वा पृथिवीशब्देनान्तरिक्षमुच्यते। आकाशं आपः पृथिवीत्यन्तरिक्षनामसु पठितत्वात् पृथिव्या अन्तरिक्षस्यारतिमलमति पर्याप्तमति पूरकमित्यर्थः। तत्र स्थितोऽसौ यथाकालं वृष्ट्या भूतानि पुष्णाति तथा वैश्वानरं विश्वेभ्यः सर्वेभ्यो नरेभ्यो हितो वैश्वानरस्तम्। जठराग्निरूपेणान्नपाचकत्वात्। तथा ऋते यज्ञे यज्ञनिमित्तं आजातम् उत्पन्नमरणिद्वयात्। तथा कविं क्रान्तदर्शनं स्वभक्ताननुग्रही-तुमभिज्ञमित्यर्थः। तथा सम्राजं सम्यग्दीप्यमानमैश्वर्येण युक्तमित्यर्थः। तथा

जनानां यजमानानामतिथिं हविर्भिः सत्कारयोग्यम्। विज्ञायते हि अग्निरतिथि-रूपेण गृहान्प्रविशति तस्मात्तस्योदकमाहरन्ति। आसन् आपात्रम् आस्यशब्दस्य सप्तम्येकवचने 'पद्दन्न-' (पा. 6। 1। 63) इति सूत्रेणासन्-आदेशः 'सुपां सुलुक्' (पा. 71। 39) इति सप्तमीलोपः। आसन् आसनि आस्ये मुखे आपात्रम् आभिमुख्येन पीयतेऽनेनेत्यापात्रम्।'विज्ञायते हि चमसो देवपान इतिचमसेन ह वा एतेन भूतेन देवा भक्षयन्ति' (1। 4। 2। 14) इति श्रुतेः। ईदृशमग्निं देवा इन्द्रादयोऽजनयन्तेत्यर्थः ।।24।।

पञ्चविंशी

उपयामगृहीतोऽसि ध्रुवोऽसि ध्रुवक्षितिर्ध्रुवाणां ध्रुवतमोऽच्युताना-मच्युतक्षित्तम एष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा। ध्रुवं ध्रुवेण मनसा वाचा सोममवनयामि। अथा नऽइन्द्रऽइद्विशोऽसपत्नाः समनसस्करत् ।।२५।।

अन्वय : (हे सोम) त्वम् उपयाम गृहीतः असि। ध्रुवः असि ध्रुवक्षितिः ध्रुवाणां ध्रुवतमः अच्युतानाम् अच्युतक्षित्तमः। (हे ध्रुव) एष ते योनिः वैश्वानराय ध्रुवेण मनसा वाचा सोमम् अवनयामि। अथा इन्द्र इत् नः विशः असपत्नाः समनसः करत्।

व्याख्या : (हे सोम) तुम उपयामपात्र द्वारा गृहीत हो। ध्रुव नाम वाले हो, स्थिर निवासवाले हो, स्थिर पदार्थों में सबसे अधिक प्रतिष्ठित हो (अतिशयस्थिर हो)। अपने गुणों से च्युत न होने वाले पदार्थों में अच्युततम हो। हे ग्रह यह तुम्हारा स्थान है। समस्त प्राणियों के हित के लिए तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ। स्थिर मन एवं वाणी से सोम का सिंचन करता हूँ। इन्द्र ही हमारी प्रजा को शत्रुओं से रहित तथा सुन्दरमन धैर्य से युक्त करें।

म० : ध्रुवदैवतं यजुः ध्रुवग्रहणे एव विनियुक्तम्। हे सोम, त्वमुपयामेन पात्रेण गृहीतोऽसि ध्रुवोऽसि ध्रुवनामकोऽसि। कीदृशस्त्वम्। ध्रुवा स्थिरा क्षितिनिवासो यस्य स ध्रुवक्षितिः। 'क्षि निवासगत्योः' स्थिरनिवासः आ वैश्वदेवीशंसनप्रस्थानात्। तथा ध्रुवाणामदित्यस्थाल्यादीनां मध्ये ध्रुवतमः अतिशयेन स्थिरः। तथा अच्युतानां च्युतिरहिताश्च क्षरणशून्यानां मध्ये अच्युतक्षित् अतिशयेनाच्युतक्षित् अच्युतक्षित्तमः। एष त इति सादनम्। हे ग्रह, एष ते योनिः स्थानं वैश्वनरायाग्नये त्वां त्वां सादयामि।

'ध्रुवहोतृचमसेऽवनयति ध्रुवं ध्रुवेणेति'। ध्रुवपात्रस्थं सर्वं सोमं होतृचमसे सिञ्चेत्। बृहती पूर्वोऽर्धर्चो ध्रुवदैवतः उत्तर ऐन्द्रः। प्रथमतृतीयावष्टाक्षरौ पादौ द्वितीयचतुर्थौ दशाक्षरौ सा बृहती 'वैराजौ गायत्रौ च' इति पिङ्गलोक्तेः। ध्रुवेणैकाग्रेण मनसा वाचा तन्मन्त्रोचारणप्रवणया ध्रुवं ध्रुवग्रहेऽवस्थितं सोममवनयामि होतृचमसेऽवसिञ्चामि। यद्वा धुवं ग्रहं सोमं होतृचमसस्थं प्रत्यवनयामि। अथा अनन्तरमिन्द्र इत्। इदेवार्थे। इन्द्र एव नोऽस्माकं विशः प्रजाः ईदृशीः करत् 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा. 3। 4। 97) इतीलोपः 'लेटोऽडाटौ' (पा. 3। 4। 94) इत्यडागमः। कीदृशीविशः। असपत्नाः नास्ति सपत्नो यासां ताः सपत्नरहिताः शत्रुशून्याः। तथा समनसः समानं मनो यासां ताः स्थिरमनस्काः धृतियुक्ता इत्यर्थः ।।25।।

षड्विंशी

यस्ते॑ द्र॒प्स स्कन्द॑ति॒ यस्ते॑ अ॒ꣳशुर्ग्राव॑च्युतो धि॒षण॑योरु॒पस्था॑त्। अ॒ध्व॒र्योर्वा॒ परि॑ वा॒ यः प॒वित्रा॒त्तन्ते॑ जुहोमि॒ मन॑सा॒ वष॑ट्कृत॒ꣳस्वाहा॑ दे॒वाना॑मु॒त्क्रम॑णमसि ।।२६।।

अन्वय : (हे सोम) ते यो द्रप्सः स्कन्दति, यस्ते अंशुः ग्रावच्युतः अधिषवणयोः उपस्थात् वा अध्वर्यों वा यो यः पवित्रात् परिं पवित्रे ते तं मनसा वषट् कृतं जुहोमि स्वाहा। (हे चात्वाल!) त्वम् देवानाम् उत्क्रमणम्, असि।

व्याख्या : हे सोम तुम्हार जो रस (की बूंद) भूमि पर गिर गया है, तुम्हारा जो अंश (खण्ड) पत्थर (सिलवट) पेषण काल में च्युत होकर इधर-उधर विखर गया है, या जो अंश अधिषवणफलक के उत्संग से गिर गया है, या अध्वर्यु के प्रमादवश नष्ट हो गया है, अथवा जो अंशु, छानननी (पवित्री) में से इधर उधर गिर गया है। [अर्थात जहाँ कहीं से भी तुम्हारा जो अंश गिर गया है] तुम्हारे उन सभी अमूल्य अंशों को मन से ग्रहण करके वषट्कार पूर्वक और स्वाहाकार पूर्वक हवन करता हूँ। हे चात्वाल! तुम देवों के सोपान स्वरुप हो (तुम्हारे द्वारा ही देवगण स्वर्ग को गमन करते हैं।]

इस मन्त्र में विप्रुड्होम का विधान है। सोभाभिषण काल में सोमग्रहण के समय जो सोमरस पृथिवी पर गिर जाता है उसी दोष की

निवृत्ति के लिए यह होम किया जाता है।

म॰ : 'यस्त इति विप्रुषाहोमं जुह्वतीति' (का. 9। 6। 27) अभिषवे ग्रहणे च पतितानां सोमबिन्दूनां ग्रहणाशक्यत्वात्तप्रत्यवायपरिहाराय घृतहोमस्य विप्रुडढोम इति संज्ञा तमध्वर्यादयो जुह्वति। सौमी त्रिष्टुप् स्वाहेति यजुरन्ता देवश्रवोदृष्टा। हे सोम, ते तव यो द्रप्सः रसैकदेशः स्कन्दति भूमावन्यत्र वा पतति। यश्च ते तवांशुः खण्डः। ग्रावच्युतः ग्राव्णः सकाशात्पतितः। यश्च अधिषवणयोः अधिषवणफलकयोरुपस्था-दुत्संगात्स्कन्दति। वा अथवा य अंशुरध्वर्योः सकाशात्स्कन्दति। वाथवा यः अंशुः पवित्रात्परिस्कन्दति। यतः कुतश्चित्परिस्कन्दतीति भावः। हे सोम, ते तव तं द्रप्समंशुं च स्वाहाकारेण जुहोमि। किंभूतं तम्। मनसा वषट्कृतं संकल्पितं वषड्कारेण च स्वाहाकरेण च जुहोमीत्यर्थः। 'अन्यतरतृणं चात्वाले प्रास्यतीति (का. 9। 6। 32)। अध्वर्युणा वेदार्थे तृणे गृहीते तयोरेकं चात्वाले क्षिपेत्। चात्वालदैवतम्। हे चात्वाल, त्वं देवानामुत्क्रमणसि उत्क्रामन्ति गच्छन्ति स्वर्ग यस्मात्तदुत्क्रमणं देवास्त्वत्तः स्वर्गं गच्छन्ति 'अतो हि देवाः स्वर्गमुपोदक्रामन्' (4। 2। 4। 4) इति श्रुतेः ।।26।।

सप्तविंशी

प्राणायं मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व व्यानायं मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वोदानायं मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व व्वाचे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व क्रतूदक्षाभ्यां मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व श्रोत्रांय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व चक्षुर्भ्यां मे वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम् ।।२७।।

अन्वय : (हे उपांशों) त्वं वर्चोदाः मे प्राणाय वर्चसे पवस्व प्रवर्तस्व। में व्यानाय वर्चसे पवस्व, मे उदानाय वर्चसे पवस्वं मे वाचे वर्चसे पवस्य में क्रतूदक्षाभ्यां वर्चसे पवस्व, में श्रोत्राय चक्षुर्भ्यां वर्चसे पवेथाम्।

व्याख्या : हे उपांशु! तुम स्वभाव से ही तेज के प्रदाता हो, तुम मेरे प्राणवायु के लिए तेज प्रदान करो (मेरे प्राणों में तेज भरने के लिए उद्योग करो) मेरे व्यानवायु में तेजस्विता का संचार करो। मेरे उदानवायु (कण्ठस्थित वायु) में तेज का संचार करो। मेरी वाणी में तेजस्विता का संचार करो। मेरे सामर्थ्य एवं निपुणता में बल का संचार करो। (हे

शुक्रामन्थिनौ) आप दोनों मेरे श्रवणेन्द्रिय और नेत्रों में तेज प्रदान करें।

इन मन्त्रों की अवकाश संज्ञा है। इनसे दस पदार्थों का अवेक्षण होता है।

म० : 'ग्रहानवेक्षयति यथागृहीतमवकाशान् वाचयन् प्राणायाम इति प्रतिमन्त्रमिति (का. 9। 7। 9) प्राणायेत्यादयो मन्त्रा अवकाशसंज्ञास्तान्वाचयेत्। ग्रहणक्रमेण ग्रहान्यजमानं दर्शयति। लिंगोक्तदेवतान्येकादश। यज्ञस्यैते प्राणास्तान्प्राणरूपेण दर्शयति। हे उपांशो, यस्त्वं स्वभावत एवं वर्चोदाः तेजसो दाता सः त्वं मे मम प्राणाय हृदयस्थितवायोर्वर्चसे पवस्व प्रवर्तस्व। उपांशुसवनम्। व्यानाय मे सर्वशरीरगतवायवे पवस्व। अन्यत्पूर्ववत्। अन्तर्यामं कण्ठदेशस्त्थो वायुरुदानः ऐन्द्रवायवम्। वागिन्द्रियाय मैत्रावरुणम्। क्रतुः कामः दक्षस्तस्य समृद्धिः तद्रूपसाधनरूपाय पवस्व प्रवर्तस्व। आश्विनं श्रोत्राय श्रोत्रेन्द्रियाय। शुक्रामन्थिनौ युगपत् हे शुक्रामन्थिनो, मे मम चक्षुषोः पाटवाय तद्रूपाय वर्चसे युवां पवेथां प्रवर्तेथाम् ।।27।।

अष्टाविंशी

आत्मनें मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वौजसे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वायुंषे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व विश्वाभ्यो मे प्रजाभ्यों वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम् ।।२८।।

अन्वय : (हे आग्रयणग्रह!) त्वं वर्चोदाः में आत्मने जीवस्य स्वास्थ्याय वर्चसे पवस्व। में ओजसे वर्चसे पवस्व, में आयुषे वर्चसे पवस्व वर्चोदसौ में विश्वाभ्यः प्रजाभ्यः वर्चसे पवेथाम्।

व्याख्या : हे आग्रयणग्रह तुम तेज प्रदान करने वाले हो, मेरे अपने व्यक्तित्व या स्वास्थ्य के लिए तेज प्रदान करो। मेरे शरीर में ओज बढ़ाने के लिए उद्योग (प्रयत्न) करो। मेरी आयु तथा कान्ति को बढ़ाने के लिए प्रयत्न करो। हे तेज के दाता पूतभृत् और आहवनीय तुम दोनों मेरी सम्पूर्ण सन्तति को तेजस्वी बनाओं।

म० : आग्रयणम्। ममात्मने जीवस्य स्वास्थ्याय वर्चसे पवस्व उक्थ्यम्। ओजः सर्वेन्द्रियपाटवं शरीरं बलं वा तद्रूपाय वर्चसे पवस्व। ध्रुवम् आयुर्निर्दुष्टजीवनं तद्रूपाय वर्चसेपवस्व। पूतभृदाहवनीयौ युगपदवेक्षते।

हे पूतभृदाहवनीयौ, सर्वाभ्यो मम प्रजाभ्यः प्रजार्थ यद्वर्चस्तेजस्तदर्थं युवां पवेथाम्। किंभूतौ युवाम्। वर्चो दत्तस्तौ वर्चोदसौ। सर्वत्र ददातेरसुन्प्रत्ययः। यद्वात्र प्राणायेत्यादिचतुर्थीनां षष्ठ्या विपरिणामः। प्राणव्यानादीनां यद्वर्चस्तदर्थ पवस्वेत्यर्थः। यद्वा यस्तं प्राणाय वर्चोदाः स मे वर्चसे ब्रह्मवर्चसाय पवस्व एवं सर्वत्र ।।28।।

एकोनत्रिंशी

कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि। यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम। भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याꣳसुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः ।।२९।।

अन्वय : (हे द्रोणकलश!) त्वं कोऽसि कतमः असि, कस्यासि को नामा असि, ते यस्य नामा मन्महि, यं त्वा सोमेन अतीतृपाम्। तर्पितवन्त। हे भूर्भुवः स्वः प्रजाभिः सुप्रजाः स्याम, वीरैः सुवीरः पोषैः सुपोषः (भवेयम्)।

व्याख्या : हे द्रोणकलश! तुम प्रजापति हो, तुम्हीं अतिशयेन प्रजापति हो, प्रजापति से सम्बद्ध हो तुम प्रजापति नाम वाले हो, हम तुम्हारे जिस नाम को जानते हैं, ऐसे द्रोणकलशरुप तुम्हें सोम से तृप्त करते हैं ऐसे प्रजापति रूप तुम हमारी कामनाओं को पूर्ण करो। हे भूमि, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक के अधिष्ठाता अग्नि वायु एवं सूर्य, देवताओं! आपके अनुग्रह से सुन्दर प्रजा (अच्छी सन्तान) वाला बनूँ। वीरपुत्रवान् एवं उत्कृष्टधन सम्पत्ति से ऐश्वर्यशाली होऊँ।

यहाँ 'क पद में प्रजापति विवक्षित है।' को वै प्रजापतिः

म॰ : 'कोऽसीति द्रोणकलशमिति' (का. 9। 7। 14)। द्रोणकलश-मवेक्षते। प्राजापत्या वर्धमानोष्णिक्। यस्याः प्रथमः पादः षडक्षरो द्वितीयः सप्ताक्षरस्तृतीयोऽष्टार्णश्चतुर्थो नवाक्षरः सा त्रिंशदूर्ना वर्धमानोष्णिक्। अध्यस्तप्रजापति द्रोणकलशमाह हे द्रोणकलश, त्वं कः प्रजापतिरिति। कतमोऽतिशयेन प्रजापतिरसि। तथा कस्य प्रजापतेरसि। को नाम प्रजापतिनामासि। प्रजापतेरनन्यभूतोऽसीत्यर्थः किंच वयं यस्य ते तव नाम अगन्महि विजानीमः 'मन ज्ञाने'। च पुनर्यं द्रोणकलशरूपं त्वां वयं सोमेन

अतीतृपाम तर्पितवन्तः स त्वमस्मान् विदितनाम्नः कुरु तर्पय च कामैरिति शेषः। 'भूर्भुवः स्वरिति जपतीति' (का. 9। 7। 5) हे भूर्भुवःस्वः अग्निवायुसूर्याः, प्रजाभिः अहं सुप्रजाः शोभनप्रजायुक्तः स्यां भवेयम्। वीरैः पुत्रैः सुवीरः स्यां पोषैः धनादिपुष्टिभिः सुपोषः शोभनपोषो भवेयम् ।।29।।

त्रिंशी

उपयामगृंहीतोऽसि मधंवे त्वोपयामगृंहीतोऽसि माधंवाय त्वोपयामगृंहीतोऽसि शुक्रायं त्वोपयामगृंहीतोऽसि शुचंये त्वोपयाम-गृंहीतोऽसि नभंसे त्वोपयामगृंहीतोसिनभस्यायत्वो पयामगृहीतो सीषे त्वोपंयामि गृहीतो ऽस्यूर्जे त्वौपयामगृंहीतोऽसि सहंसे त्वोपयामगृंहीतोऽसि सहस्याय त्वोपयामगृंहीतोऽसितपंसे त्वोपयामगृंही- तोऽसि तपस्याय त्वोपयामगृंहीतोऽस्यꣳहसस्पतयें त्वा ।।३०।।

अन्वय : (हे ऋतुग्रह) त्वम् उपयामगृहीतः असि, मधवे त्वा, माधवाय त्वा, शुक्राय त्वा, शुचये त्वा, नभसे त्वा, नभस्याय त्वा, इषे त्वा, ऊर्ज्जे त्वा, सहसे त्वा, सहस्याय त्वा, तपसे त्वा, तपस्याय त्वा, अंहसस्पतये त्वा (गृह्णामि)।

व्याख्या : हे ऋतुग्रह, तुम उपयामद्वारा गृहीत हो, अतः मधु नामक चैत्रमास के लिए मैं तुम्हें ग्रहण करता हूँ। वैशाख मास के लिए, ज्येष्ठमास के लिए आषाढ़मास के लिए, श्रावणमास के लिए, मेघों से घिरे भाद्रमास के लिए, आश्विनमास के लिए, कार्तिकमास के लिए मार्गशीर्षमासे लिए बलवर्धक पौषमास के लिए माघमास के लिए तथा फाल्गुन मास की प्रसन्नता के लिए तुझे ग्रहण करता हूँ। मलमास सूर्य की गति से होने वाले अधिकमास के प्रीत्यर्थ तुझे ग्रहण करता हूँ।

इस मन्त्र में यथाक्रम बारह महीनों के वैदिक नाम है।

म० : ऋतुग्रहैश्चरतो द्रोणकलशादुपयामगृहीतोऽसि मधवेत्वेति द्वादश प्रतिमन्त्रमध्वर्योः पूर्वः पूर्वो मन्त्र उत्तर उत्तरः प्रतिप्रस्थातुरिति' (का. 9। 13। 1-4)। अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारावृतुग्रहैद्वादशभिरनुतिष्ठतः उपयामेत्यादयो द्वादश मन्त्राः तत्र षट्सु मन्त्रयुग्मेषु पूर्वः पूर्वो मन्त्रेऽध्वर्योः उत्तर उत्तरः प्रतिप्रस्थातुरिति मन्त्रविवेकः। द्वादश लिंगोक्तानि। हे ऋतुग्रह, त्वमुपयामेन गृहीतोऽसि मधवे मधुनाम्ने चैत्रमासाय त्वां गृह्णामीति शेषः।

माधवाय वैशाखाय त्वां गृह्णामि। मधुमाधवौ वासन्तौ मधुप्रमुखमन्नं वसन्ते प्रपद्यते। शुक्राय ज्येष्ठाय त्वां गृह्णामि। शुचये आषाढमासाभिमानिदेवार्थं त्वां गृह्णामि। शुक्रशुची ग्रीष्ममासौ 'शुच शोषणे' इत्यस्य धातोः। नभसे श्रावणमासाय सोम, त्वां गृह्णामि। नभोनभस्यौ वार्षिकौ मासौमेघबाहुल्यान्न भात्यत्र सूर्य इति नभा नभस्यश्च इषे आश्विनमासाय त्वां गृह्णामि ऊर्जे कार्तिकमासाय त्वां गृह्णामि। इषमन्नम् ऊर्जं तदुपसेचनं दध्यादि तदत्र प्रचुरं भवति मतुपोलोपादभेदोपचाराद्वा ऊर्क्शब्देन शारदौ मासावुच्येते। सहसेमार्गशीर्षमासाय। सहस्याय पुष्यमासाय। सहःसहस्यौ हैमन्तिकौ मासौ। सहतेः प्रसहनार्थस्य प्रयोगः। प्रसहनमभिभवनम्। यतो हेमन्तः शीतेन नरानभिभवति। तपसे माघमासाय तपस्याय फाल्गुनाय। तपस्तपस्यौ शैशिरौ मासौ। तपति सूर्यो यत्रत्यन्तं स तपास्तपस्यश्च। 'त्र्योदशं गृह्णीयादिच्छन्नुपयामगृहीतोऽस्यंᳬह-सस्पतये त्वां (का. 9। 13। 18) इति इच्छन्नध्वर्युस्त्रयोदशमृतुग्रहं गृह्णीयात् ऐच्छिको विकल्पः। हे ग्रह, त्वमुपयामेन पात्रेण गृहीतोऽसि ताहशं त्वामंहसः पतयेऽधिकमासाधिष्ठात्रे गृह्णामीति शेषः। अंहः पापं तस्य पतिः। मलमासत्वादयं द्वादशस्वपि पतति यद्वांसहतेर्गतिकर्मणाऽसुन्प्रत्ययान्तस्य रूपमह इति। अंहनमंहो गतिस्तस्य पतिः त्रयोदशो मासः आदित्यगतिवशेन जायते ॥30॥

एकत्रिंशी

इन्द्राग्नीऽआगतᳬसुतं गीर्भिर्नभोवरेण्यम्। अस्य पातं धियेषिता॥
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राग्निभ्यान्त्वैष ते योनिरिन्द्राग्निभ्यां त्वा ॥३१॥

अन्वय : (हे) इन्द्राग्नी गीर्भिः नभो वरेण्यं सुतम आगतम्। इषिता धिया अस्य पातम्। उपयाम गृहीतोसि इन्द्राग्निभ्यां त्वा (सादयामि)।

व्याख्या : हे इन्द्राग्नी आप दोनों हमारी स्तुतियों से प्रेरित होकर आदित्य के समान वरणीयतेज प्रदाता या स्वर्गस्थ देवों से प्रार्थनीय सोम ग्रहण के लिए आइये। आप दोनों हमारी स्तुति से प्रसन्न होकर सोमपान के लिए आइये। आप दोनों यहाँ आकर स्वेच्छया रूचिपूर्वक सोम का पान करें। हे सोम तुम उपयामसंज्ञककलश से गृहीत हो। (हे ग्रह) इन्द्र एवं अग्नि की प्रीति (प्रसन्नता) के लिए तुझे ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है। मैं इन दोनों के निमित्त तुम्हें स्थापित करता हूँ।

म॰ : 'ऐन्द्राग्नं गृह्णाति' (का. 9। 13। 20)। प्रतिग्रस्थातेन्द्राग्निदेवताकं ग्रहं गृह्णीयात्। ऐन्द्राग्री गायत्री विश्वामित्रदृष्टा। हे इन्द्राग्नी, युवां सुतमभिषुतं सोमं प्रति आगतमागच्छतम्। गच्छतेर्व्यत्ययेन शपो लुक् 'अनुदात्त-' (पा. 6। 4। 37) इति मलोपश्च। किंभूतं सोमम्। गीर्भिर्नभोवरेण्यंगीर्भिः त्रयीलक्षणाभिर्वाग्भिः नभ इवादित्य इव वरेण्यौ वरणीयः प्रार्थनीयस्तम्। 'नभ आदित्यो भवति नेता भासां ज्योतिषां प्रभवोऽपि' (नि. 2। 22) इति यास्कोक्तेर्नभ आदित्यः लुप्तोपमानम्। यद्वा गीर्भिः स्तुतिरूपाभिर्वाग्भिः युतमिति शेषः। नभो नभःस्थितैः स्वर्गरथैर्देवैर्वरेण्यं प्रार्थनीयम्। नभःशब्देन लक्षणया नभःस्था देवा उच्यन्ते। किंच हे इन्द्राग्नी, युवामस्य सोमस्य संबन्धिनं स्वमंशं पातं पिबतम्। पिबादेशाभावश्छान्दसः। किंभूतौ युवाम्। धियेषिता धिया यजमानयुज्या इषितौ प्रेषितौ प्रार्थितौ। एवं देवानुक्त्वा सोममाह हे सोम, उपयामेन ग्रहेण गृहीतोऽसि हे ग्रह, इन्द्राग्निभ्यामर्थे त्वां गृह्णामीति शेषः। एष त इति सादनम्। एष तव योनिः स्थानम्। इन्द्राग्निभ्यामर्थे त्वां सादयामि ।।31।।

द्वात्रिंशी

आ घा येऽअग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्। येषामिन्द्रो युवा सखा। उपयामगृहीतोऽस्यग्नीन्द्राभ्यां त्वैष ते योनिरग्नीन्द्राभ्यां त्वा ।।३२।।

अन्वय : ये यजमानाः अग्निं आ इन्धते (आदीपयन्ति) यजन्ति आनुषक् क्रमेण बर्हिः स्तृणन्ति, येषां युवा इन्द्रः सखा। हे सोम उपयाम गृहीतः असि, इन्द्राग्निभ्यां त्वां गृह्णामि। एष ते योनिः अग्नीन्द्राभ्यां त्वा(सादयामि)।

व्याख्या : जो भक्तजन (यजमान) विविध यागों में अग्नि को प्रदीप्त करते हैं अर्थात–नित्यअग्निहोत्र आदियाग करते हैं, और यथाक्रम (विधिपूर्वक) देवताओं के लिए आसनार्थ कुशाओं को बिछाते हैं। हे सोम, उनके यज्ञ में उपयाम ग्रह द्वारा तुम स्वीकृत हो। अग्नि और इन्द्र देवों के लिए मैं तुम्हें ग्रहण करता हूँ। हे सोम यह तुम्हारा स्थान है, इन दोनों के लिए मैं तुम्हें स्थापित करता हूँ।

म॰ : अग्नीन्द्रदेवत्या गायत्री त्रिशोकदृष्टा। अस्या विनियोगः कात्यायनेनोक्तः। ऐन्द्राग्नग्रहे एव विकल्पः शाखान्तरे। ये यजमाना अग्निमा

इन्धते आदीपयन्ति इष्टिपशुसोमचातुर्मास्यैर्यजन्तीत्यर्थः। घेत्यनर्थको निपातः। तस्य संहितायाम् 'ऋचि तुनुघ-' (प. 6। 3। 133) इत्यादिना दीर्घः। ये चानुषक् आनुपूर्व्येण क्रमेण बर्हिःस्तृणन्ति आच्छादयन्ति अनुषज्यते अनु क्रमेणासज्यते स्तीर्यत इत्यनुषक्। कर्मणि क्विप्। अकारस्य संहितायां दीर्घः। 'आनुषगिति नामानुपूर्वस्यानुषक्तं भवति' (नि. 6। 14) इति यास्कोक्तेरानुषक्शब्देनानुपूर्वमुच्यते। किंच येषां यज्वनां युवा जरामृत्युरहित इन्द्रः सखा मित्रवदुपकारकः। हे सोम, तेषां यज्ञे उपयामेन ग्रहेण त्वं स्वीकृतोऽसि अग्नीन्द्रदेवार्थ त्वां गृह्णामि। सादयति हे सोम, एष ते योनिः अग्नीन्द्राभ्यामर्थे त्वां सादयामि ।।32।।

त्रयस्त्रिंशी

ओमा॑सश्चर्षणीधृतो विश्वे॑देवास आग॑त। दाश्वाꣳसो॑ दाशुषः॑ सुतम्। उपयामगृ॑हीतोऽसि विश्वे॑भ्यस्त्वा देवेभ्य॑ एष ते योनिर्विश्वे॑भ्यस्त्वा देवेभ्यः॑।।३३।।

अन्वय : हे विश्वेदेवासः ओमासः चर्षणीधृतः यूयम् आगत आगच्छत। सुतं दाशुषः दाश्वांसः कामान्पूरयन्त। हे सोम उपयाम गृहीतोअसि। विश्वेभ्यः देवेभ्य त्वा (गृहणामि)। (हे सोम) एष ते योनिः। विश्वेभ्यः देवेभ्यः त्वा (सादयामि)।

व्याख्या : हे विश्वेदेवो! आप हमलोगों के रक्षक एवं मनुष्यों को करने वाले हैं। अनिष्ट को दूर करना ही रक्षण है, तथा इष्ट की प्राप्ति कराना पोषण है। आप हमारे यहाँ आइए। अभिषुत सोमरस प्रदान करने वाले यजमान की कामनाओं को पूर्ण करे। हे सोम, तुम उपयाम ग्रहपात्र द्वारा स्वीकृत हो। सभी देवों के निमित्त तुम्हें ग्रहण करता हूँ। हे सोम! यह तुम्हारा स्थान हैं। सभी देवताओं के लिए तुम्हें स्थापित करता हूँ।

म० : 'वैश्वदेवं गृह्णाति शुक्रपात्रेण द्रोणकलशादन्वारब्धेवौमास इति' (का. 9। 14। 1)। अध्वर्यौ यज्वना स्पृष्टेऽस्पृष्टे वा सति द्रोणकलशाच्छुक्रपात्रेण वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णीयात्। वैश्वदेवी गायत्री मधुच्छन्दोदृष्टा। हे विश्वेदेवासः विश्वेदेवाः, यूयमागत आगच्छत। किंभूता यूयम्। ओमासः ओमाः 'अवन्तीत्योमा रक्षितारः अवितारो वावनीया वा' (नि. 12। 40) इति यास्कोक्तेः। तर्पयितारस्तर्पणीया वा। अवतेर्मक्प्रत्ययः संप्रसारणं च।

तथा चर्षणीधृतः चर्षणयो मनुष्यास्तान्धरन्ति पुष्णन्ति तैर्वा ध्रियन्ते ते चर्षणीधृतः चर्षणिशब्दस्य संहितायां दीर्घः। अनिष्टनिरसनं रक्षणम् इष्टप्रापणं पोषणमित्यवनधरणयोर्भेदः। तथा सुतमभिषुतं सोमं दाशुषः दत्तवतो यजमानस्य दाश्वांसः फलं दत्तवन्तः। कामान्पूरयन्त इत्यर्थः। यद्वा सुतं सोमं पातुमिति शेषः। 'दाश्वान्–' (पा. 6। 1। 12) इत्यादिना निपातः। हे सोम, त्वमुपयामेन स्वीकृतोऽसि। विश्वेभ्यो देवेभ्योऽर्थाय त्वां गृह्णामीति शेषः। सादयति एष ते योनिः विश्वेभ्यो देवेभ्योऽर्थाय त्वां सादयामि ।।33।।

चतुस्त्रिंशी

विश्वेदेवास आगत शृणुता म इमꣳ हवम्। एदं बर्हिर्निषीदत। उपयामगृहीतोऽसि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यऽएष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ।।३४।।

अन्वय : हे विश्वेदेवासः विश्वेदेवाः यूयम् आगत आगच्छत। मे इमं हवं श्रृणुत। इदं बर्हिः आ निषीदत। (हे सोम) त्वम् उपयाम पात्रेण गृहीतोसि। विश्वेभ्यो देवेभ्यः त्वा (गृह्णामि)। हे सोम) एष ते योनिः विश्वेभ्यो देवेभ्यः त्वा (सादयामि)।

व्याख्या : हे विश्वेदेवों! आप लोग हमारे यज्ञ में आये तथामेरी प्रार्थना (आह्वान) को सुनें। इस कुशा के आसन पर आप विराजमान हों। हे सोम तुम उपयाम पात्र द्वारा स्वीकृत हो। सभी देवों के लिए मैं तुम्हें ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है, सभी देवों के लिए मैं तुम्हें स्थापित करता हूँ।

इस मन्त्र के द्वारा वैश्वदेवग्रहग्रहण की विधि सम्पन्न होती है। यहाँ प्रातः सवन के सभी ग्रह पूर्ण होते हैं।

म० : वैश्वदेवी गायत्री गृत्समददृष्टा वैश्वदेवग्रहग्रहण एव विकल्पेनाम्नाता। हे विश्वेदेवासः, यूयमागत अस्मद्यज्ञं प्रत्यागच्छत। आगत्य च मे ममेमं हवमाह्वानं श्रृणुत। श्रुत्वा इदंमदीयं बहिंः आनिषीदत बर्हिष उपर्युपविशत। उपयामेति पूर्ववत् ।।34।।

पञ्चत्रिंशी

इन्द्र मरुत्वऽइह पाहि सोमं यथा शार्याते अपिबः सुतस्य। तव प्रणीती तव शूर शर्मन्नाविवासन्ति कवयः सुयज्ञाः ।। उपयाम–

गृहीतोसीन्द्राय त्वा मरुत्वंत एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वंते ।।३५।।

अन्वय : मरुत्वः (मरुद्भिः सह) हे इन्द्र! इह सोमं पाहि (पिब) यथा शार्याते: सुतस्य सोमांशं अपिबः (पीतवान्) असि। हे शूर! तव प्रणीती सुयज्ञाः कवयः तव शर्मन् आविवासन्ति। (हे सोम) त्वं उपयाम गृहीतः असि, विश्वेभ्यः देवेभ्यः त्वा (गृह्णामि)। (हे सोम) एष ते योनिः विश्वेभ्य देवेभ्यः त्वा (सादयामि)।

यहाँ से माध्यन्दिनसवन ग्रहग्रहण की विधि प्रारम्भ होती है। भगवान सूर्य जब अन्तरिक्ष के मध्य में पहुँचते है तब माध्याग्नि सबन के कृत्य प्रारम्भ होते हैं।

व्याख्या : मरुतों के सहित हे इन्द्रदेव, आप हमारे इस यज्ञ में सोमपान करें, जैसे आपने मनुपुत्र शर्याति के यज्ञ में अभिषुत सोमरस का पान किया था। हे शूरवीर आपकी अनुज्ञा (प्रेरणा) से ही आपके प्रेमीजन श्रौतयज्ञों का सम्पादन करनेवाले क्रान्तदर्शीजन, आपकी शरण में आते हैं। हे सोम तुम उपयाम द्वारा गृहीत हो। मरुतों से युक्त इन्द्रदेव के लिए तुम्हें स्थापित करता हूँ।

म० : एते प्रातःसवनग्रहाः पूर्णाः। अथ माध्यन्दिसनवनग्रहा उच्यन्ते। 'माध्यन्दिने सवने मरुत्वतीया गृह्यन्ते' इति तित्तिरिवचनात्। तेषु त्रयो मरुत्वतीयास्तत्र प्रथममाह। 'मरुत्वतीयमृतुपात्रेणेन्द्र मरुत्व इति' (का. 10। 1। 14) ऋतुपात्रेण मरुत्वतीयं ग्रहं गृह्णीयात्। ऐन्द्रमारुतीश्चतस्त्रस्त्रिष्टुभो विश्वामित्रदृष्टाः। मरुतो देवा विद्यन्ते यस्य स मरुत्वान् तस्य संबोधनं हे मरुत्वः, 'मतुवसो रु संवुद्धौ छन्दसि' (पा. 8। 3। 1) इति रुत्वम्। मरुद्भिः सहित हे इन्द्र, इहास्मदीये यज्ञे सोमं पाहि पिब। कथं पातव्यस्तत्राह। यथा शार्याते शर्यातिर्नाम कश्चिद्राजा तस्य संबन्धिनि यज्ञे। सुतस्याभिषुतस्य सोमस्यांशमपिबः पीतवानसि। तद्वदिह पिब। 'शार्यातो ह वा इदं मानवो ग्रामेण चचार' (4। 5। 2) इति श्रुतिः। किंच हे शूर वीर, तव प्रणीती प्रणीत्या प्रणयनेनानुज्ञया सुयज्ञाः कल्याणयज्ञाः कवयः क्रान्तदर्शनास्तव शर्मन्सुखनिमित्ते शर्मणि यज्ञगृहे वा आविवासन्ति त्वां परिचरन्ति। विवासतिः परिचर्यार्थः। उपयामेन सोम, त्वं गृहीतोऽसि मरुत्वत इन्द्राय त्वां गृह्णामि। सादयति एष ते योनिः मरुत्वते इन्द्राय त्वां सादयामि ।।35।।

षट्त्रिंशी

मरुत्वंन्तं वृषभं वांवृधानमकंवारिं दिव्यꣳ शासमिन्द्रंम्। विश्वासाहमवंसे नूतंनायोग्रꣳ संहोदामिह तꣳ हुंवेम ।। उपयामगृंहीतोऽसीन्द्रांय त्वा मरुत्वंत एष ते योनिरिन्द्रांय त्वा मरुत्वंते। उपयामगृंहीतोऽसि मरुतान्त्वौजंसे ।।३६।।

अन्वय : तम् इन्द्रम् इह आ हुवेम। कीदृशं? मरुत्वन्तं वृषभं वावृधानं अकवारिम् दिव्यं शासम् विश्वसाहं सहोदां नूतनाय अवसे उग्रम् इन्द्रं हुवेम। (हे सोम) उपयाम गृहीतः असि। मरुत्वते इन्द्राय त्वा (सादयामि) (हे मरुत्वतीय ग्रह) मरुताम् ओजसे त्वा (गृह्णामि) उपयाम गृहीत असि।

व्याख्या : उस तेजस्वीस्वभाव वाले इन्द्रदेव को यहाँ इस यज्ञ में आवाहन करते हैं, जो मरुद्गणों से युक्त अभीष्टकामनाओं की वर्षा करने वाले या (वृष्टि कराने वाले) ओषधियों को बढ़ाने वाले दुखभंजक या उत्कृष्टऐश्वर्य से सम्पन्न स्वर्ग के शासक, समस्त शत्रुओं पर विजय पाने वाले, बल से शत्रुओं को दमन करने वाले हैं। ऐसे इन्द्र को इस नूतन यजमान की रक्षा के लिए यज्ञ में आवाहन करते है। (हे सोम) तुम उपयाम द्वारा गृहीत हो, अतः मैं तुम्हें मरुतों से युक्त इन्द्र के लिए ग्रहण करता हूँ। (हे मरुत्वतीय ग्रह) मरुद्गणों के बल के लिए मैं तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। तुम उपयाम पात्र द्वारा गृहीत हो।

म० : द्वितीयं मरुत्वतीयमाह 'वशिना मरुत्वतीयग्रहणं मरुत्वन्ममिति' (का. 10। 3। 6)। रिक्तेन पात्रेण सशस्त्रमरुत्वतीयग्रहणम्। इहास्मिन्नस्मदीये यज्ञे तमिन्द्रं वयं हुवेम आह्वयामः। ह्वेञः शपि व्यत्ययेन संप्रसारणम्। किंभूतमिन्द्रम्। मरुत्वन्तं मरुद्रणोपेतम्। वृषभं जलस्य वर्षितारम्। वाबृधानम्। संहितायां दीर्घः। वर्धते कामान्वर्धयति वा ववृधानस्तम्। 'बहुलं छन्दसि' (पा. 2। 4। 76) इति वर्धतेः शानचि जुहोत्यादित्वेन श्लुः 'श्लौ' (पा. 6। 1। 10) इति द्वित्वम्। अकवारि कुत्सिता अरयो यस्य स कवारिः न कवारिरकवारिस्तं यस्य शत्रवोऽप्यकुत्सिता वृत्रादयः। यद्वा अकुत्सितमियर्ति ऐश्वर्यं प्राप्नोतीत्यकवारिस्तम् उत्कृष्टैश्वर्यम्। दिव्यं दिविभवं द्युलोकस्थम्। शासं शास्तीति शासः पचाद्यच्। शासितारंदुष्टानाम्। यद्वा शासनं शासनस्तद्वन्तम्।

अर्शआदित्वाद्च्। प्रशासनवन्तम्। विश्वासाहं विश्वं पालयितुं सहते स विश्वासाट् तम्। अनलसमित्यर्थः। 'भजसहवहाम्' इति विण्। यद्वा सहतिरभिभवार्थः। स्वधर्मच्युतस्य विश्वस्य सर्वस्याभिभवितारम्। नूतनाय अवसे नवीनाय पालनाय इदानींतनयजमानरक्षणाय उग्रमुद्गूर्णवज्रम्। सहोदां सहो बलं ददाति सहोदास्तं क्विंप् बलप्रदम्। उपयाम एष ते एतद्यजुर्द्वयं व्याख्यातम्। तृतीयं मरुत्वतीयोऽयम्। मरुत्वद्देवत्यं यजुः। हे मरुत्वतीय ग्रह, मरुतां देवानामोजसे बलाय त्वां त्वां गृह्णामीति शेषः। ओज इति बलनाम। स त्वमुपयामेन गृहीतोऽसि स्वबलं निधायेन्द्रं प्रत्यागता मरुतोऽनेन ग्रहेण गृहीतेन सबला जाता इति भावः ॥36॥

सप्तत्रिंशी

सजोषांऽइन्द्र सगंणो मरुद्भिः सोमं पिब वृत्रहाशूंर विद्वान्। जहि शत्रूँ ॥2॥ रप मृधों नुदस्वाथाभंयं कृणुहि विश्वतों नः ॥ उपयामगृंहीतोसीन्द्राय त्वा मरुत्वंत एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वंते ॥३७॥

अन्वय : हे शूर इन्द्र! सजोषाः सगणः मरुद्भिःसह सोमं पिब, (यतः) (त्वम्) वृत्रहा, शत्रून् जहि, मृधः अपनुदस्व। अथ नः विश्वतः अभयं कृणुहि। (हे सोम) उपयाम गृहीतः असि, मरुत्वतः इन्द्राय त्वा (गृह्णामि)। (हे सोम) एष ते योनिः, मरुत्वते इन्द्राय त्वा (सादयामि)।

व्याख्या : हे शूरवीरइन्द्र! आप प्रसन्नतापूर्वक अपने गणों के सहित तथा मरुद्गणों के साथ सोम का पान करें क्योंकि आप वृत्र के विनाशक तथा सर्वज्ञ हैं। अतः हमारे शत्रुओं को नष्ट करें, संग्रामभूमि से बैरियों (शत्रुओं) को दूर करें। इस प्रकार हमें शत्रुरहित करके सभी से निर्भय करें। (हे सोम) तुम उपयाम द्वारा गृहीत हो अतः मैं मरुतों से युक्त इन्द्र के लिए तुम्हें ग्रहण करता हूँ। हे सोम। यह तुम्हारा स्थान है, मरुतों से युक्त इन्द्रदेव के लिए तुम्हें मैं स्थापित करता हूँ।

म० : सजोषा इन्द्रेति (37) मरुत्वां इन्द्रेति (38) ऋग्द्वयस्य सोपयामस्य मरुत्वतीयग्रहणे एव विनियोगः वाचस्तोमे 'वाचस्तोमाश्चत्वारः' (22।6।24) इति कात्यायनोक्तेः मरुत्वां इन्द्रेति मरुत्वतीयमित्याश्वलायनोक्तेश्च। हे इन्द्र, हे शूर, वीर, त्वं सोमं पिब। किंभूतस्त्वम्। सजोषाः

'जुषी प्रीतिसेवनयोः' जोषणं जोषः प्रीतिः असुन्प्रत्ययः। तेन सह वर्तमानः संतुष्टः मरुद्भिः कृत्वा सगणः सपरिवारः। मरुद्गणसहित इत्यर्थः। वृत्रहा वृत्रं दैत्यं हन्तीति। अनेन सोमपानेन वृत्रं हनिष्यसीत्यर्थः। विद्वानेतमर्थ जानानः ततः सोमं पीत्वा शत्रून् वृत्रादीन् जहि मारय। किंच मृधः संग्रामान् अपनुदस्व। 'नुद प्रेरणे' युद्धं निवर्तयेत्यर्थः। 'दीर्घादटि समानपदे' (पा. 8। 3। 9) इति शत्रुनिति नस्य रुत्वं पूर्वस्य सानुनासिकत्वम्। यद्वा मृधः इति पञ्चम्येकवचनं। मृधः संग्रामात् अपनुदस्व शत्रूनित्यस्यानुपन्नः। ये हतावशिष्टाः शत्रवस्तान् संग्रामात् पलायनार्थं प्रेरयस्व। प्राणादानं कुर्वित्यर्थः। एवं रिपुनाशं कृत्वाथानन्तरं नोऽस्माकं विश्रुतः सर्वतः अभयंकृणुहि कुरु 'कृञ् करणे' स्वादिः। उपयामेति व्याख्यानं शत्रूनपेत्यत्र 'दीर्घादटि समानपदे' (पा. 8। 3। 9) इति नस्यरुत्वम् 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' (पा. 7। 3। 2) तत्पूर्वस्य ऊकारस्यानुनासिकत्वम् ।।37।।

अष्टत्रिंशी

म॒रुत्वाँ॑ २।। इन्द्र वृ॒ष॒भो रणा॑य पिबा॒ सोम॑मनुष्व॒धं मदा॑य। आसि॑ञ्चस्व ज॒ठरे॒ मध्व॑ऽऊ॒र्मिन्त्वꣳराजा॑सि॒ प्रति॑पत्सुताना॑म् ।। उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑त ए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑ते ।।३८।।

अन्वय : हे इन्द्र! मरुत्वान् वृषभः अनुष्वधं सोमं मदाय रणाय (च) आ पिब। मध्वः ऊर्मिं जठरे आसिञ्च। हे इन्द्र त्वं प्रतिपत्सुतानां राजा असि, (हे सोम) त्वम् उपयाम गृहीतः असि। मरुत्वते इन्द्राय त्वा (गृह्णामि)। (हे सोम)। एष ते योनिः मरुत्वत इन्द्राय त्वा (सादयामि)।

व्याख्या : मरुद्गणों से युक्त, जल की वर्षा करनेवाले हे इन्द्र देव! स्वधापूर्वक दिये गये पुरोडाशसमन्वित सोम का (पुरोडाशधानामन्थ दधिसमन्वित सोम) हर्ष प्राप्ति तथा युद्ध में शौर्य प्रदर्शन के लिए अच्छी तरह पान कीजिए। इस मधुरस्वादयुक्त सोमरस की लहरियों का आप अपने उदर में सिञ्जन करें, क्योंकि प्रतिपदा प्रभृति तिथियों में अभिषुत सोमों के आप स्वामी है। (हे सोम) तुम उपयाम द्वारा गृहीत हो, मरुतों से युक्त इन्द्रदेव के लिए मैं तुम्हें ग्रहण करता हूँ। आपके इस स्थान में मरुतों से युक्त इन्द्र को स्थापित करता हूँ।

म० : हे इन्द्र, त्वं सोमं पिब 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा. 6। 3। 135) इति संहितायां दीर्घः। किमर्थम्। मदाय तृप्तये रणाय संग्रामाय च। मदे सतीन्द्रो योद्धा भवति। किंभूतस्त्वम्। मरुत्वान् मरुतोऽस्य सन्तीति मरुद्गणसंयुक्तः। वृषभः वर्षिता जलानाम्। किंभूतं सोमम्। अनुष्वधम् अनु पश्चात् स्वधान्तानि पुरोडाशधानामन्थदधिपयस्यालक्षणानि यस्य सोऽनुष्वध स्तं 'पूर्वपदात्-' (पा. 8। 3। 106) इति षत्वम्। कथं पिबेत्यत्राह। मध्वः मधुनो मधुस्वादोपेतस्य ऊर्भिं कल्लोलं जठरे उदरे आसिञ्चस्व। 'अनित्यमागमशासनम्' इति मध्व इत्यत्र नुमभावः। सोमपाने हेतुमाह। हे इन्द्र, त्वं प्रतिपत्सुतानां प्रतिपत्प्रभृतिषु तिथिषु अभिषुतानां सोमानां राजासि ईश्वरोऽसि किमुत चतुर्दश्यन्तेऽभिषुतानां त्वदर्थमेव सर्वासु तिथिषु सोमोऽभिषूयत इत्यभिप्रायः। छन्दोगानां सवने प्रतिपद्विद्यतेति प्रतिपद्ग्रहणम्। उपयाम एष ते इति व्याख्याते ।।38।।

एकोनचत्वारिंशी

मऽहाँ २।। ऽइन्द्रौ नृवदाचर्षणिप्रा उत द्विवर्हा अमिनः सहौभिः। अस्मद्र्यग्वावृधे वीर्यायोरुः पृथुः सुकृतः कर्तृभिर्भूत् ।। उपयामगृहीऽतोसि महेन्द्राय त्वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा ।।३९।

अन्वय : महान् इन्द्रः नृवद् (मनुष्यवत्) आचर्षणीप्राः उत सहोभिःअमिनः द्विबर्हः अस्मद्र्यक् वीर्याय वावृधे। उरुः पृथुः कर्तृभिः सुकृतः भूत् (भवतु)। (हे ग्रह) उपयामगृहीतः असि। महेन्द्राय त्वा (गृह्णामि) एष ते योनिः महेन्द्राय त्वा (सादयामि)।

व्याख्या : महान् हैं वे इन्द्र, जो अत्यधिक प्रभावशाली होते हुए भी आवाहन करने पर मनुष्य की भाँति सरलता से चले आते हैं तथा मनुष्यों की अभीष्टकामनाओं को पूर्ण करते हैं। वे बल एवं साहस में अपरिमित सामर्थ्य से सम्पन्न है, अन्तरिक्षएवं द्युलोक के स्वामी है, वे हमारे अनुकूल होकर वीरता के कार्यों में अपने पराक्रम से वृद्धि को प्राप्त होते हैं। ऐसे वर्धमान इन्द्र महायशस्वी अतुलित पराक्रमवाले यज्ञकर्ताओं से पूजित होकर (हमारा कल्याण करें)। हे ग्रह तुम उपयाम ग्रहपात्र द्वारा गृहीत हो, मैं महेन्द्र के लिए तुम्हें ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है। महेन्द्र के लिए तुम्हें स्थापित करता हूँ।

म॰ : 'माहेन्द्रं गृह्णाति वैश्वदेववन्महाँ२इन्द्र इति' (का. 10। 3। 10)। यथा वैश्वदेवग्रहः शुक्रपात्रेण गृहीतस्तथा माहेन्द्रं ग्रहं तेनैव गृह्णीयात्। माहेन्द्री त्रिष्टुप् भरद्वाजदृष्टा। तृतीयपादो नवाक्षरः। इन्द्रो वीर्याय वीरकर्मणे वावृधे वर्धते। 'छन्दसि लङ्लडिटः' (पा. 3। 4। 6) इति वर्तमानेलिट् संहितायामभ्यासदीर्घः। किंभूत इन्द्रः। महान्महाप्रभवः तथापि नृवन्मनुष्यवत् आहूयमान आगच्छति। यद्वा नृवन्मनुष्यवत् आचर्यणिप्राः आ समन्ताश्चर्षणीन्मनुष्यान् प्राति अभीष्टकामैः पूरयतीत्याचर्षणिप्राः। 'प्रा पूरणे' क्विप्। यथा राजा अमात्यादिर्मनुष्यासेवकानभीष्टकामैः पूरयति तद्वत्। उतापिच द्विवर्हाः 'वृहि वृद्धौ' बर्हणं बर्हः वृद्धि असुन्प्रत्ययः। द्वयोः प्रकृतिविकृतिरूपयोः सोमयागयोर्बर्हो यस्य स द्विवर्हौः। यद्वा द्वयोः स्थानयोर्बर्हौः वृद्धः परिवृद्धः प्रभुः मध्यमे स्थाने उत्तमे च। तथा सहोभिः बलैः अमिनः अमितः उपमारहितः। अतोलितबल इत्यर्थः। 'अमिनोऽमितमात्रे महान्भवत्यभ्यनितो वा' (नि. 6। 16) इति यास्कोक्तेः। यद्वा सहोभिः शतबलैरभितः अप्रक्षिप्तः। अनुपहिंसित इत्यर्थः। 'डुमिञ् प्रक्षेपे'। मीञ् हिंसायाम्' इत्यस्य वा प्रयोगः। पूर्वपक्षे माने सर्वत्र निष्ठानत्वमार्षम् तथा अस्मच्छत्ब्दे उपपदेऽञ्चतेः क्विप् 'विष्वग्देवयोश्च' (पा. 6। 3। 92) इत्यादिना क्विबन्तेऽञ्चतौ परेस्यमच्छब्दस्य टेरद्यादेशः 'उगिदचाम्–' (पा. 7। 1। 70) इति प्राप्तस्य नुमोऽभावाच्छान्दसः। स वर्धमान इन्द्र ईदशो भूत् भवतु। लोडर्थे लुङ्। अडभावश्छान्दसः। क्रीदृशः। उरुः यशसा विपुलः पृथुः बलेन विस्तृतः कर्तृभिर्यजमानैः सुकृतः साधुकृतः सत्कृतः पूजित इत्यर्थः। हे ग्रह, त्वमुपयामेन गृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वां गृह्णामि। सादयति एष ते योनिः महेन्द्राय त्वा सोदयामि ।।39।।

चत्वारिंशी

म॒हाँ २।। इन्द्रो॒ यऽओज॑सा प॒र्जन्यो॒ वृष्टि॒माँ २ऽ इ॑व। स्तोमै॑र्व॒त्सस्य॑ वावृधे। उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि मह॒न्द्राय॑ त्वै॒ष ते॒ योनि॑र्मह॒न्द्राय॑ त्वा ।।४०।।

अन्वय : सोऽयमिन्द्रो महान् यः ओजसा पर्जन्य इव वृष्टिमान् वत्सस्य स्तोमैः वावृधे वर्धते। (हे ग्रह) उपयाम गृहीतः असि। महेन्द्राय त्वा गृह्णामि, एष ते योनिः महेन्द्राय त्वा (सादयामि)।

व्याख्या : वे महान् इन्द्रदेव जो अपने पराक्रम से पर्जन्य की भाँति उपासकों की अभीष्टकामनाओं की वर्षा करने वाले है, वे अपने

प्रिय यजमान के अथवा बत्स नामक ऋषि के सूक्तों से सन्तुष्ट होते हैं। हे ग्रह तुम उपयाम द्वारा गृहीत हो। अतः तुम्हें महेन्द्र के निमित्त ग्रहण करता हूँ। हे ग्रह यह तुम्हारा स्थान है, महेन्द्र के लिए तुम्हें स्थापित करता हूँ।

म० : माहेन्द्री गायत्री वत्सदृष्टा। माहेन्द्रग्रहण ऐव विकल्पेन विनियुक्ता। य इन्द्रः वत्सस्य वसनशीलस्य वत्सस्थानीयस्य वा यजमानस्य स्तोमैः स्तोत्रैर्वावृधे ववृधे वर्धते। कीदृश इन्द्रः। ओजसा तेजसा महान्। क इव। वृष्टिमान्वृष्टियुक्तः पर्जन्य इव यथा वर्षन्मेधो धाराबलेन महान्वर्धते। उपयाम एष ते इति व्याख्याते ।।40।।

एकचत्वारिंशी

उदु॒ त्यं जा॒तवे॑दसं दे॒वं व्व॑हन्ति के॒तव॑ः। दृ॒शे व्विश्वा॑य॒ सूर्य॑ᳫ॑ स्वाहा॑ ।।४१।।

अन्वय : केतवः (रश्मयः) त्यम् जातवेदसं देवं सूर्यं विश्वाय दृशे (दर्शनाय) उद्वहन्ति।

व्याख्या : रश्मियाँ उस सर्वज्ञ दिव्यगुणगणसम्पन्न सूर्यभगवान् का (सम्पूर्णविश्व) को दर्शन कराने के लिए उनका वहन करती है। अथवा सभी के दर्शनार्थ ऊर्ध्वअन्तरिक्षभाग में सूर्य को धारण करती है। ऐसे सर्वात्मा सूर्य के लिए यह हवि सुहुत हो।

यहाँ दक्षिणा देने के पूर्व चार आहुतियाँ दी जाती है जिस दक्षिणा होम कहा जाता है। इसकी विधि इस मन्त्र में है।

म० : 'शालाद्वार्ये दाक्षिणहोमो वासःप्रबद्धᳫ॑ हिरणयᳫ॑हवन्यामवधाय' चतुर्गृहीतमुदुत्यमिति' (का. 10। 2। 4। 5)। वस्त्रबद्धं स्वर्णं जुह्वां निधाय शालाद्वार्येऽग्नौ चतुर्गृहीताज्येन दक्षिणसंज्ञो होमः, कार्यः। सौरी गायत्री प्रस्कण्वदृष्टा। तृतीयः पादः सप्तार्णः। उ निपातः पादपूरणः। त्यमिति त्यच्छब्दश्छान्दसः तच्छब्दार्थे। केतवो रश्मयः त्यं तं प्रसिद्धं सूर्य देवमुद्वहन्ति। 'देवो दानाद्दयोतनाद्वा' (नि. 7। 20) इति यास्कः। किंभूतं सूर्यम्। जातवेदसं जातं वेदोज्ञानं धनं वा यस्मात्तम्। किमर्थमुद्वहन्ति। विश्वाय दृशेषष्ठ्यर्थे चतुर्थी। विश्वस्य दर्शनाय जगद्रष्टुमित्यर्थः। 'दृशे बिख्ये च' (पा. 3। 4। 11) इति तुमर्थे निपातः। तस्मै स्वाहां सुहुतमस्तु ।।41।

द्विचत्वारिंशी

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य व्वरुणस्याग्नेः। आप्रा द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षꣳसूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ।।४२।।

अन्वय : देवानां चित्रम् अनीकम् उद्गात्, (उद्गच्छति) मित्रस्य वरुणस्य अग्नेः चक्षु द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम् आ प्राः (आपूरितवान्) सूर्यः जगतः तस्थुषः च आत्मा अस्ति।

व्याख्या : देवताओं तथा दिव्यशक्तियों से पूजित किरणों के समूह या रश्मियों के मुखरुप सूर्य उदय हो रहे हैं। ये मित्र वरुण अग्नि आदि देवों के चक्षुरुप हैं। उदित होकर अपने तेज से द्यावापृथिवी और अन्तरिक्ष को अपने प्रकाश से पूर्णकर देते हैं। ये सूर्य देव चर-अचर (जंगम स्थावर) जगत के अन्तर्यामी आत्मा है। इनके लिए यह हवि समर्पित हो।

म० : 'चित्रं देवानामिति द्वितीयमिति' (का. 10। 2। 6)। चतुर्गृहीतेन शालाद्वार्ये द्वितीयामाहुतिं जुहोति। सौरी त्रिष्टुप् कुत्सदृष्टा। परावररूपेण स्थितः सूर्योऽत्र स्तूयते। सूर्यः चित्रमाश्चर्य यथा तथा उदगात् उदयं प्राप्तः उदच्छति वा। लडर्थे लुङ्। उदयन्नेव स्वतेजसा नैशं तमो हन्ति अन्येषां ज्योर्तीष्यादत्त इत्याश्चर्यम्। किंभूतः सूर्यः। देवानाम् दीव्यन्ति द्योतन्ते इति देवाः किरणास्तेषामनीकं मुखमाश्रय इत्यर्थः। यद्वानीकं समूहः। किरणपुत्र इत्यर्थः। तथा मित्रस्य वरुणस्य अग्नेः चक्षुः। नेत्रवत्प्रकाशक इत्यर्थः। मित्रादय उपलक्षकाः सर्वस्य सदेवमनुष्यस्य विश्वस्य रूपाणि सूर्योदयेऽभिव्यज्यन्ते। अतो मित्रादीनां चक्षुः स सूर्य उद्गतः सन् द्यावापृथिवी दिवं भूमिं चान्तरिक्षं चाप्राः आपूरितवान् आपूरयति वा। स्वतेजसेति शेषः। एव अवररूपेण स्तुत्वा पररूपेण स्तौति। किंभूतः सूर्यः। जगतो जंगमस्य तस्थुषः स्थावरस्य च जगतः आत्मान्तर्यामी। 'यमेतादित्ये पुरुषं वेदयन्ते स इन्द्रः स प्रजापतिस्तद्ब्रह्म' इति श्रुतेः सूर्यद्वैतमनेनोच्यत इति भावः। तस्मैस्वाहा सुहुतमस्तु ।।42।।

त्रिचत्वारिंशी

अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान्विश्वानि देव व्वयुनानि व्विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम स्वाहा ।।४३।।

अन्वय : हे अग्ने! सुपथा राये अस्मान् नय। हे देव! विश्वानि वयुनानि विद्वान्, जानानः युयोधि पृथक्कुरु। अस्मद् जुहुराणं एनः। ते भूयिष्ठां नम उक्तिं विधेम।

व्याख्या : हे अग्निदेव हमें यज्ञफल प्राप्ति के लिए सुन्दर मार्ग से ले चलिए क्योंकि आप सभी मार्गों को जानने वाले हैं, तथा शुभकर्म में प्रत्यूहभूत सम्पूर्ण पापों को हमसे दूर करें। आपको बार-बार हम नमस्कार करते हैं तथा प्रणामपूर्वक यह हवि समर्पित करते हैं।

म० : 'आग्नीध्रीयेऽग्ने नयेत्याग्नीध्रीयेऽगौ सकृदूहीतमाज्यं जुहोति' (का. 10। 2। 7)। 'अयं न इत्यपरामिति' (का. 10। 2। 8) द्वितीयामाहुतिमाग्नाध्रीये जुहोति। इमे द्वे ऋचौ पञ्चमेऽध्याये व्याख्याते ।। 43।। ।।44।।

चतुश्चत्वारिंशी

अयं नो अग्निर्व्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः। पुरऽएतु प्रभिन्दन्। अयं वाजाञ्जयतु व्वाजसातावयꣳ शत्रूञ्जयतु जर्हृषाणः स्वाहा ।।४४।।

अन्वय : अयम् अग्निः नः वरिवः कृणोतु। अयं मृधः प्रभिन्दन् पुरः एतु। अयं वाजसातौ वाजान् जयन्तु। जर्हृषाणः अयं शत्रून् जयतु तस्मै स्वाहा।

व्याख्याः यह पुरोदृश्यमान अग्नि, हमें ऐश्वर्यशाली (धनवान) बनावें तथा संग्राम में शत्रुओं को नष्ट करते हुए हमारे पास आये। ये शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने की शक्ति हमें प्रदान करते हुए। उसके पश्चात् हमें अजातशत्रु बनावें। यह आहुति इन्हें तृप्त करें।

पञ्चचत्वारिंशी

रूपेण वो रूपमभ्यागान्तुथो वो विश्ववेदा व्विभजतु। ऋतस्य पथा प्रेत चन्द्रदक्षिणा वि स्वः पश्य व्यन्तरिक्षं यतस्व सदस्यैः ।।४५।।

अन्वय : हे दक्षिणारूपा गाः रुपेण गाः वः रुपम् अभ्यगाम्, (अभ्यागतोऽस्मि) विश्ववेदाः तुथः ब्रह्मरूपो वः:युष्मान् विभजतु ददातु। चन्द्र दक्षिणाः ऋतस्य प्रथा प्रेत। हे दक्षिणाः स्वः विपश्यः (विलोकयामि) अन्तरिक्षं वि सदस्यैः। हे दक्षिणे यतस्व। यत्नं कुरु।

व्याख्या : (हे दक्षिणारुप गौओं) मूर्तिमान आपको हम आज प्राप्त किये है। अर्थात् दक्षिणा के रूप में गौओं को प्राप्त किया है। दक्षिणा तो अमूर्त ही है। अतः सर्वज्ञ वह ब्रह्मरूप प्रजापति तुम्हें ऋत्विजों को यथोचित विभागपूर्वक दक्षिणारुप में प्रदान करें। हे सुवर्ण (द्वितीय-दक्षिणा) रूप गौओं तुम यज्ञ में यथाविधि गमन करो। दक्षिणादान के प्रभाव से हम स्वर्ग को तथा अन्तरिक्ष का प्रत्यक्ष प्राप्त करते हैं। हे दक्षिणा ऋत्विज आदि सदस्यों के देने के बाद भी तुम वृद्धि को प्राप्त करो।

म॰ : 'सहिरण्यो यजमानः शालां पूर्वेण तिष्ठन्नभिमन्त्रयते दक्षिणा बहिर्वेदि तिष्ठन्तीर्दक्षिणतो रूपेण व इति' (का. 10। 2। 10) दक्षिणा गाः अभिमन्त्रयते। नष्टरूपानुष्टुप् दक्षिणदेवत्या। 'नववैराजत्रयोदशैर्नष्टरूपेति लक्षणात्। अत्र द्वितीय एकादशार्णस्तृतीयो द्वादशार्णस्तेन पूर्णैव। पूर्व पशवः स्वादानमसहमाना रूपान्तराणि जगृहुः देवाः स्वै रूपैस्तानुपागतास्ततस्ते स्वै रूपैराजग्मुपागतास्ततस्ते स्वै रूपैराजग्मुः (4। 3। 4। 14) इति मन्त्रस्य निदानम्। हे दक्षिणारूपा गाः, रूपेण मर्त्यावो युष्माकं रूपमहमभ्यागतोऽस्ति। अतो भवतीभिरागन्तव्यं सर्वे हि स्वरूपमागच्छन्तीति भावः। किंच तुथो ब्रह्मरूपः प्रजापतियों युष्मान् विभजतु यथायोग्यमृत्विग्भ्यो विभज्य ददातु। 'ब्रह्म वै तुथाः' (4। 3। 4। 15) इति श्रुतेः। किंभूतस्तुथाः विश्ववेदाः वेदनं वेदो ज्ञानं। विश्वं सर्वं वेदोयस्य स विश्वेदाः सर्वज्ञः किंच यूयमेतज्ज्ञात्वा ऋतस्य यज्ञस्य पथा मार्गेण प्रेत प्रगच्छत। किंभूता यूयम्। चन्दद्क्षिणाः चन्द्रमिति हिरण्यनाम। चन्द्रं सुवर्ण यजमानहस्तस्थं द्वितीयं दक्षिणा यासां ताश्चन्द्रद्वितीयदक्षिणा इति प्राप्ते शाकपार्थिवादित्वात् (पा. 2। 1। 69) द्वितीयपदलोपः। 'सदो गच्छसि वि स्वरिति' (का. 10। 2। 17) दक्षिणादैवत्यम्। हे दक्षिणाः, अहं स्वः स्वर्ग देवयानमार्ग विपश्य-विपश्यामि विलोकयामि। अन्तरिक्षं पितृयानमार्गं च विपश्यामि। भवतीभिः सोपानभूताभिरिति भावः। 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा. 6। 1। 75) इति उत्तमपुरुषस्थाने पश्येति मध्यमः पुरुषः। श्रुत्या तथा व्याख्यातत्वात्। प्रेक्षते। 'यतस्व सदस्यानिति सदस्यान्' (का. 10 2। 18।) यजमान ऋत्विजः प्रेक्षते। दक्षिणादैवतम्। हे दक्षिणे, त्वं यतस्व यत्नं कुरु। यथा सदस्यैः ऋत्विग्भिः पूरितैरप्यतिरिच्यसे इति शेषः। तथा त्वया यतितव्यं यथा ऋत्विजो धनैः संपूर्याधिका भवेयुरिति भावः ।।45।।

षट्चत्वारिंशी

ब्राह्मणमद्य व्विंदेयं पितृमन्तं पैतृमत्यमृषिंमार्षेयथ्ठं सुधातुंदक्षिणम्। अस्मद्राता देवत्रा गंच्छत प्रदातारमाविंशत ।।४६।।

अन्वय : (अहं) अद्य पितृमन्तं पैतृमत्यं ऋषिम् आर्षेयं ब्राह्मणं विदेयम्। सुधातुदक्षिणं अस्मद् राताः गच्छत दातारं प्र आविशत (प्राविशत)।

व्याख्या : मैं आज के दिन ऐसे ब्राह्मण को प्राप्त करूँ जो विख्यात, यशस्वी, जिसके पिता पितामहादि श्रोत्रिय हों, मन्त्रों, के व्याख्याता हों, ऋषियों के विज्ञान को जानने वाले हों, या ऋषियों में विख्यात हों, स्वर्णआदि धातु की दक्षिणा लेने के पात्र हों। हे दक्षिणा तुम हमारे द्वारा ब्राह्मणों को प्राप्त करो और उनकी तृप्ति कर यज्ञफल की सिद्धि करते हुए यजमान में प्रविष्ट हो जाओ।

म० : 'ब्राह्मणमद्येत्याग्नीध्रगमनमिति' (का. 10। 2। 19)। आग्नीध्रमृत्विजं स्वस्थानस्थं प्रति यजमानो गच्छति। ब्राह्मणदैवत्यम्। अहमद्यास्मिन्दिने ईदृशं ब्राह्मणं विदेयं लभेय 'विद लाभे'। किंभूतम्। पितृमन्तं प्रशस्तः पितास्यास्तीति पितृमान् तम्। पित्रा बिना न कश्चिज्ज्यायते-ऽतोऽत्र प्राशस्यार्थे मतुप्। विशिष्टजनकोत्पन्नमित्यर्थः। तथा पैतृमत्यम् पितुरिमे पैतरः। तद्धितप्रत्ययलोपेऽपि छान्दसी वृद्धिः मत एव मत्याः। स्वार्थे यत्। पितरः पितामहादयो मताः संमता जगन्मान्या यस्य स पैतृमत्यस्तम्। यद्वा पितरः पूर्वजाः मताः समज्ञाः श्रोत्रिया यस्य स पितृमतः पूर्वजाः मताः संमन्त्रः श्रोत्रिया यस्य स पितृमतः पितृमत एवं पैतृमत्यः। यद्वा प्रशस्तजनकोत्पन्नः पितृमानित्युक्तं तदपत्यं पैतृमत्यः। सर्वथा यस्य पितामहादायः श्रोत्रियाः स पैतृपत्य इत्यर्थः। तथा ऋषिं: मन्त्राणां व्याख्यातारम्। तथा आर्षेयम् ऋषिषु विख्यात आर्षयस्तम्। जात्या प्रवरैर्ज्ञानेन सुज्ञातमित्यर्थः। तथा सुधातुदक्षिणम्। शोभनो धातुः सुवर्णदक्षिणा यस्य स सुधातुस्तम्। उपविश्य हिरण्यमस्मै ददात्यस्मद्राताः' (का. 10। 2। 20) इति अस्मै आग्नीध्राय दक्षिणादैवत्य। हे दक्षिणाः, यूयमस्मद्राताः। 'रा दाने' अस्माभिः राता दत्ताः सत्यो देवत्रा देवान्प्रतिगच्छत। तानेत्य तेषां तृप्तिं कृत्वा ततः दातारं प्राविशत् यज्ञफलं साधयन्त्यो यजमानं प्राविशतेत्यर्थः ।।46।।

सप्तचत्वारिंशी

अग्नयें त्वा मह्यं वरुंणो ददातु सोऽमृतत्वमंशीयायुंर्दात्र एंधि

मयो मह्यंम्प्रतिग्रहीत्रे रुद्राय त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमंशीय प्राणो दात्र एधि व्वयो मह्यंम्प्रतिग्रहीत्रे बृहस्पतये त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमंशीय त्वग्दात्र एधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे यमाय त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमंशीय हयो दात्र एधि व्वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे ।।४७।।

अन्वय : (हे हिरण्य!) वरुणः अग्नये मह्यं त्वा ददातु सः (अहं) अमृतत्वम् अशीय। त्वं दात्रे आयुः एधि, प्रतिग्रहीत्रे मह्यं मयः एधि। हे गौ! रुद्राय मह्यं वरुणः त्वा ददातु (सोहं) अमृतत्वम् अशीय त्वं दात्रे प्राणः एधि मह्यं प्रतिग्रहीत्रे वयः (भव)। हे वासः वृहस्पतये मह्यं वरुणः त्वा ददातु। सः (अहम्) अमृतत्वम् अशीय। दात्रे त्वग् एधि, प्रतिग्रहीत्रे मह्यं मयः (भव)। (हे अश्व!) यमरुपाय मह्यं वरुणः त्वचो ददातु सः (अहम्) अमृतत्वम् अशीय। त्वं दात्रे हयो (भव) प्रतिग्रहीत्रे वयः (भव)।

व्याख्या : हे हिरण्य! वरुणदेव अग्निरुप मेरे लिए तुम्हें प्रदान करें। इस विधि से ग्रहण करने वाला मैं आरोग्य को प्राप्त करूँ। हे हिरण्य, तुम दाता के लिए जीवन बनों तथा मुझे (प्रतिग्रहकर्ता) को सुख प्रदान करो) हे गौः रुद्ररुपवाले हमें वरुणदेव तुम्हें प्रदान करें तथा मैं अमृतत्व को प्राप्त करूँ। हे गौ! दाता के लिए प्राणरुप बनो, तथा मुझे अन्न एवं सन्तति प्रदान करो। हे वस्त्र! वृहस्पतिरुप मुझकों वरुणदेव तुम्हें प्रदान करें, इस प्रकार मैं अमृतत्व को प्राप्त करूँ तथा तुम (दाता) के लिए सुखकारी बनो और मेरे लिए सुख रुप होओ। हे अश्व! यमस्वरुप मेरे लिए वरुण तुम्हें प्रदान करें, मैं अश्व को ग्रहण करता हुआ अमृतत्व को प्राप्त करूँ। हे अश्व! दाता के लिए अश्वरुप बनो ग्रहण कर्ता के लिए अन्नदाता बनो।

म० : 'अग्नये त्वेति हिरण्यं प्रतिगृह्णीत इति' (का. 10। 2। 28) अध्वर्युप्रतिप्रस्थाताराविति शेषः। हिरण्यदैवत्यम्। हे हिरण्य, वरुणोऽग्नयेऽग्निरू- पापन्नाय मह्यं त्वा त्वां ददातु पूर्वं वरुणेन कनकादि अग्न्यादिभ्यो दत्तमतस्तेन तेनात्मना प्रतिगृह्णानो विप्रो न नश्यतीति देवतादेशः अनेन विधिना गृह्णानः सोऽहममृतत्वमारोग्यमशीय व्याप्नुयाम्। हे हिरण्य, त्वं दात्रे आयुजीर्वनमेधि भव। प्रतिग्रहीत्रे प्रतिग्रहकर्त्रै मह्यं मयः सुखमेधि दाता आयुष्मान्भवतु। अहं सुखी स्यामिति भावः। 'रुद्रायत्वेति गामिति' (का.

10। 2। 29)। गां प्रतिगृहीतः। गोदैवत्यम्। हे गौः, रुद्ररूपाय मह्यं वरुणः त्वा ददातु सोऽहममृतत्वमशीय हे गौ त्वं दात्रे यजमानाय प्राणरूपा एधि। मधयं प्रतिगहीत्रे अन्नं पशुर्वा भव। दुग्धदध्यादि रूपेण अन्नं संतनिद्वारा पशुश्च भव। बृहस्पतये त्वेति वास इति (का. 10-2-30) वस्त्रं गृहीतः। वासे दैवत्यम् बृहस्पति रूपाय मध्यं वरुणः त्वांददातु सोऽह ममृतत्त्वमशीय। त्वं च दात्रे त्वगेधि त्वगिन्द्रियसुखकारी भव। प्रतिग्रहीत्रे मह्यं मयः सुखं च भव। 'यमाय त्वेत्यश्वमिति', (का. 10। 2। 69) हयं गृह्णतः। अश्वदैवत्यम्। हे अश्व, यमरूपाय मह्यं वरुणः त्वां ददातु। स यमरूपोऽहमश्वं गृह्णानोऽमृतत्वं व्याप्नुयाम्। हे अश्व, त्वं दात्रे हयोऽश्वो भव मह्यं प्रतिग्रहीत्रे वयोऽअन्नं तद्दाता पशुर्वां संततिद्वारा भव ॥47॥

अष्टचत्वारिंशी

कोऽदात्कस्मांऽअदात्कामोऽदात्कामायांदात्कामो दाता कामः। प्रतिग्रहीता कामैतत्ते ॥४८॥

अन्वय : कः अदात् कस्मै अदात्? कामः अदात् कामाय अदात, (एवंच) काम एव दाता काम एव प्रतिग्रहीता। (हे काम) एतत् (द्रव्यं) ते (तव) अस्ति।

व्याख्या : प्रतिग्रहीता कहता है–किसने दिया? तथा किसने लिया? (उत्तर देते हैं–) काम ने ही दिया, एवं काम के लिए दिया। न तुम दाता हो न हम ग्रहणकर्ता हैं। अतः काम ही दाता है और काम ही प्रतिग्रहीता है। हे काम यह द्रव्य तुम्हारा ही है, क्योंकि तुम्हीं दाता हो तुम्हीं प्रतिग्रहीता भी हो। इस मन्त्र का रहस्य यह है कि कोई भी मनुष्य किसी को भी भगवत्प्रेरणा से ही कुछ देता है तथा इसी की कृपा से दूसरा प्राप्त करता है। अतः दाता को अभिमान एवं ग्रहीता को हीन भावना नहीं करनी चाहिए।

म० : 'कोऽदादित्यन्यदिति' (का. 10। 2। 32)। अन्यन्मन्थौदन-तिलादि गृह्णीतः। कामदैवत्यम्। दातुर्दानामिज्ञानाभावाय स्वस्य प्रतिग्रहजदोषाभा-वाय च देहेन्द्रियात्मसंघाते कामं विविनक्ति। को नरोदाद्दत्तवान् कस्मै नरायादात्। प्रश्नद्वयस्योत्तरमाह। कामोऽदात्कामायैवादात् देवो मत्कामाभिमा-निनेऽदात्। एवं च काम एव दाता काम एव प्रतिग्रहीता नान्यः। हे काम, एतद्रव्यं ते तव दातृप्रतिग्रहीतृत्वात् ॥48॥

श्रीमन्महीधरकृते वेददीपे मनोहरे।
उपांश्वादिप्रदानान्तः सप्तमोऽध्याय इरितः।।7।।

इतिसप्तमोऽध्यायः

इस सातवें अध्याय में उपांशुग्रह ग्रहण से प्रारम्भ होकर प्रातः सवन एवं माध्यन्दिनसवन में प्रयुक्त दक्षिणादानान्त मन्त्रों की व्याख्या सम्पन्न होती है।

अथ अष्टमोऽध्यायः

तत्र प्रथमा

उपयामगृहीतोऽस्यादित्येभ्यस्त्वा। विष्णं उरुगायैष ते सोमस्तथं-रंक्षस्व मा त्वा दंभन् ।।१।।

अन्वय : (हे सोम) त्वम् उपयाम पात्रेण द्रोणकलशात् गृहीतोऽसि। आदित्येभ्यः त्वा (त्वाम्) (सिञ्चामि)। (हे) विष्णो! उरुगाय! एष सोमः ते, (तवास्ति) तं रक्षस्व। रक्षांसि त्वा मा दभन् (मा हन्युः)।

इस आठवें अध्याय में तृतीयसवन में प्रयुक्त आदित्यादिग्रहों से सम्बद्ध मन्त्र कहे जा रहे हैं।

व्याख्या : हे सोम, तुम उपयामग्रहपात्र से गृहीत हो, मैं आदित्य के लिए तुम्हारा सिञ्चन करता हूँ। हे यज्ञपुरुष! हे सभी के आराध्य, यह सोम आपको समर्पित है। आप इसकी रक्षा करें, सोमरक्षण में प्रवृत्त आपकी राक्षसों द्वारा हानि न हो।

अध्वर्यु इस मन्त्र से आदित्यपात्र के द्वारा द्रोणकलश से सोमग्रहण करता है। इसके बाद आदित्य स्थाली में सिंचन तथा उसका आच्छादन किया जाता है। तृतीय सवन में आदित्य सावित्र वैश्वदेव, पालीवत और हारियोजन इन पाँच ग्रहों से सम्बद्ध अनुष्ठान किया जाता है। आदित्यग्रह सबसे पहले लिया जाता है।

म० : सप्तमेऽध्याये उपांशुग्रहादिसवनद्वयगता मन्त्रा दक्षिणादानान्ता उक्ताः। अष्टमे तृतीयसवनगता आदित्यग्रहादिमन्त्रा उच्यन्ते। तत्र 'प्रतिप्रस्थातादित्यपात्रेण द्रोणकलशादुपयामगृहीतोऽसीति गृहीत्वा द्विदेवत्याननु जुहोत्युत्तरार्ध इति' (का. 9। 9। 15)। द्विदेवत्यैः सह होमाय प्रतिप्रस्थातादित्यग्रह-पात्रेण द्रोणकलशात्सोमं गृह्णाति। सोमदैवत्यम्। हे सोम, उपयामेन पात्रेण

त्वं गृहीतोऽसि मया। 'शेषᳬशेषमादित्यस्थाल्यामासिंञ्चतदित्येभ्यस्त्वेति' (का. 9। 9। 20)। द्विदेवत्याननु हुत्वा हुतशेषमादित्यस्थाल्यां क्षिपेत्। सोमदैवत्यम्। हे सोम, आदित्येभ्योऽर्थाय त्वा त्वां सिञ्चामीति शेषः। 'समासिच्य तेनापिद्धाति विष्ण उरुगायेति' (का. । 9। 9। 21) संस्रवमासिच्य तेनादित्यापात्रेण स्थालीं पिदधाति। विष्णुदैवतम्। हे विष्णो यज्ञपुरुष, हे उरुगाय, उरुभिबहुभिर्गीयते स्तूयत इत्युरुगायस्त्संबोधनम्। एष सोमस्ते तवार्पितः तं सोमं रक्षस्व गोपाय। आत्मनेपदमार्षम्। हे सोम, रक्षणे प्रवृत्तं त्वा त्वां मा दभन् मा दभ्नुयुः मा हन्युः। रक्षांसीति शेषः। दभ्नोतिहिंसाकर्मा ।।1।।

द्वितीया

क॒दाच॒न स्त॒रीर॑सि॒ नेन्द्र॑ सश्चसि दा॒शुषे॑। उप॒ोपेन्नु म॑घव॒न्भूय॒ इन्नु ते॒ दान॑न्दे॒वस्य॑ पृच्यत आदि॒त्येभ्य॑स्त्वा ।।२।।

अन्वय : (हे इन्द्र) त्वं कदाचन स्तरीः (हिंसकः) न असि, दाशुषे हविः सश्चसि उप इत नु। हे, मघवन् इत नु भूयः ते देवस्य दानं पृच्यते त्वया सम्बध्यते। हे ग्रह आदित्येभ्यः त्वा (गृह्णामि)।

व्याख्या : हे इन्द्रदेव! आप कभी भी हिंसक नहीं है, अर्थात् अपने भक्तों की हानि नहीं करते है अपितु यजमान द्वारा प्रदत्त हवि को सानन्द ग्रहण करते हैं। हे ऐश्वर्यशाली इन्द्र यजमान के अत्यन्त समीप में प्रदत्त इस हवि को आप सादर स्वीकार करें। हे ग्रह! आदित्य के लिए तुम्हारा ग्रहण करता हूँ।

म॰ : 'आदित्यग्रहं गृह्णाति संस्रवेभ्यः कदाचनेति' (का. 10। 4। 4) होमशेषः संस्त्रवास्तेभ्यः सकाशात्। आदित्यदेवत्ये बृहत्यौ यजुरन्ते। आदित्येभ्यस्त्वेति यजुः। तृतीयो द्वादशार्णस्त्रयोष्टार्णाः। सा बृहती तृतीयेऽध्याये बृहदुपस्थानमध्ये (का. 34) इन्द्रदेवत्या प्रथममुक्ता व्याख्याता च। इह त्वादित्यदेवत्या यजुरन्ता चेति विशेषः। हे इन्द्र, त्वं कदाचन कदाचिदपि स्तरीर्हिंसको नासि किंतु दाशुषे। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। हविर्दत्तवतो यजमानस्य हविः सश्चसि सेवसे। कुत्र। उप इत् नु यजमानस्यात्यन्तमसमीप एव हे मघवन् धनवन् इन्द्र, भूय इत् नु पुनरेव च देवस्य ते तब दानं दीयत इति दानम् तव देयं हविः पृच्यते त्वया संबध्यते। यजमानेन दतं हविस्त्वयाअंगी-क्रियत इत्यर्थः। हे ग्रह, आदित्येभ्योऽर्थाय त्वां गृह्णामीति शेष':।

अत्रेन्द्रनामभिरप्यादित्य एव स्तूयते ॥2॥

तृतीया

क॒दाच॒न प्रयु॑च्छस्यु॒भे निपा॑सि॒ जन्म॑नी। तुरी॑यादित्य॒ सव॑नन्त इन्द्रि॒यमात॑स्थाव॒मृतं॑ दि॒व्यादि॒त्येभ्य॑स्त्वा ॥३॥

अन्वय : (हे) आदित्य! त्वं कदाचन प्र युच्छसि न प्रमाद्यसि इत्यर्थं। उभे जन्मनी निपासि (पालयसि)। तुरीयं, ते सवनम् इन्द्रियं दिवि अमृतम् आतस्थौ। (हे आदित्यग्रह) त्वाम् आदित्येभ्यः (गृह्णामि)।

व्याख्या : हे आदित्य आप अपने कर्म में कभी भी प्रमाद नहीं करते हैं, देवताओं एवं मनुष्यों की रक्षा करते हैं। आपका जो जगत् प्रवर्तकत्व सामर्थ्य है वह द्युलोक में स्थित हैं। हे आदित्यग्रह, आदित्यों के लिए तुम्हारा ग्रहण करता हूँ।

म० : 'अपगृह्य पुनः कदाचनेति'(का. 10। 4।15)। धारातो विच्छिद्य पूतंभृतः सकाशादात्मसमीपं नीत्वा तथैव पुनरादित्यग्रहं गृह्णीयात्। कदाशब्दः कालवाची। चनेति निपातः पुनरर्थे। हे आदित्य, त्वं कदाचन प्रयुच्छसि कस्मिन् काले पुनः प्रमाद्यसि। 'युच्छ प्रमादे' न प्रमाद्यसीति काकुः। उदयतापपाकप्रकाशैः प्राणितोऽनुगृह्णन् कदाचिदालस्यं न करोसीति भावः। यद्वा कदा च नेति पदत्रयम्। चकारोऽप्यर्थे। कदापि न प्रयुच्छसि स्वकर्मणि। किंच उभे जन्मनी देवमनुष्यसंबन्धिनी निपासि नितरां पालयसि। किंच तुरीय, 'सुपांसुलुक्' (पा. 7।1।39)। इति विभक्तिलोपः। ते तव तुरीयं चतुर्थ मायातीतं शुद्धं सवनं सुवति स्वकार्ये जगत्प्रेरयतीति सवनम्। नन्द्यादित्वाल्युप्रत्ययः। जगत्प्रवर्तकं अमृतमनश्वरं विज्ञानानन्दस्वभावं यदिन्द्रियं वीर्यं तद्दिवि द्युलोके मण्डलान्तरे आतस्थौ आभिमुख्येन स्थितम्। तथोक्त 'पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'। एवमादित्यः परावररूपेणास्यामृचि स्तुतः। यद्वास्या ऋचोऽर्थान्तरम्। प्रशब्दो निषेधे। चनशब्दोऽप्यर्थे। हे आदित्य, त्वं कदाच न कदापि न प्रयुच्छसि न प्रमाद्यसि किंतु उभे वर्तमानभाविनी जन्मनी निपासि रक्षसि। तृतीयमित्यर्थे व्यत्ययेन तुरीयशब्दः प्रयुक्तः। हे आदित्य, ते तव यत् तृतीयं सवनं तस्मिन् दिवि द्युलोकसमाने सवने इन्द्रियमिन्द्रियवृद्धिकरणरमृतं सुधासमं हविः आतस्थौ समन्तात्स्थितम्। हे आदित्यग्रह, आदित्येभ्योऽर्थाय त्वां गृह्णामीति शेषः ॥3॥

चतुर्थी

य॒ज्ञो दे॒वाना॒ं प्रत्ये॑ति सु॒म्नमादि॑त्यासो॒ भव॑ता मृ॒डय॑न्तः। आ वो॒ऽर्वाची॑ सु॒म॒तिर्व॑वृत्याद॒ꣳहोश्चि॒द्या व॑रिवो॒वित्त॒रास॑दादि॒त्येभ्य॑स्त्वा ।।४।।

अन्वय : यज्ञो देवानां सुम्नं प्रत्येति। (हे) आदित्यासः (आदित्याः) मृडयन्तः भवत। वः सुमतिः अर्वाची आववृत्यात्। अंहः चित् या वरिवोवित्तरा असत् आदित्येभ्य त्वा (मिश्रयामि)।

व्याख्या : यज्ञ देवताओं को सुखी करता है अर्थात् यज्ञ से देवता सुखी होते है। देवों के सुखी होने पर ही मनुष्य भी सुखी होता है। हे आदित्याददिदेवों आपलोग हमारे लिए सुखकारक हों। आपकी जो भक्तानुग्रहपरासुन्दर बुद्धि है हमारे अभिमुख होकर ही विद्यमान रहे। अर्थात् सुख का कारण सुमति है। अतः हमें सुमति प्रदान करें। पापी मनुष्य की भी जो बुद्धि धन प्राप्त कराने वाली है वह सुमति हमें प्राप्त हो। हे सोम, आदित्य देवों के लिए मैं तुम्हें दधि से मिश्रित करता हूँ।

म॰ : 'दध्ना श्रीणात्येनं पश्चिमेऽन्ते मध्ये वा यज्ञो देवानामिति' (का. 10। 46)। एनमादित्यग्रहं दध्ना मिश्रीकुर्यात्। आदित्यदेवत्या यजुरन्ता त्रिष्टुप् कुत्सदृष्टा। आदित्येभ्यस्त्वेति यजुः। यज्ञो देवानामादित्यानां सुम्नं सुखं कर्तु प्रत्येति प्रत्यागच्छति। अतो हे आदित्यासः आदित्याः, यूयं मृडयन्तः सुखयन्तः सुखकर्तारोऽस्माकं भवत। 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा. 6। 3। 137) इति संहितायां दीर्घः। किंच वो युष्माकं या सुमतिः शोभनबुद्धिर्भक्तानुग्रहपरा सा अर्वाची अस्मदभिमुखी आववृत्यात् आवर्तताम्। 'बहुलं छन्दसि' (पा. 2। 4। 76) इति वर्ततेलिङि् जुहोत्यादित्वाच्छपः श्रलोद्वित्वं च। किंच अंहोश्वित् अंहुः पापकारी। चित् अप्यर्थे। अंहोर्हननशीलस्य पापिनोऽपि या सुमतिर्बरिवोवित्तरा वरिवो धनं विन्दति लभत इति वरिवोवित् अत्यन्तं वरिवोवित् वरिवोवित्त् बरिवोवितमः पापिनो या सुमतिधनलब्ध्री असत् भवेत् सा सुमतिरस्मदभिमुखी आववृत्यादिति संबन्धः। हे सोम, आदित्येभ्यो देवेभ्यस्त्वां दध्ना मिश्रयामीति शेषः ।।4।।

पञ्चमी

विव॑स्वन्नादित्यै॒ष ते॑ सोमपी॒थस्तस्मि॑न्मत्स्व। श्रद॑स्मै न॒रो वच॑से

दधातन यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः। पुमान्पुत्रो जायते विन्दते वस्वधा विश्वाहारपऽएधते गृहे ।।५।।

अन्वय : हे विवस्वन् आदित्य! एष ते सोमपीथः, तस्मिन् मत्स्व, तृप्तिं कुरु। हे नरो (नेतारः) आशीर्दा (यूयं) अस्मै वचसे श्रद्धातन, यत् दम्पती वामम् अश्नुतः। पुमान पुत्रः जायते वसु विन्दते अथा (अनन्तरम्) विश्वाहा अरपः गृहे (स्वसदने) एधते।

व्याख्या : हे अन्धकार विनाशक आदित्य! आपके पीनेयोग्य (पेय) यह सोम हैं, अतः इसका पानकर आप सन्तुष्ट होवें। हे यज्ञ के नेताओं (ऋत्विग् यजमानों) आशीषप्रदाता आप लोग इस वचन में श्रद्धा धारण करें (आस्तिक्य बुद्धि रखें)। या आप लोगों द्वारा प्रदत्त आर्शीर्वाद सफल हो, कि यह यजमान दम्पती को पुंस्त्वधर्म सम्पन्न पुत्र उत्पन्न हो जो धनवान् हो तथा धन प्राप्त होने के बाद सर्बदा पाप रहित होकर अपने घर में वृद्धि को प्राप्त होता रहे।

यहाँ अघ्वर्यु उपांशु सवन के द्वारा उपरोक्त मन्त्र से दधि एवं सोम को मिलाता है।

म० : 'उपाꣳशुसवनेन मिश्रयति विवस्वन्नादित्येति' (का. 10। 4। 7) पाषाणेन दधि सोमं च मिश्रयेत् आदित्यदैवत्यम्। तमांसि विवासयति नाशयतीति विवस्वान्। यद्वा विशिष्टं वसु धनमस्येति विवस्वान्। मतौ टिलोपश्छान्दसः तत्संबोधनं हे विवस्वन् हे आदित्य, एष पात्रस्थस्ते तव सोमपीथः पातुं योग्यः पीथः पीथश्चासौ सोमश्च सोमपीथः पातव्यः सोमः आहिताग्न्यादित्वापीथशब्दस्य परत्वम् तस्मिन्पातव्ये सोमे त्वं मत्स्व 'मद तृप्तौ' तृप्तिं कुरु। 'बहुलं छन्दसि' (पा. 2। 4। 73) इत्यदाद्रित्वाच्छपो लुक्। 'श्रदस्मै नर इत्येनमवेक्षते पत्नीति' (का. 10। 5। 4) पत्न्येनं पूतभृतं पश्येत्। आशीर्देवत्या जगती नरदेवत्या वा द्वादशाक्षरचतुःपादा जगती। पत्नी वदति। हे नरो नेतारः ऋत्विग्यजमानाः, आशीदौ आशिषो ददति ते आशीर्दाः। सुब्लोपश्छान्दसः। आशिषः दातारो यूयमस्मै वचसे आशीर्वचनाय श्रद्धातन। आदिति सत्यनामसु पठितम्। 'तप्तनप्तनथ' (पा. 7। 1। 45) इति मध्यमबहुवचनस्य तनादेशः। श्रद्धां कुरुत। आस्तिक्यबुद्धिं कुरुतेत्यर्थः मदुक्ताशीर्वचनं भवन्द्रिः श्रद्धया धारितं तयैव स्यादिति भावः। किं

तदाशीर्यवाचमत आह। यत् दम्पती जायापती पत्नीयजमानो वामं भजनीयं संभजनीयं यज्ञफलमिश्रितः प्राप्नुताः। किंच इहैव पुमान्पुंस्त्वधर्मसंपन्नः पुत्रः जायते। किंच स च पुत्रो वसु धनं विन्दते लभते। अधा अथेत्यर्थः। 'निपातस्मच' (पा. 6। 3। 136) इति संहितायां दीर्घः। अथानन्तरं विश्वाहा विश्वानि च ताभ्यइति च विश्वाहा। 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (पा. 3। 3। 5) इति द्वितीयाः। 'राजाहः सखिभ्य- ष्टच्' (पा. 5। 4। 91) इति प्राप्तस्य टच्प्रत्ययस्य वैकल्पिकत्वाच्छान्दसौ वाभावः। अनन्तरं धने लब्धे सति विश्वाहा सर्वदा अरपः पापरहितः सन् गृहे स्वसदने एधते वर्धते। नास्ति रपो यस्यासावर्पः। 'रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः' (निरु. 4। 29) इति यास्कः। आशीर्दौ आशिर्षौ दातारौ इति दम्पतीविशेषणं वा। विभक्तेराकारः। दम्पती यज्ञफलं प्राप्नुताम् तयोः पुत्रो जायताम् स च धनं लब्ध्वा निष्पापः स्वगृहे वर्धतामिति आशीर्वचने श्रद्धां कुरुतेति सर्वार्थः ।। 5।।

षष्ठी

वा॒मम॒द्य स॑वितर्वा॒मम॒ु श्वो दि॒वेदि॑वे वा॒मम॒स्मभ्य॑ꣳ सावीः। वा॒मस्य॒ हि क्षय॑स्य देव॒ भूरे॑र॒या धि॒या व्वा॑म॒भाज॑ः स्याम ।।६।।

अन्वय : हे सवितः! अद्य वामं सावीः (देहि)। उश्वः अस्मभ्यं दिवे दिवे वामं सावीः। हे देव! वामस्य भूरे क्षयस्य अया (अनया) धिया वामभाजः स्याम।

व्याख्या : हे सर्वप्रेरकसवितादेव आज के दिन का कर्मफल प्रदान करें, कल (आगामी) का भी फलप्रदान करें तथा उसके आगे भी किये गये कर्मों के अनुसार फलप्रदान करते रहे। जिससे किये गये इस सोमयाग के द्वारा हम धन धान्य से पूर्ण हो कर दीर्घायु हो तथा श्रद्धायुक्त अभिलषित फल हम प्राप्त करें।

म० : 'भक्षयित्वेडामुपाꣳश्वन्तर्यामपात्रयोरन्यतरेण सावित्रग्रहणं वाममद्येति' (का. 10। 5। 13)। सवनीयपुरोडाशेडां भक्षयित्वा सवनीयसंबन्धि कर्म समाप्य उपांश्वन्तर्यामयोरन्यतरेण सावित्रं गृह्णाति। कण्डिकाद्वयात्मको मन्त्रः। सवितृदेवत्या त्रिष्टुप् भरद्वाजदृष्टा। हे सवितः, सर्वस्य प्रेरणयितर्देव, अद्यास्मिन्दिने अस्मभ्यमस्मदर्थे वामं वननीयं कर्मफलं सावीः देहीत्यर्थः। 'षू प्रेरणे' लुङ् अडभावश्छान्दसः। वाममु श्वः उ अप्यर्थे। श्वोऽपि

समनन्तरदिनेऽपि वामं सावीः। दिवेदिवे तत ऊर्ध्व दिनेदिनेऽस्मभ्यं वामं सावीः। हि यस्मात् अया अनया। नलोपश्छान्दसः। धिया श्रद्धायुक्तया वुध्या वयं वामभाजः स्याम भवेम। वामं वननीयं यज्ञकर्मैं भजन्ति वामभाजः यज्ञानुष्ठातारो भवेम। किमर्थम्। वामस्य संभजनीयस्य भूरेः विस्तीर्णस्य बहुकालीनस्य क्षयस्य स्वर्गनिवासस्य सिद्धय इति शेषः। 'क्षयो निवासे' इत्याद्युदातत्वात् क्षयशब्दो निवासार्थः। दिवेदिवे इत्यह्नो नामसु पठितम्। यद्वोत्तरार्धस्यायमर्थः। हे देव, वामस्य धननीयस्य भूरेः धनपूर्णस्य क्षयस्य निवासस्य दाता अवेति शेषः। धीरिति कर्मनाम। अनया धिया सोमाख्येन कर्मणा वयं वामभाजोऽभिलषितभागिनो भवेम ।।6।।

सप्तमी

उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि सावि॒त्रोऽसि चनो॒धाश्चनो॒धा अ॑सि॒ चनो॒ मयि॑ धेहि। जिन्व॑ य॒ज्ञं जिन्व॑ य॒ज्ञप॑तिं॒ भगा॑य दे॒वाय॑ त्वा सवि॒त्रे ।।७।।

अन्वय : (हे सोम) त्वम् उपयाम गृहीतः असि। (हेग्रह) त्वं सावित्रः चनोधा असि (अतः) चनः अन्नं मयि धेहि। यंज्ञं जिन्व यज्ञपतिं जिन्व तर्पय। भगाय सवित्रे देवाय त्वा (गृह्णामि)।

व्याख्या : हे सोम तुम उपयाम ग्रह पात्र से गृहीत हो। हे ग्रह, तुम सवितादेवता से सम्बद्ध हो तथा अन्नवान हो (अन्न धारण करने वाले) अत्यन्त अन्न के धारक हो। अतः मुझे अन्नप्रदान करो। यज्ञ को पूर्ण करो एवं यज्ञपति को तृप्त करो। ऐश्वर्यवान् सवितादेव के लिए तुम्हें ग्रहण करता हूँ।

म॰ : 'सावित्रम्। हे सोम, त्वमुपयामेन ग्रहेण गृहीतोऽसि। हे ग्रह, त्वं सावित्रः सवितृदेवत्योऽसि। चन इत्यन्ननाम। चनोऽन्नं धत्त इति चनोधाः अन्नस्य धारयिता। 'अभ्यासे भूयांसमर्थ मन्यन्ते' (निरु. 10। 42) इति यास्कोक्तेः। यतस्त्वमत्यन्तं चनोधा असि अतश्चनोऽन्नं मयि धेहि स्थापय। किंच यज्ञं जिन्व प्रीणय। जिन्वतिः प्रीतिकर्मा। यज्ञपति यजमानं च जिन्व तर्पय। भगाय ऐश्वर्यादिगुणयुक्ताय सवित्रे सर्वप्राणिनां प्रसवादिकर्त्रे। देवाय त्वां गृह्णामीति शेषः। भगमस्यास्तीति भगः। अर्शआदित्वा-दच्। 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा' इति ।।7।।

अष्टमी

उपयामगृंहीतोऽसि सुशर्मांसि सुप्रतिष्ठानो बृहदुंक्षाय नमः। विश्वैंभ्यस्त्वा देवेभ्यं एष ते योनिर्विश्वैंभ्यस्त्वा देवेभ्यंः ।।८।।

अन्वय : (हे वैश्वदेवग्रह) त्वम् उपयाम पात्रेण गृहीतोसि। सुशर्मा असि सुप्रतिष्ठानः असि बृहदुक्षाय ते नमः। विश्वेभ्यो देवेभ्यः (त्वां गृह्णामि) एष ते योनिः विश्वेभ्यो देवेभ्यस्त्वा गृह्णामि।

व्याख्या : हे वैश्वदेवग्रह! तुम उपयामग्रहपात्र द्वारा गृहीत हो क्योंकि तुम सुन्दर आश्रय प्रदान करने वाले हो सभी का कल्याण करने वाले हो और प्रभूतमात्रा में अन्न को धारण करने वाले हो (अर्थात् प्राणरूप हो) अतः तुम जगत् के उत्पादक प्रजापति के अन्न रूप हो। सभी देवों के निमित्त में तुम्हें ग्रहण करता हूँ। हे ग्रह! यह तुम्हारा स्थान है। अतः सभी देवताओं के निमित्त तुम्हें स्थापित करता हूँ।

म० : 'अभक्षितेन महावैश्वदेवग्रहणउपयामगृहीतोऽसि सुशर्मासीति' (का. 10। 6। 2) अभक्षितेनैव सावित्रग्रहपात्रेण पूतभृतः सकाशात्महावैश्व-देवग्रहस्य ग्रहणं करोत्यध्वर्युः। वैश्वदेवम्। हे वैश्वदेव ग्रह, त्वमुपयामेन गृहीतोऽसि। यतः सुशर्मासि शोभनं शर्म सुखमाश्रयो वः यस्य स सुशर्मा। तथा सुप्रतिष्ठानः सुष्टु प्रतिष्ठानं पात्रे स्थितिर्यस्य तादृशोऽसि। विशेषणद्वयेन प्राणरूपोऽसीत्यर्थः। 'प्राणो वै सुशर्मा सुप्रतिष्ठानः।' (4। 4। 1। 14) इति श्रुतेः ग्रहस्यान्नरूपत्वाद् च प्राणहेतुत्वादू ग्रहस्य प्राणत्वम्। यस्मादीदृशोऽसि तस्माद् बृहदुक्षाय बृहन्महांश्चासौ उक्षा सेक्ता च बृहदुक्षः तस्मै महते सेक्त्रे जगदुत्पादयित्रे प्रजापतये नमोऽन्नं भवितुमर्हसीति शेषः। नम इत्यन्ननाम। 'प्रजापतिवै बृहदुक्षः' (4। 4। 1। 14) इति श्रुतेः बृहदुक्षशब्देन प्रजापतिः। विश्वेभ्यो देवभ्योऽर्थाय त्वां गृह्णामि। सादयति एष ते व्याख्यातम् ।।8।।

नवमी

उपयामगृंहीतोऽसि बृहुस्पतिंसुतस्य देव सोम त इन्दोंरिन्द्रियावंतः पत्नींवतो ग्रहाँ२।।ऋद्ध्यासम्। अहं परस्तांदहमवस्ताद्यदुन्तरिंक्षं तदुं मे पिताभूंत्। अहथ्ंसूर्यंमुभयतों ददर्शाहं देवानां परमं गुहा यत् ।।९।।

अन्वय : (हे) देव सोम) त्वम् उपयाम पात्रेण गृहीतः असि। (किं भूतस्य ते) इन्दोः इन्द्रियावतः पत्नीवतः बृहस्पति सुतस्य ग्रहान् ऋध्यासम् (समर्धयेयम्)। अहं परस्तात् अवस्तात् यद् अन्तरिक्षं तत् उभे में पिता अभूत्। अहं सूर्यम् उभयतः ददर्श (पश्यामि) देवानां यत् परमं गुहा (तदेव अहमस्मि)।

व्याख्या : हे दीप्यमान सोम! तुम उपयाम पात्र द्वारा गृहीत हो। अतः तुमसे सम्बद्ध अन्य पात्रों को मैं समृद्ध करता हूँ क्योंकि तुम महान् यज्ञकर्म में यजमान द्वारा अभिषुत हो, रस रुप, हो। [अगले मंत्र में मन्त्र द्रष्टा ऋषि अपने को परमात्मा के रूप में अनुभव करते हुए कहता है।] मैं ही ऊपर के द्यूलोक एवं नीचे के भूलोक आदि में स्थित रहता हूँ। तथा इसी रुप में सूर्य को भी देखता हूँ। इन्द्रादिदेवों के अत्यन्तगोप्य हृदय में मैं ही निवास करता हूँ।

म॰ : 'उपयागृहीतोऽसि बृहस्पतिसुतस्येति प्रतिप्रस्थाता पात्नीवतं गृह्णातीति' (का. 10। 6। 16) उपांश्वन्तर्यामपात्रयोरेकतरेण प्रतिप्रस्थाता पात्नीवतं ग्रहं गृह्णाति सोमदेवत्यम्। हे देव दीप्यमान हे सोम, त्वमुपयामेन पात्रेण गृहीतोऽसि अतस्ते तव सम्बन्धिनोऽन्यान् ग्रहानुपांशुप्रभृतीनहमृध्यासं समर्धयेयम्। किंभूतस्य ते बृहस्पतिसुतस्य बृहतो महतो यज्ञकर्मणः पतिर्बृहस्प-तिर्यजमानस्तेन सुतस्याभिषुतस्य। यद्वा बृहस्पतयो ब्राह्मण ऋत्वजस्तैरभिषुतस्य। तथा इन्दोः उन्दीकेदे' उनत्तीतीन्दुस्तस्य क्लेदनरूपस्य रसरूपस्येत्यर्थः। तथा इन्द्रियावतः इन्द्रिर्यं वीर्यमस्यास्तीतीन्द्रियवान् तस्य। संहितायां दीर्घः। तथा पत्नीवतः पत्नीसंयुक्तस्य। 'प्रचरणीशेषेण श्रीणात्येनंग्रहं परस्तादिति' (का. 10। 6। 17) प्रचरणीशिष्टेनाज्येन पात्नीवतग्रहं मिश्रयेत्। प्रजापतिरूपात्मदेवत्या त्रिष्टुप्। अत्र मन्त्रद्रष्टा स्वस्य सर्वगतपरमात्मरूपत्वम-भिप्रेत्यवदति। अहं परमात्मरूपः सन् परस्मात् उपरि द्युलोकादौ तथाहमवस्तात् अधस्तनभूलोकादौ च तिष्ठामीति शेषः। यदन्तरिक्षं मध्यवर्तिलोकरूपमस्ति तद तदेव मे देहधारिणो मम पिताभूत् पितृवत्पालकं भवति। अहं परमात्मरूपः सन्नुभयतः उपरिष्टादधस्ताश्च स्थित्वा सूर्यं ददर्श पश्यामि। देवानामिन्द्रादीनां यत्परमं गुहा अत्यन्तं गोप्ये हृदयेऽस्ति तदेवाहमस्मि ।।9।।

दशमी

अग्ना३।। इ पत्नीवन्त्सजूर्द्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब स्वाहा।

प्रजापंतिर्वृषांसि रेतोधा रेतो मयिं धेहि प्रजापंतेस्ते वृष्णों रेतोधसों रेतोधामंशीय ।।१०।।

अन्वय : हे पत्नीवन् अग्ने! त्वष्टा देवेन सजूः सोमं पिब स्वाहा, (हे उद्गात!) प्रजापतिः वृषा असि (सेक्ता) असि। रेतोधा भवसि मयि रेतो धेहि। ते प्रजापतेः (अनुग्रहात्) रेतोधा पुत्रमशीय। (प्राप्नुयाम)।

व्याख्या : हे पत्नीयुक्त अग्निदेव! त्वष्टा देवता के साथ आप सोमपान करें, यह हवि आपके लिए है। हे उद्गाता! प्रजाओं के पालक आप मुझे शक्ति सम्पन्न करें जिससे प्रजोत्पादनमें समर्थपुत्र को प्राप्त करुँ। अध्वर्यु इस मन्त्र से आहवनीय अग्नि के उत्तरार्ध में ग्रह की आहुति देता है।

म॰ : 'अग्ना 3 इ पत्नीवन्नित्युत्तरार्धे जुहोतीति पात्नीवतं ग्रहमग्नेरुत्तरभागे जुहोति' (का. 10। 6। 16)। अग्रिदैवत्यम्। 'एचोऽप्रगृह्यस्य' (पा. । 8। 2। 107) इत्यादिना अग्ने शब्दगतस्य एकारस्य आइ इत्यादेशौ आकारस्य प्लुतत्वम्। हे अग्ने, हे पत्नीवन् पत्नीयुक्त, त्वष्ट्रा देवेन सजूः समानप्रीतिः सन् सोमं पिब स्वाहा सुहुतमस्तु। 'पत्नीसदः प्रवेश्यापरेणोत्तरत उपविष्टामुद्गात्रा समीक्षयति प्रजापतिर्वषासीति' (का. 10। 7। 3) नेष्टा पश्चिमद्वारेण पत्नीं सदः प्रवेश्योद्गातुरुत्तरतः स्थितामुद्गातारं पश्येति प्रेषयेत् सा च तं पश्येत्। हे उद्गातः, प्रजापतिः प्रजानां पालकस्त्वं वृषासि सेक्ता भवसि। रेतोधा रेतसो वीर्यस्य धारयिता चासि। एवं भूतस्त्वं रेतो वीर्यं मयि धेहि स्थापय। ततो वृष्णो वीर्यस्य सेक्तः रेतोधसो वीर्यस्य धारयितुः प्रजापतेस्ते तवानुग्रहात्, रेतोधा रेतसो धारयितारं प्रजोत्पादनसमर्थं पुत्रमशीय पुत्रमशीय प्राप्नुयाम्। अश्नोतेर्व्यत्ययेनादादित्यं लिङ् उत्तमैकवचने ।।10।।

एकादशी

उपयामगृंहीतोऽसि हरिंरसि हारियोजनो हरिंभ्यां त्वा। हर्योर्धाना स्थं सहसोंमाऽइन्द्राय ।।११।।

अन्वय : हे ग्रह! त्वम् उपयामेन गृहीतोऽसि। त्वं हरिरसि, हारियोजनः त्वा हरिभ्यां (गृह्णामि)। सहसोमाः इन्द्राय हर्योः स्थ।

व्याख्या : हे ग्रह! तुम उपयामसंज्ञक पात्र से गृहीत हो हरितवर्ण के हो, तथा हरी नामक घोड़ों के नियोक्ता इन्द्र से सम्बद्ध हो। मैं, तुम्हें

ऋक्साम मन्त्रों से ग्रहण करता हूँ। हे सोम रस से मिले हुए भूँजे गये यव, तुम इन्द्र के अश्वों के लिए हो।

इस मन्त्र में हारियोजनग्रह की ग्रहण विधि है।

म॰ : 'द्रोणकलशे हारियोजनग्रहणमुपयामगृहीतोऽसि हरिरसीति' (का. 10। 8। 1)। आग्रयणादिति शेषः। ऋक्सामदेवत्यम्। हे ग्रह, त्वं हरिर्हरितवर्णोऽसि 'हरी रश्मिमर्हरिः सोमो हरिर्हरितवर्णवान्' इत्यभिधानात्। उपयामेन गृहीतश्चासि। किंभूतस्त्वम्। हारियोजनः हरीं इन्द्राश्वौ योजयतीति हरियोजन इन्द्रस्तस्यां हारियोजन इन्द्रसंबन्धी तं त्वा त्वां हरिभ्यामृक्साममन्त्राभ्यां गृह्णामीति शेषः 'ऋक्सामे वै हरिः ऋक्सामाभ्याह्येनं गृह्णाति' (4। 4। 3। 6) इति श्रुतेः 'धानाश्चावपति हर्योर्धाना इति' (का. 10। 8। 2)। हारियोजने भ्रष्ट्यवान्निदध्यात्। धानादेवत्यम्। सहसोमाः सोमेन सहिता धाना भ्रष्टयवाः, यूयमिन्द्राय इन्द्रस्य हर्योः हरितवर्णयोरश्वयोः स्थ भवथ इन्द्राश्वसंबन्धिनो यूयमित्यर्थः ॥11॥

द्वादशी

यस्तेंऽअश्वसनिर्भक्षो यो गोसनिस्तस्यं त इुष्टयं जुषस्तुतस्तोमस्य शस्तोक्थस्योपंहूतस्योपंहूतो भक्षयामि ॥१२॥

अन्वय : हे धानासहित सोम [भक्षद्रव्य!] यः ते अश्वसनिः यः गोसनिः भक्षः उपहूतो भक्षयामि। ते इष्टयजुषः स्तुतस्तोमस्य शस्त्रोक्थस्य उपहूतस्य [उपहूतः भक्षयामि]

यहाँ समस्त ऋत्विज इस मन्त्र से सोमरस में भीगें हुए धाना का भक्षण करते है।

व्याख्या : हे धानासहित सोम! तुम्हारा भक्षण गौ एवं अश्वों को प्रदान करने वाला है। ऐसे द्रव्य का भक्षण तुम्हारी आज्ञा से कर रहा हूँ हे सोम तुम्हें यजु प्रिय हैं, तुम उद्गाताओं द्वारा स्तुत तथा होता द्वारा प्रोक्त शस्त्रवाले हो। अर्थात् उद्गातागण स्तोम के द्वारा तथा होता गण शस्त्रपाठ के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते है। ये सब अनुगृहीत पुरुषों के ही होते हैं।

म॰ : 'यस्ते अश्वसनिरिति प्राणभक्ष भक्षयित्वोत्तरवेदौ निवपन्तीति' (का. 10। 8। 5)। सर्वार्त्विजो धाना आदाय मन्त्रेणावघ्रायोत्तरवेदौ क्षिपन्ति। भक्षद्रव्यदैवत्यम्। हे धानासहित सोम भक्षद्रव्य, यस्ते तव भक्षो भक्षणमश्वसनिः।

'षणु दाने' अश्वान्सनोतीत्यश्वसनिः अश्वानां दाता। यश्च ते भक्षो गाः सनोति गवां दाता तस्य तादशस्य ते तव तादृशं भक्षमुपहूतोऽनुज्ञातेऽहं भक्षयामि। कीदृशस्य ते। इष्टयजुषः इष्टानि यजूंषि यस्य स इष्टयजुस्तस्य। तथा स्तुतस्तोमस्य उद्गातृभिः स्तुताः स्तोत्राणि यस्य स स्तुस्तोमस्तस्य। तथा शस्तोक्थस्य होतृभिः शस्तानि उक्थानि शस्त्राणि यस्य यस्य स शस्तोक्थस्तस्य। तथा उपहृतस्याभ्यनुज्ञातस्य तदैतानि भवन्तीत्यर्थः ।।12।।

त्रयोदशी

देवकृतस्यैनंसोऽवयजंनमसि मनुष्यकृतस्यैनंसोऽवयजंनमसि पितृकृतस्यैनंसोऽवयजंनमस्यात्मकृतस्यैनंसोऽवयजंनमस्येनंसऽएनसोऽवय-जंनमसि। यच्चाहमेनों विद्वांश्चकार यच्चाविद्वांस्तस्य सर्वस्यैनंसोऽव-यजंनमसि ।।१३।।

अन्वय : (हे यूप शकल) त्वं देवकृतस्य एनसः अवयजनम् असि। मनुष्यकृतस्य एनसः अवयजनससि, नाशकं भवसि। पितृकृतस्य एनसः अवयजनम असि। आत्मकृतस्य एनसः अवयजनम असि। एनस एनसं अवयजनम् असि। यच्च एनम् अहं विद्वान (जानानः) चकार तस्य सर्वस्य एनसः अवयजनम् असि।

यहाँ यूपशकल की आहुति आहवनीय अग्नि में की जाती है।

व्याख्या : (हे यूप शकल) तुम देवाराधन न करने के कारण तज्जन्य पाप के नाशक हो, मनुष्यों द्वारा किये द्रोहनिन्दादि पापों को नष्ट करने वाले हो। पितरों के निमित्त किये गये दोषों के नाशक, (श्राद्धादि न करने के कारण) हो। अपने लिए नियत नित्यकर्मादि के विस्मरण जन्य अपराध को दूर करने वाले हो, जानबूझ कर जो पाप हमने किये हैं तथा अनजाने में जो पाप हमसे हो गये हैं ज्ञाताज्ञात उन समस्त पापों के विनाशक हों। अतः इन सभी पापों को नष्ट करों।

म० : 'शकलाधानं देवकृतस्येति प्रतिमन्त्रमिति' (का. 10। 8। 6)। षट् षड्यूपशकलानि सर्वेऽग्नौ निदध्युः। षड्यजूंष्यग्निदेवत्यानि। हे शकल, त्वं देवकृतस्य देवविषये विहितस्य एनसो यजनाभावादिलक्षणस्य पापस्य त्वमवयजनमसि नाशकं भवसि। अवपूर्वो यजिर्नाशनार्थः। अवयजती-त्यवयजनम्। मनुष्यकृतस्य मनुष्येषु कृतस्य द्रोहनिन्दादेरेनसोऽवयजनमसि।

पितृकृतस्य पितृषु कृतस्यैनसः श्राद्धाकरणादेर्नाशनमसि। आत्मविषये कृतस्य पापस्यात्मनिन्दादेर्नाशनमसि। एनसएनसः यावन्ति पापानि तावतां सर्वेषां नाशनमसि। किंच विद्वान् जानानो ज्ञानपूर्वकं यदेनः पापमहं चकार कृतवान् अविद्वान् अज्ञानपूर्वं च यदहमेनश्चकार तस्य सर्वस्यैनसः ज्ञानाज्ञानपूर्वस्य पापस्य त्वमवयजननाशनमसि ॥13॥

चतुर्दशी

सं वर्चसा पयसा संतनूभिरगन्महि मनसा सꣳ शिवेन। त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥१४॥

अन्वय : वर्चसा पयसा तनूभिः सम् (अगन्महि)। शिवेन मनसा समगन्महि। सुदत्रः त्वष्टा रायः विदधांतु, यत् तन्वो विलिष्टम् (तत्) अनुमार्ष्टु।

व्याख्या : हमलोग त्वष्टा की कृपा से ब्रह्मतेज तथा क्षीरादिरसों से संयुक्त हों, अनुष्ठान में समर्थ शरीरावयवों से संयुक्त हों तथा कल्याणयुक्त मन से संयुक्त हो। उदार त्वष्टा देवता हमें समस्तऐश्वर्य से सम्पन्न करें। हमारे शरीर में जो भी न्यूनता है। उसे त्वष्टा देवता पूर्ण करें।

म॰ : 'अपरेण चात्वालं यथास्वं चमसान् पूर्णपात्रानवमृशन्ति हरितकुशानवधाय सं वर्चसेति' (का. 10। 8। 7) पूर्णपात्रानुदकपूर्णानित्यर्थः। त्वाष्ट्री त्रिष्टुप् (अ. 2 क. 24) व्याख्यातापि व्याख्यायते। वर्चसा ब्रह्मवर्चसेन वयं समगन्महि संगता भवाम। गच्छतेर्लङि अदादित्वाच्छपो लुकि उत्तमबहुवचने 'मो नो धातोः' (पा॰ 8। 2। 64) इति मस्य नकारः। पयसा क्षीरादिरसेन समगन्महीत्यनुवर्तते। तनूभिरनुष्ठानक्षमैः शरीरावयवैः समगन्महि। किंच सुदत्रः शोभनदानः त्वष्टा देवो रायो धानानि विदधातु। तन्वः शरीरस्यास्मदीयस्य यद्विलिष्टं विश्लिष्टम्। 'लिश अल्पीभावे' निष्ठान्तः। विशेषेण न्यूनमंग तदनुमार्ष्ट न्यूनत्वपरिहारेणानुकूलं कृत्वा शोधयतु ॥14॥

पञ्चदशी

समिन्द्र णो मनसा नेषि गोभिः सꣳ सूरिभिर्मघवन्सꣳस्वस्त्या। सं ब्रह्मणा देवकृतं यदस्ति सं देवानाꣳसुमतौ यज्ञियानाꣳ स्वाहा ॥१५॥

अन्वय : (हे) इन्द्र! नः मनसा सन्नेषि। गोभिः सम् (संनेषि), (हे) मघवन् सूरिभिः स्वस्त्या सम् (संनेषि)। ब्रह्मणा सम् (संनेषि) देवकृतं यदस्ति तेन संनेषि, (तथा) यज्ञियानां देवानां सुमतौ स्वाहा।

व्याख्या : [यहाँ से समिष्टयजुसंज्ञक नवमन्त्रों द्वारा आहुति प्रदान की विधि बतलायी गई हैं]

हे इन्द्रदेव! आप अनुग्रहयुक्त मन से हमें संयुक्त करें। आप ही गौ आदि पशुओं से तथा होता आदि ऋत्विजों से अर्थज्ञानसहितवेदों से, देवताओं द्वारा किये गये उपकारों से, तथा उनके अनुग्रह बुद्धि से, आप ही संयुक्त करते हैं अतः यह आहुति आपके लिए समर्पित हो।

म० : 'समिन्द्र ण इति नव समिष्टयजूंषि जुहोति प्रतिमन्त्रमिति' (का. 10। 8। 11)। नवभिर्मन्त्रैः समिष्टयजुः- संज्ञा नवाहुतीर्जुहुयात्। तत्राद्यः विश्वेदेवदेवता त्रिष्टुप् अत्रिदृष्टा। समित्युपसर्गो नेषीत्यनेन संबध्यते न इत्यस्य णत्वम्। हे मघवन्धनवन् हे इन्द्र, मनसानुग्रहयुक्तेन नोऽस्मान् त्वं संनेषि संनयसि संयोजयसि। गोभिः वाग्भिर्गवादिपशुभिर्वा संनेषि। व्यत्ययेन शपो लुकि लटि मध्यमैकवचने नेषीति रूपम्। सूरिभिः पण्डितैर्होत्रादिभिः संयोजयसि स्वस्त्या क्षेमेण च संनेषि। ब्रह्मणार्थज्ञानसहितेन वेदेन संनेषि। देवकृतं देवार्थ कृतं कर्म यदस्ति यज्ञाख्यं देवैः कृतं दृष्टं वा यत्कर्म तेन संनेषि। तथा यज्ञियानां यज्ञसंबन्धिनां देवानां सुमतौ सुमत्यानुग्रहबुद्या संयोजयसि। 'सुपां सुपो भवन्ति' (पा. 7। 1। 39) इति तृतीयार्थे सप्तमी। यस्त्वमस्यमानेवं मनआदिभिः संयोजयसि तस्मै स्वाहा एतद्धविः सुहुतमस्तु ॥15॥

षोडशी

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सꣳशिवेन। त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥१६॥

(इस मन्त्र का अन्वय एवं व्याख्या पूर्वोक्त मन्त्र के पहले हो चुकी है)

म० : अथ द्वितीयः। त्वाष्ट्री त्रिष्टुप् प्रजापतिदृष्टा व्याख्याता (क. 14) ॥16॥

सप्तदशी

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपा देवो अग्निः। त्वष्टा विष्णुः प्रजया सꣳरराणा यजमानाय द्रविणं दधात स्वाहा ।।१७।।

अन्वय : धाता रातिः सविता इदं जुषन्ताम्। निधिपाः प्रजापति देवः, अग्निः, त्वष्टा, विष्णुः प्रजया संरराणाः, यजमानाय द्रविणं दधात (ददतु), स्वाहा।

व्याख्या : दानशील धाता, देवता, सविता नवनिधियों के पालक प्रजापति दीप्यमानअग्नि, त्वष्टा एवं विष्णु ये छः देवता मेरे द्वारा प्रदत्त इस समिष्टयजुरुपहवि का सेवन करें, तथा यजमान के लिए विपुलधन प्रदान करें। यह हवि इन्हें अच्छी तरह प्राप्त हो।

म० : अथ तृतीयः। धातृसवितृप्रजापतिदेवाग्नित्वष्टृविष्णुदेवत्या त्रिष्टुप्। धाता सविता प्रजापतिः अग्निः त्वष्टा विष्णुः एते षट् देवा इदमस्मद्धविः समिष्टयजुर्लक्षणं जुषन्तां सेवन्ताम्। किंभूतो धाता। रातिः राति प्रयच्छतीति रातिः दानशीलः। 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्' (पा. 3। 3। 174) इति कर्तरिक्तिच्प्रत्ययः चित्वादन्तोदात्तः। किंभूतः प्रजापतिः। निधिपाः' निधीन्पातीति निधिपाः महापद्मशंखपद्मादिनिधीनां नवानां पालयिता। किंभूतोऽग्निः। देवः दीप्यमानः किंच ते एते देवाः प्रजया यजमानसंबन्धिन्या सन्तत्या सह संरराणाः सम्यग्रममाणाः सन्तः यजमानाय द्रविणं धनं दधात दधतु ददतु। व्यत्ययेन प्रथमपुरुषस्थाने मध्यमः पुरुषः 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा. 7। 1। 45) इति तवादेशस्तस्य, तेनालोपाभावः। स्वाहा एतेभ्यः सुहुतमस्तु ।।17।।

अष्टादशी

सुगा वो देवाः सदनाऽअकर्म य आजग्मेदꣳ सवनं जुषाणाः। भरमाणा व्वहमाना हवीꣳष्यस्मे धत्त व्वसवो वसूनि स्वाहा ।।१८।।

अन्वय : (हे देवाः यूयंम्) इदं सवनं जुषाणाः (सेवमानाः) आजग्म (आगताः) वः सदनाः सुगा सुगमनानि अकर्म (कृतवन्तः)। हे वसवः! हवींषि भरमाणाः वहमानाः अस्मे वसूनि धत्त स्वाहा।

व्याख्या : हे देवताओं। जो आप लोग इस यज्ञीयहवि को ग्रहण करने के लिए यहाँ पधारे हैं हम आपके यथायोग्य स्थान को सुगम बना दिये हैं (सुविधा सम्पन्न बना दिये हैं)। हे देवों! हमारे द्वारा प्रदत्त हवियों का उपभोग करते हुए तथा यज्ञसमाप्ति पर रथारूढ होकर हवि ले जाते हुए आप हमें यज्ञफल प्रदान करें। यह हवि आप लोगों को समर्पित है।

म० : अथ चतुर्थः देवदेवत्या त्रिष्टुप् तुर्यः पादो दशार्णः। हे देवाः, ये यूयमिदं सवनं यज्ञं जुषाणाः सेवमानाः सन्तः आजग्म आगताः। गमेर्लिटि मध्यमबहुवचनम्। तेषां वो युष्माकं सदना सदनानि स्थानानि सुगा सुगानि सुखेन गम्यते येषु तानि सुगानि सुगमनीयानि वयमकर्म अकार्ष्म कृतवन्तः। 'सदुरोरधिकरणे' (पा. 3। 2। 48) इति सुउपसर्गे गमेर्डप्रत्यये सुगेति रूपं विभक्तेराकारः। करोतिश्लिललोपे लुङि उत्तमबहुवचने अकर्मेति रूपम्। किंच हे वसवः वासयन्तीति वसवः वासयितारो निवासहेतवो देवाः। अस्मै अस्मासु यूयं वसूनि धनानि धत्त स्थापयत। किंभूता यूयं यज्ञसमाप्तौ हवींषि भरमाणा ये रथिनस्ते तु रथेषु विभ्रतः रथहीना वहमानाः स्कन्धेषु हवींषि वहन्तः। यद्वा भरमाणाः पुष्णन्तः बहमानाः रथादिभिर्नयन्तः तेभ्यो युष्मभ्यं स्वाहा सुहुतमस्तु ।।18।।

एकोनविंशी

याँ२ऽआवह उशतो देव देवांस्तान्प्रेरय स्वेऽअग्ने सधस्थे। जक्षिवाᳬंसः पपिवाᳬंसश्च विश्वेऽसुं घर्मᳬस्वरातिष्ठतानु स्वाहा ।।१९।।

अन्वय : (हे) देव अग्ने! यान् उशतो देवान् आवहः (आहूतवानसि) तान् देवान् स्वे सधस्थे प्रेरय, विश्वे जक्षिवांसः पपिवांसः च असुम् घर्म्मः स्व अन्वातिष्ठत।

व्याख्या : हे अग्निदेव! हवि की अभिलाषा से जिन देवताओं को आपने आहूत किया है उन देवताओं को अपने अपने स्थानों पर जाने के लिए प्रेरित करें क्योंकि आप लोगों ने हवि का भक्षण कर लिया है तथा सोमपान भी कर लिया है। अतः यज्ञ की समाप्ति पर आप अपने-अपने लोकों में पधारे यह हवि आप के लिए समर्पित है।

म॰ : अथ पञ्चमो मन्त्रः आग्नेयी त्रिष्टुप्। इदानीं देवान् विसृजति। हे अग्ने, हे देव दीप्यमान, उशतो हवींषि कायममानान् यान्देवान् त्वमावहः आहूतवानसि तान् देवान् स्वे स्वकीये सधस्थे सहनिवासस्थाने प्रेरय प्रस्थापय सह तिष्ठन्ति यस्मिन् तत्सधस्थम् 'सधमादस्थतयोश्छन्दसि' (पा. 6। 3। 96) इति स्थे परे सहस्य सधादेशः। किमुक्त्वा प्रेरयामीति चेत् अत आह। हे देवाः, विश्वे सर्वे यूयं जक्षिवांसः 'घस्लृअदने' 'क्वसुश्च' (पा. 3। 2। 107) इति क्वसुः। 'वस्त्रेकाजाद्धसाम्' (पा. 7। 2। 67) इतीट्। सवनीय पशुपुरोडाशान् भक्षितवन्तः। तथा पपिवांसः सोमपानं कृतवन्तश्चेदानीं यज्ञसमाप्तौ असुं हिरण्यगर्भप्राणलक्षणं वायु वायुमण्डलमित्यर्थः। घर्ममादित्यमण्डलं वा स्वः द्युलोकं वा अन्वातिष्ठत आश्रयत। यस्य यस्य यत्र गृहाः सन्ति तांस्तानन्वतिष्ठतेत्यर्थः। 'छन्दसि परेऽपि' (पा. 1। 4। 81) इति अनोः क्रियापदात्परत्वम् खाहा सुहुतमस्तु हविः ॥19॥

विंशी

व॒यꣳहि त्वा॑ प्र॒यति य॒ज्ञे अ॒स्मिन्नग्ने॒ होता॑रमवृणीमही॒ह। ऋध॑गया॒ऽऋध॑गु॒ताश॑मिष्ठाः प्रजा॒नन्य॒ज्ञमुप॑याहि वि॒द्वान्स्वाहा॑ ॥२०॥

अन्वय : (हे) अग्ने! हि वयम् अस्मिन् प्रयति यज्ञे त्वा (त्वाम्) होतारम् अवृणीमहि (वृतवन्तः) (तस्मात् कारणात् त्वं) ऋधग् अयाः (इष्टवानसि)। विद्वान् यज्ञं प्रजानन् उपयाहि स्वाहा।

व्याख्या : हे अग्निदेव! हम लोग इस प्रवर्तमान यज्ञ में आपको होता के रूप में (देवताओं को बुलानेवाले) वरण किया है। अतः आपने इसे निर्विघ्न पूर्ण किया। आप सर्वज्ञ है। अतः इस यज्ञ को समाप्त समझकर अपने स्थान को जायें। यह आहुति आपके लिए है।

म॰ : अथ षष्ठः। आग्नेयी त्रिष्टुप् इदानीमग्निं विसृजति। हे अग्ने, हि यस्मात्कारणादिहास्मिन् दिने स्थाने वा अस्मिन्। यज्ञे प्रयति प्रवर्तमाने सति होतारं देवानामाह्वातारं होमनिष्पादकं वा त्वा त्वां वयमवृणीमहि वृतवन्तः। 'अग्निवै दैव्यो होते' ति श्रुतेः तस्मात्कारणाद्धतस्त्वमृधक् समृद्धं यथा भवति तथा अयाः। यद्वा ऋधोतीति ऋधक् ऋधुवन् यज्ञं समर्धयन्सन् अयाः अयाक्षीः इष्टवानसि। यज्ञं कारितवानसीत्यर्थः। यजतेश्च्लिलोपे

यकारस्य छान्दसं रुत्वम्। उतापि च ऋधक् ऋधुवच्चेव अशमिष्ठाः यज्ञप्रायश्चितं शमितवानसि विघ्नशान्तिं वा अकाषीः स त्वमिदानीं यज्ञं प्रजानन् यज्ञं समाप्तमवगच्छन् उपयाहि स्वगृहं गच्छ। किंभूतस्त्वम् विद्वान्पण्डितः स्वाधिकारं जानन्नित्यर्थः। स्वाहा तुभ्यं सुहुतमस्तु ।।20।।

एकविंशी

देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित। मनसस्पत इमं देव यज्ञꣳस्वाहा वाते धाः ।।२१।।

अन्वय : हे गातुविदो देवाः गातुं वित्वा यज्ञं समाप्तं ज्ञात्वा गातुमित। (स्वकीयं मार्गं गच्छत) (हे) मनसस्पते! इमं यज्ञं स्वाहा वाते धाः। (स्थापय)

व्याख्या : हे विविधयज्ञों के वेत्ता देवो! (जानने वाले) मेरे इस यज्ञ को पूर्ण समझकर सन्तुष्ट होते हुए अपने स्थान को प्राप्त करे। हे मन के अधिपति-प्रजापति देव इसे हम आपको समर्पित करते हैं तथा आप इसको (यज्ञ को) वायु में स्थापित करें।

म० : अथ सप्तमः। वातदेवत्या विराट् मनसस्पतिदृष्टा व्याख्यातापि (अध्या. 2 क. 21) उच्यते। 'कै गै शब्दे' गीयते नानाविधैर्वैदिकशब्दैः प्रतिपाद्यत इति गातुर्यज्ञस्तं विदन्ति जानन्तीति गातुविदः तादृशा हे देवाः, गातुं वित्त्वा अस्मदीयो यज्ञः प्रवृत्त इति विदित्वा गातुमित यज्ञं गच्छत। यद्वा गातुं वित्त्वा यज्ञं समाप्तं विदित्वा गातुमित। 'गाङ् गतौ' गायते गम्यते यत्र स गातुर्मार्गस्तं गच्छत यज्ञं समाप्तं मत्वा यज्ञेन तुष्टाः सन्तः स्वकीयं मार्ग गच्छत। एवं देवानुक्त्वा प्रजापतिमाह। हे मनसस्पते, अस्मदीयस्य मनसो यष्टुं प्रेरणेन पालक परमेश्वर हे देव, इममनुष्ठितं यज्ञं स्वाहा त्वद्धस्ते दधामि त्वं च वाते धाः वायुरूपे देवे यज्ञं धेहि स्थापय ।।21।।

द्वाविंशी

यज्ञ यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहा। एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः सर्ववीरस्तं जुषस्व स्वाहा ।।२२।।

अन्वय : (हे) यज्ञ! यज्ञं गच्छ, यज्ञपतिं गच्छ स्वांयोनिं गच्छ स्वाहा। (हे) यज्ञपते! विष्णो एष यज्ञः ते सहसूक्तवाकः सर्ववीरः, तं जुषस्व स्वाहा।

व्याख्या : हे यज्ञ! तुम यज्ञपुरुष (विष्णु) को प्राप्त करो, फल प्रदान के लिए यजमान को प्राप्त करो तथा अपने कारणभूत द्रव्यों को प्राप्त करो। यह आहुति आपको समर्पित हो। हे यजमान! तुम्हारे द्वारा यह अनुष्ठित यज्ञ विविधसुक्तों से सुशोभित तथा सोम, सवनीय पुरोडाशादि से युक्त हैं ऐसे याग का फलभोगपूर्वक सेवन करों। यह आहुति आपको सुहुत हो।

म॰ : अथाष्टमः। यज्ञदैवतं यजुः। यज्ञं विसृजति। हे यज्ञ, त्वं यज्ञं गच्छ स्वप्रतिष्ठार्थ यज्ञनामकं विष्णुं गच्छ। यज्ञपतिं यजमानं गच्छ। फलप्रदानेन यजमानं प्राप्नुहीत्यर्थः। स्वां योनिं गच्छ। स्वनिष्पत्त्यर्थ स्वां योनिं स्वकारणभूतां वायोः क्रियाशक्तिं गच्छ। द्रव्यं देवता च यज्ञस्य योनिः सर्वात्मात्वमिति भावः। स्वाहा सुहुतमस्तु। अथ नवमः समिष्टुयजुर्मन्त्रः। यज्ञपतिदैवतम्। हे यज्ञपते यजमान, एषोऽनुष्ठीयमानो यज्ञस्ते तव त्वदीयोऽस्ति। कीदृशः सहसूक्तवाकः सूक्तवाकैः स्तोत्रैः सहितः। तथा सर्ववीरः सर्वे वीरा यस्मिन् स तथा सोमः पशुः। सवनीयचरुपुरोडाशा वीरा उच्यन्ते तैः सहितः य ईदृशस्तं यज्ञं जुषस्व फलभोगेन सेवय। स्वाहा सुहुतमस्तु ॥22॥

त्रयोविंशी

माहि॑र्भू॒र्मा पृदा॑कुः। उ॒रुꣳहि राजा॒ वरु॑णश्च॒कार॒ सूर्या॑य॒ पन्था॒मन्वे॑त॒वाउ॑। अ॒पदे॒ पादा॒ प्रति॑धातवेऽकरु॒ताप॑व॒क्ता हृ॑दया॒विध॑श्चित्। नमो॒ व्वरु॑णाया॒धिष्ठि॑तो॒ व्वरु॑णस्य॒ पाश॑ः ॥२३॥

अन्वय : हे रज्जो त्वं मा अहिः भूः, मा पृदाकुः। राजा वरुणः सूर्याय अनु एतवा उ उरुं पन्थां चकार। अपदे पादा प्रतिधातवे अकः। हृदयाविधः चिद् अपवक्ता। नमोवरुणाय वरुणस्य पाशः अधिष्ठितः

व्याख्या : हे रज्जु! सर्प न बनो, अजगर भी न बनो। राजा-वरुण सूर्य के अनुदिनगमन के लिए विस्तीर्णमार्ग का निर्माण किया है। उसने जहाँ अपुण्यशील जन पाँव भी (पैर) नहीं रख सकते ऐसे स्वर्गादिलोक में (पैर रखने को लिए) रहने के लिए स्थान बनाया। अर्थात् वह हमारे लिए भी अन्तरिक्ष में पैर रखने के लिए (स्वर्गगमन के लिए) मार्ग तैयार करें। वह हृदय की पीड़ादेने वाले का तिरस्कार करते है, ऐसे वरुणदेव को नमस्कार है। ये वरुणदेव के पाश चारों ओर स्थिर होकर मेरी रक्षा करें।

इस मन्त्र के द्वारा अध्वर्यु चात्वाल में कृष्ण विषाण तथा मेखला फेकता है।

म॰ : 'कृष्णविषाणमेखले चात्वाले प्रास्यति माहिर्भूरिति' (का. 10। 8। 13)। यजमानहस्तस्थं मृग शृङ्गमध्ये बद्धा मेखला चेत्युभे विस्रंस्य चात्वाले क्षिपेत्। रज्जुदेवत्यम्। हे रज्जो, त्वमहिः सर्पो मा भूः। पृदाकुः अजगरः सर्पविशेषः सोऽपि मा भूः। 'उरुहीति वाचयतीति' (का. 10। 8। 15)। अवभृथाय जिगमिषुरध्वर्युश्चात्वालसमीपस्थं प्राङमुखं यजमानं वाचयेत्। वरुणदेवत्या त्रिष्टुप् शुनःशेपदृष्टा। उशब्दोऽवधारणे। वरुण एव राजा सूर्याय अन्वेतवै। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। सूर्यस्यान्वेतुमनुक्रमेणान्वहं गन्तुं हि यस्मात् उरुं विस्तीर्णं पन्थां पन्थानं मार्गं चकार। क्व अपदे नास्ति पदं यस्मिन् यत्र दत्तं पदं प्रतिमुद्रितं न भवति तस्मिन्नन्तरिक्षे मार्गं कृतवानित्यर्थः। तस्मादस्माकमपि अपदे अन्तरिक्षे पादा प्रतिधातवे पादौ निक्षेप्तुं। विभक्तेराकारः। मार्गं कः करोतु। स्वर्गगमनाय मार्ग करोत्वित्यर्थः। करोतेरदादित्वेन लङ्शिपो लुक् अडभाव आर्षः। किंच यो वरुणः उतापिच हृदयाविधश्चिदपवक्ता हृदयं विध्यति मर्मोच्चारणेन पीडयति हृदयवित् 'नहिवृतिवृषि-' (पा. 6। 3। 116) इत्यादिना किवन्ते व्यधौ परे हृदयस्य दीर्घः। तस्य हृदयाविधः। तस्य हृदयाविधः पिशुनस्यापि अपवदिता चिच्छब्दोऽप्यर्थे। निन्दकस्यापि तिरस्कर्ता किमुतान्येषां पापकारिणामित्यर्थः। ईदृशो वरुणोऽवभृथाय मार्ग ददात्वित्यर्थः। अन्वेतवै प्रतिधातवे। अनुपूर्वादिणः प्रतिपूर्वाद्दधातेश्च 'तुमर्थे सेसे-' (पा. 3।4।9) इत्यादिना क्रमात्तवैतवेप्रत्ययौ 'नमो वरुणायेति वाचयत्वपोऽवक्रमयन्निति' (का. 10। 8। 21)। अवभृथ-स्त्रानार्थमपः प्रवेशयन्यजमानं वाचयेत्। वारुणं यजुः। वरुणस्य पाशोऽधिष्ठितः आक्रान्तस्तस्मात्र बन्धनक्षमस्तस्मै वरुणाय नमो नमस्कारोऽस्त्विति शेषः ॥23॥

चतुर्विंशी

अ॒ग्नेरनी॑कम॒प आवि॑वेशा॒पांन्नपा॑त्प्रति॒रक्ष॑न्नसु॒र्य॑म्। दमे॑दमे स॒मिधं॑ यक्ष्यग्ने॒ प्रतिं॑ ते जि॒ह्वा घृ॒तमुच्च॑रण्य॒त्स्वाहा॑ ॥२४॥

अन्वय : हे अग्ने! अपानपात् अनीकम् अपः आविवेश। असूर्यं प्रतिरक्षन् दमे दमे समिधं यक्षि। हे अग्ने! ते जिह्वा घृतं प्रति उच्चरण्यत्

स्वाहा।

व्याख्या : हे अग्निदेव! अपने अपांनपात्नामक मुख को इस जल में प्रविष्ट करो। असुरों द्वारा किये गये यज्ञविघ्नों से यज्ञ की रक्षा करते हुए प्रत्येक घर में (प्रत्येक यज्ञशाला में) प्रदीप्त होकर यजन को स्वीकार करो। तुम्हारी जिहवा=ज्वाला इस आज्य के प्रति गतिशील हो। यह आहुति सुहुत हो।

म० : 'प्रास्य समिधं चतुर्गृहीतेनाभिजुहोति अग्नेरनीकमिति' (का. 10। 8। 22) अप्सु समिधं प्रक्षिप्य चतुर्गृहीतेनाज्येन तदुपरि जुहुयात्। अग्रिदेवत्या त्रिष्टुप्। अग्नेरनीकमिति परोक्षलिंगं, समिधं यक्ष्यग्न इति प्रत्यक्षलिंगमेकस्मिन्वाक्ये त्वसंगतमतो यच्छब्दाध्याहारेण योज्यम्। हे अग्ने, यस्य तवाग्ने अंगनशीलस्य सतोऽपान्नपात्संज्ञकमनीकं मुखमप उदकान्यादिवेश आभिमुख्येन प्रविवेश। हे अग्ने, स त्वं दमेदमे तत्तद्यज्ञगृहे असुर्यमसुरैः कृतं यज्ञविध्नं प्रतिरक्षन्निवर्तयन्सन् समिधं समिन्धनसाधनं घृतं यक्षि यज संगतं कुरु। यजतिः संगतिकरणार्थः शपो लुकि लटि रूपम्। घृतमात्मसंगतं कुर्वित्यर्थः। ततोऽनन्तरं ते तव जिह्वा ज्वाला घृतं प्रति उच्चरण्यत् उच्चरतु उद्युक्तास्तु। स्वाहा सुहुतमस्तु। दमेदमे इति वीप्साश्वमेधविषया। तत्र हि नानावभृथान्यहानि भवन्ति। उत्पूर्वाच्चरतेर्लोडर्थे न्यत्प्रत्यय औणादिकः ।।24।।

पञ्चविंशी

स॒मु॒द्रे ते॒ हृद॑यम॒प्स्व॒न्तः सन्त्वा॑ विश॒न्त्वोष॑धीरु॒तापः॑। य॒ज्ञस्य॑ त्वा यज्ञपते सू॒क्तोक्तौ॑ नमोवा॒के वि॑धेम॒ यत्स्वाहा॑ ।।२५।।

अन्वय : (हे सोम) समुद्रे यत् ते हृदयं, अप्सु अन्तः (वर्तते) ओषधीः उत आपः त्वा संविशन्तु। हे यज्ञपते! यज्ञस्य सूक्तोतौं नमोवाके त्वा विधेम स्वाहा।

व्याख्या : हे सोम! तुम्हारा जो हृदय समुद्र (बहुलोदक) में स्थित है उसे मैं वही पहुँचाता हूँ। उसमें स्थित ओषधियाँ तथा जल तुम्हारे में प्रविष्ट हो। हे यज्ञपति! (यज्ञ के रक्षक सोम! यज्ञ के समय सूक्तोंच्चारण एवं देवों के प्रति नमस्कार वचनों के लिए तुम्हें स्थापित करते हैं। अर्थात् हम तुम्हारे अनुग्रह से सुन्दरवचन एवं नमोयुक्त स्तुतियों

का प्रयोग करें। यह हवि तुम्हें सुहुत हो।

इस मन्त्र से ऋजीषकुम्भ का प्लावन, उपस्थान तथा मज्जन का विधान किया गया है।

म० : 'समुद्रे त इति ऋजीषकुम्भं प्लावयतीति' (का. 10। 9। 1)। गतसारः सोम ऋजीषस्तेन पूर्णकुम्भमप्सु क्षिपेत्। सोमदेवत्या विराट् दशाक्षरचतुश्चतुः पादा। अन्ते वर्तमानो यच्छब्दो हृदयेन संबध्यते। हे सोम, यत्ते तव हृदयं समुद्रे अप्सु समुद्रसमानासु अप्सु बहुलोदकेषु अन्तर्मध्ये तिष्ठते वर्तत इति वा शेषः। तत्र त्वां गमयामीति शेषः। तत्रस्थं त्वा त्वामोषधीरोषधयः संविशन्तु। उत अपि च आपो जलानि त्वां संविशन्तु। किंच हे यज्ञपते, यज्ञस्य पालक सोम, यज्ञस्य सूक्तोक्तौ शोभनवचनोच्चारणे नमोवाके नमसो वाके नमस्कारवचने च त्वा त्वां विधेम स्थापयामः। विधतिः स्थापनार्थः। स्वाहा सुहुतमस्तु ।।25।।

षड्विंशी

देवी॑राप ए॒ष वो॒ गर्भ॒स्तꣳ सुप्री॑त॒ꣳसुभृ॑तं बिभृत। देव॑ सोमै॒ष ते॑ लो॒कस्तस्मि॒ञ्छं च॒ वक्ष्व॒ परि॑ च वक्ष्व ।।२६।।

अन्वय : हे देवी:! (देव्यः) आपः एष (सोमः) वः गर्भः तं सुप्रीतं सुभृतं बिभृत। हे सोम! एष ते लोकः तस्मिन् शं वक्ष्व परि च वक्ष्व।

व्याख्या : हे दिव्यगुणसम्पन्न आपो (जल) देवता, यह सोम तुम्हारा गर्भरुप है। इसे प्रसन्नता पूर्वक एवं पुष्टि पूर्वक धारण करो। हे सोम! यह तुम्हारा निवास स्थान है इसमें रहकर सुख प्राप्त करो तथा हमारे सभी कष्टों को दूर करो।

म० : 'देवीराप इति विसृज्योपतिष्ठत इति' (का. 10। 9। 2)। ऋजीषकुम्भं मुक्त्वोपस्थानं कुर्यात्। अष्टत्रिंशदक्षरत्वात्पंक्तिर्बृहती वा। पूर्वार्धमब्देवतमुत्तरार्धं सोमदेवतम्। हे देवीर्देव्यः हे आपः, वो युष्माकमेष सोमो गर्भस्थानीयः तं तादृशं सोमं यूयं बिभृत धारयत। किंभूतं तम्। सुप्रीतं शोभनप्रीतियुक्तं साधुतर्पितं वा तथा सुभृतं सुपुष्टम्। इदानीं सोमं वदति। हे सोम, हे देव दीप्यमान, ते तव एष जललक्षणो लोकः स्थानं तस्मिन्नवस्थितः सन् त्वं शं वक्ष्व वह शं सुखमस्मान्प्रति प्रापय परिवक्ष्व च परिवह

निवर्तय अस्मत्तः सर्वा आर्तीरिति शेषः। 'तस्मिन्नः शं चैधि सर्वाभ्यश्च न आर्तिभ्यो गोपाय' (4। 4। 5। 21) वहतेर्लोट् मध्यमैकवचने तङि शपि लुप्ते रूपं वक्ष्वेति ।।26।।

सप्तविंशी

अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः। अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि। देवानांᳬ समिदसि ।।२७।।

अन्वय : हे निचुम्पुण, अवभृथ! त्वं निचेरुः असि। निचुम्पुणः, देवैः देवकृतम् एनः अवयासिषम्। मर्त्यैः मर्त्यकृतम् अव। हे देव, पुरुराव्णः रिषः पाहि। देवानां समित् असि।

व्याख्या: हे मन्दगामीअवभृथ (यज्ञान्तस्नान) जल। यद्यपि तुम तेजगति वाले (तीव्र प्रवाह) हो। परन्तु इस समय धीरे धीरे आगे चलो। मेरे द्वारा इन्द्रियों द्वारा तथा देवताओं के प्रति किये गये जो पाप हैं उन्हें इस जल में त्यागता हूँ। हमारे सहायकऋत्विजों तथा यज्ञदर्शनार्थ आये हुए लोगों के प्रति अवज्ञा, एवं कठोरभाषणादि रुप जो अपराध हमसे हुए हैं उन्हें भी इस जल में विसर्जित करता हूँ। हे अवभृथ! विरुद्ध फलदायी वधादि दोष भी आपकी कृपा से हमें न प्राप्त हों। हे अग्नि! तुम देवों के लिए इन्धन रुप हो। अवभृथ का अर्थ है—सोम को जल के पास ले जाना। इससे यज्ञों में जो प्रमादवश कार्यो में त्रुटि होते हैं, उनको दूर किया जाता है।

म० : 'अवभृथेति मज्जयतीति' (का. 10। 9। 3)। ऋजीषकुम्भं जले प्रवेशयेत्। यज्ञदैवतम्। अवाचीनानि पात्रणि जलमध्ये भ्रियन्ते यस्मिन्यज्ञविशेषे सोऽवभृथः तत्संबोधनं हे अवभृथ, त्वं निचुम्पुण नितरां मन्दं गच्छ। 'चुपिमन्दायां गतौ' इति धातोः। यद्यपि त्वं निचेरुरसि नितरां चरणशीलोऽसि तथाप्यत्र निचुम्पुण नितरां मन्दं गच्छ। किं प्रयोजनमिति चेत् उच्यते। देवैर्द्योतनात्मकैरस्मदीयैरिन्द्रियैर्देवकृतं देवेषु हविः स्वामिषु कृतमेनः पापं यदस्ति तदवयासिषं जले अवनीतवानस्मि। 'देवः सुरे धने राज्ञि देवमाख्यातमिन्द्रिय' मित्यभिधानात्। तथा मर्त्यैर्मनुष्यैरस्मत्सहायभूतैर्ऋत्विग्भिर्मर्त्यकृतं मर्त्येषु यज्ञदर्शनार्थमागतेषु कृतमवज्ञारूपं यदेनोऽस्ति तदप्यहम-

वायासिषमित्यनुवर्तते। इदमस्माभिः परित्यक्तमेनो यथा त्वां न प्राप्नोति तथा हे यज्ञ, मन्दं गच्छेति भावः किंच हे देवावभृथारूप यज्ञ, रिषः वधात्पाहि अस्मान्पालय। 'रिष् वधे' क्विप्। किंभूताद्रिषः। पुरुराव्ण, पुरु बहु विरुद्धं फलं राति ददातीति पुरुरावा। 'रा दाने' 'आतो मनिन्–' (पा. 3। 2। 74) इत्यादिना वनिप्। विरुद्धफलदायी वधः त्वत्प्रसादादस्माकं मा भूदित्यर्थः। 'आहवनीये समिदाधानं देवानांसमिदसीति' (का. 5। 5। 35) स्नानानन्तरमाह-वनीयमेत्य तस्मिन्समिधं दध्यात्। अग्निदेवतं यजुः। देवानां संबन्धिनी समित् इन्धनमसि। यद्वा। देवभूतानामस्माकं समिन्धनं भवसि ।।27।।

इतः परमनुबन्ध्यायां गर्भिण्यां प्रायश्चित्तं कथ्यते।।

अष्टाविंशी

एजं॑तु दश॑मास्यो॒ गर्भो॑ ज॒राय॑णा स॒ह। यथा॒यं वा॒युरेज॑ति यथा॑ समु॒द्रऽएज॑ति। ए॒वायन्दश॑मास्यो॒ऽअस्र॑ज्ज॒राय॑णा स॒ह ।।२८।।

अन्वय : दशमास्योगर्भः जरायुणा सह एजतु। यथा अयं वायुः एजति, यथा समुद्रः एजति एवं अयं दशमास्यः गर्भः जरायुणा सह अस्त्रत्।

अवमृथ के पश्चात् मुख्यरूप से चार कृत्य शेष रहते हैं। उदयनीयेष्टि अनुवन्ध्यायाग उदवसानीया इष्टि तथा देविकाहवींषि।

व्याख्या : दसमहीने का यह पूर्णगर्भ जरायु के सहित अपने स्थान से गतिशील हो। (जिस प्रकार यह वायु गतिशील है तथा समुद्र गतिशील है, ठीक उसी प्रकार यह सम्पूर्ण अवयवसहित गर्भ जरायु के साथ बाहर आवे।

यहाँ अनुवन्ध्या गौ का ग्रहण किया गया है। कलियुग में इसके स्थान पर पयस्या याग करने का विधाान है।

म० : 'निरुह्यमाणमभिमन्त्रयत एजतु दशमास्य इति' (का. 25। 10। 7)। यद्यनूबन्ध्या वशा गर्भिणी स्यात्तदा विशसने मातुः सकाशात्पृथक् क्रियमाणं गर्भमभिमन्त्रयेत। अवसानत्रययुक्ता गर्भदेवत्या महापंक्तिः। अष्टाक्षराः षट् पादा यस्याः सा महापंक्तिः। गर्भः जरायुणा सह एजतु। 'एजृकम्पने'। जरायुर्गर्भवेष्टनं तेन सह कम्पतां चलतु। किंभूतो गर्भः। दशमास्यः दश मासा जाता यस्य सः। दशमासकालावच्छिन्न इव चलत्वित्यर्थः। कथं चलतु तत्राह। यथा येन प्रकारेणायं वायुरेजति चलति यथा च समुद्र

एजति। एतौ हि सदा कम्पनशीलौ। एवेति निपात एवमर्थे। एवमयं दशमास्यः संपूर्णावयवो गर्भो जरायुणा सह अस्त्रत्स्त्रंसता निर्गच्छतु। यद्यप्ययं गर्भो दशमास्यो नास्ति तथापि संपूर्णस्येव निर्गमनमाशास्यते। 'तमेतदप्यदशमास्य सन्तं ब्रह्मणैव यजुषा दशमास्यं करोति' (4। 5। 2। 6) इति श्रुतेः 'स्त्रंस अधःपतने' व्यत्ययेन परस्मैपदे शपो लुकि च कश्ते 'हल्ङ्याब्भ्यः-' (पा. 6। 1। 68) इति तिपि लुप्ते 'वावसाने' (पा. 8। 4। 56) इति सस्य दत्वे 'अनिदिताम्-' (पा. 6। 4। 24) इति नलोपे अडागमे च अस्त्रदिति रूपम् ।।28।।

एकोनत्रिंशी

यस्यै॑ ते य॒ज्ञियो॒ गर्भो॒ यस्यै॒ योनि॑र्हिर॒ण्ययी॑। अङ्गा॒न्यह्रु॑ता यस्य॒ तं मा॒त्रा सम॑जीगम॒ꣳ स्वाहा॑ ।।२९।।

अन्वय : (हे वशे!) यस्यै (यस्याः) ते यज्ञियो गर्भः यस्यास्तव हिरण्ययी योनिः यस्य च (गर्भस्य) अंगानि अह्रुता (अह्रुतानि) तं मात्रा समजीगमम्। (सङ्गमयामि)।

व्याख्या : हे वशे! तुम्हारा गर्भ यज्ञसमुद्भूत है तथा तुम्हारी योनि सुवर्णमयी है। उत्पन्न होनेवाले गर्भ के सभी अङ्ग सुदृढ़ हों, उसे मैं उसकी माता से मिलाता हूँ। यह हवि सुहुत हो।

म० : 'अवदानान्यनुजुहोति यस्यै त इति' (का. 25। 10। 11)। वशावदानानि हुत्वा गर्भरक्तं जुहुयात्। वशादेवत्यानुष्टुप्। हे वशे, यस्यास्ते तव गर्भो यज्ञियः यज्ञार्हः यस्यै यस्याश्च तव योनिर्हिरण्ययी सुवर्णमयी 'ऋत्व्यवास्त्व्य-' (पा. 6।4।175) इति निपातः। सुवर्णमयी मन्त्रेण क्रियत इत्यर्थः। ताहशीं त्वां गर्भेण संगमयामीति शेषः। यस्य गर्भस्यांगान्यहुता। 'हु कौटिल्ये' 'हुह्वरेश्छन्दसि' (पा. 7। 2। 31) इति हुरादेशो निष्ठायाम्। अकुटिलानि अखण्डितानि तं गर्भं मात्रा जनन्यानूबन्ध्यालक्षणया समजीगमं संगमयामि। गमेर्ण्यन्तस्य लुङि चङि रूपम्। स्वाहेति होमार्थः ।।29।।

त्रिंशी

पु॒रु॒द॒स्मो वि॒षु॑रूप॒ इन्दु॑र॒न्तर्म॑हि॒मान॑मानञ्ज॒ धीरः॑। एक॑पदीं द्वि॒पदीं॑ त्रि॒पदी॒ञ्चतु॑ष्पदीम॒ष्टाप॑दी॒म्भुव॒नानु॑ प्रथन्ता॒ꣳ स्वाहा॑ ।।३०।।

अन्वय : (हे गर्भ!) त्वं) पुरुदस्मः विषुरुपः इन्दु अन्तः धीरः महिमानः मानञ्च व्यक्तीकरोति। एकपदीं द्विपदीं त्रिपदीं चतुष्पदीम् अष्टापदीं भुवना भुवनानि अनुप्रथन्ताम् स्वाहा।

व्याख्या : हे गर्भ! तुम विपुल धन प्रदाता तथा विविधरुपधारण करने वाले सोम के समान स्त्री के उदर में स्थित शान्त स्वभाववाले हो। इससे उत्पन्न होने वाली सन्तान, एकपदी, द्विपदी त्रिपदी चतुष्पदी तथा अष्टपदी होकर समस्त भुवनों में विख्यात हो। यह आहुति तुम्हारे लिए है। यहाँ सोम के रूप में गर्भ की स्तुति की गई है।

म॰ : 'स्विष्टकृतमनुजुहोति पुरुदस्म इति' (का. 25। 10। 15)। प्रचरण्यां स्त्रुचि प्रतिप्रस्थाता सर्वं गर्भरसमवदायाध्वर्युणा स्विष्टकृद्धोमे कृते सति जुहुयात्।। गर्भदैवत्यं यजुः। इन्दुरूपेण गर्भः स्तूयते। इन्दुः क्लेदनरूपः सोमसदृशो गर्भो महिमानं महत्त्वमानञ्च व्यक्तीकरोतु। अज्जतेर्व्यक्कीकरणा-र्थस्य लिटि रूपम् 'तस्मान्नुड् द्विहलः' (पा. 7। 4। 71) इति नुडागमः। विशेषणैर्महिमानमाह। कीदृश इन्दुः। पुरुदस्मः पुरु दस्म यस्य बहुदानयुक्तः। विषुरूपः बहुरूपः अन्तरुदरे स्थितः धीरो मेधावी एवंभूतं महिमानमानश्चेत्यर्थः। एवं महिमवतो गर्भस्य मातरमनूबन्ध्यां भुवना भुवनानि भूतजातानि अनुप्रथन्ता प्रख्यातां कुर्वन्तु। विशेषणैः प्रख्यातिमाह कीदृशीम्। एकपदीमेकं पदं यस्यास्तां वपयैकपदयुताम्। द्विपदीं वपया अश्वै द्विपदयुताम्। त्रिपदीं त्रीणि पदानि यस्यास्तामुपयाहोमैस्त्रिपदीं। चतुष्पदीं पत्नीसंयाजैचतुर्भिः पादैर्वा चतुः पादयुताम्। अष्टापदीं स्वपादैर्गर्भपादैश्चाष्टपादयुताम् एवं भूतां वशां गणयित्वा भूतान्यनुप्रथन्तामिति संबन्धः। स्वाहा सुहुतमस्तु ।।30।।

एकत्रिंशी

मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवोविमहसः। स सुगोपातमो जनः ।।३१।।

अन्वय : (हे) दिवो विमहसः मरुतः! यस्य हि क्षये यज्ञगृहे पाथा सोमपानं कुरुथ हि स जनः सुगोपातमः।

व्याख्या : द्युलोकसम्बन्धि विशिष्टतेज से युक्त हे मरुतो! जिस यजमान की यज्ञशाला में आप लोग सोमपान करते हैं, वह निश्चय ही आप से अत्यन्त रक्षित है।

म० : 'समिष्टयजुरन्ते शामित्र एव जुहुयातिष्ठन्मरुत इत्यस्वाहाकृत्येति' (का. 25। 10। 18)। समिष्टयजुर्होमान्ते शामित्राग्नवेव अस्वाहान्तेन मन्त्रेणोष्णीषवेष्ठितं गर्भं जुहोति मन्त्रान्ते स्वाहाकारमनुचार्य जुहुयादित्यर्थः। मरुद्देवत्या गायत्री गोतमहष्टा। हे देवो विमहसः विशिष्टं महो येषां से द्युलोकसंबन्धिना विशिष्टेन महसा तेजसा युक्ताः। यद्वा विशिष्टं महन्ति पूजयन्ति ते विमहसः द्युलोकस्य पूजयितारो हे मरुतः, यस्य यजमानस्य क्षये यज्ञगृहे यूयं पाथ सोमपानं कुरुथ। 'पा पाने' शपो लुक् पिबादेशाभवश्च छान्दसः संहिताया दीर्घः 'द्वयचोऽतस्तिङः' (पा. 6। 3। 135) इति सूत्रेण। हि निश्चितं स जनः यजमानाख्यः सुगोपातमः गोपायतीति गोपा रक्षकः अत्यन्तं शोभनो गोपा यस्य स सुगोपातमः युष्मदुगुप्तानां भयं नास्तीत्यर्थः ।।31।।

द्वात्रिंशी

म॒ही द्यौः पृ॑थि॒वी च॑ न इ॒मं य॒ज्ञं मि॑मिक्षताम्। पि॒पृ॒तां नो॒ भरी॑मभिः ।।३२।।

अन्वय : मही, द्यौः, पृथिवीच, नः इमं यज्ञं मिमिक्षताम्। भरीमभिः नः पिपृताम्।

व्याख्या : महान्द्युलोक तथा भूलोक हमारे इस यज्ञ को अपने अपने भागों से (रसों से) पूर्ण करे, तथा हिरण्य पशु धान्यादि से हम समृद्ध हों।

यहाँ पर अग्निष्टोमयाग की पूर्णता होती।

म० : 'मही द्यौरित्यंगारैरभ्यूहतीति' (का. 25। 10। 18)। शामित्रे क्षिप्तं गर्भमगारैश्छादयेत्। द्यावापृथिवीदेवत्या गायत्री मेधातिथिदृष्टा। मही महती द्यौः द्युलोकः पृथिवी भूलोकश्च नोऽस्माकमिमं यज्ञं मिमिक्षताम्। 'मिह सेचने' सन्नतः सेक्तुमिच्छतां। स्वैःखैर्मागैः पूरयतामित्यर्थः। भरीमभिः भरणैर्हिरण्यपशुधान्यादिभिः स्वैः स्वैर्भागैनोऽस्मदीयं गृहं पिपृतां पूरयताम् ।।32।। इत्यग्निमष्टोममन्त्राः समाप्ताः।।

त्रयस्त्रिंशी

आति॑ष्ठ वृत्रहन्रथं॑ यु॒क्ता ते॒ ब्रह्म॑णा॒ हरी॑। अ॒र्वा॒चीन॒ᳬसु ते॒

मनो ग्रावा कृणोतु वग्नुना। उपयामगृहीतोसीन्द्राय त्वा षोडशिने एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने ।।३३।।

अन्वय : (हे) वृत्रहन्! (इंद्र!) ते हरी ब्रह्मणा रथं युक्तौ, रथम् आतिष्ठ। ग्रावा वग्नुना ते मनः अर्वाचीनं सुकृणोतु। उपयाम गृहीतोऽसि-त्वा षोडशिने इन्द्राय। एष ते योनिः। त्वा षोडशिने इन्द्राय।

व्याख्या : हे वृत्रहन्ता इन्द्र! तुम्हारे दोनों घोड़े यथाविधि (मन्त्र पाठ पूर्वक) रथ में संयुक्त हैं, अतः रथ में बैठों। यह प्रस्तर अपने शब्द द्वारा तुम्हारे मन को हमारी ओर आकर्षित करे। हे सोम! तुम उपयाम संज्ञक पात्र द्वारा गृहीत हो। सोलहस्तोत्रों से युक्त इन्द के लिऐ तुम्हें गहण करता हूँ। हे ग्रह। यह तुम्हारा स्थान है। इन्द्र के लिए तुम्हें स्थापित करता हूँ।

म॰ : अथ षोडशी अग्रे पवस्व (क. 37) इत्यस्मात्प्राक् 'प्रातःसवनेऽतिग्राह्यान्गृहीत्वा षोडशिनं खादिरेण चतुःस्त्रक्तिनातिष्ठ युक्ष्वा हीति वेति' (का. 12। 5। 2(। प्रातःसवने आग्रयणग्रहणानन्तरमाग्नेयम-तिग्राह्यमादाय चतुःकोणेन खादिरोलूखलेनातिष्ठ युक्ष्वा हीति मन्त्रयोरन्यतरेण सोपयामेन षोडशिग्रहं गृह्णीयात्। इन्द्रदेवत्यानुष्टुब् गोतमदृष्टा। हे वृत्रहन्निन्द्र। ते तव हरी हरितवर्णावश्वौ ब्रह्मणा त्रयीलक्षणेन इन्द्रागच्छेत्यादिमन्त्रेण युक्ता रथे संयुक्तौ अतस्त्वं रथमातिष्ठ आरोह। इन्द्राह्वानं श्रुत्वास्मन्नि-योजनकालः प्राप्त इति मत्वाश्वौ स्वयमेव रथे युञ्जाते इति युक्ता इत्युक्तम्। किंच ग्रावा सोमाभिषवपाषाणः ते तव रथारूढस्य मनोऽर्वाचीनम-स्मद्यङ्भिमुखं सु कृणोतु सुतरां करोतु। केन वयुना। वग्नुरिति वाऽनामंसु पठितम्। वाचा श्रवणीयेन सोमाभिषवशब्देन। हे सोम, उपयामेन गृहीतोऽसि षोडशिने। षोडशं स्तोत्रमस्यास्तीति षोडशी तस्मै इन्द्राय त्वा त्वां गृह्णामीति शेषः। सादयति हे ग्रह, एष ते योनिः स्थानं षोडशिनं इन्द्राय त्वां सादयामीति शेषः ।।33।।

चतुस्त्रिंशी

युक्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा। अथा न इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिने एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने ।।३४।।

अन्वय : (हे इन्द्र!) केशिनौ हरी हरितवर्णौअश्वौ वृषणा कक्ष्यप्रा युक्ष्व (रथेन संयोजय)। अथ हे इन्द्र! सोमपाः नः गिराम् उपश्रुतिं चर। हे सोम त्वम् उपयाम गृहीतोऽसि, त्वा षोडशिने इन्द्राय गृह्णामि एष ते योनिः। त्वा षोडशिने इन्द्राय।

व्याख्या : हे इन्द्रदेव! आप लम्बे-लम्बे बालों वाले तरुण तथा स्थूलअंगावयवसम्पन्न अपने दोनों अश्वों को रथ से संयुक्त करें। आप सोमपान करते हुए हमारी वाणी को सुने। हे सोम! तुम उपयामपात्र द्वारा गृहीत हो। सोलहस्तोत्रों से युक्त इन्द्रदेवता के लिए तुम्हें ग्रहण करता हूँ। हे ग्रह! यह तुम्हारा स्थान है। तुम्हें इन्द्र के लिए स्थापित करता हूँ।

म० : द्वितीयो ग्रहणमन्त्रः। इन्द्रदेवत्यानुष्टुप् मधुच्छन्दोदृष्टा। हे इन्द्र, हि निश्चितं हरी हरितवर्णौ त्वदीयावश्वौ युक्ष्वा रथेन संयोजय। कीहशो हरी। केशिना प्रलम्बकेसरी तथ वृषाणा। 'वृषा सेचने'। वृषाणौ वर्षितारौ सेक्तारौ तरुणौ। 'वा षपूर्वस्य निगमे' (पा. 6। 4। 9) इति दीर्घाभावः। तथा कक्ष्यप्रा कक्षे भवः कक्ष्यः अश्वसन्नहरज्जुः कक्ष्यं मध्यबन्धन प्रातः पूरयतस्तौ कक्ष्यप्रौ स्थूलावयवादित्यर्थः। अथानन्तरं रथारोहणानन्तरं हे इन्द्र, सोमपाः सोमपानं कुर्वाणोऽस्मदीयानां गिरामृग्यजुः सामलक्षणानां वाचामुपश्रुतिमुपश्रवणं चरगच्छ प्राप्नुहि। अस्मद्गिरः श्रण्वित्यर्थः। वाचं श्रुत्वास्मदृहमागच्छेत्यर्थः। उपयाम एष ते एते व्याख्याते। अथेत्यत्र। अथेत्यत्र संहितायां दीर्घः ।।34।।

पञ्चत्रिंशी

इन्द्रमिद्धरीं वहतोऽप्रतिधृष्टशवसम्। ऋषींणां च स्तुतीरूपं यज्ञं च मानुंषाणाम्। उपयामगृंहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिनं एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिनें ।।३५।।

अन्वय : हरी (अश्वौ) ऋषीणां स्तुतीरुप अप्रतिधृष्टशवसम् इन्द्रमेव (वहतः) च मानुषाणां यज्ञमुप (हरी इन्द्रं वहतः)। हे सोम त्वम् उपयाम् गृहीतोऽसि। त्वा षोडशिने इन्द्राय एष ते योनिः। त्वा षोडशिने इन्द्राय।

व्याख्या : हरितवर्ण वाले दोनोंअश्व वसिष्ठादि ऋषियों की स्तुति के समीप अर्थात् इनकी स्तुति को सुनकर इनके पास इन्द्र आते

है। तथा यज्ञ के समीप भी इन्द्र को ही ले जाते हैं, जो इन्द्र पराभव से रहित अत्यन्त बल सम्पन्न है। हे सोम! तुम उपयाम द्वारा गृहीत हो। मैं इन्द्रदेव के लिए तुम्हें ग्रहण करता हूँ। हे ग्रह। यह तुम्हारा स्थान है। सोलह स्तोत्रों से युक्त इन्द्र के लिए तुम्हें स्थापित करता हूँ।

म॰ : षोडशिग्रहे तृतीयो मन्त्रविकल्पः 'आग्रयणाद्वेन्द्रमिद्धरी इति गृहीत्वेति' कठसूत्रेक्तेः। इन्द्रदेवत्यानुष्टुप गोतमदृष्टा। इत् एवार्थे। हरी हरितवर्णावश्वौ ऋषीणां स्तुतीरुप वसिष्टादीनां मुनीनां स्तुतिसमीप इन्द्रमित् इन्द्रमेव बहतः प्रापयतः। च पुनः मानुषाणां यजमानानां यज्ञमुप यज्ञसमीपे च हरी इन्द्रं वहतः। किंभूतमिन्द्रम्। अप्रतिघृष्टशवसम् प्रतिधर्षयितुं पराभवितुं। शक्यं प्रतिपृष्ठं न प्रतिघृष्टमप्रतिघृंष्टं शवो बलं यस्य सोऽप्रतिघृष्टशवास्तम्। उपयाम एष ते इति व्याख्याते ॥35॥

षट्त्रिंशी

यस्मान्न जातः परों अन्योऽअस्ति यऽआंविवेश भुवंनानि विश्वां। प्रजापंतिः प्रजयां सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतींꣳषि सचते च षोंडशी ॥३६॥

अन्वय : यस्मात् परो न जातः, नान्यः अस्ति, यः विश्वा भुवनानि आविवेश। स प्रजापतिः प्रजया संरराणः त्रीणि ज्योतीषिं सचते। स षोडशी।

यहाँ षोडशी की परब्रह्म रूप से स्तुति की गई है।

व्याख्या : जिस पुरुष से बढ़कर उत्कृष्ट अन्य कोई भी (देवादि) आज तक उत्पन्न नहीं हुए, जो समस्त जीवों में अन्तर्यामी रुप से प्रविष्ट है। वह प्रजापति प्रजाओं के साथ क्रीड़ा करता हुआ अग्नि वायु एवं सूर्य रुप, तीन प्रकाशमानशक्तियों को अपने तेज से प्रकाशित करता हैं वही ब्रह्म सोलह कलावाला लिंगशरीर से चराचर में व्याप्त है।

म॰ : 'उपस्थायैनं यस्मान्न जात इति' (का. 12। 5। 19)। षोडशिग्रहमुपतिष्ठेत्। इन्द्रदेवत्या त्रिष्टुप् विवस्वदृष्टा। परब्रह्मरूपेण षोडशी स्तूयते। यस्मात्पुरुषादन्यो व्यतिरिक्तः परः उत्कृष्टो देवादिर्जातः संभूतो नास्ति न विद्यते यश्च विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि आविवेश अन्तर्यामिरूपेण प्रवृष्टवान्सः प्रजापतिः स्वोत्पन्नप्रजापालकस्त्रीणि

ज्योतींषि अग्निवायुसूर्यलक्षणानि तेजांसि विषयज्ञापकानि सचते सेवते। स्वतेजसा तज्ज्योतिषामुज्जीवनं करोतीत्यर्थः। 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्ध' इत्यादिश्रुतेः। 'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्' (भ. गी. 15। 12) इति स्मृतेश्च। किंभूतः प्रजापतिः। प्रजया संरराणः प्रजारूपेण सम्यग्रममाणः। तथा षोडशी षोडशकलात्मकलिंगशरीरोपहितः स एव सर्वव्यवहाराश्रय इत्यर्थः। 'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठति' त्यादिश्रुतेः ॥36॥

सप्तत्रिंशी

इन्द्रश्च सम्राड्वरुणश्च राजा तौ ते भक्षं चक्रतु रग्रंऽएतम्। तयोरहमनु भक्षं भक्षयामि वाग्देवी जुषाणा सोमस्य तृप्यतु सह प्राणेन स्वाहा ॥३७॥

अन्वय : (हे षोडशीग्रह!) इन्द्रश्च सम्राट् वरुणः राजा, तौ ते (तव) अग्रे एतं भक्षं चक्रतुः। तयोः भक्षम् अनुअहं भक्षयामि। वाग् देवी जुषाणा प्राणेन सह सोमस्य (सोमेन) तृप्यतु।

व्याख्या : हे षोडशीग्रह! इन्द्रदेव सम्राट (वाजपेययाजी) है। वरुणदेव राजा (राजसूययाजी) है। इन देवों ने ही सर्वप्रथम सोमपान है। इसके बाद मैं सोम का पान करता हूँ जिससे वाग्देवीसरस्वती प्राणदेवता के साथ सोम पान से तृप्ति को प्राप्त करें।

म० : 'इन्द्रश्च सम्राडिति भक्षणमिति'। षोडशिग्रहं भक्षयेत्। इन्द्रवरुणदेवत्या षोडशिदेवत्या वा त्रिष्टुप् यजुरन्ता। अन्त्यपादौ द्वादशार्णौ सह प्राणेनेति यजुः विवस्वदृष्टा। हे षोडशिग्रह, तौ। देवो इन्द्रावरुणौ ते तव एतं सोममग्रे प्रथमं भक्षं चक्रतुः। तौ कौ। इन्द्रो वरुणश्च। चकारौ समुच्चये। किंभूत इन्द्रः। सम्राट् परमैश्वर्ययुक्तः वाजपेययाजीत्यर्थः। किंभूतो वरुणः। राजा राजसूययाजी 'राजा वै राजसूयेनेष्टा भवति सम्राड्वाजपेयेन' (5। 1। 1। 13) इति श्रुतेः। तयोरिन्द्रावरुणयोः संबन्धिनं भक्षमनु पश्चात् अहम् भक्षयामि सोमं पिबामि। जुषाणा मदीयेन भक्षणेन सेवमाना वाग्देवी सरस्वती प्राणेन प्राणदेवतया सह सोमस्य तृप्यतु सोमेन तृप्ता भवतु। 'तृप्यर्थानां करणे षष्टी वे'ति सोमशब्दात् षष्ठी। स्वाहा सुहुतमस्तु ॥37॥ इति षोडशियागः संपूर्णः॥

अष्टात्रिंशी

अग्ने पवस्व स्वपा अस्मै वर्चः सुवीर्यम्। दधद्रयिं मयि पोषम्।। उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा वर्चस एष ते योनिरग्नये त्वा वर्चसे। अग्ने वर्चस्विन्वर्चस्वांस्त्वं देवेष्वसि वर्चस्वानहं मनुष्येषु भूयासम् ।।३८।।

यहाँ से द्वादशाह यज्ञ के मन्त्र प्रारम्भ होते है।

अन्वय : हे अग्ने! त्वम् अस्मे वर्चः सुवीर्यं पवस्व। मयि रयिं पोषं दधत्। हे सोम उपयाम गृहीतः असि, वर्चसे अग्नये त्वा (गृह्णामि)। हे वर्चस्विन् अग्ने! त्वं देवेषु वर्चस्वान् असि। अहं मनुष्येषु वर्चस्वान् भूयासम्।

व्याख्या : हे सुकर्माअग्निदेव आप हमारे लिए ब्रह्मतेज प्रदान करें। मुझे धन धान्य से पुष्ट करें। हे सोम! तुम उपयाम ग्रह द्वारा गृहीत हो। तेजस्वी अग्निदेव के लिए तुम्हें ग्रहण करता हूँ। हे ग्रह! यह तुम्हारा स्थान है। तेजस्वीअग्निदेव के लिए तुझे स्थापित करता हूँ। हे अग्निदेव आप देवताओं में अधिक दीप्तिमान (तेजसम्पन्न) है। अतः मैं भी (आप की कृपा से) मनुष्यों में तेजस्वी बनूं।

म० : अथ द्वादशाहमन्त्रः। 'पृष्ठ्यः षडहस्तत्रातिग्राह्यग्रहणं व्यूहे पूर्णेऽग्ने पवस्वोत्तिष्ठन्नहश्रमित्यध्यहमेकैकम्' (का. 12। 3। 1–2) 'अग्ने वर्चस्विन्निन्द्रौजिष्ठ सूर्य भ्राजिष्टेति भक्षणं यजमानैरिति (का. 6) अस्ति कश्चित् पृष्ठ्मः षडहाख्यः क्रतुः। स तु षड्भिरहोभिर्निष्पाद्यः। तत्र पूर्वस्मिन्नहस्त्रये क्रमेणाग्ने पवस्वेत्यादि भिर्मन्त्रैरतिग्राह्यन्ग्रहोन् गृह्णीयात्तथैवाग्रे वर्चस्विन्नत्यादिभिर्मन्त्रैस्तत्तग्रहशेषं भक्षयेत्। तत्र प्रथमो यथा। अग्नेपवस्य। अग्निदेवत्या गायत्री वैखानसदृष्टा। आद्यौ सप्ताणौं पादौ। एषा यजुरन्ता। उपयाम एष त इति द्वे यजुषी। हे अग्नेत्वमस्मै अस्मासु सुवीर्यं शोभनं वीर्य यस्मिस्तादृशं शोभनसामर्थ्योपेतं वर्चो ब्रह्मवर्चसं पवस्व। पव गत्यर्थः अन्तर्भूतण्यर्थः। गमय प्रापय। 'सुपां सुलुक्' (पा. 7। 1। 39) इति विभक्तेः शेआदेशे अस्मे इति रूपम्। किंभूतस्त्वम्। स्वपाः। अप इति कर्मनाम। शोभनान्यपांसि यस्य स स्वपाः सुकर्मा। एवमृत्विग्भिः सह संप्रार्थ्य स्वयं याचते। मयि यजमाने रयिं धनं दधत् धारयन् स्थापयन्सन्

पोषं पुष्टिं पुत्रपश्वादिवृद्धिं पवस्व प्रवर्तयेति संबन्धः। उपयामयतीत्युपयामो ग्रहः हे सोम, तेन त्वं गृहीतोऽसि। हे ग्रह, वर्चसे वर्चस्विने तेजस्विनेऽग्नये त्वां गृह्णामीति शेषः। सादयति एष खरप्रदेशस्तव योनिः स्थानं वर्चस्विनेऽग्नये त्वां सादयामीति शेषः। भक्षणमन्त्रः। हे वर्चस्विन् विशिष्टतेजोयुक्त हे अग्ने, त्वं देवेषु इन्द्रादिषु मध्ये वर्चस्वानतिदीप्तिमानसि अतस्त्वत्प्रसादादहमपि मनुष्येषु मध्ये वर्चस्वान्ब्रह्मवर्चसपंपन्नो भूयासं भवेयम् ।।38।।

एकोनचत्वारिंशी

उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वी शिप्रेऽअवेपयः। सोममिन्द्र चमूसुतम्। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वौजस एष ते योनिरिन्द्राय त्वौजसे। इन्द्रौजिष्ठौजिष्ठस्त्वन्देवेष्वस्योजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम् ।।३९।।

अन्वय : हे इन्द्र! ओजसा सह उत्तिष्ठन् चमूसुतं सोमं पीत्वी शिप्रे हनूनासिके, अवेपयः कम्पितवानसि। हे ग्रह!! त्वम् उपयाम गृहीतोसि। ओजसे इन्द्राय त्वा (गृह्णामि)। एष ते योनिः ओजसे इन्द्राय। हे ओजिष्ठ इन्द्र! त्वं देवेषु ओजिष्ठ असि, अहं मनुष्येषु ओजिष्ठः भूयासम्।

व्याख्या : हे इन्द्र! आप अत्यन्त साहस सम्पन्न होकर अधिषवण चर्म पर अभिषुत, सोमरस को पीकर प्रसन्नता से हनु तथा नासिका को हिलाएँ। हे ग्रह! तुम उपयामसंज्ञकग्रहपात्र में गृहीत हो अतः बलवान इन्द्र के लिए तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। हे ओजिष्ठ इन्द्रदेव! जिस प्रकार देवों में आप सर्वाधिक बलशाली है, उसी प्रकार मनुष्यों में मैं बलिष्ठ बनूँ।

म० : द्वितीयोऽतिग्राह्यग्रहणमन्त्रः। इन्द्रदेवत्या गायत्री कुरुस्तुतिदृष्टा यजुरन्ता। हे इन्द्र, त्वमोजसा बलेन सह उत्तिष्टन्नुत्सगादुद्रच्छन्सन् शिप्रे हनू नासिके वा अवेपयः 'टुवेपृकम्पने' कम्पितवानसि। किं कृत्वा सोमं पीत्वो पीत्वा। ''स्नात्वादयश्च' (पा. 7। 1। 49) इति निपातः। किंभूतं सोमम्। चमूसुतं चम्वामधिषवणचर्मणि सुतमभिषुतम् सोमपानं कृत्वातिहर्षवशान्नासे कम्पितवानित्यर्थः। हे ग्रह, त्वमुपयामगृहीतोऽसि ओजसे बलवते इन्द्राय त्वां गृह्णामि। सादयति एष ते योनिः ओजस इन्द्राय सादयामि। भक्षणमन्त्रः हे इन्द्र, हे ओजिष्ठ ओजो बलमस्यास्तीत्योजस्वी। 'अस्माया-' (पा. 5। 2। 121) इत्यादिना विनिप्रत्ययः। अत्यन्तमोजस्वी ओजिष्ठ 'अतिशायने तमविष्टनौ (पा. 5। 3। 55) इति इष्ठन्प्रत्ययः।

'विन्मतोर्लुक्'(पा. 5। 3। 65) इतीष्ठनि परे विनिलोपः टिलोपश्च। तत्संबोधनमोजिष्ठ अतिबलयुक्त, त्वं यथा देवेष्वोजिष्ठोऽसि एवं मनुष्येषु मध्येऽहमोजिष्टोऽतिबलो भूयासम् ।।39।।

चत्वारिंशी

अदृश्रमस्य केतवो व्विरश्मयो जनाँ २ऽअनु। भ्राजन्तोऽअग्नयो यथा। उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैष ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजाय। सूर्य भ्राजिष्ठ भ्राजिष्ठस्त्वं देवेष्वसि भ्राजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम् ।।४०।।

अन्वय : अस्य सूर्यस्य केतवः रश्मयः जनान् वि अनु अदृश्रम् (अदर्शम्) यथा भ्राजन्तः अग्नयः। हे ग्रह! उपयाम गृहीतः असि भ्राजाय सूर्याय त्वा (गृह्णामि) एष ते योनिः भ्राजाय सूर्यायं त्वा स्थापयामि। हे सूर्य त्वं देवेषु भ्राजिष्ठ असि अहं मनुष्येषु भ्राजिष्ठः भूयासम्।

व्याख्या : इस सूर्य की प्रज्ञाप्रदायक किरणें सभी मनुष्योंमें व्यापक रूप से दिखलाई देती है जैसे सभी घरों में प्रदीप्तअग्नियाँ दिखाई देती है। हे ग्रह! तुम उपयामग्रहपात्र में गृहीत हो। दीप्यमान सूर्य के लिए तुम्हें ग्रहण करता हूँ। हे ग्रह! यह तुम्हारा स्थान है, प्रदीप्त सूर्य के लिए तुम्हें स्थापित करता हूँ। हे अतिदीप्तसूर्य! जिस प्रकार देवों में आप अतितेजस्वी हैं उसी प्रकार मनुष्यों में मैं भी अतितेजस्वी हो जाऊँ।

म० : तृतीयोऽतिग्राह्यमन्त्रः। सूर्यदेवत्या गायत्री प्रस्कण्वदृष्टा यजुरन्ता। दृशेर्लुङि 'इरितो वा' (पा. 3। 1। 57) इति च्लेरङ्द्रेशे 'ऋदृशोऽङि गुणः' (पा. 2। 4। 16) इति उत्तमैकवचने अदर्शमिति प्राप्ते 'शीडने रुडेत्तेर्विभाष बहुलं छन्दसीति' (पा. 7। 1। 6-8) दृशेरुत्तरस्य मिबादेशस्यामो रुडागमो धातोर्गुणाभावश्छान्दसः। अदृश्रमिति रूपम् कर्मणि लुङि प्रथमपुरुषबहुवचनस्थाने द्रष्टव्यमहश्येन्तेत्यर्थे। वीत्युपसर्गोऽहश्रमित्यनेन संवध्यते। केतुरिति प्रज्ञानामसु पठितम्। अस्य सूर्यस्य केतवः प्रज्ञाहेतवः सर्वपदार्थज्ञानकृतो रश्मयः किरणा जनाननु सर्वप्राणिनोऽनुगता वि अदृश्रम् विशेषेणादृश्यन्त। सूर्यकराः भ्राजन्तो ज्वलन्तोऽग्नयो वह्नयो यथा जनानुगता दृयन्ते तद्वत्। हे ग्रह, त्वमुपयामेन गृहीतोऽसि। भ्राजयते दीप्यतेऽसो भ्राजस्तस्मै सूर्याय त्वां गृह्णामि। सादयति एष तव योनिः भ्राजाय दीप्ताय

सूर्याय त्वां सादयामि। तृतीयोऽतिग्राह्यभक्षणमन्त्रः। अत्यन्तं भ्राजो भ्राजिष्ठः हे भ्राजिष्ठ अतिदीप्त हे सूर्य, त्वं यथा देवेषु भ्राजिष्ठोऽसि तथाहमपि मनुष्येषु भ्राजिष्टोऽतिदीप्तिमान्भूयासम् ।।40।। इति द्वादशाहः संपूर्णः।।

एकचत्वारिंशी

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्। उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैष ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजाय ।।४१।।

अन्वय : त्यं (तं) जातवेदसं देवं सूर्यं केतवः उ (आशु) उद्वहन्ति। विश्वस्य दृशे। हे सोम उपयाम गृहीतोऽसि स्थापयामि भ्राजाय सूर्याय त्वा (गृह्णामि) एष ते योनिः भ्रजाय सूर्याय त्वा।

व्याख्या : उस प्रसिद्ध सर्वज्ञ प्रकाशमान सूर्य भगवान् को, रश्मियाँ शीघ्र ही सम्पूर्ण संसार कोदेखने के लिए उदयाचल से उपर की ओर ले जाती है। हे ग्रह! तुम उपयाम द्वारा गृहीत हो, प्रकाशमानसूर्य के लिए तुम्हें ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है। प्रकाशमान सूर्य के लिए स्थापित करता हूँ।

म० : 'उदु त्यमिति ग्रहग्रहणमिति' (का. 13। 2। 11) गवामयनाख्यस्य संवत्सरसत्रस्य विषुवन्नामके मध्यमेऽहानि सौर्यपशूपालम्भादूर्ध्वमतिग्राह्यग्रहणं कार्यम्। सौरी गायत्री देवदृष्टा पुनर्व्याख्यायते (अ. 7। क. 41)। त्यं तं प्रसिद्धं जातवेदसं जातानां प्रजानां ज्ञातारं जातप्रज्ञं वा देवं देवनशीलं सूर्यं केतवः प्रज्ञाहेतवः किरणा उ आशु उद्वहन्ति उदयाचलादुद्गमयन्ति। किमर्थं। विश्वाय। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। विश्वस्य दृशे दर्शनाय। सर्व जगद्रष्टुमित्यर्थः। उपयाम एष ते व्याख्याते ।।41।।

द्विचत्वारिंशी

आजिघ्र कलशं मह्या त्वां विशन्त्विन्दवः। पुनरूर्जा निवर्तस्व सा नः सहस्रन्धुक्ष्वोरुधारा पयस्वती पुनर्माविशताद्रयिः ।।४२।।

अन्वय : हे महि! धेनो (त्वं) कलशम् आजिघ्र आघ्राणं कुरु, इन्दवः त्वा आविशन्तु। सा ऊर्जा पुनः निवर्तस्व। सा नः सहस्रं धुक्ष्व। उरुधारा पयस्वती रयिः मा पुनः विशतात्।

व्याख्या : हे पूज्य गोमाता! तुम इस द्रोणकलश को सूंघों। इसमें स्थित सोम तुममें प्रविष्ट हो, तथा तुम विशिष्ट (दूध) रस के साथ हमारे पास लौट आवो। इस प्रकार तुम अनन्त पय आदि द्रव्यप्रदान से हमें पूर्ण करो। तुम्हारी कृपा से अधिक दूध देने वाली गौएं तथा धनादि हमें पुनः प्राप्त हों।

म० : 'हविर्धानाग्नीध्रयोरन्तरे द्रोणकलशमेनामाघ्रापयत्याजिघ्रेति' (का. 13। 4। 19)। गर्गत्रिरात्रादावहीने त्रिसुत्ये गोसहस्त्रं दक्षिणास्ति तत्र सहत्रसंख्यापूरणी रोहिणी धेनुस्तां हविर्धानाग्नीध्रयोर्मध्यस्थां द्रोणकलशमाघ्रापयेत्। गोदेवत्या महापंक्तिः कुसुरुविन्दुदृष्टा अष्टार्णषट्पादा। महीति गोनाम। हे महि हे धेनो, त्वं कलशं द्रोणकलशाख्यं पात्रमाजिघ्र आभिमुख्येनाघ्राणं कुरु। किंच हे धेनो, इन्द्रवः सोमाः त्वा त्वामाविशन्तु द्रोणकलशस्थाः सोमास्त्वां प्रविशन्तु। किंच ऊर्जा विशिष्टरसेन पयोभूतेन सह पुनः अस्मान्प्रतिनिवर्तस्व। या त्वमेवं मया स्तुता सा त्वं नोऽमांकं सहस्त्रं धुक्ष्व सहस्त्रसंख्यं धनं देहि। यद्वा गवां सहस्त्रं यदस्माभिर्दत्तं तन्नोऽस्मभ्यं धुक्ष्या पुनर्देहि। दुहतिर्दानार्थः। किंच त्वत्प्रसादादुरुधारा बहुपयोयुक्ता पयस्वती धेनुर्मा मां पुनराविशतात् आगच्छत्वित्यर्थः। तथा रयिः धनमपि मा मामा विशतात् ।।42।।

त्रिचत्वारिंशी

इडे॒ रन्ते॒ हव्ये॒ काम्ये॒ चन्द्रे॒ ज्योतेऽदि॑ति॒ सर॑स्वति॒ महि॒ विश्रु॑ति। ए॒ता तेऽअघ्न्ये॒ नामा॑नि दे॒वेभ्यो॑ मा सु॒कृतं॑ ब्रूतात् ।।४३।।

अन्वय : (हे) इडे, हव्ये, काम्दे, चन्द्रे, ज्योति, अदिति सरस्वति महि विश्रुति अध्न्ये ते एता नामानि देवेभ्यः मा सुकृतं ब्रूतात्।

व्याख्या : हे गौ! तुम मनु की पुत्री इडा के समान हो, सभी को आनन्द देने वाली हो, सभी के द्वारा आहूत हो सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाली, आह्लाददायिनी तेजस्विनी देवमाता, दूध प्रदान करने वाली पूज्य, तथा संसार में विख्यात हो। हे सर्वथा अवध्यगोमाता! तेरे ये सब नाम हैं। मेरे सुकृत (यज्ञकर्म) को देवताओं से कहो।

म० : 'इडे रन्त इति दक्षिणेऽस्याः कर्णे यजमानो जपतीति' (का. 13। 4। 20)। पूर्वोक्ताया धेनोर्दक्षिणकर्णे यजमानो जपेत् गोदेवत्या

प्रस्तारपंक्तिः कुसुरुविन्दुदृष्टा। यस्या आद्यौ पादौ द्वादशार्णौ अन्त्यावष्टार्णौ सा प्रस्तारपंक्तिः। ईड्यते स्तूयते इति इडा मनोर्दुहिता तत्तुल्या। रमयतीति रन्ता। हूयते यद्दुग्धं यज्ञेष्विति हव्या, हूयते आहूयते सर्वैरिति वा हव्या। काम्यत इति काम्या 'मनुष्याणांह्येतासु कामाः प्रविष्टाः' इति श्रुतेः। चन्दयत्याह्लादयतीति चन्द्रा। 'द्युत् दीप्तौ' द्योतयति प्रकाशयतीति ज्योता दकारस्य जः। अदितिरदीनाऽनवखण्डिता। सरस्वती सरतीति सरः क्षीरं तद्वति। सर इत्युदकनाम सर्तेरिति (नि. 9। 26) यास्कोक्तेः। उदकशब्देनात्र क्षीरमुच्यते। मही महती। विविधंश्रूयते स्तूयत इति विश्रुतिः न हन्तुं योग्या अध्न्या अहन्तव्या। तासां संबोधनानि हे धेनो एवंभूते, ते तव एता एतानि अतिशयगुणयुक्तानि नामानि एतैर्नामभिरभिहिता सती देवेभ्यः सुकृतं सुष्टु करोतीति सुकृत् तं सुकृतं शोभनकर्मकारिणं मां त्वं ब्रूहि वद। अयं यजमानः पुण्यकर्तेति देवेभ्यो वदेत्यर्थः ।।43।।

चतुश्चत्वारिंशी

वि नंऽइन्द्र मृधो॑ जहि नी॒चा यं॑च्छ पृतन्य॒तः। यो अ॒स्माँ २ऽअ॑भि॒दास॒त्यध॑रं गमया॒ तमः॑। उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा वि॒मृध॑ ए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा वि॒मृधे॑ ।।४४।।

अन्वय : हे इन्द्र! नः मृधः विजहि, विशेषेण नाशय पृतन्यतः नीचायच्छ। यः अस्मान् अभिदासति तम् अधरं तमः गमय। हे सोम त्वम् उपयाम गृहीतः असि। विमृधे इन्द्राय त्वा (गृह्णामि) (हे ग्रह!) एष ते योनिः विमृधे इन्द्राय त्वा स्थापयामि।

व्याख्या : हे इन्द्र! इस संग्राम में हमारे शत्रुओं को विनष्ट करें तथा युद्ध की इच्छा से आनेवालों अन्य शत्रुओं को भी दूर करें। जो हमें नष्ट करना चाहता है उसे निकृष्ट अन्धकारपूर्णनरक में पहुँचा दीजिए। हे ग्रहः! तुम उपयाम द्वारा गृहीत हो। संग्राम में अत्यन्तनिपुण इन्द्रदेव के लिए तुम्हें ग्रहण करता हूँ। हे ग्रह! यह तुम्हारा स्थान है। अतः संग्राम सामर्थ्य विशिष्ट इन्द्रदेव के लिए तुम्हें स्थापित करता हूँ।

म० : 'ग्रहं गृह्णाति वि न इन्द्र वाचस्पति विश्वकर्मन्निति वेति' (का. 13। 2। 17) गवानयनंस्योपान्त्ये महाव्रतेऽहनि प्राजापत्यपशूपालम्भादूर्ध्वं। मैन्द्रग्रहग्रहणे मन्त्रत्रयम्। तत्राद्यः। इन्द्रदेवत्यानुष्टुप् शासदृष्टा। हे इन्द्र,

नोऽस्माकं मृधः शत्रून्संग्रामान्वा विजहि विशेषेण नाशय। किंच पृतन्यतः नीचः यच्छ। पृतनां संग्रामं सेनां वा इच्छन्ति पृतन्यन्ति पृतन्यन्तीति पृतन्यन्तस्तान्। 'सुप आत्मनः क्यच् (पा. 3। 1। 4) इति पृतनाशब्दात्क्यचि प्रत्यये 'कव्यध्वपृतनस्यर्चि लोपः' (पा. 7। 4। 39) इति टिलोपे शतृप्रत्यये च रूपम्। पृतन्यतः सेनामिच्छतः शत्रून्नीचान्यग्भूतान् यच्छ निगृह्णीष्व। युद्धादुपरतान्कुर्वित्यर्थः किंच यश्चान्योऽस्मानभिदासति। 'दसु उपक्षये'। उपक्षयते तं शत्रुमधरं निकृष्टं तमो नरकं गमय प्रापय। संहितायां दीर्घः। हे ग्रह, त्वमुपयामेन गृहीतोऽसि विशिष्टो मृत् संग्रामो यस्य तस्मै विमृधे विष्ठिष्टसंग्रामवते इन्द्राय त्वां गृह्णामि। सादयति एष तव योनिः विमृद्गुणविशिष्टायेन्द्राय त्वां सादयामि ।।44।।

पञ्चत्वारिंशी

वाचस्पतिंमविश्वकर्माणमूतयें मनोजुवं वाजें अद्या हुंवेम। स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवंसे साधुकर्मा ।। उपयामगृहीतो-ऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मण एष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे ।।४५।।

अन्वय : अद्य वाजे (यज्ञे) ऊतये वाचस्पतिं मनोजुवं विश्वकर्माणं हुवेम। स विश्वशम्भुः साधुकर्मा नः विश्वानि हवनानि अवसे जोषत्। (जुषताम्) हे सोम त्वम् उपयाम गृहीतः असि। विश्वकर्मणे इन्द्राय त्वा (गृह्णामि)। एष ते योनिः विश्वकर्मणे त्वा इन्द्राय त्वा (सादयामि)।

व्याख्या : आज इस यज्ञ में अपनी रक्षा के लिए वाणी के अधिष्ठाता मनोवेगवाले सृष्टि के कर्ता इन्द्र का आवाहन करता हूँ। जो इन्द्र विश्व कल्याणसम्पादन करनेवाले, शुभकर्मों को सम्पन्न करने वाले, ऐसे हमारे आवाहन को सुनकर मेरी रक्षा के लिए आवें तथा प्रदत्तहवि को सुखपूर्वक ग्रहण करें। हे ग्रह! तुम उपयाम द्वारा गृहीत हो। सर्वकर्ता इन्द्र के निमित्त तुम्हें ग्रहण करता हूँ। हे ग्रह! यह तुम्हारा स्थान है, विश्वकर्मा इन्द्रके लिए तुम्हें स्थापित करता हूँ।

म० : 'अथ द्वितीयः। विश्वकर्मदेवता त्रिष्टुप् शासदृष्टा। ईदृशमिन्द्रं वाजे महाव्रतीयलक्षणान्नविषये अद्यास्मिन् दिने वयं हुवेम आह्वयाम। किमर्थम्। ऊतये अवनाय रक्षणाय। किंभूतम्। विश्वकर्माणं विश्वानि

समस्तानि जगदुत्पत्त्यादीनिकर्माणि यस्य तम्। तथा वाचस्पति वाचां पालयितारं वाचोऽधिपतिं। 'तस्मादाहुरिन्द्रो वाक्' इति श्रुतेः। तथा मनोजुवम्। जूरिति जवनाम। मनसो जूरिव जव इव जवो यस्य स मनोजूस्तम्। स इदृशं इन्द्रो नोऽस्माकं विश्वानि सर्वाणि हवनानि आह्वानानि अवसेऽन्नायान्नासमृद्धै रक्षणाय वा जोषात् जुषताम् अस्मदाह्वानं साधु साध्विति सेक्ताम्। 'लेटोऽडाटौ' (पा. 3। 4। 94) इत्यडागमे 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा. 3। 4। 97) तिप् इलोपे जोषदिति रूपम्। किंभूतः सः। विश्वशंभूः विश्वस्य शं मुखं भवत्यस्मादिति विश्वशंभूः साधुकर्मा शोभनकर्मकर्ता। हे ग्रह, उपयामगृहीतोऽसि विश्वकर्मणे सर्वकर्त्रे इन्द्राय त्वां गृह्णामि। सादयति एष ते योनिः विश्वकर्मणे इन्द्राय त्वां सादयामि ।।45।।

षट्चत्वारिंशी

विश्वंकर्मन्हुविषा वर्धनेन त्रातारमिन्द्रंमकृणोरवध्यम्। तस्मै विशः समंनमन्त पूर्वीरयमुग्रो विहव्यो यथासंत्। उपयामगृहीतोऽसीन्द्रांय त्वा विश्वकर्मण एष ते योनिरिन्द्रांय त्वा विश्वकर्मणे ।।४६।।

अन्वय : (हे) विश्वकर्मन् हविषावर्द्धनेन त्रातारम् इन्द्रम् अवध्यम् अकृणोः (कृतवानसि) तस्मै पूर्वीविशः प्रजाः पूर्वे समनमन्त, यथा अयम् उग्रः विहव्यः असत् (तस्मैनमः)। हे ग्रह। उपयाम गृहीतः असि। विश्वकर्मणे इन्द्राय त्वा (गृह्णामि) एष ते योनिः, विश्वकर्मणे इन्द्राय त्वा (सादयामि)।

व्याख्या : हे संसार के सृष्टिकर्ता विश्वकर्मा! आप हवि के द्वारा परिपुष्ट करते हुए इन्द्र को जगत् का रक्षक और शत्रुओं से अवध्य बना दिया। उस इन्द्र को प्राचीन वसिष्ठादि ऋषियों ने भी नमन किया, जिसके कारण यह इन्द्र बड़ा तेजस्वी और विविध यज्ञों में आज भी आहूत होते हैं ऐसे आपको नमस्कार है। हे ग्रह! तुम उपयाम द्वारा गृहीत हो। सर्वकर्ता इन्द्रदेव के लिए तुम्हें ग्रहण करता हूँ हे ग्रह! यह तुम्हारा स्थान है। इन्द्र के लिए तुम्हें स्थापित करता हूँ।

म० : तृतीयो मन्त्रविकल्पः। इन्द्रविश्वकर्मदेवत्या त्रिष्टुप् शासदृष्टा। हे विश्वकर्मन्, वर्धमानेन वर्धयित्रा वा हविषा त्वमन्द्रिं त्रातारं जगतो रक्षकमवध्यं हन्तुमशक्यमप्रतिभटं चाकृणोः कृतवानसि। तस्मै तादृशायेन्द्राय

पूर्वाविशः प्रजाः पूर्वे। वसिष्टादयो मनुष्याः समनमन्त सम्यक्नताः। पञ्चम्यर्थे थाल्प्रत्ययः। यथा यतः कारणात् अयमिन्द्रः उग्र उद्गूर्णवज्रो विहव्यो विविधेषु कार्येषु आहूयत इति विहव्यश्च असदभूत्तस्माद्विशस्तस्मै नता इत्यर्थः। विश्वकर्मन्, त्वद्धविः- सामर्थ्यादिन्द्रस्यायं प्रभाव इति भावः। उपयाम एष ते इति व्याख्याते ॥46॥

सप्तचत्वारिंशी

उपयामगृंहीतोऽस्यग्नयें त्वा गायत्रच्छंन्दसं गृह्णामीन्द्रांय त्वा त्रिष्टुप्छंन्दसं गृह्णामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जगच्छन्दसं गृह्णाम्यनुष्टुप्तेऽ- भिगरः ॥४७॥

अन्वय : (हे अदाभ्य सोम!) त्वम् उपयाम गृहीतः असि, गायत्रच्छन्दसं त्वाम् अग्नये गृह्णामि, त्रिष्टुपच्छन्दसं त्वा इन्द्राय गृह्णामि, जगच्छन्दसं त्वा विश्वेभ्यो देवेभ्यो गृह्णामि। अनुष्टुप् ते अभिगरः (अभिष्टवः)।

व्याख्याः हे सोम! तुम उपयामग्रहद्वारा गृहीत हो। हे ग्रह। गायत्रीछन्दवाले तुम्हें अग्नि की प्रसन्नता के लिए त्रिष्टुपछन्दवाले तुम्हें अग्नि की प्रसन्नता के लिए, त्रिष्टुपछन्दवाले तुम्हें इन्द्र की प्रसन्नता के लिए तथा जगतीछन्दवाले तुम्हें सभी देवों की प्रसन्नता के लिए ग्रहण करता हूँ। हे सोम! तुम्हारा प्रिय अनुष्टुप् छन्द है।

म० : 'अदाभ्यं गृह्णात्यासिच्य निग्राभ्या': पात्रे तस्मिंस्तूष्णीं त्रीनंशूनवधायाग्नये त्वा गायत्रच्छन्दसमिति प्रतिमन्त्रमुपयामः सर्वत्रविशेषादिति' (का. 12। 5। 13-15)। यस्मिन्नौदुम्बरे पात्रे अंशुर्गृहीतस्तस्मिन्होतृचमसस्था निग्राभ्यासंज्ञा अप आनीय तस्मिंस्तिस्रः सोमलताः प्रक्षिप्याग्नये त्वेत्यादित्रिभिर्मन्त्रैः क्रमेणादाभ्यं ग्रहं गृह्णाति। मन्त्रैः सोमलताप्रक्षेपो वेति केचित्। उपयामगृ- हीतोऽसीत्येतात्रिष्वपि मन्त्रेष्वादावनुषंजनीयं सर्वशेषत्वादाम्रानस्येति सूत्रार्थः। तत्र प्रथमो मन्त्रः। अदाभ्यदेवत्यानि त्रीणि यजूंषि देवदृष्टानि। हे सोम, त्वमुपयामेन, ग्रहेण गृहीतोऽसि हे ग्रह, गायत्री छन्दो यस्य ग्रहस्य तं गायत्रीच्छन्दसं त्वामग्नयेऽग्निप्रीत्यर्थ गृह्णामि। द्वितीयो मन्त्रः। उपयामेनं गृहीतोऽसि हे ग्रह, त्रिष्टुप् छन्दो यस्य ताहशं त्वामिन्द्राय गृह्णामि। तृतीयो मन्त्रः। उपयाम जगती छन्दो यस्य ताहशं त्वां हे ग्रह, विश्वेभ्यो देवेभ्योऽर्थाय

गृह्णामि। एवं सवनदेवताभ्यो वारत्रयं ग्रहणम्। 'अनुष्टुप्त इत्युक्त्वेति' (का. 12। 5। 17)। एवं मन्त्रं पठेत्। अदाभ्यदेवत्यं देवदृष्टम्। एवं स्वच्छन्दसं सोमं गृहीत्वाथ तमाह हे सोम, अनुष्ठप् छन्दस्ते तवाभिगरः अभिष्टुव इत्यर्थः। 'गृस्तुतौ' यद्वा 'ऊर्ध्वसवनेभ्यस्त- दानुष्टुभम्' (11। 5। 9। 7) इति श्रुतेः ।।47।।

अष्टचत्वारिंशी

व्रेशीनां त्वा पत्मन्नाधूनोमि कुकूननानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि भन्दनानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि मदिन्तमानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि मधुन्तमाना त्वा पत्मन्नाधूनोमि शुक्रं त्वां शुक्र आधूनोम्यह्नो रूपे सूर्य्यस्य रश्मिषु ।।४८।।

अन्वय : हे सोम! व्रेशीनां पत्मन् त्वा आधूनोमि, ककूननानाम् पत्मन् त्वा आधूनोमि, भन्दनानाम् पत्मन् त्वा आधूनोमि, मन्दितानाम् पत्मन् त्वा आधूनोमि। हे सोम! शुक्रं त्वा शुक्रे जले आधूनोमि अह्नः रुपे सूर्यस्य रश्मिषु।

व्याख्या : हे सोम! मेघोदरस्थ जलों को बरसाने के लिए तुम्हें कम्पित (गतिमान) करता हूँ। गर्जनशील मेघोदरस्थ जल के लिए (वृष्टि के लिए) लोकानन्ददायक, तृप्तिदायक मधुरस्वादयुक्त शुद्ध तथा शुक्लवर्णवाले जल के निमित्त तुम्हें मैं प्रकम्पित करता हूँ। हे सोम! दिन के रुप में सूर्य की किरणों में तुम्हें मिलाता हूँ।

म॰ : 'धूनोत्यशुंभिर्व्रेषीनां त्वेति गच्छन्नाहवनीयमिति' (का. 12। 5। 17)। आहवनीयसमीपं गच्छन्नंशुभिरदाभ्यग्रहस्थानि जलानि चालयेत्। एतदादीनि विश्वेषां देवानामित्यन्तानि सोमदेवत्यानि देवदृष्टानि। हे सोम, व्रेशीनां व्रजतो मेघस्योदरे शेरते ता व्रेश्यो मेघोदरस्था आपस्तासां पत्मन् पतने निमित्ते वृष्टिनिष्पत्त्यर्थं त्वा त्वमाधूनोमि कम्पयामि। कुकूननानाम्। 'कुङ् शब्दे' अत्यर्थ कुर्वन्त्यः शब्दं कुर्वाणा नमन्ति प्रह्वीभवन्तीति कुकूनना मेघस्था आपस्तासां पतने त्वां कम्पयामि। भन्दनानाम्। 'भदि कल्याणे वा मेध्या आपः अन्यत्पूर्ववत्। मदिन्तमानाम् मादयन्तीति मदिन्यः अत्यर्थं मदिन्यो मदिन्तमाः। तमापि पुंवद्भावः 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (पा. 8। 1। 7) इति नलोपः 'नाद्धस्य' (पा. 8। 2। 17) इति छान्दयो नुडागमः।

अत्यन्तं तर्पयन्त्यो मेध्या आपः। मधुन्तमानाम् अत्यन्तं मधुस्वादोपेता मधुन्तमाः एवंविधानामपां पतने त्वां धूनोमि। किंच शुक्र शुद्धमकिल्ष्टकर्माणं त्वां शुक्रे शुद्धे अकिलष्टकर्मणि निग्राभ्या-लक्षणे जले त्वामाधूनोमि। किंच अह्नो दिवसस्य रूपे सूर्यस्य रष्मिषु हे सोम, त्वामाधूनोमि ।।48।।

एकोनपञ्चाशी

ककुभꣳ रूपं वृषभस्य रोचते बृहच्छुक्रः शुक्रस्य पुरोगाः सोमः सोमस्य पुरोगाः। यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै त्वा गृह्णामि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा ।।४९।।

अन्वय : हे सोम! वृषभस्य ककुभं रुपं रोचते, बृहत् शुक्रः शुक्रस्य शुद्धस्य तव पुरोगाः सोमः एव सोमस्य पुरोगाः। हे सोम! यत् ते अदाभ्यम् जागृविविनाम तस्मै त्वा गृह्णामि। तस्मै ते सोमाय। स्वाहा।

व्याख्या : हे सोम! अभीष्ट कामनाओं की वर्षा करने से वृषभ स्थानीय तुम्हारा श्रेष्ठरुप सभी को अच्छा लगता हैं, विराट्, शुक्ल प्रकाशवाले सूर्य भी सोम के पुरोगामी है क्योंकि सोम ही सोम का पुरोगामी हो सकता है। हे सोम! तुम्हारा नाम अविनाशी तथा जागरणशील है उसी के लिए मैं (तुम्हें ग्रहण करता हूँ। ऐसे सोम के लिए यह आहुति सुहुत हो।

म० : हे सोम, वृषभस्य श्रेष्ठतमस्य तव ककुभं महत् आदित्यलक्षणं रूपं रोचते दीप्यते। ककुभमिति महन्नामसु पठितम्। बृहत् महान् शुक्रः शुद्ध आदित्यः शुक्रस्य शुद्धस्य सोमस्य तव पुरोगाः पुरोगामी। सोम एव सोमस्य पुरोगाः पुरोगामी भवितुमर्हति। हे सोम, ते त्वदीयमदाभ्यमनुपहिंसितं जागृवि जागरणशीलं यन्नामास्ति तस्मै त्वां गृह्णामि। 'तस्मै त इति जुहोतीति' (का. 12। 5। 17) अदाभ्यं जुहोति। सौम्यम् हे सोम, तस्मै तादृशाय ते तुभ्यं स्वाहा सुहुतमस्तु। 'तस्सोममेवैतत्सोमाय जुहोति' (11। 5। 9। 11) इति श्रुतेः ।।49।।

पञ्चाशी

उशिक्त्वं दैव सोमाग्नेः प्रियं पाथोऽपीहि वशी त्वं दैव सोमेन्द्रस्य प्रियं पाथोऽपीह्यस्मत्सखा त्वं दैव सोम विश्वैषां देवानां प्रियं पाथोऽपीहि ।।५०।।

अन्वय : (हे) देव सोम! त्वम् उशिक्, कामयमानः अग्नेः प्रियं पाथः अपीहि अपिगच्छ। (हे) देवसोम! त्वं वशी, इन्द्रस्य प्रियं पाथः अपीहि (प्राप्नुहि)। (हे) सोम! त्वम् अस्मत् सखा, अतः विश्वेषां देवानां प्रियं पाथः अपीहि (प्राप्नुहि)।

व्याख्या: हे दिव्यतेज सम्पन्न सोम! तुम सभी (देवों) के प्रिय हो जिसमें अग्नि के अत्यन्तप्रिय अन्नरुप हो। हे सोम! तुम कान्तिमान हो। अतः इन्द्र के प्रिय अन्नरुप को प्राप्त करो! अर्थात् तुम इन्द्र के अत्यन्त प्रिय भोज्य बनो)। तुम हमारे मित्र हो। अतः तुम सभी देवों के प्रिय भोज्य बनो। अर्थात् सभी देव रुचिपूर्वक तुम्हें ग्रहण करें।

म० : 'अंशून्सोमे निदधात्युशिक्त्वमिति प्रतिमन्त्रमिति' (का. 12। 5। 18) मन्त्रत्रयेणोलूखस्थानंशून्सोमे क्षिपेत्। तत्राद्यः। हे देव, दीप्यमान हे सोम, उशिक् कायममानस्त्वमग्रेः प्रियं पाथोऽन्नमपीहि अपिगच्छ। द्वितीयः। हे देव सोम, वशी कान्तस्त्वमिन्द्रस्य प्रियमन्नं प्राप्नुहि। अथ तृतीयो मन्त्रः। हे देव सोम, अस्मत्सखा अस्माकं मित्रभूतस्त्वं विश्वेषां देवानां प्रियमभिरुचितमन्नं प्राप्नुहि 'अग्निर्वै प्रातः सवनमिन्द्रो माध्यन्दिनं सवन विश्वेदेवास्तृतीय सवनम्' इति श्रुतेः सवनदेवेभ्योऽर्पणम् ॥50॥

एकपञ्चाशी

इह रतिरिह रमध्वमिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा। उपसृजन्धरुणं मात्रे धरुणो मातरं धयन्। रायस्पोषमस्मासु दीधरत्स्वाहा ॥५१॥

अन्वय : (हे गावः) इह रतिः, इह एवयूयं रमध्वम्। इह धृति इह स्वधृतिः स्वाहा। धरुणः अग्नि मात्रे मातुः धरुणम् उपसृजन् मातरं ध यन् (हविर्भक्षयन्) अस्मासु रायःपोषं दीधरत् (धारयतु) स्वाहा।

व्याख्या : हे गोओ! इस यजमान के घर से तुम्हारा प्रेम हो, यहीं तुम लोग रमण करो, धैर्यपूर्वक तथा सन्तोष के साथ यहीं रहो। इसके निमित्त यह हवि सुहुत हो। सभी पदार्थों के धारकअग्नि, मातापृथिवी के लिए धारण शक्ति प्रदान करें। इससे उत्पन्न हवि का आस्वादन करते हुए हम लोगों को धन ऐश्वर्य आदि से समृद्ध करें। यह आहुति अग्नि के लिए सुहुत हो।

म० : अथ सत्रोत्थानमन्त्रा देवदृष्टाः। 'शालाद्वार्येऽन्वारब्धेष्विह

रतिरिति जुहोतीति' (का. 12। 4। 10)। सर्वेषु दीक्षितेष्वध्वर्युस्पृष्टेष्विदानींतन-गार्हपत्ये घृतं जुहुयात्। पशुदैवतं यजुः। हे गावः, युष्मदीया रतिः रमणमिह यजमानेष्वस्तु। इहैव यूयं रमध्वम्। युष्माकमिह यजमानेषु धृतिः संतोषोऽस्तु स्वधृतिः स्वकीयानामपि धृतिरिहैवास्तु। स्वाहा सुहुतमस्तु। 'अपरामुपसृजन्निति' (का. 12। 4। 11) शालाद्वार्ये एव द्वितीयाहुतिः उष्णिक् आद्यावष्टाक्षरौ तृतीयो द्वादशार्णः सोष्णिक्। धारयतीति धरुणोऽग्निरस्मासु रायस्पोषं रायो धनस्य पशुपुत्रसुवर्णादेः पुष्टिं दीधरत् धारयतु। धारयतेर्लुङि रूपम्। अड्भाव आर्षः। किंभूतो धरुणः। मात्रे धरुणम्। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। मातुः पृथिव्या धारयितारमग्निमुपसृजन् समीपं प्रापयन् तथा मातरं पृथिवी धयन्पिबन्। तत्रोत्पन्नं हविर्भक्षयन्नित्यर्थः। स्वाहेति होमार्थः ।।51।।

द्विपञ्चाशी

सत्रस्यऽऋद्धिरस्यगन्म ज्योतिरमृताऽअभूम। दिवं पृथिव्या अध्यारुहामाविदाम देवान्स्वर्ज्योतिः ।।५२।।

अन्वय : (हे साम!) त्वं सत्रस्य, ऋद्धिः असि ज्योतिः अगन्म (प्राप्ताः)। अमृताः अभूम। पृथिव्या दिवम् अध्यारुहाम, देवान् अविदाम, ज्योतिः स्वः च (अविदाम)।

व्याख्या : हे साम! तुम याग की समृद्धि हो। तुम्हारी कृपा से हमने प्रकाश (आदित्यरुपज्योति) को प्राप्त किया और हम अमर हो गये। पृथिवी से स्वर्ग में आरुढ हो गये। इसके बाद देवताओं को प्राप्त किया तथा अब ज्योति स्वरुप ब्रह्म को भी प्राप्त कर लिया।

यहाँ सत्रर्द्धि र्द्धिसाम का गान दीक्षितों के द्वारा होता है।

म॰ : 'सत्रस्यर्द्धिगायन्ति सत्रस्य ऋद्धिरिति' (का. 12। 4। 12)। सर्वे दीक्षिता उत्तरहविर्धानापरकूबरीमालम्ब्य सत्रर्द्धिसंज्ञकं साम गायन्ति। बृहती यजमानानामात्मस्तुतिः सप्तैकादशनवार्णपादा। हे साम, सत्रस्य ऋद्धिः समृद्धिः त्वमसि, अतो वयं यजमाना ज्योतिरादित्यलक्षणमगन्म प्राप्ताः। ततः अमृता अमरणधर्माणः अभूम भूताः। पृथिव्याः सकाशाद्दिवं द्युलोकमध्यारुहाम। अध्यारूढाः द्युलोकारूढाः ततो देवानिन्द्रादीनविदाम जानीमः पश्याम इत्यर्थः। वेत्तेर्व्यत्ययेन तुदादित्वे लङि रूपम्। ज्योतिर्ज्योतीरूपं स्वः स्वर्गं चाविदाम ।।52।।

त्रिपञ्चाशी

युवं तमिन्द्रापर्वता पुरोयुधा यो नः पृतन्यादप तं तमिद्धतं वज्रेण तन्तमिद्धतम्। दूरे चत्तायच्छन्त्सद्गहनं यदिनक्षत्। अस्माकꣳशत्रून्परि शूर विश्वतो दर्मा दर्षीष्ट विश्वतः। भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याम सुवीरा वीरैः सुपोषाः पोषैः ।।५३।।

अन्वय : हे इन्द्र पर्वता! युवम् (युवां) पुरोयुधौ, यो नः पृतन्याद् तम् इत अपहतम् (विनाशयतम्) वज्रेण तं तम् इत हतम्। हे इन्द्र! ते वज्र यद् गहनम् इनक्षन् (प्रान्नुयात) दूरे चत्ताय (गताय) छन्सत्! (हे) शूर अस्माकं विश्वतः शत्रून् दर्मा विश्वतः परिदर्षीष्ट (विदारयतु)। भूः भुवः स्वः प्रजाभिः वीरैः सुवीराः पोषैः सुपोषः स्याम (भवेम)

व्याख्या : हे इन्द्र और पर्वत देवों! तुम दोनों शत्रुओं के सामने उत्साहपूर्वक युद्ध करने वाले हो। जो हमसे युद्ध करता है या युद्ध की इच्दा करता है उसे अपने बज्र से नष्ट कर दो। जो शत्रु अतिदूर है, उसे भी आप वज्र से नष्ट कर दो। हे शूर। हमारे सभी शत्रुओं को आपका विदारणशील यह वज्र विदीर्ण कर डाले। हे अग्निवायुसूर्य। आपके अनुग्रह से हम, प्रजाओं में उत्तम प्रजायुक्त वीर पुत्रों से सुपुत्रवान, तथा धनैश्वर्यादि से समृद्ध बनें।

म० : 'युवं तमिति दक्षिणस्याधोऽक्षं प्राञ्चो निष्क्रामन्तीति' (का. 12। 4। 14)। सर्वे यजमाना दक्षिणहविर्धानाक्षार्धोमार्गेण प्राङ्मुखाः निःसरन्ति। इन्द्रदेवत्यास्यष्टिरवसानत्रयोपेता षट्षष्ठ्यक्षरत्वात् घूना आद्योऽर्थर्च इन्द्रपर्वतदेवत्यः। हे पुरोयुधा पुरोयुधौ पुरोऽग्रे युध्येते तौ पुरोयुधौ 'इगुपध-' (पा. 3। 1। 135) इति कप्रत्ययः। शत्रूणां पुरतो युद्धस्य कर्तारौ हे इन्द्रापर्वता इन्द्रपर्वतौ, युवं युवां तं शत्रुमपहतं विनाशयतम्। आदरे वीप्सा तं तम्। इदेवार्थे। तं तमेव शत्रुमपहतं तत्तत्समानमेव सर्वमपि शत्रुं विनाशयतम्। तत्रापि विशेष्यते। वज्रेण वज्राख्येनायुधेन तं तमित् तं तमेव शत्रुं विनाशयतम्। तदो वीप्साश्रवजाद्यदोऽपि वीप्सा। यो यः शत्रुर्नोऽस्मान्पृतन्यात् पृतनां सेनां कुर्यात्। योधयेदित्यर्थः। इदानीमिन्द्रः प्रत्यक्षो वज्रस्य कर्तृत्वं चोच्यते। हे शूर इन्द्र, त्वदीयो वज्रो यद्यदा गहनमत्यन्तमगम्भीरं वनं जलं वा प्रति दूरे चत्ताय। चतातिर्गतिकर्मा। वनेऽतिदूरगताय शत्रवे छन्त्सत्। छन्दसिः कामनार्थः। शत्रुं प्राप्तुं कामयते तदा तमपि दूरगतमिनक्षन्प्राप्नुयात्। इनक्षतिर्व्याप्तिकर्मा।

वने दूरगतमपि इच्छन् गृह्वात्येवेत्यर्थः। ततो दर्मा दारयतीति दर्मा 'दृ विदारणे' अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा. 3। 2। 75) इति मनिन्प्रत्ययः। विदारणशीलो वज्रः अस्माकमस्मदीयान् विश्वतः सर्वतः स्थितान् विश्वतः सर्वान्शत्रून् परिदर्षीष्ट परितो विदारयतु। दीर्यतेराशीलिङि तडि रूपम्। 'पृथकामेषु यजमानेषु सर्वे वाग्विसर्जनं कुर्युः। हे भूर्भुवःस्वः अग्निवायुसूर्याः, वयं प्रजाभिः सुप्रजाः स्याम वीरैः पुत्रैः सुवीराः स्याम। पोषैः पुष्टिभिः सुपोषाः स्याम भवेम। एकवचनान्तोऽयं व्याख्यातः। अत्र तु बहुवचनान्तो मन्त्रः ॥53॥

चतुःपञ्चाशी

पर॒मे॒ष्ठ्य॒भिधी॑तः प्र॒जाप॑तिर्वा॒चि व्याहृ॑ताया॒मन्धो॒ऽअच्छे॑तः। सवि॒ता स॒न्यां वि॒श्वक॑र्मा दी॒क्षायां॑ पू॒षा सौ॑म॒क्रय॑ण्याम् ॥५४॥

अन्वय : यजमानेन अभिधीतः (संकल्पितः) सोमः परमेष्ठी भवति वाचि व्याहृतायां प्रजापतिः भवति, अच्छः इतः अन्धो भवति सन्यां सविता, दीक्षायाम् विश्वकर्मा, सोमक्रयण्याम् पूषा (भवति सोमः)।

व्याख्या : यजमान द्वारा मनसे संकल्पित (सोमयज्ञ करुँगा) होने पर सोम परमेष्ठी बन जाता हैं। इसी प्रकार वाणी से नाम लिए जाने पर प्रजापति, सामने आने पर अन्धः यथाभागरक्षित होने पर सविता, यजमान के दीक्षाग्रहण करने पर विश्वकर्मा तथा सोमक्रयणी गौ के लाने पर सोम पूषा संज्ञक हो जाता है।

म० : 'परमेष्ठ्यादींश्चतुस्त्रिंशतं जुहोति धर्मदुग्ध्वाले चादोहे चोदीच्या दोहस्थानेऽन्यस्याः शालाय वा पुरस्तात्प्राच्याः पुच्छः काण्डादक्षिणेऽस्थनि हुत्वा दोहयेत् पृषदाज्यस्कन्दने चैक इति' (का. 25। 6। 1-6)। मृण्मयघर्मपात्रभेदे भिन्नमभिमृश्य परमेष्ठिने स्वाहा प्रजापतये स्वाहेत्यादीन्स-लिलाय स्वाहेत्यन्तां चतुस्त्रिंशद्धोमान्जुहोति। घर्मदुहो गोर्मरणे तत्स्थाने उदङमुख्या स्थितायाः पत्नीशालापूर्वभागे प्राङमुख्या वा पुच्छा दक्षिणेऽस्थनि परमेष्ठिने स्वाहेति चतुस्त्रिंशतमाज्याहुतीर्हुत्वा तां दोहयेत्। स्थालीस्थस्य स्तुक्स्थस्य वा पृषदाज्यस्य वा भ्रंशे एके आचार्यः परमेष्ठवादीञ्जुह्वतीति सूत्रार्थः। परमेष्ठ्यादयो देवा यज्ञस्य शरीराणि तस्मात्ततदवस्थायां होमे यज्ञश्चिकित्सितः प्रतिसंदितो भवति। तथाच श्रुतिः 'सोमो वै राजा यज्ञः प्रजापतिस्तस्यैतास्तन्वो य एता देवता य एता आहुतीर्जुहोति स यद्यज्ञस्याच्छेंद्यां तत्प्रति देवतां

मन्येत तामनुसमीक्ष्य जुहयाद्यदि दीक्षोपमत्स्वाहवनीये यदि प्रसुत आग्नीध विवा एतद्यज्ञस्य पर्व स्त्रंसते यद्धलति या यैव तर्हि तत्र देवता भवति तयैवैतद्देवतया यज्ञं भिषज्यति तया देवतया यज्ञं प्रतिसन्दधातीति' (12। 5। 1। 1-2)। अथ मन्त्रार्थः। आध्यायाद्वसिष्ठ ऋषिः। यदा सोमो यजमानेनाभिधीतः संकल्पितो भवति। मनसाभिध्यातस्तदा परमेष्ठी भवति। अयमर्थः। मनसा ध्यातः सोमो यदि नोपनमेत् तदा परमेष्ठिने स्वाहेति जुहुयादिति। तथाच श्रुतिः 'स यद्येनं मनसाभिध्यातो यज्ञो नोपनमेत् परमेष्ठिने स्वाहेति जुहुयात्परमेष्ठी हि स तर्हि भवत्यपाप्मानंहत उपेनं यज्ञो नमतीति' (12। 5 1 3)। वाचि व्याहृतया सोमेन यक्ष्ये इति वचस्युच्चारिते सति सोमः प्रजापतिनामको भवति तदा प्रायश्चित्तापत्तौ प्रजापतये स्वाहेति जुहुयादित्यर्थः। यदा सोमः अच्छाभिमुख्येन इतः। प्राप्तस्तदा अन्धो भवति। सोमं प्रति गतौ किंचिन्निमित्तं चेत्तदा अन्धसे स्वाहेति जुहुयात्। सन्यां सोमस्य संभक्तौ सत्यां सोमः सवितृनामको भवति तदा प्रायश्चित्तापदौ सवित्रे खाहेति जुहुयात्' (12। 5। 1। 6) इति श्रुतेः। दीक्षायां सत्यां सोमो विश्वकर्मत्युच्यते तदा विश्वकर्मणे स्वाहेति जुहुयात्। सोमः क्रीयतेऽनया सा सोमक्रयणी गौस्तस्यामानीतायां सत्यां सोमः पूषा भवति। तदा निमित्ते पूष्णे स्वाहेति जुहुयात् ।।54।।

पञ्चपञ्चाशी

इन्द्रंश्च मुरुतंश्च क्रुयायोपोत्थितोऽसुरः पुण्यमांनो मित्रः क्रीतो विष्णुंः शिपिविष्टऽऊरावासंन्नो विष्णुंर्नरन्धिंषः ।।५५।।

अन्वय : इन्द्रश्च मरुतश्च क्रयाय उपोत्थितः पण्यमान असुरः क्रीतः मित्रः उरौ असन्नः शिपिविष्ट, विष्णुः प्रोह्यमाणः नरन्धिषः विष्णुः।

व्याख्या : द्रव्य द्वारा क्रयण के समय सोम, इन्द्र तथा मरुत नाम वाला होता है। उसी प्रकार जब उसका सौदा हो जाता है तब असुर (क्रीत) खरीद लेने पर मित्र, यजमान के गोद में रखें जाने पर शिपिशिष्टविष्णु तथा शकट से ले जाने के समय नरन्धिषविष्णु संज्ञक हो जाता है।

म॰ : क्रयाय द्रव्यादानेनात्मसात्करणायोपोत्थितः उपस्थापितः सोम इन्द्रामरुन्नामकश्च भवति तदा इन्द्राय मरुद्भ्यश्च स्वाहेति जुहुयात्।

क्रीयमाणः सोमोऽसुरो भवति असुराय स्वाहेति तदा जुहुयात्। यजमानेन क्रीतः सोमो मित्रो भवति तदा मित्राय स्वाहेति जुहुयात्। ऊरौ यजमानोत्संगे आसन्नः स्थितः सोमः शिपिविष्टो विष्णुरित्यर्थः। तदा प्रायश्चित्तापत्तौ विष्णवे शिपिविष्टाय स्वाहेति जुहुयात्। प्रोह्यमाणः शकटेनोह्यमानः सोमो विष्णुर्नरन्धिषो भवति नरो धीयन्ते आरोप्यन्ते यस्मिन् स नरन्धिः संसारः तं स्यति नाशयति नरन्धिषः जगत्संहतृविशिष्टो विष्णुः। यद्वा 'रथ हिंसायाम्' रध्यति हिनस्ति रन्धिषः हन्ता न रन्धिषः नरन्धिषः संसारः तं स्यति नाशयति नरन्धिषः जगत्संहर्तृविशिष्टो विष्णुः। यद्वा 'रध हिंसायाम्' रध्यति हिनस्ति रन्धिषः हन्ता न रन्धिषः नरन्धिषः जगत्पालको वा विष्णुः। तदा विष्णवे नरन्धिषाय स्वाहेति जुहुयात् ।।55।।

षट्पञ्चाशी

प्रोह्यमाणः सोमऽआगतो व्वरुण आसन्द्यामासन्नोऽग्निराग्नीध्रऽ इन्द्रो हविर्धानेऽथर्वोपावह्रियमाणः ।।५६।।

अन्वय : प्रोह्यमाणः आगत्: सोमः आसन्द्याम् आसन्नः वरुणः आग्नीध्रे, अग्निः हविर्धाने इन्द्रः, उपावह्रियमाणः अथर्वा नामको भवति।

व्याख्या : यह सोम शकट से उतारते समय (यज्ञस्थल पर) सोम नाम से कहलाता है, चौकी के ऊपर (आसन्दी पर रखे जाने पर वरुणनाम वाला हो जाता है। इसी प्रकार आग्नीध्र के पास यह सोम अग्निसंज्ञक हो जाता है। हविर्धान में रहने वाला इन्द्रसंज्ञक तथा कूटने के लिए प्रस्तुत सोम अथर्वा कहलाता है। इस प्रकार तत्तत्प्रसंगों में यथानाम होम करना चाहिए।

म॰ : शकटादागतोऽरूढः सोमनामको भवति तदा सोमाय स्वाहेति जुहुयात्। आसन्द्यां मञ्चिकायामुपविष्टः सोमो वरुणो भवति तदा वरुणाय स्वाहेति जुहुयात्। आग्नीध्रे वर्तमानः सोमोऽग्निर्भवति तदाग्नये स्वाहेति जुहुयात्। हविर्धाने वर्तमानः सोम इन्द्रो भवति तदेन्द्राय स्वाहेति जुहुयात्। 'हृदे त्वा मनसे त्वे' (अ. 7 क. 19) ति मन्त्रेण कण्डनार्थमुपावह्रियमाणः आनीयमानः सोमोऽथर्वनामको भवति तदाथर्वणे स्वाहेति जुहुयात् ।।56।।

सप्तपञ्चाशी

विश्वेदेवाऽअंशुषु न्युप्तो विष्णुराप्रीतपा आप्याय्यमानो

यमः सूयमानो विष्णुः संभ्रियमाणो वायुः पूयमानः शुक्रः पूतः शुक्रः क्षीरश्रीर्मन्थी सक्तुश्रीः ।।५७।।

अन्वय : अयं सोमः अंशुषु न्युप्तः विश्वेदेवाः, नामको भवति। आप्यायमानः आप्रीतपा विष्णुः, सूयमानो यमः, सम्भ्रियमाणो विष्णुः पूयमानः वायुः, पूतः, शुक्रः, क्षीर श्रीः शुक्रः, सक्तुश्रीः मन्थी (भवति)।

व्याख्या : छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्तकर के रखा गया सोम विश्वेदेव संज्ञक होता है। वृद्धि को प्राप्त हुआ सोम सर्वविधरक्षक विष्णु के समान होता है। अभिषवन किये जाने पर यम तथा सम्यक पुष्यमाण (दशापवित्र) द्वारा छाने जाने पर वायु, छानने के बाद धवल वर्ण होने से शुक्र संज्ञक हो जाता है। दूध से मिश्रित सोम, शुक्र ही होता है तथा सत्तु से मिश्रित होने पर वही सोम मन्थी कहलता है। अतः यथा प्रसंग इन नामों से होम करना चाहिए।

म० : अंशुषु सोमखण्डेषु न्युप्तः कण्डनं कृत्वारोपितः सोमो विश्वदेवनामको भवति तदा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति जुहुयात्। 'अंꣳशुरꣳशुष्ट' (अ. 5। क. 7) इत्यादिमन्त्रेण आप्याय्यमानः वर्धमानः सोम आप्रीतपा विष्णुर्भवति। आ समन्तात्प्रीतान्स्वस्मिन्प्रीतिमतो भक्तान्पाति रक्षतीत्याप्रीतपाः सद्गुणविशिष्टः। तदा विष्णवे आप्रीतपाय स्वाहेति जुहुयात्। अभिषूयमाणः सोमो यमो भवति तदा यमाय स्वाहेति जुहुयात्। सम्यग्भ्रियमाणः पुष्यमाणः सोमो विष्णुर्भवति तदा विष्णवे स्वाहेति जुहुयात्। दशापवित्रेण पूयमानः सोमो वायुर्भवति तदा वायवे स्वाहेति जुहुयात्। पूतः सोमः शुक्रो भवति तदा शुक्राय स्वाहेति जुहुयात्। क्षीरेण दुग्धेन श्रीयते मिश्रीक्रियत इति क्षीरश्रीः तदा शुक्र एव सोमो भवति तदापि शुक्राय स्वाहेति जुहुयात्। सक्तुभिर्मिश्रितः सोमो मन्थी भवति तदा मन्थिने स्वाहेति जुहुयात् ।।57।।

अष्टपञ्चाशी

विश्वेदेवाश्चमसेषून्नीतोऽसुर्होमायोद्यतो रुद्रो हूयमानो वातोऽभ्यावृत्तो नृचक्षाः प्रतिख्यातो भक्षो भक्ष्यमाणः पितरो नाराशꣳसाः ।।५८।।

अन्वय : चमसेषु ग्रहपात्रेषु उन्नीतः (सोमः) विश्वेदेवाः विश्वदेवा संज्ञको भवति। होमाय उद्यतः असुः, हूयमानो रूद्रः, अभ्यावृत्तो वातः,

प्रतिख्यातो नृचक्षाः भक्ष्यमाणो भक्षः सन्नो नाराशंसाः पितरो भवति।

व्याख्या : ग्रहपात्रों में रखा गया सोम विश्वेदेवसंज्ञक होता है। इसी प्रकार आहुति के लिए तैयार किया गया असु (संज्ञक), आहुति में प्रदत्त (सोम) रुद्र, हुतशेषसोम (सदोमण्डप में लाये जाने पर) वातः भक्षण के लिए पूछा गयासोम नृचक्षा, पीये जाने पर भक्ष, तथा अपने खर में स्थापितसोम नाराशंसयज्ञगुण विशिंष्ट पितर (संज्ञक) होता है।

म० : चमसेषु ग्रहपात्रैषुन्नीतो गृहीतः सोमो विश्वदेवसंज्ञो भवति तदा विश्वेभ्योदेवेभ्यः स्वाहेति जुहुयात्। होमार्थमुद्यतः सोमोऽसुसंज्ञो भवति तदा असवे स्वाहेति जुहुयात्। हूयमानः सोमो रुद्रो भवति तदा रुद्राय स्वाहेति जुहुयात्। हूयमानः सोमो रुद्रो भवति तदा रुद्राय स्वाहेति जुहुयात्। अभ्यावृत्तः होमशेषीभूतः सदः प्रति भक्षणार्थमानीतः सोमोवातो भवति तदा वाताय स्वाहेति जुहुयात्। प्रतिख्यातः ब्रह्मन्नुपह्वयस्वेत्यादिना भक्षणार्थ पृष्टः सोमो नृचक्षा भवति नृन् मनुष्यान् चष्टे शुभाशुभकारेण पश्यतीति नृचक्षाः तदा नृचक्षसे स्वाहेति जुहुयात्। भक्ष्यमाणः पीयमानः सोमो भक्षो भवति तदा भक्षाय स्वाहेति जुहुयात्। भक्षयित्वा सन्नः स्वखरेषु सादितः सोमो नाराशंसाः पितरो भवन्ति नरो अस्मिन्नासीनाः शंसन्तीति नराशंसो यज्ञस्तत्र हिता योग्या वा नाराशंसा नाराशंसगुणविशिष्टाः पितराः तदा निमित्तापत्तौ पितृभ्यो नाराशंसेभ्यः स्वाहेति जुहुयात् ।।58।।

एकोनषष्टी

सु॒न्नःसिन्धु॑रवभृ॒थायोद्य॑तः समु॒द्रो॒ऽभ्यवह्रि॒यमा॑णः सलि॒लः प्रप्लु॑तो॒ य॒योरोज॑सा स्कभि॒ता रजा॑ꣳसि वी॒र्ये॒भिर्वी॒रत॑मा॒ शवि॑ष्ठा। या पत्ये॑ते॒ऽअप्र॑तीता॒ सहो॑भि॒र्विष्णू॑ऽअग॒न्वरु॑णा पू॒र्वहू॑तौ ।।५९।।

अन्वय : अवभृथाय उद्यतः सोमः सिन्धुः भवति अभ्यवह्रियंमाणः समुद्रः प्रप्लुतो भवति सलिलः ययोः ओजसा, रजांसि स्कभिता या वीर्येभिः वीरतमा शविष्ठा सहोभिः अप्रतीता पत्येते पूर्वहूतौ विष्णू वरुणौ प्रतिस्कन्नं हविः अगन् (अगच्छत)।

व्याख्या : अवभृथस्नानादि के लिए उद्यत तैयार सोम सिन्धुसंज्ञक जल के सामने नीयमान सोम समुद्रसंज्ञक तथा जल में निमग्न सोम सलिलसंज्ञक अर्थात् जलरुप हो जाता है। [इस प्रकार यहाँ तक सोम के उपनाममन्त्रों से आहुति प्रदान कर सोमयाग पूर्ण किया जाता है। इसे

यज्ञचिकित्सा भी कहते हैं।] जिन विष्णु एवं वरुण के तेज से (बल से) पृथिवी आदि लोक स्थित है, तथा जो विष्णु एवं वरुण अपने पराक्रम से जगत के ईश्वर है। ये दोनों अत्यन्तवीर तथा युद्ध में पीठ न दिखाने वाले ऐसे विष्णु एवं वरुण के लिए यह हवि दी जाती है।

म० : अवभृथार्थमुद्यत: सोम: सिन्धुर्भवति तदा सिन्धवे स्वाहेति जुहुयात्। जलमभिमुखं नीयमान: सोम: समुद्रो भवति तदा समुद्राय स्वाहेति जुहुयात्। प्रक्षिप्तोऽप्सु निमग्न: सोम: सलिलो भवति तदा प्रायश्चित्तापत्तौ सलिलाय स्वाहेति जुहुयात्। एताभिर्यज्ञाहुतिमिर्यज्ञ: चिकित्सित: प्रतिसंहितश्च भवतीत्यर्थ:। तथाच श्रुति: 'ता वा एताश्चतुस्त्रिंशतमाज्याहुती-र्जुहोति त्रयस्त्रिंशद्वै देवा: प्रजापतिश्चतुस्त्रिंस एतदु सैर्देवैयज्ञं भिषज्यति सवैर्देवैयंज्ञं प्रतिसंदधातीति' (12। 5। 1। 37)। 'ययोरोजसेति चोदकेनोप-सिञ्चेदित' (का. 35। 2। 9)। अभिमर्शनेन विकल्प:। स्कन्नं रसरूपं सोमं जलेन सिञ्चेत् कालाहुतिहोमं वाचनं च कृत्वेति ज्ञेयम्। विष्णुवरुणदेवत्या त्रिष्टुप्। पूर्वोर्धे यच्छन्दोपादाना- त्तच्छब्दाध्याहार:। तौ विष्णु तौ वरुणौ। एकत्र विष्णुशब्दस्यैकशेषोऽन्यत्र वरुणशब्दस्य तुल्यकार्यत्वादुभावपि विष्णू उभावपि वरुणौ कर्मभूतौ प्रति अगन् गतं एकन्नं यज्ञसाधनमिति शेष:। कदा पूर्वहूतौ पूर्वस्मिन्नाह्वाने यावत्प्रधानं हूयते तावदेव विष्णुं वरुणं च प्रति स्कन्नं हविर्गतमित्यर्थ:। विशेषणं वा। पूर्व। हूयेते तौ पूर्वहूतौ विष्णुवरुणौ प्रति हविरगन्निति संबन्ध:। तौ कौ तयोर्विष्णुवरुणयोरोजसा वलेन रजांसि लोका: स्कंभिता स्तम्भितानि। 'लोका रजांस्युच्यन्ते' (नि. 4। 19) इति यास्क:। स्कभ्नोति: स्तम्भनार्थ:। किंच या यौ विष्णुवरुणौ पत्येते ईशाते ऐश्वर्य कुर्वाते जगतामीश्वरावित्यर्थ:। 'पत ऐश्वर्ये' दिवादिरात्मनेपदी। यद्धा पत्येते परसैन्येषु श्येनाविव पतत:। किंभूतौ। वीर्येभिर्वीर्यैबलैवीरतमा अत्यन्तं वीरौ। तथा शविष्ठा। शव इति बलनाम। अत्यन्तं बलवन्तौ अतिशवस्विनौ शविष्ठौ 'विन्मतोर्लुक्' (पा. 5। 3। 65) इति विनिलोपे इष्ठानि टिलोपे शविष्टाविति रूपम्। तथा सहोर्भिबैलैरप्रतीता अप्रतिगतौ न केनापि संमुखं गन्तुं शक्यौ अनन्ययोध्यादित्यर्थ:। न प्रतीयेते तावप्रतीतौ। एवंविधौ विष्णुवरुणौ प्रतिस्कन्नं हविर्गतमित्यर्थ: ।।59।।

षष्टी

दे॒वान्दिवं॑मगन्य॒ज्ञस्तत॑तो॒ मा॒ द्रवि॑णमष्टु मनु॒ष्या॒न॒न्तरि॑क्षमग-

न्यज्ञस्ततो॑ मा द्रवि॑णमष्टु पि॒तॄन्पृ॑थि॒वीम॑गन्य॒ज्ञस्ततो॑ मा॒ द्रवि॑णमष्टु यं कं च॑ लो॒कम॑ग॑न्य॒ज्ञस्ततो॑ मे भ॒द्रम॑भूत् ।।६०।।

अन्वय : देवान् (प्राप्य) यज्ञः दिवम् अगन् (अगच्छत्) ततो मा द्रविणम् अष्टु (व्याप्नोतु) यज्ञः मनुष्यान् अन्तरिक्षम् अगन्, ततो मा द्रविणम् अष्टु, यज्ञः पितृन पृथिवीम् अगन्, ततो मा द्रविणम अष्टु। यं कं च लोकं यज्ञः अगन् ततो में भद्रम अभूत्।

व्याख्या : यह यज्ञ वायुआदिदेवों को प्राप्तकर द्युलोक में व्याप्त है। वहॉ से यज्ञफलरुपधन हमें प्रदान करे। इसके पश्चात यज्ञ मनुष्य लोक एवं अन्तरिक्षलोक में जाकर, वहाँ से हमें वर्षा के रुप में यज्ञफल प्रदान करें। यह यज्ञ पितरों को प्राप्त कर भूलोक में गया है। वहाँ से हमें यज्ञफलस्वरूपधन प्रदान करें। इस प्रकार इनके अलावा जिस किसी भी लोक में यह यज्ञ गया है वहाँ से हमारा कल्याण सम्पादन हो।

म० : 'देवान् दिवमिति सोमे' (का. 25। 2। 8)। सोमे स्कन्ने देवान् दिवमित्यभिमर्शनम्। अत्यष्ठिर्यज्ञदेवत्या यजमानाशीः। अयं यज्ञो देवान्वायवादीन्प्राप्य दिवं द्युलोकमगन् अगच्छत्। ततो द्युलोकस्थाद् यज्ञात् द्रविणं विशिष्टभोगसाधनरूपं धनं यज्ञफलभूतं मा मामष्टु व्याप्रोतु। अश्नोतेः पदविकरणयोर्व्यत्ययः। अनेन सुकृतिनामारोहक्रममभिधायेदानी- मवरोहक्रममाह। ततो द्युलोकांदवरोहणकांले यज्ञो मनुष्यात् मनुष्यलोकमागच्छन् अन्तरिक्षलोकमगन् गतः। तत्र स्थितात् यज्ञाद् द्रविणं यज्ञफलं मामष्टु व्याप्रोतु। दक्षिणायने गमनागमनमाह। अयं यज्ञो धूमादिमार्गेण पितृन्प्राप्य पृथिवीं भूलोक्मगन् तत्र स्थिताद्यज्ञाद्रविणं मामष्टु व्याप्रोतु। किं बहुना। यं कंच यं कमपि लोकं यज्ञोऽमन् गतस्तस्माद् यज्ञात् मे मम भद्रं कल्याणमभूद्भूयादिति यजमानेनाशास्यते ।।60।।

एकषष्टी

चतु॑स्त्रि॒ꣳश॒त्तन्त॑वो॒ ये व्वि॑तत्नि॒रे य इ॒मं य॒ज्ञꣳ स्व॒धया॑ दद॑न्ते। तेषां॑ छि॒न्नꣳ सम्वे॒तद्द॑धामि॒ स्वाहा॑ घ॒र्मोऽअप्ये॑तु दे॒वान् ।।६१।।

अन्वय : चतुस्त्रिंशत् ये तन्तवः इमं यज्ञं वितत्निरे ये इमं यज्ञ स्वधया ददन्ते (धारयन्ति) तेषां देवानां छिन्नं एतद उ सन्दधामि, घर्मः महावीर देवान् अप्येतु (देवान् प्रतिगच्छतु)।

व्याख्या : प्रजापति (परमेष्ठी) आदि जो चौतीस देवता है, उन्होंने इस यज्ञ का विस्तार किया तथा इस यज्ञ को अपनी स्वधा (धारण शक्ति या अन्नपोषण सामर्थ्य) से धारण किया हैं। उन देवों का जो अंश छिन्न हो गया है उस अंश को इस हविप्रदान द्वारा पुनः पुष्ट करता हूँ। महावीरपात्रस्थितसोम देवताओं को प्राप्त हो।

म० : 'घर्मदेवत्या पंक्तिस्त्रिष्टुप् वा द्वाचत्वारिंशदक्षरत्वात्। कात्यायनेनास्य विनियोगो नोक्तः। महावीरभेदे घृतहोमः शाखान्तरे। तन्वन्ति प्रायश्चित्तशमनेन यज्ञं विस्तारयन्तीति तन्तवो देवाश्चतुस्त्रिंशत्संख्याका ये परमेष्ठ्यादयः इमं यज्ञं वितेनिरे वितेनिरे वितन्वन्ति। तनोर्तेर्लिटि तङि प्रथमबहुचने 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (पा. 6। 1। 8) इति द्वित्वे 'तलिपत्योश्छन्दसि' (पा. 6। 4। 99) इत्युपधालोपे तत्निरे इति रूपम्। ये चेमं स्वधयान्नेन ददन्ते धारयन्ति 'दद दानधारणयोः' तेषां यज्ञं वितन्वतां देवानां यत् छिन्नं तदेतत् अहं संदधामि। उकारः पादपूरणः। स्वाहा सुहुतमस्तु। अनेन घृतहोमेन महावीरः संहितो भवित्वत्यर्थः। घर्मो महावीरः सविता सन्देवानप्येतु देवान्प्रति गच्छतु ।।61।।

द्विषष्टी

य॒ज्ञस्य॒ दोहो॒ व्वित॑तः पुरु॒त्रा सो अ॒ष्ट॒धा दिव॑म॒न्वात॑तान। स य॑ज्ञ धुक्ष्व॒ महि॑ मे प्र॒जायाᳬं॑रा॒यस्पोषं॑ विश्व॒मायु॑रशीय॒ स्वाहा॑ ।।६२।।

अन्वय : यज्ञस्य दोहः पुरुत्रा विततः स अष्टधा दिवम् अनु आततान। स यज्ञः मे प्रजायां धुक्ष्व, अहि रायस्पोषं विश्वम् आयुः अशीय स्वाहा।

व्याख्या : यज्ञाहुति का श्रेष्ठफल बहुधा विस्तृत होकर आठों दिशाओं में विभक्तहोकर स्वर्गपर्यन्त फैल जाता है। ऐसे हे यज्ञ! मेरी प्रजा को (पुत्रादि) महिमामण्डित करो। तुम्हारे अनुग्रह से मैं धनादि से समृद्ध होकर पूर्णआयु को प्राप्त करूँ।

म० : 'सोमेज्योपपाते चैकैकां यथाकालंहुत्वा यज्ञस्य दोह इति वाचयतीति' (का. 25। 6। 7)। सोमयागे यज्ञांगविनाशे परमेष्ठ्यादिचतुस्त्रिंश-दाहुतीनां मध्ये यथाकालम् 'अथ यदि पण्यमाने' (12। 5। 1। 10) इत्यादिश्रुत्युक्ते काले एकैकामाहुतिं हुत्वा यजमानं वाचयेत्। यज्ञदेवत्या

त्रिष्टुप्। पूर्वार्थः परोक्षो द्वितीयः प्रत्यक्षोऽतो यच्छन्दाध्याहारेण योजना। हे यज्ञ, स त्वं म `मम प्रजायां सन्ततौ महि महिमानं धुक्ष्व क्षर देहीत्यर्थः। यद्वा महि महान्तं पूवोक्तं दोहं धुक्ष्व। अहं च त्वप्रसादाद्रायो धनस्य पोषं पुष्टिं विश्वं सर्वमायुश्चाशीय व्याप्नुयाम्। स कः। यस्य यज्ञस्य यजनीयस्य तव दोह आहुतिपरिणामः स प्रसिद्धो यज्ञफलरूपः पुरुत्र बहुधा विततः प्रसृतः सन् दिग्भेदेनाष्टधा भिद्यमानो द्युलोकमन्वाततान व्याप। भूमिमन्तरिक्षं च व्याप्य स्वर्ग व्यापेत्यर्थः। ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तो भूतग्रामो यज्ञपरिणाम इति भावः ॥62॥

त्रिषष्टी

आपवस्व हिरण्यवदश्ववत्सोम वीरवत्। वाजं गोमन्तमाभर स्वाहा ॥६३॥

अन्वय : (हे) सोम त्वम् आ पावस्य (आगच्छ) हिरण्यवद् अश्ववत् वीरवत्। हे सोम, गोमन्तं वाजम् आभर। (आहर)।

व्याख्या : हे सोम! तुम मेरे पास आओ और हमें स्वर्ण अश्व वीर पुत्रादि प्रदान करते हुए धेनु आदि से भी हमें समृद्ध करो।

म॰ : 'आपवस्व हिरण्यवदित्युद्गातृहोमो ध्वाक्षारोहणे यूपस्येति' (का. 25। 6। 9)। पशौ सोमे च यूपस्य काकारोहणे उद्गात्र होमः कार्यः। सोमदेवत्या गायत्री कृश्यपद्रष्टा। हे सोम, त्वमापवस्व आगच्छ। तत्र क्रियाविशेषणानि। कपंहिरण्यवत्कनकयुक्तमृववदयुक्तं वीरवद् वीरयुक्तं यथा तथा याहीत्यर्थः। स्वर्णाश्ववीरान्मह्यं देहीत्यर्थः। किंच हे सोम, गोमन्तं धेनुयुक्तं वाजमन्नमाभर आहर। अन्नं धेनूंश्च देहीत्यर्थः। स्वाहा सुहुतमस्तु। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा. 8। 2। 32) इति भकारः ॥63॥ प्रायश्चित्तानि समाप्तानि।

श्रीमन्महीधरकृते वेददीपे मनोहरे।
ग्रहग्रहान्निमित्तान्तोऽष्टमोऽध्यायः समीरितः ॥8॥

इत्यष्टमोऽध्यायः

इस प्रकार चतुर्थ अध्याय से अष्टम अध्याय तक (5 अध्यायों में अग्निष्टोम याग का वर्णन है। इसके बाद प्रस्तुत नवें अध्याय के प्रारम्भ से 34 कण्डिका पर्यन्त वाजपेययाग का तथा आगे राजसूय याग का वर्णन किया जायेगा।

श्रीः

अथ नवमोऽध्यायः

तत्र प्रथमा

देवं सवितः प्रसुंव यज्ञं प्रसुंव यज्ञपंतिं भगांय। दिव्यो गंन्धर्वः कैतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाजं नः स्वदतु स्वाहां ।।१।।

अन्वय : (हे) देव सवितः! प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः नः केतं (अन्नं) पुनातु। वाचस्पतिः नः वाजं स्वदतु।

व्याख्याः हे सभी के प्रेरक (सर्वान्तर्यामी) सविता देव! आप इस वाजपेय याग को सम्पन्न करें। तथा यजमान को भी इस याग (वाजपेय) को करने के लिए प्रेरित करें जो ऐश्वर्यदायक है। आपकी कृपा से द्युलोक रश्मियों के धारक सूर्यमण्डलरुप देव हमारे अन्न को पवित्र करें। प्रजापति देव हमारे इस यज्ञ के हविर्लक्षणरुप अन्न को रूचिपूर्वक ग्रहण करें।

म०: 'चतुर्थाध्यामारभ्याष्टमान्तमध्यायपञ्चके अग्निष्टोममन्त्रास्तदीय-प्रासंगिका मन्त्राश्चोक्ताः। नवमेऽध्याये वाजपेयमन्त्रा उच्यन्ते चतुस्त्रिंशत्कण्डि-कापर्यन्तम्। तेषां बृहस्पतीन्द्रावृषी। तत्र 'देव सवितरिति जुहोति यजत्यादिष्विति' (का. 14। 1। 11)। वाजपेयांगभूतानां यजतीनां दीक्षणीयाप्रापणीयादीनामादिष्षु सकृद्गृहीतमाज्यं जुहोति। सवितृदेवत्या त्रिष्टुप्। हे सवितः सर्वस्य प्रेरकान्तर्यामिन्, हे देव दीप्यमान, यज्ञं वाजपेयलक्षणं यागं प्रसुव प्रवर्तक प्रेरकान्तर्यामिन्, हे देव दीप्यमान, यज्ञं वाजपेयलक्षणं यागं प्रसुव अभ्यनुजानीहि प्रवर्तयेत्यर्थः। यज्ञपति यजमानं भगाय भजनीयायानुष्ठानरूपायैश्वर्याय प्रसुव प्रेरय। एवं मण्डलाधिष्ठातारं पुरुषमुक्त्वेदानीं मण्डलं प्रत्याह। त्वत्प्रसादाद्दिवि भवो दिव्यो गन्धर्वो गवां रश्मीनां धारयिता केतपूः केतशब्देनान्नमुच्यते। केतमन्नं पुनातीति केतपूः। अन्नस्य पावयिता सूर्यमण्डलरूपो देवो नोऽस्माकं केतमन्नं पुनातु शोधयतु। किंच त्वत्प्रसादाद्वाचस्पतिः प्रजापतिर्नोऽस्मांकं वाजमन्नं हविर्लक्षणं स्वदतु आस्वादयतु स्वाहा सुहुतमस्तु ।।1।।

द्वितीया

ध्रुवसदंन्त्वा नृषदंम्मनःसदंमुपयामगृंहीतोऽसीन्द्रांय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्रांय त्वा जुष्टंतमम् ।। अप्सुषदंन्त्वा घृतसदंम्व्योमसदंमुपयामगृंहीतोऽसीन्द्रांय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्रांय त्वा जुष्टंतमम् ।। पृथिविसदं त्वान्तरिक्षसदंनदिविसदंन्देवसदंन्नाकसदंमुपयामगृंहीतोऽसीन्द्रांय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्रांय त्वा जुष्टंतमम् ।।२।।

अन्वय : (हे सोम!) त्वम् ध्रुवसदं नृषदं मनःसदं त्वा इन्द्राय जुष्टं गृह्णामि। हे ग्रह एष ते योनिः इन्द्राय जुष्टतमं त्वा गृह्णामि। अप्सुषदं घृतसदं व्योमसदं त्वा इन्द्राय जुष्टं गृह्णामि। एष ते योनिः इन्द्राय जुष्टतमं त्वा गृह्णामि। पृथिवीसदम् अन्तरिक्षसदं दिविसदं देवसदं नाकसदं त्वा इन्द्राय जुष्टं गृह्णामि। एष ते योनिः इन्द्राय जुष्टतमं त्वा (गृह्णामि)।

व्याख्या : हे सोम! तुम उपयामग्रह पात्र द्वारा गृहीत हो। तुम स्थिर लोक में रहने वाले हो। मनुष्यों में तथा उनके मन में सदा निवास करने वाले, इन्द्र के अत्यन्त प्रिय हो (ऐसे) तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ। हे सोम उदक, (जल में) घृत तथा व्योम (आकाश) में तुम रहने वाले हो, इन्द्रदेव के अत्यन्त प्रिय तुम्हें मैं ग्रहण करता हूँ। हे सोम! तुम उपयाम ग्रह द्वारा गृहीत हो। तुम पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग में रहनेवाले हो। हे ग्रह यह तुम्हारा स्थान है। इन्द्र के परम प्रिय तुम्हे यहां स्थापित करता हूँ।

म० : 'प्रातःसवनेऽतिग्राह्यान् गृहीत्वा षोडशिनं पञ्च चैन्द्रान्ध्रुवसदमिति प्रतिमन्त्रमिति' (का. 14। 1। 261)। प्रातःसवन आग्रयणानन्तरं त्रीनतिग्राह्यानादाय षोडशिनं चादाय पञ्चेन्द्रदेवत्यान्ग्रहान्गृह्णीयात्। त्रीणि यजूंषीन्द्रदेवत्यानि। हे सोम, त्वम् उपयामतीत्युपयामो ग्रहस्तेन गृहीतोऽसि। इन्द्राय जुष्टं प्रियं त्वा त्वां गृह्णामि। किंभूतं त्वाम्। धुवसदं ध्रुवे स्थिरेऽस्मिन् लोके सीदतीति ध्रुवसत्तम नृष मनुष्येण सीदतीनि नृषत मनसि सीदतीति मनःसत्तम। सोमाहुतिपरिणामभूतो रस एषु लोकेष्वावर्तमानः सोमाध्यस्त उच्यते। सादयति हे ग्रह, एष खरप्रदेशस्तव स्थानम्। इन्द्राय प्रियतमं त्वां

सादयामीति शेषः। अथ द्वितीयम्। अप्सुषदमुदकसदं घृते सीदतीति व्योम्नि अन्तरिक्षे सीदतीति। शेषो व्याख्यातः। अथ तृतीयम्। पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवि स्वर्गे देवेषु नास्ति अकं दुःखं यस्मिन् तस्मिनाके सुखान्विते स्वर्गविशेषे सीदतीति तादृशम्। शेषमृजु ।।2।।

तृतीया

अपाꣳरसमुद्वयसꣳसूर्ये सन्तꣳसमाहितम्। अपाꣳरसस्य यो रसस्तं व्वो गृह्णाम्युत्तममुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् ।।३।।

अन्वय : (हे सोम!) सूर्ये सन्तं समाहितम् उद्वयसम् अपां रसं (गृह्णामि)। अपां रसस्य यो रसः तं उत्तमं वः गृह्णामि। हे सोम! त्वम् उपयाम गृहीतः असि। इन्द्राय जुष्टं त्वां गृह्णामि। एंष ते योनिः, इन्द्राय जुष्टतमं त्वां गृह्णामि।

व्याख्या : हे सोम! सूर्यमण्डल में विद्यमान रहने वाले अन्नों के उत्पादक जल के सारभाग वायु का ग्रहण करता हूँ। है देवो! जल के कारणभूत वायु का भी जो साररस प्रजापति! (हिरण्यगर्भ, रुप) है, उसको तुम्हारे लिए गहण करता हूँ जो अतिश्रेष्ठ है। हे सोम! तुम उपयाम (ग्रह) पात्र में गृहीत हों! इन्द्र के प्रियं तुम्हें ग्रहण कर रहा हूँ। हे ग्रह! यह तुम्हारा स्थान है। इन्द्र के अत्यन्त प्रिय तुम्हें मैं यहाँ स्थापित करता हूँ।

यहाँ सोम के रूप में वायु तथा इसके अधिपति प्रजापति का ग्रहण किया गया है।

म० : अथ चतुर्थम्। रसदेवत्यानुष्टप् सूर्ये समाहितं समारोपितं स्थापितं सन्तमपामुदकानां रसं सारं वायुमहं गृह्णामि। 'एष वा अपांरसो योऽयं पवते' (5। 1। 1। 6) इति श्रुतेः। किंभूतं रसम्। उद्वयसमुद्गतं वयोऽन्नं यस्माद्वायोः स उद्वयास्तम्। वायुनैव धान्यानि निष्पद्यन्ते। किंच अपां रसस्य वायोर्यो रसः सारः प्रजापतिर्हिरण्यगर्भः स हि यज्ञलोककलाग्नि वायुसूर्यग्यर्ग्जुःसामादिवपुः हे देवाः, वो युष्मदर्थ तं प्रजापतिं अहं गृह्णामि। किंभूतम्। उत्तममुत्कृष्टमम्। वः शब्दोऽनर्थको वा। सोमरूपेण वायुं तदभिमानिनं प्रजापतिं च गृह्णामीत्यर्थः। उपयामेति व्याख्यातम्। एष त इति सादनम् ।।3।।

चतुर्थी

ग्रहांऽऊर्जाहुतयो व्यन्तो विप्राय मतिम्। तेषां विशिप्रियाणां व्वोऽहमिषमूर्जं समग्रभमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टङ्गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम्। संपृचौ स्थः सम्मा भद्रेण पृङ्क्तं विपृचौ स्थो व्विमा पाप्मना पृङ्क्तम् ।।४।।

अन्वय : (हे) ग्रहा, ऊर्ज्जाहुतयः विप्राय मतिं व्यन्तः तेषां विशिप्रियाणि वः इषम् ऊर्ज्जं समग्रभम्। (सम्यक् गृह्णामि)। हे सोम! उपयाम गृहीतोसि इन्द्राय जुष्टं त्वा (गृह्णामि)। हे (सोमसुराग्रहौ युवां) सम्पृचौ स्थः, मा भद्रेण सम्पृक्तं विपृक्तौ स्थः मा पाप्मना पृङ्क्तम्।

व्याख्या : हे ग्रहों। तुम अन्न एवं बल प्रदान करने वाले हो। मेधावी (विप्र) याचक को शुभबुद्धि प्रदान करने वाले ऐसे प्रजाओं के प्रिय आप लोगों के लिए बलप्रद दिव्यपेय (सोमरस) का ग्रहण करता हूँ। हे सोम! तुम उपयामग्रह पात्र में गृहीत हो। इन्द्र की प्रसन्नता के लिए तुम्हें ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा उद्भव स्थान है। इन्द्र के अत्यन्त प्रिय तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ। हे सोम एंव सुराग्रह तुम दोनों आपस में मिले हुए हो। अतः मेरा कल्याण सम्पादन करो। हे ग्रहों आप दोनों गुणों से परस्पर अलग होने के कारण मुझे भी पाप से दूर करो।

म० : अथ पञ्चमम्। ग्रहदेवत्यानुष्टुप्। हे ग्रहाः, तेषां वो युष्माकं संबन्धिनमिषंमन्नमूर्जं रसं चाहं समग्रभं सम्यग्गृह्णामि। किंभूतानां। विशिप्रियाणाम्। शिप्रे हनू नासिके वा। इह तु हनू। शिप्रयोर्हन्वोः कर्म शिप्रियं हनुचलनम्। विगतं शिप्रियं येषुग्रहेषु ते विशिप्रियाः सम्यगभिषुताः सुपूताश्च। तत्रा हि हन्वोर्व्यापारो नास्ति सुपेयत्वात्। तेषां केषां। ये यूय मूर्जाहुतयः ऊर्जमन्नरसमाह्वयन्ति ये यैर्वा ते ऊर्जाहुतयः। तथा विप्राय मेधाविने इन्द्राय मतिं विशिष्टबुद्धिं व्यन्तः जानन्तो गमयन्तो वा। वीत्यस्य गतिकर्मणो धातौः शतृप्रत्यये रूपम्। उपयाम एष ते इति व्याख्याते (का. 14। 2। 7) उपर्युपर्यक्षमध्वर्युधीरयत्यधोऽधो नेष्टाः संपृचाविति। अध्वर्युः सोमग्रहमक्षोपरि धारयति नेष्टा पुराग्रहमक्षाधस्तात्। सहैव धारणं मन्त्रापाठश्च। ग्रहदेवते यजुषी। हे सोमसुराग्रहौ, यौ युवां संपृचौ स्थः संपृक्तौ भवथः। 'पृची संपर्के' किप्। तौ युवां मा मां भद्रेण भन्दनीयेन कल्याणेन संपृक्कत

संसृजतं संयोजयतम्। 'विपृचावित्याहरते' (का. 14। 2। 8) इति। अध्वर्युनेष्टारौ स्वं स्वं ग्रहं स्वसमीपमानयतः। हे ग्रहौ, यतो युवां विपृचौ वियुक्तौ स्थः ततो मा मां पाप्मना विपृङ्क्तं वियोजयतम् ।।4।।

पञ्चमी

इन्द्र॑स्य॒ वज्रो॑ऽसि वा॒ज॒सास्त्वया॒यं वाज॑ꣳसेत्। वाज॑स्य॒ नु प्र॑स॒वे मा॒तरं॑ म॒हीमदि॑तिं॒ नाम॒ वच॑सा करामहे। यस्या॑मि॒दं विश्वं॒ भुव॑नमावि॒वेश॒ तस्या॑न्नो दे॒वः स॑वि॒ता धर्मं॑ साविषत् ।।५।।

अन्वय : (हे रथ! त्वम् इन्द्रस्य वज्रोंसि, वाजसाः अयं यजमानः वाजं सेत् (अन्नवान् भूयात्)। वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीम् अदितिं वचसा करामहे। यस्याम् इदं विश्वं भुवनम् आविवेश तस्यां नः सविता देवः धर्म साविषत्।

व्याख्या : हे रथ! तुमं इन्द्र के वज्र हो, लोक को अन्न प्रदान करने वाले हो अतः तुम्हारे अनुग्रह से यह (यजमान) अन्न तथा जल से सम्पन्न हो। अन्तोत्पादन के लिए हम जगत की निर्मात्री (माता) महनीया (पूज्या) अदिति (पृथिवी) को अपनी वैदिक स्तुति से अनुकूल करते हैं। जिस पृथिवी पर यह समस्त भुवनमण्डल आश्रय ग्रहण करता है। उस पर हमें, सवितादेवता (सर्वप्रेरक देव) स्थिर रहने की बुद्धि प्रदान करें।

म॰ : 'मरुत्वतीयान्त इन्द्रस्य वज्र इति रथावहरणमिति' (का. 14। 3। 1)। महामरुत्वतीयान्ते माहेन्द्रात्पूर्वं रथवाहनाच्छकटाद्रथमवतारयति। रथदेवत्यं यजुः। हे रथ, त्वमिन्द्रस्य वज्रोऽसि। इन्द्रेण यदा वृत्राय वज्रं प्रहृतं तत्त्रिधा जातं तस्यैको भागो रथ इति 'इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहारः' (1। 2। 4। 1) इत्यादिश्रुत्या उक्तम्। किंभूतस्त्वम्। वाजसाः वाजमन्नं सनोति ददातीति वाजसाः। 'षणु दाने' विट्प्रत्ययः 'विडनोरनुनासिकस्यात्–' (पा. 6।4।41) इत्याकारः। किंच अयं यजमानस्त्वया वज्रीभूतेन सहायेन वाजमन्नं सेत्। सनोतेः सिनोतेर्वा रूपम्। अन्नं सिनुयात्संभजेत। यद्वा सिनुयाद्बध्नीयात्। वह्वन्नवान्भूयादित्यर्थः। 'चात्वालमावर्तयति वाजस्येति धूर्गृहीतामिति' (का. 14।3।2)। अवतारितं रथं धुरि गृहीत्वा चात्वालाद्दक्षिणेनानीय वेद्यां स्थापयेत्। पृथिवीदेवत्यातिजगती अन्त्यः पादः सवितृदेवत्यः। नु एवार्थे। वाजस्यान्नस्य प्रसवेऽनुज्ञायामेव वर्तमान वयं यां भूमिं नाम

प्रसिद्धं यथा तथा वचसा वेदवाक्येन एवंविधामनुकूलां करामहे कृतवन्तः कुर्महे वा। करोतेः शपि रूपम्। किंभूतां भूमिम्। मातरं जगन्निर्मात्रीं महीं महतीं महनीयां वा अदितिमदीनामखण्डितां वा। किंच इदं विश्वं भुवनं सर्व भूतजातं यस्यां भूमावाविवेश आविष्टम्। सविता देवस्तस्यां भूमावेव नोऽस्माकं धर्म धाारणमवस्थानं साविषत् प्रसुवतां प्रेरयतु। 'षू प्रेरणे' इति धातोर्णिजन्तस्य लेटि साविषदिति रूपम् 'सिब्बहुलं लेटि' (पा. 3। 1। 34) 'लेटोऽडाटौ' (पा. 3। 4। 94) 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा. 3। 4। 97) इति सूत्रैः ।।5।।

षष्ठी

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भैषजमपामुत प्रशस्तिष्वश्वा भवत वाजिनः। देवीरापो यो वऽऊर्मिः प्रतूर्तिः ककुन्मान्वाजसास्तेनायं वाजंꣳसेत् ।।६।।

अन्वय : अप्सु अन्तः अमृतम् अप्सु भेषजम्। (हे) अश्वाः! उत अपां प्रशस्तिषु वाजिनो भवत। हे देवीः देव्यः आपः वः य ऊर्म्मिः प्रतूर्तिः ककुन्मान् वाजसा तेन अयं वाजं सेत्।

व्याख्या : जल के अन्दर अमृत है तथा इसी में सर्वरोगनाशिनी औषधियाँ है। हे अश्वों! जल की प्रशंसनीयशक्तियों से मिलकर तुम बेगवान बनों। हे दिव्यजल! तुम्हारी ये चञ्चललहरें प्रकृष्टवेगवाली ककुद के समान उत्तुंग (ऊपर उठने वाली)तथा अन्न प्रदान करने वाली है। इससे सिक्त (सिचिंत) यह अश्व वेगवान हो।

यहाँ अश्वों का जल से प्रोक्षण हो रहा है।

म० : 'अश्वान् प्रोक्षत्यपोऽवनीयमानान् स्नातान्वागतानप्स्वन्तरिति देवीराप इति वा समुच्चयो वेति' (का. 14। 3। 3। 5) स्नानार्थमपो नीयमानान् स्नात्वागतान्वाश्वानप्स्वन्तरिति देवीराप इति मन्त्रेण वोभाभ्यां वा प्रोक्षेत्। अश्वदेवत्या अव सानरहिता पुरउष्णिक्। अस्याः पाद आद्यो द्वादशाक्षरो द्वावष्टाक्षरौ। अप्सु उदकेषु अन्तर्मध्ये अमृतमवस्थितमप्सु भेषजमारोग्यपुष्टिकरमौषधं चावस्थितम्। हे अश्वाः, यूयं तत्रामृतभेषजयुतास्वप्सु वाजिनोऽन्नवन्तो भवत। उतापि च अपां प्रशस्तिषु प्रशस्तेषु भागेषु यूयं भवत। द्वितीयः प्रोक्षणमन्त्रः अब्देवत्यं यजुः। हे देवीः देव्यो दीप्यमाना

आपः, वो युष्माकं य ऊर्मिः कल्लोलस्तेन सिक्तोऽयमश्वो वाजमन्नं सेत् सनुयाद् वध्नीयाद्वा। किंभूत ऊर्मिः। प्रतूर्तिः प्रकृष्टा तूतिर्वेगो यस्य प्रत्वरणाशीलः। तथा ककुन्मान् ककुच्छब्देन वृषभस्कन्धो उन्नतप्रदेश उच्यते। सादृश्ये मतुप्। तत्सामान्यादुदकनिचयैः संयुक्तौ बहुलोदकसंघातवान्ककुन्मानित्युच्यते। तथा वाजसाः अन्नस्य दाता ॥6॥

सप्तमी

वातो॑ वा॒ मनो॑ वा गन्ध॒र्वाः स॒प्तवि॑ꣳशतिः। ते अऽग्रेऽश्वं॑मयुञ्जँ॒स्तेऽअ॑स्मिञ्ज॒वमाद॑धुः ॥७॥

अन्वय : वातो वा, मनो वा सप्तविंशति गन्धर्वा ते अग्रे अश्वम् अयुञ्जन्। ते अस्मिन् जवम् आदधुः (स्थापितवन्तः)।

व्याख्या : वायु, मन एवं सत्ताईसनक्षत्र ये ही भूमि को धारण करने वाले हैं। इन्होंने ही पहले अश्व को रथ में नियोजित किया तथा इनमें वेग (शीघ्रगति) को स्थापित किया।

म० : 'दक्षिणं युनक्ति वातो वेति' (का. 14। 3। 6)। दक्षिणमश्वं रथे योजयेत्। अश्वदेवत्या उष्णिक्। वाशब्दौ समुच्चयार्थौ। वातो वायुर्मन इन्द्रियं सप्तविंशतिर्नक्षत्रणि गन्धर्वा गोर्भूमेर्धार्तारः ते वातादयोऽग्रे पूर्वमश्वमयुञ्जन् रथे योजितवन्तः। ते च वातादयोऽस्मिन्नश्वे जवं वेगमादधुः स्थापितवन्तः ॥7॥

अष्टमी

वात॑रꣳहा भव वाजिन्यु॒ज्यमा॑न॒ऽइन्द्र॑स्येव॒ दक्षि॑णः श्रि॒यैधि॑। यु॒ञ्जन्तु॑ त्वा म॒रुतो॑ वि॒श्ववे॑दस॒ऽआ ते॒ त्वष्टा॑ प॒त्सु ज॒वं द॑धातु ॥८॥

अन्वय : हे वाजिन! अश्व! युज्यमानः सन् (रथे) वातरंहा वायुवेगवद् भव तथा, च इन्द्रस्य दक्षिणः (दक्षिणेभागे) अश्व इव श्रिया एधि। युञ्जन्तु त्वा मरुतः, विश्ववेदसः, त्वष्टा देव ते पत्सु (पादेषु) जवम् वेगम् आदधातु। (स्थापयतु)।

व्याख्या : हे अश्व! तुम इस रथ में जुड़ने के बाद (युज्यमान होकर) मरुत के समान (आँधी के समान) वेगवाले हो जाओ तथा इन्द्र

के दक्षिणभाग में स्थित होकर इन्द्र के अश्व के समान सुशोभित हो। मरुद्गण तुम्हें रथ में नियोजित करें। सर्वज्ञ त्वष्टादेवता तुम्हारे पैरों में वेग (द्रुतगति) को स्थापित करे। अर्थात् तुम्हें गतिमान करें।

म॰ : 'उत्तरं वातरंहा इति (का. 14। 3। 7)। उत्तरमश्वं युनक्ति। अश्वदेवत्या त्रिष्टुप्। हे वाजिन् वेगवन्नश्व, युज्यमानः सन् त्वं वातरंहा वातवद्वेगयुक्तो भव वातस्येव रंहो यस्य। किंच दक्षिणो दक्षिणभागे स्थितस्त्वमिन्द्रस्याश्व इव श्रिया शोभया युक्त एधि भव। किंच विश्ववेदसः सर्वज्ञाः सर्वधना वा मरुतः हे अश्व, त्वां युजन्तु रथे नियोजयन्तु। किंच त्वष्टा देवः हे अश्व, ते तव पत्सु पादेषु जवं वेगमादधातु स्थापयतु ।।8।।

नवमी

ज॒वो यस्तै॑ व्वाजि॒न्निहि॑तो॒ गुहा॒ यः श्ये॒ने परी॑त्तो॒ अच॑रच्च॒ वातै॑। तेन॑ नो वाजि॒न्बल॑वा॒न्बलै॑न व्वाज॒जिच्च॒ भव॒ सम॑ने च पारयि॒ष्णुः ।। वाजि॑नो वाजजि॒तो वाज॑ सरि॒ष्यन्तो॒ बृह॒स्पतै॑र्भा॒गमव॑जिघ्रत ।।९।।

अन्वय : हे अश्व! यस्ते जवः गुहानिहितः यश्च श्येने परीतः अचरत् (प्रवर्तते वाते) (हे वाजिन्) तेन बलेन वलवान् नः वाजजित् भव। च समने पारयिष्णुः वाजिनो वाजजितः सरिष्यन्तः बृहस्पतेः भागम् अवजिघ्रत।

व्याख्या : हे अश्व! तुम्हारा जो वेग (शक्ति) हृदय में छिपा है, जो वेग (गति) वाज नामक पक्षी में है, तथा जो संचरणशील वायु में है, इस त्रिविध बलों से बलवान होकर हमारे लिए अन्न के जेता तथा संग्राम में संकट से पार लगाने वाले बनो। हे वेगवानअश्वों अन्न के प्रति जाते हुए तुम बृहस्पति के चरुभाग का आघ्राण करो (सूँघो)।

म॰ : 'दक्षिणाप्रष्टिं जवो यस्त इति' (का. 14। 3। 8)। दक्षिणायां धुरि प्रकृष्टं देशमश्नुत इति दक्षिणाप्रष्टिस्तादृशं तृतीयमश्वं युनक्ति। अश्वदेवत्या जगती हे वाजिन्नश्व, यस्ते तव जवो वेगः गुहा गुहायां हृदयप्रदेशे निहितोऽवस्थापितः। 'सुपां सुलुक्' (पा. 7। 1। 39) इति गुहाशब्दात् ङेर्लुक् श्येने श्येनाख्ये पक्षिणि यो जवः परीत्तः त्वयैव परिदत्तः सन् अचरत् चरति प्रवर्तते। यश्च ते जवः परिदत्तः सन् वाते अचरत् वायौ चरति। परिपूर्वाद्ददातेर्निष्ठायां 'अच उपसर्गात्तः' (पा. 7। 4।

47) इति तादेशे 'दस्ति' (पा. 6। 3। 124) इति दादेशे तकारे परे इगन्तोपसर्गस्य दीर्घे परीत्त इति। हे वाजिन्, तेन त्रिविधेन बलेन वेगलक्षणेन बलवान्वेगवान्सन्नेऽस्माकं वाजजित् अन्नस्य जेता भव। च पुनः समरे संग्रामे पारयिष्णुः पारयिता च पारप्रापको भव। 'पार तीर कर्मसमाप्तौ' इत्यस्माचुरादिणिजन्तात् 'णेश्छन्दसि' (पा. 3। 2। 137) इतीष्णुप्रत्ययः। 'बार्हस्पत्यमेनानाघ्रापयति वाजिन इति' (का. 14। 3। 10)। बार्हस्पत्यं चरुमश्वानाघ्रापयेत्। अश्वदेवत्यं यजुः। वाजजितोऽन्नस्य जेतारो वाजमन्नं प्रति सरिष्यन्तो गमिष्यन्तो हे वाजिनोऽश्वाः, यूयं बृहस्पतेर्भागं चरुमवजिघ्रत आघ्राणं कुरुत ।।9।।

दशमी

दे॒वस्या॒हᳪं स॑वि॒तुः स॒वे स॒त्यसं॑वसो॒ बृह॒स्पतें॒रु॒त्त॒मन्ना॑कᳪं- रुहेयम्। दे॒वस्या॒हᳪं स॑वि॒तुः स॒वे स॒त्यसं॑वस॒ऽइन्द्रं॑स्योत्त॒मं ना॑कᳪं रुहेयम्। दे॒वस्या॒हᳪं स॑वि॒तुः स॒वे स॒त्यप्रसं॑वसो॒ बृह॒स्पतें॒रु॒त्त॒मं ना॑कमरुहम्। दे॒वस्या॒हᳪं स॑वि॒तुः स॒वे स॒त्यप्रं॑सवस॒ऽइन्द्रं॑स्योत्त॒मं ना॑कमरुहम् ।।१०।।

अन्वय : सत्यसवसः सवितु र्देवस्य सवे अहं बृहस्पतेः उत्तमं नाकं रुहेयम्। देवस्य सवे अहम् इन्द्रस्य उत्तमं नाकं रुहेयम्। बृहस्पतेः उत्तमं नाकम् अरुहम् इन्द्रस्य उत्तमं नाकम् अरुहम्।

व्याख्या : सर्वप्रेरक सविताः देवता की प्रेरणा से मैं, बृहस्पति के (उत्कृष्टस्वर्ग) में आरोहण करता हूँ। इसी प्रकार इन्द्र के उत्तमलोक (स्वर्ग) में आरोहण करता हूँ। मैंने इस यज्ञ के प्रभाव से बृहस्पति के श्रेष्ठ स्वर्गलोक में आरोहण किया है। इसी प्रकार सविता देवता की प्रेरणा से इन्द्रदेव के श्रेष्ठ स्वर्ग में मैंने आरोहण किया है।

म० : 'देवस्याहमिति ब्रह्मा रथचक्रमारोहत्युत्करे नाभिमात्रे स्थाणौ स्थितमिति' (का. 14। 3। 12)। उत्करप्रदेशे निखातस्य नाभिमात्रकाष्ठस्याग्रे स्थितं रथचक्रं ब्रह्मारोहेत् ब्राह्मणकर्तृके वाजपेये लिंगोक्तदेवतम्। सत्यसवसः सत्याभ्यनुज्ञस्य सवितुर्देवस्य सर्वेऽनुज्ञायां वर्तमानोऽहं बृहस्पतेः सबन्धिनमुक्त- मृत्कृष्टं नाकं रुहेयमारोहामि। क्षत्रियवाजपेये चक्रारोहमन्त्रः। तत्र इन्द्रस्य नाकं रुहेयमिति विशेषः। 'आगतेषु ब्रह्मावरोहति देवस्याहमिति' (का. 14। 4। 8)। यजमानादीनां सप्तदशरथेषु सप्तदशशरप्रक्षेपप्रदेशे निखाता मौदुम्बरीं

शाखां प्रदक्षिणीकृत्य देवयजनदेशमागतेषु सत्सुब्रह्मा रथचक्रादवरोहति। विप्रयज्ञे पूर्वमन्त्रेण क्षात्रे उत्तरेण। सत्यं प्रकृष्टं च सवो यस्येति सत्यप्रसवाः। अत्र प्रशब्दः प्रकर्षद्योतकः। अरुहमिति भूतकालः नाकमारूढवानस्मीत्यर्थः। शेषं पूर्ववत् ।।10।।

एकादशी

बृहस्पते वाजं जय बृहस्पतये वाचं वदत बृहस्पतिं वाजंव्वदत बृहस्पतिं वाजञ्जापयत। इन्द्र व्वाजं जयेन्द्राय वाचं वदतेन्द्रं वाजं जापयत ।।११।।

अन्वय : (हे दुन्दुभयः) बृहस्पतये वाचं वदत। (हे) बृहस्पते! वाजं जय। वृहस्पतिं वाजं जापयत। हे इन्द्र वाजं जय, इन्द्राय वाचं वदत। इन्द्रं वाजं जापयत।

व्याख्या : हे दुन्दुभिगण! तुम लोग वृहस्पति से कहो कि आप संग्राम में विजय प्राप्त करें एवं तुम लोग बृहस्पति को संग्राम में विजय प्राप्त कराओं। हे इन्द्र तुम विजय प्राप्त करो। हे दुन्दुभिगण! इन्द्र के लिए अपनी वाणी को प्रकट करो। तथा इन्द्र को संग्राम में विजय दिलाओं।

यहाँ सप्तदश (सत्रह) दुन्दभियों में एक का वादन होता है इस मन्त्र पाठ से तथा शेष दुन्दुभियो का वादन मौन होकर।

म० : 'बृहस्पते वाजमित्येकं दुन्दुभिमाहन्ति तूष्णीमितरानिति' (का. 14। 3। 15) अनुवेद्युच्छ्रितस्थाण्वारोपितसप्तदशदुन्दुभीनां मध्ये एकं मन्त्रेणाहन्ति षोडश तूष्णीम्। यजुः विप्रयज्ञे मन्त्रः हे दुन्दुभयः, यूयं बृहस्पतये इति वाचं वदत। किम्। यत् हे बृहस्पते, त्वं वाजमन्नं जय। किंच हे दुन्दुभयः, यूयमेव बृहस्पतिं वाजमन्नं जापयत। बृहस्पतिनान्नजयं कारयतेत्यर्थः। 'जि जये' इत्यस्य हेतुमण्णिचि 'क्रीङ्जीनां णौ' (पा. 6। 1। 48) इति धातोराकारे कृते 'अर्त्तिह्रीग्लीरीक्नूयोक्ष्मायातां पुग्णौ' (पा. 7। 3। 36) इति पुगागमे लोण्मध्यमबहुवचने जापयतेति रूपम्। क्षत्रयज्ञे दुन्दुभिवादनमन्त्रः। हे दुन्दभयः, यूयमिन्द्रायेति वाचं वदत यत् हे इन्द्र, त्वं वाजं जय। इन्द्रवाजं यूयं जापयतेति पूर्ववत् ।।11।।

द्वादशी

एषा वः सा सत्या संवागभूद्यया बृहस्पतिं वाजमजीजपताजीजपत

बृहस्पति वाजं वनस्पतयो विमुंच्यध्वम्। एषा वः सा सत्या संवागभूद्ययेन्द्रं वाजमजीजपताजीजपतेन्द्रं वाजं वनस्पतयो विमुंच्यध्वम् ।।१२।।

अन्वय : (हे दुन्दुभयः) वः एषा सा वाक् सत्या समभूत्, यया बृहस्पतिः वाजम् अजीजपतं। बृहस्पति वाजम् अजीजपत्। (हे) वनस्पतयः (दुन्दुभयः) यूयं विमुच्यध्वम्।

व्याख्या : हे दुन्दुभियों! तुम्हारी वह वाणी सत्य हुई जिसके द्वारा बृहस्पति को तुमने संग्राम में विजय प्रदान किया। जिसप्रकार बृहस्पति अन्नजयी हुए उसी प्रकार इन्द्र भी विजय को प्राप्त हुए। हे वनस्पति (काष्ठ) निर्मित दुन्दुभियों। तुमलोग अपने शब्दों से रथों को दौड़ने के लिए प्रेरित करो।

यहाँ सत्रहदुन्दुभियों के बादन को दर्शाया गया है। इन दुन्दुभियों का निर्माण काष्ठ से होता है। इनके बजने के बाद ही युवा क्षत्रिय अपने धनुष पर बाण रखकर उत्तर की ओर बलपूर्वक सन्धान करता है।

म० : 'एषा व इति मन्त्रहतमवहरते तूष्णीमितरानिति' (का. 14। 4। 9। 10) सप्तदशदुन्दुभीनां मध्ये मन्त्रवादितं मन्त्रेणावतारयति षोडश तूष्णीं स्थाणुभ्यः। पूर्वो मन्त्रो विप्रयज्ञे उत्तरः क्षात्रे। हे दुन्दुभयः, वो युष्माकमेषा वाक् सत्या समभूत् तथ्या जाता। यया वाचा बृहस्पतिं वाजमजीजपत। पुनर्बृहस्पति वाजमजीजपत 'अभ्यासे भूयांसमर्थ मन्यन्ते' (नि. 10। 42) इति यास्कोक्तेर्भूयानर्थो ग्राह्यः। अत्यन्तं बृहस्पतिमन्नजयं कारितवन्तो यूयं यया वाचा सा सत्या जातेत्यर्थः। जयतेर्णिजन्तस्य लुङि मध्यमबहुवचनेऽजीजपतेति रूपम्। हे वनस्पतयो वनस्पतिविकारा दुन्दुभयः, यूयं विमुच्यध्वं कृतकृत्याः सन्तो विमोचनं कुरुत। क्षात्रे यज्ञे उत्तरो मन्त्रः। यया वाचा इन्द्रं वाजमजीजपत सा सत्याभूदतो यूयं विमुच्यध्वं तुल्यम् ।।12।।

त्रयोदशी

देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यप्रसवसो बृहस्पतेर्वाजजितो वाजं जेषम्। वाजिनो वाजजितोऽध्वनस्कभ्नुवन्तो योजना मिमानाः काष्ठां गच्छत ।।१३।।

अन्वय : सत्यप्रसवसः सवितुर्देवस्य सवे अहं वाजजितः बृहस्पतेः

वाजं जेषम्। (जयेयम्)। हे वाजिनः वाजजित (त्वम्) अध्वनः स्कभ्नुवन्तः योजना मिमानाः काष्ठां गच्छत।

व्याख्या : सत्यप्रेरक सवितादेवता की आज्ञा से मैं संग्राम विजयी बृहस्पति की कृपा से संग्राम में विजय प्राप्त करूँ। संग्राम (युद्ध) को जीतने वाले हे अश्वों! तुम लोग लम्बे मार्गो की दूरी को कम करते हुए अत्यन्त तीव्र गति से अत्यन्त अल्प समय में निर्दिष्ट स्थान पर जाओ।

म० : 'देवस्याहमिति यजुयुक्तमारोहति यजमानः' (का. 14। 3। 18) मन्त्रयुक्तं रथं यजमान आरोहेत्। सत्यप्रसवसः सत्याभ्यनुज्ञस्य सवितुर्देवस्य सवेऽनुज्ञायां वर्तमानोऽहं वाजजितोऽन्नजेतुर्बृहस्पतेः संबन्धिनं वाजमन्नं जेषं जयेयं। जयतेर्लेटि उत्तमैकवचने 'लेटोऽडाटौ' (पा. 3। 4। 94) इत्यडागमे 'सितब्बहुलं लेटि' (पा. 3। 1। 34) इति सिप् प्रत्ययः 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा. 3। 4। 97) इति मिप् इकारलोपे गुणे च जेषमिति रूपम्। यद्वा लुङि अंङि उत्तमैकवचनेऽडभावे। 'वाजिन इति वाचयतीति' (का. 14। 3। 22)। हे वाजिनोऽश्वाः, यूयं काष्ठां गच्छत् आज्यन्तं प्राप्नुत। उत्कर्षं गच्छतेत्यर्थः। आज्यन्तोऽपि काष्टोच्यते। 'क्रान्त्वा स्थिते भवति' (नि. 2। 18) इति यास्कोक्तेः। 'काष्टोत्कर्षे स्थितौ दिशि' इत्याभिधानाच्च। किंभूता यूयम्। वाजजिताः अन्नस्य जेतारः। तथा अध्वनो मार्गान् स्कभ्नुवन्तः रुन्धान्तः क्षोभयन्तः। स ह्यश्वस्वभावः। तथा योजना योजनानि मिमानाः अतिशीघ्रतया परिच्छिन्दन्तः ॥13॥

चतुर्दशी

एष स्य वाजी क्षिपणिन्तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपिकक्ष आसनि। क्रतुन्दधिक्राऽअनु सꣳसनिष्यदत्पथामङ्काꣳस्यन्वापनीफणत्स्वाहा ॥१४॥

अन्वय : एष स्य वाजी, ग्रीवायां कक्षे अपि आसनि (आस्ये) (अपि) बद्धः क्षिपणि तुरण्यति, दधिक्रा क्रतुम अनु सं सनिष्यदत् पथाम् अंकांसि अन्वापनीफणत्स्वाहा।

व्याख्या : यह वही घोड़ा है जो, ग्रीवा में, बगल में तथा मुख मे लगाम आदि के द्वारा बद्ध होने पर भी चाबुक को जरा सा भी न

सहता हुआ अत्यन्त वेग से दौड़ता है। अपने उपर आरोही को धारण करता हुआ उसके अभिप्राय को समझकर शीघ्र ही निम्नोन्नत मार्गों को भी सरल कर देता है। इसके लिए यह आहुति प्रदान की जाती है। इसमें अश्व की स्तुति की गई है।

यहाँ अनुक्रतुं पद अश्वारोही के अभिप्राय का बोंधक है। विशेष पदों के अर्थ भाष्य में देखें।

म० : 'एष स्य इति प्रत्यृचं जुहोत्यनुमन्त्रयते वेति' (का. 14। 4। 3-4)। ऋग्द्वयेनाज्यं जुहोत्यश्वाननुमन्त्रयते वा। अश्वदेवत्ये जगत्यौ दधिक्रावदृष्टे। त्यच्छब्दस्तच्छब्दपर्यायः। छान्दसः स्यः। एष वाजी सोऽयमश्वः क्षिपणिम् क्षिप्यते प्रेर्यतेऽनया सा क्षिपणिस्तां कशां कशाघातमनु तुरण्यति तूर्णमध्वानमश्नुते। यद्वा क्षिपणि तुरण्यति कशं त्वरयति। कशायास्त्वरया शीघ्रं धावतीत्यर्थः। किंभूतोऽश्वः। ग्रीवायामपि कक्षे आसनि आस्ये च बद्धः तत्तदुचितरज्जुविशेषैः। 'पद्दन्-' (पो. 6। 1। 63) इत्यादिना आस्यशब्दस्यासन्नादेशः सप्तम्याम्। ग्रीवायामुरोवध्रेण बद्धः। कक्षयोः समीपे अपिकक्षं पर्याणदेशस्तत्र सन्नहनरज्जवा बद्धः। आस्ये मुखे कविकया बद्धः। तथा दधिक्राः दधाति अश्ववारमिति दधिः। 'आहगम-' (पा. 3। 2। 171) इति किप्रत्ययः। दधिः सन् क्रमतेऽध्वानमिति दधिकाः। विटि क्रमतेराकारः। यद्वा दधीन्धारकान्मार्गावरोधनद्रिपाषणगर्तकण्टकादीनप्यतिक्रा-मतीति दधिक्राः। तथा ऋतुं सादिनोऽभ्रिप्रायमनु संसनिष्यदत्सम्यगनुसंदधानः सादिसंकल्पानुसारेण गच्छन् 'दाधर्तिदर्धाति-' (पा. 7। 4। 65) इत्यादिना स्यन्दतेर्यङ्लुकि निपातोऽयम्। तथा पथा मार्गाणामहांसि लक्षणानि कुटिलानि निम्रोन्नतानि अन्वापनीफणत् अतिशीघ्रं प्राप्नुवन्। समत्वमापादयन्नित्यर्थः। अन्वाङ्पूर्वस्य फणतेर्गत्यर्थस्य यङ्लुकि निपातः। पूर्ववत्। एवंविधाऽश्व-स्तुतीति संबन्धः। स्वाहा सुहुतमस्तु ।।14।।

पञ्चदशी

उत स्मास्य द्रवतस्तुरण्यतः पर्णन्न वेरनुवाति प्रगर्धिनः। श्येनस्येव ध्रजतो अङ्कसं परि दधिक्राव्णः सहोर्जा तरित्रतः स्वाहा ।।१५।।

अन्वय : उत स्म, (अपि च) अस्य अश्वस्य द्रवतो तुरण्यतः

अङ्कसं प्रगर्धिनः वेः (पक्षिणः) पर्णं न अनुवाति। ऊर्जासह तरित्रतः दधिक्राव्णः ध्रजतः श्येनस्य इव (भाति)।

व्याख्या : अत्यन्त वेग से दौड़नेवाले इन घोड़ों के वस्त्र चामरादि श्रृंगारसाधन वैसे ही दृश्यमान हो रहे है जिस प्रकार प्रबलवेग से निर्दिष्ट स्थान की ओर उड़ने वाले पक्षी के पंखों के समान अनुलक्षित हो रहे है। अपनी शक्ति के साथ प्रबल वेग से आरोही के उत्साह को बढ़ाते हुए ये अश्व बाजपक्षी के समान प्रतीत हो रहे हैं।

म॰ : उत स्म अपिच अस्याश्वस्य अंकसं श्रृंगारचिह्नं वस्त्रचामरादिकं परि सर्वस्मिन्नपि देहे वर्तमानं सत् अनुवाति गच्छन्तमश्वमनु उत्क्षिप्तवेन दृश्यमानं गच्छति। कस्य किमिव। वेः पक्षिणः पूर्ण न पक्ष इव यथा त्वरया गच्छतः पक्षिणः पक्ष उत्क्षप्तो गच्छन्नवलोक्यते तथा धावतोऽश्वस्यांकसरूपं वस्त्रचामरादिकं विस्पष्टमवलोक्यत इत्यर्थः। किंभूतस्याश्वस्य। द्रवतो गच्छतः। तथा तुरण्यतस्त्वरयतः प्रगर्धिनः प्रगृथ्यतीति प्रगर्धी अवधिं प्राप्तुं कांक्षतः पक्षिमात्रस्य पर्णमंकसदृष्टान्तत्वेनाभिहितम्। शीघ्रधावने श्येनदृष्टान्त उच्यते। श्येनस्येव ध्रजतो गच्छतो वेगेन 'ध्रज गतौ' दधिक्राव्णः दधीन्क्रमते दधिक्रावा धारकपर्वताद्यतिक्रामिमाः। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा. 3। 2। 75) इति क्रमतेर्वनिपि 'विगनोः-' (पा. 6। 4। 41) इति आकारः। ऊर्जां बलेन सह तरित्रतः मार्ग भृशं तरतः यङ्लुकि निपातोऽयम्। स्वाहा सुहुतमस्तु ।।15।।

षोडशी

शं नौं भवन्तु वाजिनो हवैषु देवतांता मितद्रंवः स्वर्काः।
जम्भयन्तोऽहिं वृकृꣳरक्षांꣳसि सनेम्यस्मद्युंयवन्नमींवाः ।।१६।।

अन्वय : वाजिनः न (अस्मदर्थे) शं भवन्तु। देवताता (यज्ञे) हवेषु मितद्रवः, स्वर्काः अहिं वृकं रक्षांसि, जम्भयन्तः (नाशयन्तः) सनेमि (शीघ्रमेव) अमीवाः अस्मद् युवयन् पृथक् (कुर्वन्तुः)।

व्याख्या : यज्ञ में देवकार्य के लिए आवाहित होने पर ये अश्व हमारे लिए सुखकर (कल्याणकारी) हों। जो अश्व तीव्रगति से निर्दिष्टस्थान पर पहुँच जानेवाले, श्रेष्ठ एवं दर्शनीय हैं। ये अश्व, मार्ग में बाधा पहुचाने वाले सर्प, भेड़िये तथा राक्षसादिविघ्नों को नष्ट करते हुए शीघ्र

ही हमे रोगों से दूर करें। अर्थात् ये हमें व्याधिरहित करें।

म॰ : 'उत्तरेण तृचेन चेति' (का. 14। 4। 5) शं न इति ऋक्त्रयेणाज्यहोमोऽश्वाभिमन्त्रणं वा। अश्वदेवत्या विराड्वसिष्टदृष्टा दशाक्षरचतुःपादा। देवानां कर्म देवतातिः 'सर्वदेवात्तातिल्' (पा. 4। 4। 142) इति देवशब्दात् कर्मणि तातिल्प्रत्ययः 'लिति' (पा. 6। 1। 193) इति प्रत्ययात्पूर्वस्य वकारस्योदात्तत्वम्। तस्य सप्तम्यां 'सुपां सुलुक्' (पा. 7। 1। 39) इत्यादिना डेराकारः देवताता देवतातौ यज्ञे हवेषु आह्वानेषु सत्सु वाजिनोऽश्वा नोऽस्माकं शं सुखकरा भवन्तु। किंभूताः। मितद्रवः मितं परिमितं द्रवन्ति गच्छन्तीति मितद्रवः। क्विपि तुगभाव आर्षः। स्वर्काः शोभनोऽर्को येषां ते सुरुचः स्वञ्चना वा। तथा अहिं सर्प वृकमरण्यश्वानं रक्षांसि राक्षसान् च जम्भयन्तो नाशयन्तः। किंच तेऽश्वा अस्मत्सकाशात्सनेमि क्षिप्रम् अमीवा व्याधीन्युयवन् पृथकुर्वन्तु। 'यु पृथग्भावे' अस्य ह्वादित्वे लडि रूपम् गुणाडभावावार्षो। सनेमीति पुराणनाम। इह तु क्षिप्रवाचकः ।।16।।

सप्तदशी

ते नो अर्वन्तो हवनश्रुतो हवं विश्वे शृण्वन्तु वाजिनो मितद्रवः। सहस्रसा मेधसाता सनिष्यवो महो ये धनꣳसमिथेषु जभ्रिरे ।।१७।।

अन्वय : ते विश्वे (सर्वे) वाजिनः मितद्रवः हवनश्रुतः अर्वन्तः अश्वाः नः (अस्माकं) हवं (आह्वानं) श्रृण्वन्तु। (ते) सहस्त्रसाः मेधसाता सरिष्यवः भवन्ति ये (चा) समिथेषु महः धनम् जभ्रिरे। (आहृतवन्तः)।

व्याख्या : वे सभी अश्व परिमित समय में ही निर्दिष्टस्थान को प्राप्त करने वाले, आह्वानों को सुनने वाले, कुटिलगतिवाले मेरे इस आह्वान को सुनें। वे अन्नादि के द्वारा असंख्यजनों के पालन करने वाले यजमानों के पवित्र यज्ञशाला में स्थित होने वाले हैं। ये अश्व संग्रामों में विपुल! धन की प्राप्ति भी कराते हैं।

म॰ : अश्वदेवत्या जगती नाभानेदिष्ठदृष्टा। विश्वे सर्वे ते वाजिनोऽश्वा नोस्माकं हवमाह्वानं श्रृण्वन्तु। किंभूता अर्वन्तः इर्य्यति कुटिलं गच्छन्तीत्यर्वन्तः। 'ऋ गतौ' इत्यस्माद्वनिप् 'अर्वणस्त्रसावनञः' (पा. 6। 4। 127) इति त्रन्तादेशे रूपम्। हवनश्रुतः हवनमाह्वानं श्रृण्वन्तीति हवनश्रुतः।

मितद्रवः यजमानचित्तानुकूल्येन परिमितगामिनः। सहस्रसाः सहस्रस्यानेकजन-तृप्तिक्षमस्य महतोऽन्नराशेः सनितारो दातारः। मेधसाता सनिष्यवः मेधो यज्ञः सन्यते संभज्यते यत्र सा मेधसातिर्यज्ञशाला। डेर्डाकारः। तस्यां सनिष्यवः संभक्तारः पूरयितारः। ते के। येऽश्वाः समिथेषु संग्रामेषु महः महत्पूज्यं वा धनं जभ्रिरे जहिरे आहृतवन्तः ॥17॥

अष्टादशी

व्वाजेंवाजेऽवत व्वाजिनो नो धनेंषु विप्रा अमृताऽऋतज्ञाः।
अस्य मध्वंः पिबत मादयंध्वं तृप्ता यांत पथिभिर्देवयानैः ॥१८॥

अन्वय : हे वाजिनः वाजे (संग्रामे) वाजे, नः (अस्मान्) अवत। धनेषु (माम्अवत)। हे विप्राः अमृताः ऋतज्ञाः अस्य मध्वः, पिबत मादयध्वं तृप्ताः देवयानैः पथिभिर्यात (गच्छत)।

व्याख्या : हे अश्वो। प्रत्येक संग्राम में मेरी रक्षा करने वाले। धन प्राप्ति में भी मेरी सहायता करो। हे मेधावी दीर्घजीवी, यज्ञ के विधियों को अच्छी तरह जानने वाले देवों! ब्राह्मणों! इस मधुरसोमरस का पान करो, तथा तृप्त एवं सन्तुष्ट होकर देवयानमार्ग से प्रस्थान करो।

म० : अश्वदेवत्या त्रिष्टुप् वसिष्टदृष्टा। हे वाजिनोऽश्वाः, वाजेवाजे सर्वस्मिन्नन्ने उपस्थिते सति धनेषु चोपस्थितेषु सत्सु नोऽस्मानवत पालयत। किंभूता यूयम्। विप्रा मेधाविनः परिदृष्टकारिणः अमृता अमरणधर्माणः ऋतज्ञाः सत्यज्ञाः यज्ञज्ञा वा। किंच अस्य मध्वः पिवत। कर्मणि षष्ठी। इदं मधुधावनात्पूर्वं पश्चावघ्रायमाणं नैवारचरुलक्षणं मधुरं हविः पिबत। पीत्वा च मादयध्वं तृप्ता भवत। ततस्तृप्ताः सन्तो देवयानैर्देवाधिष्ठितैः पथिभिर्मार्गैर्यात गच्छत ॥18॥

एकोनविंशी

आ मा वाजंस्य प्रसवो जंगम्यादेमे द्यावांपृथिवी विश्वरूंपे।
आ मां गन्तां पितरां मातरा चा मा सोमोंऽअमृतत्वेनं गम्यात् ॥
वाजिंनो वाजजितो वाजंꣳससृवाꣳसो बृहस्पतेंर्भागमवंजिघ्रत निमृजानाः ॥१९॥

अन्वय : मा, (ममपार्श्वे) वाजस्य प्रसव आजगम्यात्। इमें विश्वरुपे द्यावापृथिव्यौ मा आ अगन्ताम्। आगच्छत् पितरा मातरा च,

सोमः अमृतत्वेन मा आगम्यात्। आगच्छेत वाजजितः वाजिनः! वाजं ससृवांसः निमृजानः बृहस्पतेः भागं अवजिघ्रत (आघ्राणं कुरुत)।

व्याख्या : यजमान प्रार्थना करता है–अन्नोत्पत्ति की विधि तथा सामर्थ्य का (ज्ञान) हमें प्राप्त हो। सर्वरूपात्मक ये दोनों द्युलोक एवं पृथिवी लोक हमारे पिता एव माता के समान है। ये अच्छी तरह हमें प्राप्त हों। संसार के पालक और निर्माण करने के कारण इन्हें (द्यावापृथिवी) को माता पिता कहा गया है। सोम अपनी अमृतत्त्व शक्ति के साथ मुझे प्राप्त हो। संग्राम में विजयप्राप्त करने वाले, हे अश्वों! यजमान को पवित्र करते हुए तुम लोग वृहस्पति देवता के उस नैवार (चरुभाग का आघ्राण करो।

म० : 'अवरुह्य नैवारमालभते तीर्थे स्थितमामा वाजस्येति' (का. 14। 4। 11) यजमानो रथादवतीर्य चात्वालोत्करान्तरे स्थितं नैवारं चरुं स्पृशति। प्रजापतिदेवत्या त्रिष्टुब् वसिष्टदृष्टा। वाजस्यान्नस्य प्रसव उत्पत्तिर्मा मामाजगम्यात् आगच्छत्। गच्छतेर्व्यत्ययेन ह्वादित्वे लिङि रूपम्। आ इमे विश्वरूपे सर्वरूपात्मिके इमे द्यावापृथिव्यौ मां प्रत्यागच्छेत्। लिङि रूपम्। सोमश्चामृतत्वेन सहितो मा मामागम्यात्। चतुर्थ्यर्थे तृतीया। अमृतत्वाय मम देवत्वजन्मने सोमो मां प्रत्यागच्छेत्। लिङि रूपम्। 'यजुर्युक्ता नाघ्रापयति वाजिन इति' (का. 14। 4। 12) इति। मन्त्रेण युक्तानश्वान्नैवारचरुमाघ्रापयेत्। अश्वदेवत्य यजुः हे वाजिनोऽश्वाः, यूयं बृहस्पतेः संबन्धि भागं चरुमवजिघ्रत आघ्राणं कुरुत। किंभूताः। वाजजितः वाजस्यान्नस्य जेतारः। वाजमन्नं जेतुं ससृवांसः सृतवन्तो गतवन्तः सर्तेः क्वसुपत्यये रूपम। निमृजानाः 'मृजूष् शुद्धौ' शानच्प्रत्ययः। शोधयन्तः चरुमेनं यजमानं वा पुनन्तु इत्यर्थः ।।19।।

विंशी

आपये स्वाहा स्वापये स्वाहाऽपिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा वसवे स्वाहाऽहर्पतये स्वाहाह्ने मुग्धाय स्वाहा मुग्धाय वैनꣳशिनाय स्वाहा विनꣳशिन आन्त्यायनाय स्वाहान्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाधिपतये स्वाहा ।।२०।।

अन्वय : आपये स्वाहा, स्वापये स्वाहा अपिजाय स्वाहा, क्रतवे वसवे अहर्पतये, मुग्धाय अह्ने स्वाहा। मुग्धाय वैनं शिनाय, आन्त्यायनाय

विनंशिने, भौवनाय आन्त्याय भुवनस्यपतये अधिपतये स्वाहा।

व्याख्या : यहाँ द्वादश आहुतियाँ अध्वर्यु द्वारा दी जाती हैं। इस मन्त्र के देवता संवत्सररूपप्रजापति है। अतः यहाँ प्रयुक्त सभी पद प्रजापति के विशेषण के रुप में हैं। (आपये = व्यापक कलात्मा सूर्य रुप प्रजापति के लिए यह आहुति समर्पित हो। अच्छी तरह सभी जीवों में व्याप्त पुनः पुनः प्रकट होने वाले, यज्ञरुप, सभी को वासस्थान प्रदान करने वाले, दिन के अधिपतिः मोहाच्छन्न से प्रतीत होने वाले मेघ, व्याप्त, दिवस के अधिष्ठाता प्रजापति के लिए यह आहुति समार्पित है।

मोहाच्छन्नविनाशशीलसंसार के समस्त जीवों के निर्माता, त्रिभुवनों की सीमारुप, एवं इनके पालक सर्वभूतनियामक प्रजापति के लिए यह आज्याहुति समर्पित है।

म॰ : 'द्वादश स्त्रुवाहुतीर्जुहोत्यापये स्वाहेति प्रतिमन्त्रं वाचयति वेति' (का॰ 14/5/1) प्राजापत्यानि द्वादश यजूंषि। संवत्सराभिमानी प्रजापतिः स्तूयते तस्यैवैतानि नामानि। आप्नोतीत्यापिस्तस्मै सुहुतमस्तु। शोभनमाप्नोतीति स्वापिः तस्मै। अपि जायते पुनःपुनरुत्पद्यते इत्यपिजस्तस्मै स्वाहा। ऋतुः संकल्पो भोगादिविषया यज्ञो वा तस्मै। वसवे निवासहेतवे। अह्नांदिवसानां पतिरहर्पतिस्तस्मै। अतश्चत्वारि नामान्युभयविशेषणविशिष्टानि। 'मुह वैचित्ये' मुह्यतीति मुग्धस्तस्मै। अह्ने दिवसाय। विनश्यन्तीति विनंशिनः विनाशशीलाः पदार्थाः 'मस्जिनशौर्झलि' (पा॰ 7/1/60) इति छान्दसत्वादझल्यपि नुमागमः। विनंशिषु भवो वैनंशिनस्तस्मै। मुग्धाय मोहकाय स्वाहा। अन्ते भवमन्त्यमन्त्यं च तदयनं च अन्त्यायनमन्त्यस्थान तत्र भव आन्त्यायनस्तस्मै विनंशिने विनाशशीलाय स्वाहा। अन्ते भवोऽन्त्यः भुवने भवो भौवनस्तदुभयविशिष्टाय स्वाहा। भुवनस्य पतये जगतः पालयित्रे। अधिपतये सर्वलोकानां स्वामिने स्वाहा सुहुतमस्तु ॥20॥

एकविंशी

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳪं-श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। प्रजापतेः प्रजा अभूम स्वर्देवाऽअगन्मामृताऽअभूम ॥२१॥

अन्वय : ममायुः यज्ञेन कल्पताम्। यज्ञेन प्राणः कल्पताम्। चक्षुः

श्रोत्रं, पृष्ठम् च कल्पन्ताम्। यज्ञेन यज्ञः कल्पताम्। प्रजापतेः प्रजा अभूम। (हे) देवाः स्वः अगन्म वयम् वयममृता अभूम।

व्याख्या : इस वाजपेययाग के अनुष्ठान से हम दीर्घायु हों। इससे हमारी प्राणशक्ति समृद्ध हो, इसीप्रकार नेत्र, कर्ण, शरीर का पृष्ठभाग आदि शक्तिशाली हो। इस वाजपेययाग के प्रभाव से यज्ञाधिष्ठाताविष्णु हम सभी का कल्याण करें। हम प्रजापति की सन्तान हैं। हे देवों। तुम्हारी कृपा से हमने स्वर्ग को प्राप्त किया है। तथा अमरभाव (देवभाव) को भी प्राप्त कर लिया है।

म० : 'षट् चोत्तराः षट् आयुर्यज्ञेनेत्याद्याश्चशब्दाज्जुहोति वाचयति वा' (का. 14।5।2) प्राजापत्यानि षडयजूंषि। मदीयमायुर्यज्ञेन वाजपेयाख्येन कल्पतां कृल्प्तं भवतु। मुखनासिकाप्रभवः पञ्चवृत्तिकः प्राणवायुरप्येनेन यज्ञेन क्लिप्तो भवतु। चक्षुरिन्द्रियं यज्ञेन तृप्तं भवतु। श्रोत्रेन्द्रियं यज्ञेन क्लिप्तंमस्तु। पृष्ठं रथन्तरादिकं, शरीरस्य पृष्ठं वा यज्ञेन कल्पताम्। यज्ञेन मदीयेन वाजपेयाख्येन यज्ञो यज्ञाधिष्ठाता विष्णुः कल्पताम्। 'प्रजापतेरित्यारोहत इति' (का. 14। 5। 6) पत्नीयजमानौ निश्रेण्या यूपमारोहतः। यजमानदेवत्यानि त्रीणि यजूंषि। वयं प्रजापतेः संबन्धिन्यः प्रजा अभूम अपत्यानि जातानि। 'स्वरिति गोधूममालभत इति' (14। 5। 7)। स्वरिति गोधूमपिष्टनिर्मितं चषालं यजमानः स्पृशेत्। हे देवाः, वयं स्वः स्वर्गमगन्म प्राप्ताः। 'शिरसा यूपमुज्जिहीतेऽमृता इति' (14। 5। 8)। यूपादूर्ध्वं शिरःकरोति। वयममृता मरणधर्मरहिता अभूम संभूताः ।।21।।

द्वाविंशी

अस्मे वोऽअस्त्विन्द्रियमस्मे नृम्णमुत क्रतुरस्मे व्वर्चांᳬसि सन्तु वः। नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्या इयन्ते राड्यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः। कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा ।।२२।।

अन्वय : हे दिशः वः इन्द्रियम् अस्मे (अस्मासु) अस्तु। वः वर्चांसि (तेजांसि) अस्मे अस्तु। नमो मात्रे पृथिव्यै। इयं ते राट्। (हे यजमान!) (त्वं) सर्वस्य यन्ता असि, यमनः ध्रुवः धरुण, असि। कृष्यै क्षेमाय रय्यै पोषाय त्वा (तुभ्यम् आशीर्वादं दद्मः)।

व्याख्या : यजमान कहता है–हे दिशाओं! तुम्हारा सम्पूर्ण बल एवं ऐश्वर्य हमें प्राप्त हों। तुम्हारा धन, सामर्थ्य या संकल्प शक्ति हमें प्राप्त हो। तुम्हारा तेज हमें प्राप्त हो। पृथिवी माता को हम प्रणाम करते हैं। (हे आसन्दी') तुम अभिषिक्त हो। अतः यह राज्य तुम्हारा है। हे यजमान! तुम सभी के नियन्ता हो, तथा स्वंयभी संयम वाले हो। अर्थात् स्वयं भी नियमपूर्वक रहनेवाले हो। स्थिर चित्तवाले तुम सभी प्राणियों के धारक हो। उत्तमकृषि के लिए, प्रजाजनों के कल्याणार्थ ऐश्वर्यप्राप्ति, तथा पुष्टि के लिए तुम्हें आर्शीवाद देते हैं। अर्थात् इस आसन्दी पर अभिषिक्त करके तुम्हें बिठाते हैं।

म॰ : 'अस्मे व इति दिशो वीक्षत इति' (14।5।9) यूपारूढ़ एवं यजमानो दिशः पश्यति। दिग्देवत्यम्। हे दिशः, वो युष्मत्संबन्धिइन्द्रियं वीर्यमस्मे अस्मास्वस्तु। नृम्णं धनं युष्मत्संबन्धि अस्मे अस्मास्तु। उत अपि च क्रतुः कर्म युष्मत्संबन्धि अस्मास्वस्तु। वो युष्माकं वर्चांसि तेजांसि अस्मे अस्मासु सन्तु भवन्तु। अस्माकं संबन्धि युष्मत्सामर्थ्यमस्त्विति भावः। 'नमो मात्र इति भूमिमवेक्षत इति' (14। 5। 12)। यूपारूढ़ एव यजमानो भूमिं पश्यति। पृथिवीदेवत्यम्। मात्रे मातृरूपायै पृथिव्यै नमो नमस्कारोऽस्तु। 'अभ्यासे भूयांसमर्थ मन्यन्ते' (निरु. 10। 42) इति द्विरुक्तिः। 'उत्तरवेदिमपरेणौदुम्वरीमासन्दीं बस्तचर्मणा स्तृणातीयं त इति' (का. 14। 5। 13) आसन्दीदेवत्यम्। हे आसन्दि, ते तव इयं राट् इदं राज्यं राजनं राट्। संपदादित्वाद्रावे स्त्रियां क्विप्। अभिषिक्तासि त्वमिति भावः। 'सुन्वन्तमस्यामुपवेष्ठायति यन्तासीति' (का. 14। 5। 14)। आसन्द्यां यजमानमुपवेशयेत्। यजमानदेवत्यम्। हे यजमान, त्वं यन्ता सर्वस्य नियन्तासि। यमनः स्वयं संयमनकर्ता भवसि। अनवच्छिन्नं तव यमनमिति भावः। तथा ध्रुवः स्थिरोऽपि धारुणो धारकोऽसि। कृष्यै कर्षणाय कृषिसिध्यर्थं त्वा त्वामुपवेशयामीति सर्वत्र शेषः। क्षेमाय लब्धापरिपालनाय त्वामुप॰। रयै धनाय त्वामुप॰। पोषाय पशुपुत्रादिपुष्टयै त्वामुप॰ ।।22।।

त्रयोविंशी

वाज॑स्ये॒मं प्र॑स॒वः सु॑षुवेऽग्रे॒ सोम॒ꣳ राजा॑न॒मोष॑धीष्व॒प्सु। ताऽ अ॒स्मभ्य॒ं मधु॑मतीर्भवन्तु व॒यꣳ रा॒ष्ट्रे जा॑गृयाम पु॒रोहि॑ता॒ः स्वाहा॑ ।।२३।।

अन्वय : वाजस्य प्रसवः (प्रजापतिः) इमं सोमं राजानम् ओषधीषु अप्सु सुषुवे। ताः अस्मभ्यं मधुमतीः भवन्तु। वयं राष्ट्रे पुरोहिता जागृयाम।

व्याख्या : अन्नों के निर्माता ईश्वर (प्रजापति) ने सृष्टि के आदि में औषधियों एवं जल में वर्तमान इस दिव्य सोम व लता को उत्पन्न किया। वे औषधियों तथा जल हमारे लिए रसयुक्त तथा भोगयोग्य बनें। इनसे अभिषिक्त हमलोग राष्ट्र के हित को सामने रखते हुए अर्थात् राष्ट्रकल्याण के लिए सर्वदा सावधान होकर हम चैतन्य रहें। इसीलिए यह हवि समर्पित है।

म० : 'स्त्रुवेण संभृतापजुहोति वाजस्येममिति प्रतिमन्त्रमिति (का. 14। 5। 21)। औदुम्बरपात्रे एकीकृताद्दुग्धव्रीह्यादिधान्यात्स्त्रुवेणाहवनीये सप्तमन्त्रैर्जुहोति। तिस्त्रस्त्रिष्टुभः प्रजापतिदेवत्याः। प्रसूतेऽसौ प्रसवः पचादित्वादच् वाजस्यान्नस्य प्रसव उत्पादकः प्रजापतिः अग्रे सृष्ट्यादौ औषधीषु अप्सु च वर्तमानमिमं सोमं वल्लीरूपं राजानं दीप्तिमन्तं पदार्थं सुषुवे उत्पादयामास। ता इत्यंभूताः सोमस्य जनयित्र्यः ओषधाय आपश्चास्म-भ्यमस्मदर्थ मधुमतीर्मधुमत्यो रसवत्यो माधुर्योपेता भवन्तु भोगयोग्या भवन्तु। वयं च ताभिरभिषिक्ता राष्ट्रे स्वकीये देशे जागृयाम अप्रमत्ता भवाम। पुरोहिताः यागानुष्ठानादौ पुरोगामिनः प्रधाना इत्यर्थः। स्वाहा सुहुतमस्तु ।।23।।

चतुर्विंशी

वाजस्येमां प्रसवः शिश्रिये दिवमिमा च विश्वा भुवनानि सम्राट्। अदित्सन्तं दापयति प्रजानन्त्स नो रयिꣳसर्ववीरं नियच्छतु स्वाहा ।।२४।।

अन्वय : वाजस्य प्रसवः सम्राट दिवम् इमा विश्वानि च शिश्रिये। अश्रितवान् अदित्सन्तं प्रजानं दापयति। सः नः रयिं सर्ववीरं नियच्छतु स्वाहा।

व्याख्या : विविध अन्नों के निर्माता सम्राट् ईश्वर (सर्वेश्वर) ने द्युलोक तथा पृथिवीलोक के समस्त प्राणियों को अपने आश्रय में धारण किया है। हवि प्रदानादि के द्वारा देवाराधन न करने वाले तथा सुपात्रों को दान न देने की इच्छावाले नास्तिकों को जानकर उसे भी आस्तिक पात्र) बनाकर उससे यज्ञादि में हवि प्रदान कराता हैं। यज्ञानुष्ठान

कराता है। वही प्रभु हमकों धन समृद्धि एवं वीरपुत्रों से संयुक्त करें। यह आहुति उसी को समर्पित है।

म० : वाजस्यान्नस्य प्रसव उत्पादक ईश्वर इमां पृथिवीं दिवं द्युलोकं च इमा इमानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि च शिश्रिये आश्रितवान्। स च सम्राट् सर्वेषां भुवनानां राजा भूत्वा अदित्सन्तं हविर्दातुमनिच्छन्तं मां प्रजानन् अवगच्छन् मदीयबुद्धिप्रेरणेन हविर्दापयति। ततो नोऽस्मभ्यं सर्ववीरं सर्वैः पुत्रभृत्यादिभिर्युक्तं रयिं धनं नियच्छतु नियमनेन ददातु 'दाण् दाने' 'पाघ्राध्मा-' (पा. 7। 3। 78) इत्यादिना यच्छादेशः। स्वाहा सुहुतमस्तु ।।24।।

पञ्चविंशी

वाजस्य नु प्रसवऽआबभूवेमा च विश्वा भुवनानि सर्वतः। सनेमि राजा परियाति विद्वान्प्रजां पुष्टिंवर्धयमानो अस्मे स्वाहा ।।२५।।

अन्वय : (स प्रजापति) नु (विस्मये) बाजस्य प्रसव आ बभूव उत्पादितवान्। च इमा विश्वानि भुवनानि सर्वतः (पालयति)। सनेमि चिरन्तनो विद्वान् राजा अस्मे अस्मासु प्रजां पुष्टिं वर्धयमानः सर्वतो याति।

व्याख्या : अत्यन्त विस्मय की बात है कि जीवों के सर्वविध रक्षक प्रजापति ने इस सम्पूर्ण जीवसमूह (हिरण्यगर्भ से स्तम्बपर्यन्त को उत्पन्न किया। निश्चित ही अन्नबल आदि ऐश्वर्य प्रदान करने के लिए विविध रुपों में आविर्भूत हुआ। तथा इन सम्पूर्ण भुवनों की सभी तरह से रक्षा करता है। वह पुरातन, सर्वज्ञ, सर्वशोभासम्पन्न प्रभु हमारी सन्तति एवं समृद्धि को बढ़ाते हुए सभी जीवों की रक्षा करें। यह आहुति उसे समर्पित है।

म० : नु इति विस्मये। वाजस्य प्रसवः प्रजापतिः इमा इमानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतानि सर्वतोऽवस्थितानि हिरण्यगर्भादिस्त-म्बपर्यन्तानि आबभूव संभावितवान्। उत्पादितवानित्यर्थः। सनेमीति पुराणनाम। सनेमि चिरंतनो राजा दीप्तः सन् परियाति सर्वतः स्वेच्छया गच्छति। किंभूतः। विद्वान्स्वाधिकारं जानन्। तथा अस्मे अस्मासु प्रजां पुत्रादिसन्तति पुष्टिं धनंपोषं च वर्धयमानः वर्धयन्स्वाहा सुहुतमस्तु ।।25।।

षड्विंशी

सोम॑ᳫ॒ राजा॑नमव॑से॒ऽग्निम॒न्वार॑भामहे। आ॒दि॒त्यान्विष्णु॑ᳫ॒ सूर्यं॑ ब्र॒ह्माणं॑ च॒ बृह॒स्पति॒ᳫ॒ स्वाहा॑ ।।२६।।

अन्वय : राजानं सोमम् अग्निम् अवसे रक्षणार्थ अन्वारभामहे आह्वानं कुर्महे। आदित्यान् विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं बृहस्पतिं च वयं (अन्वारभामहे)।

व्याख्या : हम अपनी रक्षा के लिए राजासोम, वैश्वानरअग्नि का आवाहन करते हैं। इसी प्रकार द्वादशादित्यों को, विष्णु, सूर्य एवं देवगुरु बृहस्पति को भी अपनी रक्षा के लिए आहूत करते हैं।

म० : तिस्त्रोऽनुष्टुभस्तापसदृष्टाः प्रथमा सोमाग्न्यादित्यविष्णुसूर्य-बृहस्पतिदेवत्या। अवसे रक्षणार्थं तर्पणाय वा सोमं राजानमग्निं वैश्वानरमादित्यान्द्वादशं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं बृहस्पतिं चान्वारभामहे अन्वारम्भ-णमाह्वानं कुर्महे। स्वाहा सुहुतमस्तु ।।26।।

सप्तविंशी

अ॒र्य॒मणं॒ बृह॒स्पति॒मिन्द्रं॒ दाना॑य चोदय। वाचं॒ विष्णु॑ᳫ॒ सर॑स्व-तीᳫ॒ सवि॒तारं॑ च वा॒जिन॒ᳫ॒ स्वाहा॑ ।।२७।।

अन्वय : (हे ईश्वर!) अर्यमणम् बृहस्पतिम् इन्द्रं दानाय चोदय। (प्रेरय) विष्णुं सरस्वतीं वाचं दानाय च (चोदय)। वजिनं सवितारं च (चोदय)।

व्याख्या : हे प्रभो (ईश्वर!) आप! अर्यमा बृहस्पति तथा इन्द्र को हमें सुख-समृद्धि प्रदान करने के लिए प्रेरित करें। विष्णु एवं सरस्वती देवी को सरस वाक्शक्ति प्रदान करने के लिए प्रेरित करें तथा अन्न एवं बलप्रदान करने वाले सूर्यनारायण को भी प्रेरित करें। यह आहुति आपको समर्पित है।

म० : अर्यमबृहस्पतीन्द्रवाग्विष्णुसरस्वतीसवितृदेवत्या। हे ईश्वर, त्वमर्यमादीन्देवान्दानाय धनप्रदानार्थं चोदय प्रेरय। बृहस्पतिमिन्द्रं देवेशं वाचं वागधिष्ठात्रीं सरस्वतीं विष्णुं सवितारं सर्वस्य प्रसवकर्तारं सूर्यम्। वाजिनमन्नवन्तमिति सर्वेषां विशेषणम्। वाजिनं देवाश्वं वा। स्वाहा सुहुतमस्तु

।।27।।

अष्टाविंशी

अग्नेऽअच्छा व्वदेह नः प्रति नः सुमना भव। प्र नो यच्छ सहस्रजित्त्वꣳहि धनदा असि स्वाहा ।।२८।।

अन्वय : हे अग्निदेव! इह नः अच्छ वद, नः सुमना भव, नः प्रयच्छ हि (त्वंम्) सहस्रजित् त्वम् धनदा असि तुभ्यं स्वाहा।

व्याख्या : हे अग्निदेव! यहाँ इस यज्ञ में सम्मुख प्रकट होकर हमें हितकरवचन कहिए। (कल्याणयुक्त वचन कहो) आप हमारे लिए अनुकुल चित्तवाले हों। हमें प्रचुरमात्रा में धैनश्वर्यादि प्रदान करें क्योंकि आप अनन्त धनों के ईश्वर हैं तथा स्वभाववश धन प्रदाता हैं। मेरे द्वारा प्रदत्त यह आहुति आपको समर्पित हो।

म० : अग्निदेवत्या। हे अग्ने, इहास्मिन्कर्मणि नोऽस्माकमच्छ वद आभिमुख्येन ब्रूहि हितमिति शेषः। 'निपातस्य च' (पा. 6। 3। 136) इति संहितायां दीर्घोऽच्छशब्दस्य। किंच नोऽस्मान्प्रति सुमनाः करुणार्द्रचित्तो भव। हे सहस्त्रजित् सहस्त्रस्य बहुनो वसुनो जेतः, सहस्त्राणां योधानां वा जेतः, हि यस्मात्वं स्वभावतो धनदा धनस्य दातासि। अतस्त्वं नोऽस्मभ्यं प्रयच्छ धनं देहि स्वाहा ।।28।।

एकोनत्रिंशी

प्र नो यच्छत्वर्यमा प्र पूषा प्र बृहस्पतिः। प्र वाग्देवी ददातु नः स्वाहा ।।२९।।

अन्वय : अर्यमा नः (अभीष्टं) प्रयच्छतु। पूषा बृहस्पति वाग्देवी नः अभीष्टं ददातु स्वाहा।

व्याख्या : अर्यमा देवता हमें अभीष्ट फल प्रदान करें। इसी प्रकार पूषा बृहस्पति वाणी की अधिष्ठात्रीदेवी सरस्वती हमें उन्नत जीवन प्रदान करे। यह आहुति आपको समर्पित हो।

म० : गायत्री अर्यमपूषबृहस्पतिपूषावातग्देवत्या। अर्यमा सूर्यविशेषो नोऽस्मभ्यं प्रयच्छतु अभीष्टं ददातु। पूज्ञा प्रयच्छतु। उपसर्गावृत्त्या क्रियापदावृत्तिः। बृहस्पतिः प्रयच्छतु। देवी दीप्यमाना वाक् नोऽस्मभ्यं ददातु स्वाहा ।।29।।

त्रिंशी

दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्। सर॑स्वत्यै वा॒चो य॒न्तुर्य॑न्त्रियै॑ दधामि॒ बृह॒स्पते॑ष्ट्वा॒ साम्रा॑ज्येना॒भि-षि॑ञ्चाम्यसौ ।।३०।।

अन्वय : हे यजमान! सवितुः देवस्य प्रसवे त्वा त्वाम् अश्विनोः बाहुभ्यां पूष्णोः हस्ताभ्याम् सरस्वत्यै यन्त्रियै सरस्वत्याः दधामि। त्वा वाचो यन्तुः बृहस्पतेः साम्राज्येन असौ अभिषिञ्चामि।

व्याख्या : मैं सर्वप्रेरकसवितादेवता की प्रेरणा से अश्विनीकुमारों के बाहुओं से, पूषादेवता के हाथों से बल प्राप्त करके तुम्हें वाणी की नियमनकर्त्री अधिष्ठात्री सरस्वती के ऐश्वर्य में स्थापित करता हूँ। साथ ही तुम्हें बृहस्पति के साम्राज्य से (तुम्हें अमुकनाम लेकर) अभिषिक्ति करता हूँ।

म० : 'शेषेणाभिषिञ्चति यजमानं देवस्य त्वेति'। (का. 14। 5। 22) होमद्रव्यशेषेण यजमानं शिरसि सिञ्चेत्। यजमानदेवत्यम्। सवितुर्देवस्य प्रसवे वर्तमानोऽहमश्विनोबाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वा त्वां वाचो वाण्या यन्तुर्यन्त्रया। पुंस्त्वमार्षम्। नियमकत्र्याः। सरस्वत्यै षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। सरस्वत्याः यन्त्रिये नियमने ऐश्वर्ये दधामि स्थापयामि। किंच बृहस्पतेः साम्राज्येन सम्राड्भावेन त्वा त्वामभिषिञ्चामि। असाविति तन्नामग्रहणम् ।।30।।

एकत्रिंशी

अ॒ग्निरेका॑क्षरेण प्रा॒णमुद॑जय॒त्तमुज्जे॑ष॒मश्विनौ॒ व्यक्षरेण द्विपदो॑ मनु॒ष्या॒नुद॑जयतां॒ तानुज्जे॑षं॒ विष्णु॒स्त्र्य॒क्षरेण॒ त्रींल्लो॒कानुद॑जय॒त्तानुज्जे॑ष॒-थ्ठं॒सोम॒श्चतु॑रक्षरेण॒ चतु॑ष्पदः प॒शूनुद॑जय॒त्तानुज्जे॑षम् ।।३१।।

अन्वय : अग्निः एकाक्षरेण प्राणम् उदजयत। तम् उज्जेषम्। (वशीकुर्याम) अश्विनौ द्वयक्षरेण द्विपदो मनुष्यान् उदजयताम्। विष्णुः त्रिअक्षरेण त्रीन् लोकान् उदजयत्। सोमः चतुरक्षरेण चतुष्पदः पशून् उदजयत तान् उज्जेषम्।

व्याख्या : (ये मन्त्र उज्जितिसंज्ञक है।) अग्निदेव ने (ओंकार रुप) एकाक्षर छन्द के बल से प्राणशक्ति पर विजय प्राप्त किया, उसी

बल से मैं भी इस पर विजय प्राप्त करूँ। अश्विनीकुमारों ने दो अक्षरवाले छन्दों द्वारा द्विपद (दो पैर वाले) मनुष्यों को जीता, विष्णु तीन अक्षर वाले छन्दों के द्वारा तीनों लोकों को जीता, सोम ने चार अक्षरवाले छन्दों के द्वारा चतुष्पात् (चार पैर वाले पशुओं को वश में किया। इसी प्रकार मैं भी इस यज्ञानुष्ठान के प्रभाव से इन्हें अपने वश में करूँ।

म० : 'अग्निरेकाक्षरेणेत्यनुवाकं द्वादशवत् कृत्वेति'। (का. 14। 5। 26) चतुःकण्डिकात्मकमनुवाकं द्वादशवत् द्वादश स्त्रुवाहुतीर्जुहोत्यापये स्वाहेति प्रतिमन्त्रं वाचयति वेति यत्पूर्वमुक्तं तद्वत्कृत्वेत्यर्थः। तेनैतैर्मन्त्रैर्जुहोति सप्तदश मन्त्रान् वाचयति वेत्यर्थः। एते मन्त्र उज्जितिसंज्ञाः। सप्तदश यजूंषि लिंगोक्तदेवतानि। ओश्रावयेति चतुरक्षरं अस्तु श्रौषडिति चतुरक्षरं यजेति दवक्षरं येयजामहे इति पञ्चाक्षरं द्यक्षरो वषट्कारः एष सप्तदशाक्षरात्मकः प्रजापतिरधियज्ञं समासव्यासाभ्यामुज्जीयते। अग्निरेकाक्षरेण छन्दसा प्राणं पञ्चवृत्तिकमुदजयत् उत्कृष्टं जीतवान्। तथाहमपि ताहशं तं प्राणमुज्जेषमुत्कृष्टं जयेयं वशीकुर्यामित्यर्थः। अश्विनौ देवौ द्यक्षरेण अक्षरद्वयात्मकेन छन्दसा द्विपदः पादद्वयोपेतान्मनुष्यानुदजयतां जितवन्तौ तथाहमपि तेनैव द्यक्षरेण छन्दसा तान् ताहशान्मनुष्यानुज्जेषमधिकं जयेयम्। विष्णुत्र्यक्षरेणाक्षरत्रयात्मकेन छन्दसा त्रीन्भूरादीन् लोकानुजयत् अहमपि तांलोकानुज्जेषम्। सोमोऽक्षर-चतुष्टयात्मकेन छन्दसा चतुःपदः पादचतुष्टयोपेतान्पशूनुदजयत् अहमपि तेन तान्पशुनुज्जेषम् ।।31।।

द्वात्रिंशी

पूषा पञ्चाक्षरेण पञ्च दिशऽउदजयत्ता उज्जेषꣳ सविता षडक्षरेण षडृतूनुदजयत्तानुज्जेषं मरुतः सप्ताक्षरेण सप्त ग्राम्यान्पशूनुद-जयँस्तानुज्जेषं बृहस्पतिरष्टाक्षरेण गायत्रीमुदजयत्तामुज्जेषम् ।।३२।।

अन्वय : पूषा पञ्चाक्षरेण पञ्चदिशः उदजयत् ता उज्जेषम्। सविता षडक्षरेण षड् ऋतून्, मरुतः सप्ताक्षरेण सप्तग्रामान्पशून् बृहस्पतिः अष्टाक्षरेण गायत्रीम् (उदजयत) ता उज्जेषम्। वशीकुर्याम (वशीकुर्याम)।

व्याख्या : पूषादेवता पञ्चाक्षरवाले छन्द की सहायता से पूर्वादि चारों दिशाओं एवं ऊर्ध्व दिशा, इस प्रकार पाँचों दिशाओं को जीत लिया। मैं भी इस यज्ञानुष्ठान के प्रभाव से इन पर विजय को प्राप्त करुँ। सविता

छः अक्षरवाले छन्द के बल से छः वसन्तादिऋतुओं को, मरुतों ने सप्ताक्षरवालेछन्द की सहायता से, गौं अश्वादि सात ग्राम्यपशुओं को, वृहस्पतिदेव ने अष्टाक्षरात्मकछन्द द्वारा गायत्रीछन्द के अभिमानी देवता को अपने वश में कर लिया। इसी प्रकार इस यज्ञानुष्ठान द्वारा मैं भी इनको अपने वश में करूँ। इन सभी पर विजय प्राप्त करूँ।

म॰ : पूषा देवः पञ्चाक्षरेण छन्दसा पञ्चसंख्याः पूर्वाद्याश्चतस्त्रोऽवान्तरदिशं चेति पञ्चदिश उदजयत् अहमपि ता दिशो जयेयम्। सविता सर्वस्य प्रेरको देवः षडाक्षरेण छन्दसा षट्संख्यानृतूनुदजयत् तानृतूनहममुज्जेषम्। मरुतो देवाः सप्ताक्षरेण छन्दसा सप्तसंख्यान् ग्राम्यान् पशून् गवादीनुदजयन् अहं तान् ग्राम्यान्पशूनजयेयम्। बृहस्पतिरष्टाक्षरात्मकेन छन्दसा गायत्रीच्छन्दोभिमानिनीं देवतामुदजयत् तां तादृशीं गायत्रीं जयेयम् ।।32।।

त्रयस्त्रिंशी

मित्रो नवाक्षरेण त्रिवृतꣳ स्तोममुदजयत्तमुज्जैषं वरुणो दशाक्षरेण विराजमुदजयत्तामुज्जैषमिन्द्रऽएकादशाक्षरेण त्रिष्टुभमुदजयत्तामुज्जैषं विश्वेदेवा द्वादशाक्षरेण जगतीमुदजयँस्तामुज्जैषम् ।।३३।।

अन्वय : मित्रः नवाक्षरेण त्रिवृत स्तोमं उदजयत्। तम् उज्जेषम्। (जयेयम्) वरुणो दशाक्षरेण विराजम्, इन्द्रः एकादशाक्षरेण त्रिष्टुभम्, विश्वेदेवा द्वादशाक्षरेण जगतीम् उदजंयतू) ताम् उज्जेषम्।

व्याख्या : मित्रदेवता ने नवाक्षरछन्द से त्रिवृत्स्तोम को अपने वश में किया। वरुणदेवता ने दशाक्षरात्मकछन्द से विराटछन्द के अभिमानी देवता को, इन्द्र एकादशाक्षरात्मक छन्द से त्रिष्टुपछन्दाभिमानी देवता को तथा विश्वेदेवदेवताओं ने बारहअक्षरों वाले छन्दों से जगती छन्दाभिमानी देवताओं को अपने वश में कर लिया। इसी प्रकार मैं भी इस यज्ञानुष्ठान से इन्हें अपने वश में करूँ।

म॰ : मित्रो देवो नवाक्षरेण छन्दसा त्रिवृतं स्तोममुदजयत्तं तादृशं स्तोममहं जयेयम्। वरुणो देवो दशाक्षरेण छन्दसा विराजम् दशाक्षरां विराडिति श्रुतिप्रसिद्धां तदभिमानिनीं देवतामुदजयत्तां विराजमहमप्युज्जयेम्। इन्द्रो देव एकादशाक्षरेण छन्दसा त्रिष्टुप्छन्दोऽभिमानिनीं देवतामुदजयत् तां त्रिष्टुभमहमुज्जेषम्। विश्वेदेवा द्वादशाक्षरेण छन्दसा जगत्यभिमानिदेवतामुदजयन्

अहमपि तां जगतीं जयेयम् ।।33।।

चतुस्त्रिंशी

व्वसवस्त्रयोदशाक्षरेण त्रयोदशꣳ स्तोममुदजयंस्तमुज्जेषꣳ रुद्राश्चतुर्दशाक्षरेण चतुर्दशꣳ स्तोममुदजयंस्तमुज्जेषमादित्याः पञ्चदशाक्षरेण पञ्चदशꣳ स्तोममुदजयंस्तमुज्जेषमदितिः षोडशाक्षरेण षोडशꣳ स्तोममुदजयत्तमुज्जेषं प्रजापतिः सप्तदशाक्षरेण सप्तदशꣳ स्तोममुदजयत्तमुज्जेषम् ।।३४।।

अन्वय : वसवः त्रयोदशाक्षरेण त्रयोदशं स्तोमम् उदयजन् तम् उज्जेषम्। रुद्राः चतुर्दशाक्षरेण चर्तुर्दशम्, आदित्याः पञ्चदशाक्षरेण पञ्चदशंस्तोमं आदितिः षोडशाक्षरेण षोडशंस्तोमं, प्रजापतिः सप्तदशाक्षेरण सप्तदशस्तोमम् (उदजयत्) तम् अहम् उज्जेषम्।

व्याख्या : जिस प्रकार वसुओं ने तेरहअक्षरों वाले छन्द से त्रयोदशस्तोम को अपने वश में कर लिया उसी प्रकार यज्ञानुष्ठान से मैं भी इनपर विजय प्राप्त करूँ। रूद्रो ने चौदहअक्षरवाले छन्दों से चतुर्दशस्तोम को, अदित्यों ने पन्द्रह अक्षरोंवाले छन्द से षोडशस्तोम को तथा प्रजापति ने सत्रहअक्षरोंवाले छन्द से सप्तदशस्तोम को अपने वश में कर लिया इसी प्रकार मैं भी इस यज्ञानुष्ठान से इन्हें अपने वश में करुँ। (यहाँ वाजपेय याग से सम्बद्ध मन्त्र पूर्ण हो जाते हैं।

म० : वसवस्त्रयोदशाक्षरेण छन्दसा त्रयोदशं स्तोममुदजयन् तं स्तोमं जयेयम्। रुद्रादेवाश्चतुर्दशाक्षरेण छन्दसा चतुर्दशं स्तोममुदजयन् तं स्तोममहमपि जयेयम्। आदित्या देवाः पञ्चदशाक्षरेण छन्दसा पञ्चदशं स्तोममुदजयन् तं स्तोमं जयेयम्। अदितिर्देवमाता षोडशाक्षरेण छन्दसा षोडशं स्तोममुदजयत् तेनाहमपि तं स्तोममुज्जेषम्। प्रजापतिः सप्तदशाक्षरेण छन्दसा सप्तदशाख्यं स्तोममुदजयत् तं स्तोमं तेन छन्दसाहमपि जयेयम्। एतान्मन्त्रज्जपेदेतैर्जहुयाद्वा ।।34।। इति वाजपेयमन्त्राः समाप्ताः।।

पञ्चात्रिंशी

एष ते निर्ऋते भागस्तं जुषस्व स्वाहाग्निनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पुरःसद्भ्यः स्वाहा यमनेत्रेभ्यो देवेभ्यो दक्षिणासद्भ्यः स्वाहा विश्वदेव-

नेत्रेभ्यो देवभ्यः पश्चात्सदभ्यः स्वाहा मित्रावरुणनेत्रेभ्यो वा मरुन्नैत्रेभ्यो वा देवेभ्यं उत्तरासभ्द्यः स्वाहा सोमनेत्रेभ्यो देवेभ्यं उपरिसदभ्यो दुवस्वद्भ्यः स्वाहा ।।३५।।

अन्वय : (यहाँ राजसूययाग से सम्बद्ध मन्त्र प्रस्तुत हो रहे हैं) (हे) निर्ऋते, एष ते भागः तं जुषस्व स्वाहा। अग्निनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पुर सद्भ्यः स्वाहा। यमनेत्रेभ्यो दक्षिणासद्भ्य स्वाहाः। विश्वदेवनेत्रभ्यो देवेभ्यः पश्चात् सद्भ्यः स्वाहा। मित्रावरुणनेत्रेभ्यो वा मरुन्नेत्रेभ्यो उत्तरासदभ्यः स्वाहा। सोमनेत्रेभ्यो दुवस्वद्भ्य उपरिसद्भ्यः स्वाहा।

व्याख्या : हे पृथिवी! यह तुम्हारा भाग है। इसका प्रेम पूर्वक सेवन करो। एतदर्थ यह हवि सुहुत हो (समर्पित हो)। अग्नि जिनके नेता है तथा जो पूर्व दिशा में निवास करते है ऐसे देवताओं के लिए यह हवि समर्पित है। यम जिसके नेता है, तथा जो दक्षिणदिशा में निवास करते हैं, उन देवताओं के लिए यह आहुति समर्पित हो। विश्वेदेव ही जिनके देवता है ऐसे पश्चिम दिशा में स्थित देवताओं के लिए यह आहुति समर्पित हो। मित्रावरुण अथवा मरुद्गण जिनके नेता है, ऐसे उत्तर दिशा में स्थित देवताओं के लिए यह आहुति समर्पित है। सोमदेव जिनके नेता है हविर्भोजी जो उत्तर में स्थित है। ऐसे देवताओं के लिए यह आहुति समर्पित है।

म० : अथ राजसूयमन्त्राः। तेषां वरुण ऋषिः। 'अष्टाकपालोऽनुमत्यै शम्यायाः पश्चाद्धविष्यमन्नथ्ँस्त्रुवे कृत्वा दक्षिणाग्न्युल्मुकमादाय दक्षिणा गत्वा स्वयमप्रदीर्ण इरिणे वाग्नौ जुहोत्येष ते निर्ऋत इति' (का. 15। 1। 9-10)। फाल्गुनाद्य दशम्यामनुमत्यै अष्टाकपालः पुरोडाशो भवति तदर्थ गृहीतहविषः पेषणकाले दृषदधास्तान्निहितष्ठाम्यापश्चाद्भागे पत्रं पतितं यद्धविस्तण्डुलपिष्टरूपं तत् स्त्रुवे निधाय दक्षिणाग्नेरुत्मुकमादाय दक्षिणस्यां दिशि गत्वा स्वयं स्फुटिते भूभागे ऊषरे वोल्मुकाग्निं संस्थाप्य तद्धविर्जुहोतीति सूत्रार्थः। पृथिवीदेवत्यम्। निऋतीरत्र पृथिवी। हे निर्ऋते पृथिवी, एष पिष्टरूपस्ते तव भागः तं भागं त्वं जुषस्व सेवस्य स्वाहा सुहुतमस्तु। 'पञ्चवातीयमाहवनीयं प्रतिदिशं व्यूह्य मध्ये च स्रुवेणाग्निषु जुहोत्यग्निनेत्रेभ्य इति प्रतिमन्त्रमिति' (का. 15। 1। 20)। एवं वर्षमिष्टाः कृत्वा पञ्चवातीयाख्यं

कर्म विधाय तत्राहवनीयं प्रागादिदिक्षु कृत्वा मध्ये चावशिष्य स्त्रुवेणाज्यं पञ्चस्वग्रिषु यथालिंगं जुहोति। अध्यायसमाप्तिपर्यन्तं देवा ऋषयः। दश यजूंषि देवदेवत्यानि। अग्निर्नेता येषां ते अग्नित्रस्तेभ्यः। पुरः पुरस्तात्पूर्वस्यां दिशि सीदन्तीति पुरःसदस्तेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा सुहुतमस्तु। अथ दक्षिणे जुहोति। यमनेत्रेभ्यः यमो नेता येषां तेभ्यः। दक्षिणस्यां सीदन्तीति दक्षिणासदस्तेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा। अथ पश्चाज्जुहोति। विश्वदेवेनेत्रेभ्यः विश्वेदेवानेंतारो येषां तेभ्यः पश्चात्सीदन्तीति पश्चात्सदस्तभ्यः स्वाहा। अथोत्तरार्धो जुहोति। मित्रावरुणनेत्रेभ्यो देवेभ्य उत्तरभागार्थास्तेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा। अत्र मित्रवरुणनेत्रेभ्यो देवेभ्य उत्तरासद्यः मरुन्नेत्रेभ्यो देवेभ्य उत्तरासद्य इति मन्त्रयोर्विकल्पः। मध्ये जुहोति। सोमनेत्रेभ्यः सोमो नेता येषां तेभ्यः। उपरि सीदन्ति तिष्टन्तीत्युपरिसदस्ते। दुवस्वद्यः परिचर्यावद्यः। यद्वात्र दुवःशब्देन हव्यं तद्येषामस्ति ते दुवस्वन्तस्तेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ।।35।।

षट्त्रिंशी

ये दे॒वाऽअ॒ग्निर्नेत्राः पु॒रःसद॒स्तेभ्य॒ः स्वाह॒ा ये दे॒वा य॒मनैत्रा दक्षिण॒ासद॒स्तेभ्य॒ः स्वाह॒ा ये दे॒वा वि॒श्वदे॑वनेत्राः पश्च॒ात्सद॒स्तेभ्य॒ः स्वाह॒ा ये दे॒वा मि॒त्रावरु॑णनेत्रा वा म॒रुन्नैत्रा वोत्तर॒ासद॒स्तेभ्य॒ः स्वाह॒ा ये दे॒वाः सोम॑नेत्राऽउपरि॒सद॒ो दुव॑स्वन्त॒स्तेभ्य॒ः स्वाहा॑ ।।३६।।

अन्वय : ये देवा अग्निनेत्राः पुरःसदः तेभ्यः स्वाहा। ये देवा यमनेत्रा दक्षिणासदः ये विश्वदेवनेत्राः पश्चात्सदः, ये मित्रावरुणनेत्रा मरुन्नेत्रा वा उत्तरासदः ये देवा सोमनेत्रा उपरिसदः दुनस्वन्तः तेभ्यः स्वाहा।

व्याख्या : जो देवता अग्नि के नेतृत्व में पूर्व दिशा में निवास करते हैं उनकी तृप्ति के लिए यह आहुति समर्पित है। जो यम के नायकत्व में दक्षिण में रहते हैं, जो देवता, विश्वेदेव के नायकत्व में पश्चिम में रहते हैं, जो देवता मित्रावरुण या मरुद्‌णगण के नायकत्व में उत्तर दिशा में रहते हैं, तथा जो हर्विभोजी सोम के नायकत्व में उपर की ओर स्थित हैं उन सभीदेवताओं के लिए यह आहुति समर्पित है।

म॰ : 'उत्तराः समस्य ये देवा इति प्रतिमन्त्रमिति' (का. 15। 1।

21) पञ्चधा विभक्तमाहवनीयमेकीकृत्य ये देवा इति पञ्चमन्त्रैः प्रत्येकं जुहुयादिति शेषः। ये देवा अग्निनेत्राः पुरःसदस्तेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा। ये देवा यमनेत्राः पूर्ववद्व्याख्या। ये देवा विश्वदेवनेत्रा पश्चात्सादः। ये देवा मित्रावरुणनेत्रः ये देवा मरुन्नेत्रा इति मन्त्रयोर्विकल्पः। ये देवाः सोमनेत्राः उपरिसदः उपरि स्थिता दुवस्वन्तो हव्यवन्तस्तेभ्यः स्वाहा ।।36।।

सप्तत्रिंशी

अग्ने सहस्व पृतनाऽअभिमातीरपास्य। दुष्टरस्तरन्नरातीर्वर्चोधा यज्ञवाहसि ।।३७।।

अन्वय : (हे) अग्ने। पृतनाः (शत्रुसेनाः) सहस्व (अभिभव)। अभिमातीः (शत्रून्) अपास्य (निवर्तय)। दुष्टरः अरातीः तरत् तिरस्कुर्वन् (नाशयत्) यज्ञवाहसि वर्चः धा (धोहि)। धेहि

व्याख्या : हे अग्निदेव! आप शत्रुओं (शत्रुसेना का) पराभव करें। अभिमानी शत्रुओं को दूर फेक दीजिए। आप स्वयं दूसरों से अपराजित होते हुए शत्रुओं को नष्ट करें तथा यज्ञकार्य का निर्वाह करने वाले इस यजमान में अन्न बलादि ऐश्वर्ययुक्त सामर्थ्य को स्थापित कीजिए।

म० : 'अग्ने सहस्वेत्युल्मुकादानमिति' (का. 15। 2। 5) अपामार्गतण्डुलहोमार्थ दक्षिणाग्नेरुल्मुकमादद्यात्। अग्निदेवत्यानुष्टुब्देवश्रवोदेववातदृष्टा। हे अग्ने, त्वं पृतनाः शत्रुसेनाः सहस्व अभिभव। तथा अभिमातीः सपत्नीभिमातिरुच्यते स्त्रीत्वमार्षम्। अभिमातीन् शत्रून् अपास्य अपक्षिप निवर्तय। 'असु क्षेपणे' अस्य लेटि रूपम्। किंच यज्ञं वहतीति यज्ञवाहास्तस्मिन् यज्ञवाहसि यज्ञनिर्वाहके यजमाने वर्चोऽन्नं धाः धेहि। दधातेर्लुङि रूपम् 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (पा. 6।4।75) इत्यडभावः। किंभूतस्त्वम्। दुष्टरः दुस्तरः केनापि तर्तुमशक्यः अशक्यप्रतिक्रियो दुर्निवार इत्यर्थः। अरातीः शत्रून् तरन् तिरस्कुर्वन्विनाशयन्नित्यर्थः ।।37।।

अष्टत्रिंशी

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। उपांशोर्वीर्येण जुहोमि हतꣳरक्षः स्वाहा रक्षसां त्वा वधायावधिष्म रक्षोऽवधिष्मामुमसौ हतः ।।३८।।

अन्वय : हे यज्ञहवि! (अपामार्ग-तण्डुल) सवितुः देवस्य प्रसवे अश्विनो बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् उपांशों वीर्येण त्वा जुहोमि। हतं रक्षः स्वाहा। हे स्रुव! त्वा रक्षसां वधाय रक्षः अवधिष्म अभूम अवधिष्म। असौ हतः।

व्याख्या : हे अपामार्ग-तण्डुल आदि यज्ञ हवियों! तुम्हें मैं सर्वप्रेरक सविता देवता की प्रेरणा से अश्विनी कुमारों की बाहुओं से तथापूषा के हाँथों से स्वीकार करता हूँ। उपांशुनामक प्रथमग्रह के सामर्थ्य से मैं होम करता हूँ। इस होम के प्रभाव से राक्षस नष्ट हो गये। एतदर्थ यह आहुति समर्पित है। हे स्रुक! राक्षसों के नाशार्थ तुम्हें मैं होम की दिशा में फेकता हूँ। इस प्रयोग से राक्षस नष्ट हो गये मेरे द्वारा शत्रु भी मार दिये गये।

म० : 'देवस्य त्वेति जुहोतीति' (का. 15। 2। 6) प्रागुदग्वा गत्वा गृहीतमुल्मुकं संस्थाप्य स्त्रुवेणापामार्गतण्डुलान्जुहुयात्। देवस्य त्वा व्याख्यातम्। उपांशोः त्रीणि यजूंषि रक्षोघ्नदेवत्यानि। उपांशुर्नाम प्रथनो ग्रहस्तस्य वीर्येण सामर्थ्यैनाहं जुहोमि। अतएव रक्षो राक्षसजातिर्हतं निहतम् स्वाहा सुहुतं हविरस्तु। 'रक्षसां त्वेति स्त्रुवमस्यति तां दिशं यस्यां जुहोतीति' (का. 15। 2। 7) यस्यां दिशि होमं कुर्यात्तां दिशं प्रति स्त्रुवं प्रक्षिपेत्। रक्षसां राक्षसानां वधाय नाशार्थ त्वा त्वां प्रास्यामीति शेषः। 'अवधिष्म इत्यायन्त्यनपेक्षमिति' (का. 15। 2। 7)। अध्वयर्वादयः पश्चादनवलोकयन्तो देवयजनं प्रत्यागच्छन्ति। रक्षो राक्षसजातिं वयमवधिष्म हतवन्तः। जातावेक-वचनम्। अमुमिति शत्रुनामग्रहणम् असाविति च। अमुं देवदत्त वयमबधिष्म असौ देवदत्तौ हतो मारितोऽस्माभिः ।।38।।

एकोनचत्वारिंशी

सविता त्वा सवानाᳬं सुवतामग्निर्गृहपतीनाᳬं सोमो वनस्पतीनाम्। बृहस्पतिर्वाचऽइन्द्रो ज्यैष्ठयाय रुद्रः पशुभ्यो मित्रः सत्यो व्वरुणो धर्मपतीनाम् ।।३९।।

अन्वय : (हे यजमान!) सविता त्वा सवानाम सुवताम्। अग्निः गृहपतीनाम्, सोमः वनस्पतीनां बृहस्पतिः वाचः इन्द्रो ज्यैष्ठ्याय, रूद्रः पशुभ्यः मित्रः सत्यः (सत्यभाषणाय) वरुणः धर्मपतीनाम् (आधिपत्यं प्रददातु)।

व्याख्या : हे यजमान! सर्वप्रेरकसविता देवता आप सभी को प्रेरणा या उचित निर्देश देने के लिए प्रेरित करें। अग्नि देवता गृहस्थाश्रम में सम्पन्न किये जाने वाले नित्यानैमित्तिकादि कर्मो को करने के लिए प्रेरित करें, सोमदेवता वनस्पतियों से सम्बद्धकार्य करने के लिए, बृहस्पति सुन्दरवाणी के लिए (पाण्डित्य के लिए) इन्द्रदेवता सर्वोत्कृष्ट पद प्राप्ति के लिए, रूद्रदेवता पशुओं के कल्याण के लिए, मित्रदेवता सत्यभाषण के लिए तथा वरुण देवता धर्मपालन के लिए तुम्हें प्रेरित करें।

म० : 'उत्तमेन चरित्वा सविता त्वेत्याह यजमानबाहुं दक्षिणं गृहीत्वा नामास्य गृह्णाति मन्त्रे यथास्थानं मातापित्रोश्च यस्याश्च जाते राजा भवतीति' (का. 15। 4। 13-14)। अष्टौ देवसूहवींषि। तत्रान्तिमेन वरुणाय धर्मपतये इति वारुणेन चरुणा चरित्वा यजमानान्तिके गत्वा स्त्रुचौ सव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणं तद्बाहुमादाय सविता त्वेति कण्डिकाद्वयरूपं मन्त्रमाह। मन्त्रे यथास्थानं यजमानस्य तन्मातापित्रोर्यस्या जनपदजाते राजा भवति तस्याश्वें नामानि गृह्णातीति सूत्रार्थः। अतिजगती यजमानदेवत्या। सवितासवानां प्रसवानामाज्ञानामाधिपतये हे यजमान, त्वा त्वां सुवतां प्रेरयतु। सर्वेषामाज्ञादानेऽधिकारी भवेत्यर्थः। अग्निर्गृहपतीनां गृहस्थानामाधिपत्ये त्वां सुवताम्। सोमो वनस्पतीनां वृक्षाणामाधिपत्ये त्वां सुवताम्। वृक्षाः सर्वे तवोपकारका भवन्त्वित्यर्थः। बृहस्पतिर्वागर्थ त्वां सुवतां पाण्डित्याय प्रेरयतु। यद्वा षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। वाचआधिपत्ये सुवताम्। इन्द्रो देवो ज्यैष्ठयाय ज्येष्ठभावाय त्वां सुवताम्। रुद्रः पशुभ्यः पश्वर्थं पश्वाधिपतये वा त्वां सुवताम्। मित्रो देवः सत्यः सुपां सुलुक्' (पा. 7। 1। 39) इत्यादिना चतुर्थ्याः सुआदेशः। सत्याय सत्यवाक्याय सत्यवदितुं त्वां सुवताम्। वरुणो धर्मपतीनां धर्मेश्वराणां धर्मशीलानामाधिपत्ये त्वां सुवताम्। सवित्रादयोष्टौ देवसूहविषां देवतास्त्वां नानाधिपत्यानि ददत्विति वाक्यार्थः ।।39।।

चत्वारिंशी

इमन्देवाऽअसपत्नथ्ँ सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकम्ब्राह्मणानाथ्ँ राजा ।।४०।।

अन्वय : हे देवा! इमं (यजमानं) महते क्षत्राय, महते, ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्याय इन्द्रस्य इन्द्रियाय असपत्नम् सुवध्वम्। इमम् अमुष्य पुत्रम् अस्मै बिशे अमी एष वः राजा अस्माकं ब्राह्मणानां सोमः राजा।

व्याख्या : हे देवो! आप लोग इस यजमान को (क्षत्राय) आपत्ति से त्राण करनेवाले पद की प्राप्ति के लिए, सर्वश्रेष्ठ (सर्वोच्चाधिकारी) पद की प्राप्ति के लिए, सभी का अधिपत्य पाने के लिए तथा देवराज इन्द्र के समान ऐश्वर्यप्राप्ति के लिए शत्रुरहित एवं निर्विरोध (इसे) राज्यपद पर प्रतिष्ठित करें। यह यजमान अमुक के पुत्र तथा अमुकी देवी का सुपुत्र है। इस देश की प्रजा के अधिपति के रुप में इसे अभिषिक्त किया जा रहा है। अब से यह व्यक्ति इस देश का (तुम्हारा राजा हो गया। और हम ब्राह्मणों के राजा सोम है। अर्थात विष्णु ही है।

यहाँ सोम विष्णु रुप हैं—यो वैविष्णुः स सोमः) श.ब्रा.–3–4–21।

यहाँ पर नवामाध्याय की अन्वय सहित हिन्दी व्याख्या पूर्ण हो गई।

म० : अत्यष्टिर्यजमानदेवत्या। हे देवाः सवित्रादयः, इमममुकसंज्ञं यजमानमसपन्नं सपत्नरहितं कृत्वा सुवध्वं प्रेरयध्वम्। किमर्थ। महते क्षत्राय महत्यै क्षत्रपदप्राप्तये। महते ज्यैष्ठयाय ज्येष्ठभावाय। महते जानराज्याय जनानामिदं जानं जानं च तद्राज्यं च जानराज्यं। जनानामाधिपत्यायेत्यर्थः। इन्द्रस्यात्मन इन्द्रियाय वीर्याय आत्मज्ञानसामर्थ्याय इमं यजमानं सुवध्वमित्यर्थः। किंभूतमिमम्। अमुष्य पुत्रम्। अमुष्येति षष्ठ्यन्तं यजमानपितुर्नाम ग्राह्यम्। तथा अमुष्यै षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। अमुष्या देव्याः पुत्रम्। अमुष्या इति यजमानमातुर्नामग्रहः। अस्यै विशे अस्याः कौरव्याः विशः प्रजाया अधिपतिमिति शेषः। अस्यै इति षष्ठन्तं जातिनाम ग्राह्यम्। अमी इति प्रथमान्तं देशनाम ग्राह्यम्। अमी हे कुरवः पञ्चालाः, वो युष्माकइमे स्वदिरवर्मा राजास्तु। अस्माकं ब्राह्मणानां तु सोमश्चन्द्रो बल्लीरूपो वा सोमो राजा प्रभुरस्तु ।।40।।

श्रीमन्महीधरकृते वेददीपे मनोहरे।
वाजपेयो राजसूयारम्भान्तो नवमोऽगमत्।।9।।

इतिनवमोऽध्यायः

अथ दशमोऽध्यायः

तत्र प्रथमा

अपो देवा मधुमतीरगृभ्णन्नूर्जस्वती राजस्वश्चितानाः।
याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन्याभिरिन्द्रमनयन्नत्यरातीः।।१।।

अन्वय : इन्द्रादिदेवा मधुमतीः अपः अगृभ्णन् (गृहीतवन्तः) उर्ज्जस्वतीः राजस्वः (नृपोत्पादिका) चितानाः। याभिः (अद्भिः) मित्रावरुणौ अभ्यषिञ्चन् याभिः इन्द्रम् अरातीः अति अनयन्। तथा भूता अपो देवा गृहीतवन्तः ता अप अहं गृह्णामि।

व्याख्या : इन्द्रादिदेवों ने, मधुरस्वादयुक्त, विशिष्टअन्नरसरुप, पोषणशक्ति देने वाले राज्याभिषेक के कार्य में प्रयोग आने वाले, ग्रहणमात्र से कर्तव्य का बोधकराने वाले ऐसे दिव्य जल को ग्रहण किया है। जिस जल से देवताओं ने मित्रावरुण का अभिषेक किया। जिस जल के प्रभाव से इन्द्र अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त किये, आज उसी जल को मैं ग्रहण करता हूँ।

यहाँ से राजसूय याग का प्रारम्भ होता है, जिसका अधिकारी केवल क्षत्रिय ही होता है।

(यहाँ राजसूय यज्ञ में राजा के अभिषेक के लिए विभिन्न नदियों एवं स्त्रोतों के 17 प्रकार के जल को एकत्रित किया जा रहा है। जिसमें सर्वप्रथम अध्वर्यु पवित्रनदी सरस्वती के जल को ग्रहण करता है।

म० : नवमेऽध्याये वाजपेय-राजसूय च संबन्धि कियदपि कर्मोक्तं। दशमेऽभिषेकार्थजलादानादिराजसूयशेषचरकसौत्रमणी चोच्यते। तत्र इडान्तेऽपो गृह्णाति यूपमुत्तरेण नैमित्तिकीरसंभवाद्गत्वेतराः पृथक् पात्रेष्वौदुम्बरेषु (का. 15। 4। 20-22) 'सारस्वतीर्गृह्णात्यपो देवाः' (15। 4। 33) इति। इडाग्रहणं कार्यशेषोपलक्षणम्। देवसूहविषां भागपरिहरणान्ते कृते अभिषेकार्था वक्ष्यमाणा अपो वक्ष्यमाणप्रकारेणौदुम्बरवृक्षपात्रेषु पृथग्गृह्णाति। तत्र विशेषः। निमित्तवशात्प्राप्या नैमित्तिक्यः यथान्तरिक्षात्प्रतिगृह्यातपवर्षाः प्रुष्वाः गोरुल्व्या इत्याद्याः ता राजसूयारम्भात् प्रागेव संपाद्य तदानीं यूपमुत्तरेण गृह्णीयात्। कुतः असंभवात् तदानीमातपवर्षणादेर्निमित्तस्याभावात् इतरा अनैमित्तिकीरपो गत्वा तदानीमेव गृह्णीयात्। तत्र मन्त्रानाह। अपो देवा इति सरस्वतीनदीसं-

बन्धिनीरप आदौ गृह्णाति। चरकसौत्रामण्याः प्राग्वरुण ऋषिः। अब्देवत्या त्रिष्टुप्। देवा इन्द्रादयो या अपोऽगृभ्णन् गृहीतवन्तः। किंभूता अपः। मधुमतीः मधुरस्वादोपेता'ः। तथा ऊर्जस्वतीः ऊर्जो विद्यते यासु। विशिष्टान्नरसवतीः। राजस्वः राज्ञः सूयन्ते जनयन्तीति राजस्वः नृपोत्पादिका'। चिताना 'चेतयमाना' सदेवतत्वात्परिहष्टकारिणीः। पुनस्ता एव विशिनष्टि। याभिरद्भिर्देवा मित्रावरुणौ अभ्यषिञ्चन् मित्रवरुणयोरभिषेकं कृतवन्तः। याभिरद्भिर्देवा इन्द्रं देवमरातीः शत्रून् अत्यनयन् अतीत्य नीतवन्तः इन्द्रं शत्रूनत्यकामयन्नित्यर्थः। 'छन्दसि परेऽपि' (पा. 1। 4। 81) इति अतेरुपसर्गस्य क्रियापदात्परत्वम्। ता अपो गृह्णामीति शेषः ।।1।।

द्वितीया

वृष्णं ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा वृष्णं ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि ।।२।।

अन्वय : (हे उर्मि!) कल्लोल त्वं वृष्णः ऊर्मिरसि, राष्ट्रदा में राष्ट्रं देहि। वृष्णः ऊर्मिरसि राष्ट्रदा अमुष्मै राष्ट्रं देहि। वृषसेनः असि राष्ट्रदा राष्ट्रं में देहि। वृषसेनः वृषा सेचन समर्था सेना अलराशिरूपा यस्य स वृशसेनः। असि राष्ट्रदा अमुष्मै राष्ट्रं देहि।

व्याख्या : हे जलतरंग! (कल्लोल) तुम सिंचनसमर्थ अर्थात् राजा को तुम अभिषिक्त करते हो। तुम स्वभावतः राष्ट्रजनजीवनदायक हो। अतः मुझे राष्ट्र प्रदान करो। एतदर्थ यह हवि तुम्हें समर्पित करता हूँ। हे जल कल्लोल! तुम अभिषिक्त करने में समर्थ सिन्धुनद की लहर (उर्मि) हो। राष्ट्रप्रदान करने वाले हो अतः इस अभिषिक्त क्षात्रवीरयजमान को व्यवस्थित राष्ट्र पद पर प्रतिष्ठित करो।

हे ऊर्मि! तुम सेचनसमर्थ जलराशिरुप हो, राष्ट्र को प्रदान करने वाली हो (मनुष्यों को राष्ट्रीयजीवन देने वाली हो। अतः इस यजमान को राष्ट्र की प्रभुत्वशक्ति से अभिषिक्त करो। शेष अर्थ अत्यन्त स्पष्ट है।

म॰ : 'जुहोत्युत्तरासु चतुर्गृहीतं वृष्ण ऊर्म्यादिभिः स्वाहाकारान्तैः पूर्वैः पूर्वैः प्रतिमन्त्रमुत्तरैरुत्तरैर्गृह्णाति (का॰ 15। 4। 34) 'अवगूढात्पशोः पुरुषाद्वा पूर्वापरा ऊर्मी इति' (15। 4। 23) सारस्वतीरादायोत्तरासु षोडशस्वप्सु,

वृष्ण ऊर्मिरित्यादिभिः स्वाहान्तैः पूर्व पूर्वमन्त्रैश्चतुर्गृहीताज्यानि गृह्यमाणासु जुहुयात् उत्तरैः स्वाहाहीनैर्मन्त्रैस्ताः क्रमेण गृह्णाति। उत्तरमन्त्रेषु अमुष्मै इति पदस्थाने चतुर्थ्यन्तं यजमाननाम ग्राह्यम्। वृष्ण ऊर्मिरित्यादयो विश्वभृत स्थेत्यन्ता मन्त्राः संहितायां द्विशः पठितास्तेषां पूर्वः पूर्वः स्वाहान्तस्तेनाज्यहोमः उत्तरोत्तरः स्वाहाहीनस्तेनापामादानम्। तत्र गत्वा जले प्रविष्टात्पशोर्नराद्वा यौ पूर्वापरौ कल्लोलौ तौ हुत्वा गृह्णातीति सूत्रार्थः। वृष्ण ऊर्मिरसीत्यादीनि आपः स्वराज इत्यन्तानि यजूंषि लिंगोक्तदेवतानि। हे कल्लोल, त्वं वृष्णोः वर्षितुः सेक्तुः पशोर्नरस्य वा संबन्धी ऊर्मिः कल्लोलोऽसि। राष्ट्रदाः राष्ट्रं जनपदं ददातीति राष्ट्रदाः स्वभावत एव देशप्रदो भवसि अतो राष्ट्रं मे मह्यं देहि स्वाहा हविर्दत्तमस्तु। एवं हुत्वाथ गृह्णाति वृष्ण ऊर्मिरसि राष्ट्रदा अतोऽमुष्मै यजमानाय राष्ट्रं जनपदं देहि। अमुष्मै इति चतुर्थ्यन्तं यजमाननाम ग्राह्यम्। एवमुपरितना अपि मन्त्रा व्याख्येयाः। अपरोर्मिं गृह्णाति वृषसेनोऽसि वृषा सेचनसमर्था सेना जलराशिरूपा यस्य स वृषसेनः। व्याख्यातमन्यत् ।।2।।

तृतीया

अर्थेतं स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहाऽर्थेतं स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तौजंस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहौजंस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तापंः परिवाहिणीं स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहापंः परिवाहिणीं स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तापां पतिंरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहापां पतिंरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देह्यपां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहापां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि ।।३।।

अन्वय : हे जलसंघात! (त्वम्) अर्थेत स्थ राष्ट्रदा असि अतो मे राष्ट्रं दत्त यच्छत अर्थेतः स्थ राष्ट्रदा अमुष्मै यजमानाय राष्ट्रं दत्त। यूयं ओजस्वतीः स्थ, आपः परिवाहिणीः स्थ। हे समुद्र! त्वम् अपांपतिः असि, अपांगर्भ असि राष्ट्रदा असि अतो मे राष्ट्रं देहि। अपां गर्भोसि राष्ट्रदा असि अतः अमुष्मै यजमानाय राष्ट्रं देहि।

व्याख्या : हे आपः (जल) आप पवित्रतम इस यज्ञ के लिए नदी से यज्ञस्थल तक लाये गये हो, तुम राष्ट्रप्रदान करने वाले हो अतः मुझे सुशासित राष्ट्रप्रदान करो। इस अभिषिच्यमान राजा को भी राष्ट्र

(राज्य) प्रदान करो। हे जल। तुम बल प्रदान करने वाले तथा सर्वत्र प्रवहणशील (प्रवाहयुक्त) हो राष्ट्र को देने वाले हो। अतः इस यजमान को राष्ट्रप्रदान करो। हे समुद्र! तुम जल के रक्षक हो, भँवररुप हो (मध्यवर्ती जल) जनपद के प्रदाता हो, अतः इस यजमान को राष्ट्र (राज्य) प्रदान करो।

म॰ : स्यन्दमाना इति नद्यादिप्रवाहस्था अपो गृह्णाति'। (का. 15। 4। 24) अर्थेतः अर्थ प्रयोजनमुदिृश्य नद्यादेः सकाशाद् यज्ञदेशं यन्ति गच्छन्तीत्यर्थेतः। इणः क्विपि तुगागमः। तथाविधा यूयं राष्ट्रदा देशदात्र्यः स्थ भवथ। मे राष्ट्रं दत्त यच्छत। दत्तेति बहुवचनम् अन्यद्याख्यातम् (का. 15। 4। 25) प्रतिलोमाः। वहन्तीनां याः प्रतिगच्छन्ति तासु होमादाने। हे आपः, यूयमोजस्वतीः ओजसा बलेन युक्ता भवथ। 'अपयतीरिति' (का. 15। 4। 26) वहन्तीनामपां मध्याद्या मार्गान्तरेण गत्वा पुनस्तत्र मिलन्ति ता अपयत्यस्तासु होमादाने। हे आपः, यूयं परिवाहिणीः स्थ परि सर्वतो वहन्तीति परिवाहिण्यः सर्वतोवहनशीला भवथ उक्तमन्यत् (का. 15। 4। 27) नदीपतिमिति।– समुद्रस्यापां होमादाने। अपां जलानां पतिः स्वामी पालकोऽसि। (का. 15। 4। 29) निवेष्या इति। निवेष्य आवर्तस्तखवा निवेष्याः नद्यादौ यत्राम्भेभ्रमस्तत्र होमादाने हे जलभ्रम, त्वमपां गर्भो मध्यवर्ती भवसि ॥3॥

चतुर्थी

सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रम्मे दत्त स्वाहा वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्र मे दत्त स्वाहा शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त शक्करी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा शक्करी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे

दत्त स्वाहा विश्वभृतं स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तापः स्वराजं स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त। मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्तां महिं क्षत्रं क्षत्रियाय वन्वानाऽअनाधृष्टाः सीदत सहौजसो महिं क्षत्रं क्षत्रियाय दधतीः ।।४।।

अन्वय : हे आपः। (यूयम्) सूर्यत्वचसः स्थःराष्ट्रदा राष्ट्रं में दत्त। हे आपः (यूयम्) सूर्यवर्चसः स्थ, मान्दाः स्थ, व्रजक्षितः स्थ वाशाः स्थ, शविष्ठाः स्थ, जनभृतः स्थ विश्वभृतः स्थ, स्वराजः स्थ, अतो मे राष्ट्रं दत्त अमुष्मै (यजमानाय) राष्ट्रंदत्त। हे मधुमतीः आपः मधुमतीभिः क्षत्रियाय महिक्षत्रं वन्वानाः पृच्यन्ताम्। (यतः) अनाधृष्टाः सहौजसः क्षत्रियाय महिक्षत्रं दधतीः।

व्याख्या : हे जल! तुम सदा ही धूप में रहने के कारण सूर्य के समान शुभ्रकान्तिवाले हो, राष्ट्र के प्रदाता हो। अतः मुझे जलीयस्थान में निवास के लिए हमें एवं इस यजमान को राष्ट्र प्रदान करो। हे जल! तुम सूर्य के समान तेज सम्पन्न हो सरोवर में स्थित होने के कारण तुम मान्द (गतिशून्य) हो, अथवा जीवों को आनन्द प्रदान करने वाले हो, तुम कूपोदक हो, ओस की बूँदों के जल हो, बलप्रद हो, मधुर हो, प्रसूय माना गौ के गर्भ से निकलने वाले जल शक्वरी संज्ञक हो, दूध के रुप में पोषण देने वाले पयः संज्ञक हो, घी के रूप में विश्व का भरणपोषण करने वाले हो, तथा सूर्य की किरणों से तृप्त होने के कारण स्वराट् नामवाले हो, राष्ट्र के प्रदाता हो, अतः हमें तथा इस यजमान को राष्ट्र शासन का सामर्थ्य प्रदान करो।

हे मधुर जल! अपने मधुर रस से इस क्षत्रिय (अभिषिक्त राजा को) क्षात्रबल प्रदान करते हुए इस राजा में स्थित हो जाओं, क्योंकि तुम राक्षसों द्वारा पराभव को प्राप्त न होने वाले राजाओं को क्षात्रबल प्रदान करने वाले हो।

म० : 'स्यन्दमानानां स्थावराः प्रत्यातापं इति'। (का. 15। 4। 30) बहदपां मध्ये याः स्थिराः सदा घर्मे वर्तमानास्तासु होमादाने। हे आपः, यूयं सूर्यत्वचसो भवथ सूर्यस्येष त्वचस्त्वक् यासां ताः सूर्यत्वचसः सदा तापे वर्तमानत्वात् त्वचः शब्दः सान्तस्त्वग्वाची। 'अन्तरिक्षात्प्रतिगृह्य-तपवर्ष्या इति' (का. 15। 4। 31) आतपे वर्षति सति गगनादप

आदायादौ संपादिताः सन्ति यूपमुत्तरेण तासु होमादाने। सूर्यस्येव वर्चस्तेजो यासां ताः सूर्यवर्चसः तादृशो भवथ। 'सरस्या इति' (का. 15। 4। 32) तडागभवास्वप्सुं होमादाने। हे आपः, यूयं मान्दाः स्थ। मन्दतेर्मोदनार्थस्य रूपं मन्दन्ते भूतानि यत्र बहूदकत्वात्ता मान्दाः भवथ। 'कूप्य इति'। (का. 15। 4। 3) कूपे भवाः कूप्यास्तत्र होमादाने। हे आपः, यूयं व्रजक्षितो भवथ। व्रज इति मेघनामसु पठितम्। अत्र तूदकधाारणसामर्थ्यात् कूप उच्यते। व्रजे कूपे क्षियन्ति निवसन्ति व्रजक्षितः। (का. 15। 4। 32) प्रुष्वा इति। 'प्रुष सेचने' प्रुष्णन्ति ओषधीः सिंचन्तीति प्रुष्वाः अवश्यायरूपाः तृणाग्रेषु स्थितास्तासु वस्त्रक्षेपेण या आत्ताः सन्ति ता यूपमुत्तरेण हुत्वा ग्राह्याः। वाशाः स्थ। 'वश कान्तौ' उश्यन्ते जनैः काम्यन्तेऽत्रनिष्पत्तिहेतुत्वाद्वाशा यूयं भवथ। 'मध्विति' (का. 15। 4। 32) मधुनि होमादाने। हे मधुरूपा आपः, यूयं शविष्ठाः। 'शव' इति बलनाम। बलिष्ठाः बलदात्र्यो भवथ। त्रिदोषबलशमनत्वाद्बलकरं मधु। 'गोरुल्व्या इति' (का. 15। 4। 32) उल्वं गर्भवेष्ठनं तत्र भवा उल्व्याः प्रसूयमानधेनुगर्भवेष्टनोत्थजलं पूर्व गृहीतमस्ति यूपमुत्तरेण तत्र होमादाने। शक्वरीः। 'शकृ शक्तौ' 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा. 3। 2। 75) इति वनिप्प्रत्ययः 'वनो र च' (पा. 4।1।7) इति ङीप् रेफश्च। शक्नुवन्ति वाहदोहादिभिर्जगदुद्धर्तुमिति शक्कर्यो गावस्तत्संबन्धिन्यो यूयं भवथ। 'पय इति' (का. 15। 4। 32) दुग्धास्य होमपूर्वं ग्रहणम्। हे आपः, यूयं जनभृतो भवथ बालभावे जनान् जन्तून् बिभ्रति पुष्णन्तीति जनभृतः। 'घृतमिति' (का. 5। 4। 32) घृते होमादाने। हे घृतरूपा आपः, यूयं विश्वभृतः विश्वं सर्वं जगद्देवादिकं बिभ्रति विश्वभृतो भवथ राष्ट्रदाः। एवं सारस्वत्यादयो घृतान्ताः सप्तदशाप उक्ताः। 'आपः स्वराज इति मरीचीर्गृहीत्वा गृहीत्वाञ्जलिना सर्वासु संसृजतीति' (का. 15। 4। 35) रविकरतप्ता आपो मरीचयस्ता अजलिनादाय पूर्वगृहीतास्वप्सु योजयेत् प्रतिग्रहणमन्त्रः संसर्गस्तूष्णीम्। 'नात्र होमः षोडशाहुतीर्जुहोति द्वयीषु न जुहोति सारस्वतीषु च मरीचिषु च' 22 य. उ. (5। 3। 4। 23) इति श्रुतेः। हे आपः, मरीचिरूपा यूयं स्वराजः स्थ स्वेनैव राजन्ते ताः स्वराजः अनन्याश्रितराज्या भवथ। राष्ट्रदाः अतोऽमुष्मै यजमानाय राष्ट्रं देशं दत्त। 'औदुम्बरे पात्रे समासिञ्चत्येना मधुमतीरिति' (का. 15। 4। 36) एनाः सरस्वत्याद्या अप उदुम्बरकाष्ठपात्रे एकीकरोति। मन्त्रवृत्तिः। अब्देवत्यं यजुः। मधुमतीः मधुरसवत्य एता आपो मधुमतीभिर्मधुर–

स्वादोपेताभिरद्धिः पृच्यन्तां संसृज्यन्ताम्। किंभूता एता':। महि महत् क्षत्रं बलं क्षत्रियाय राज्ञे यजमानाय बन्वानाः संभजमानाः ददत्य इत्यर्थः। वनोतिः संभजनार्थः। 'मैत्रावरुणधिष्ण्यस्य पुरस्तान्निदधात्यनाघृष्टा सीदतेति' (का. 15। 4। 37) औदुम्बरे पात्रे एकीकृतास्ता अपो मैत्रावरुणधाष्ण्याग्रे सदसि सादयति। अब्देवत्यम्। हे आपः, यूयं सीदत तिष्ठत। किंभूता यूयम्। अनाघृष्टाः अपराभूता रक्षोभिः। सहोजसः ओजसा सहिताः बलयुक्ताः। तथा महि महत्क्षत्रं बलं क्षत्रियाय राज्ञे दधतीः दधत्यः स्थापयन्त्यः ।।4।।

पञ्चमी

सोम॑स्य॒ त्विषि॑रसि॒ तवै॑व मे॒ त्विषि॑र्भूयात्। अ॒ग्नये॒ स्वाहा॒ सोमा॑य॒ स्वाहा॑ सवि॒त्रे स्वाहा॒ सर॑स्वत्यै॒ स्वाहा॑ पू॒ष्णे स्वाहा॒ बृह॒स्पत॑ये॒ स्वाहेन्द्रा॑य॒ स्वाहा॒ घोषा॑य॒ स्वाहा॒ श्लोका॑य॒ स्वाहा॒ꣳशा॑य॒ स्वाहा॒ भगा॑य॒ स्वाहा॑र्य॒म्णे स्वाहा॑ ।।५।।

अन्वय : (हे व्याघ्रचर्म) त्वम्) सोमस्य त्विषिरसि (अतः) तव इव मे त्विषिः स्यात्। अग्नये स्वाहा सोमायस्वाहा, सवित्रे सरस्वत्यै, पूष्णे, बृहस्पतये, इन्द्राय, घोषाय, श्लोकाय, अंशाय, भगाय अर्यम्णे स्वाहा।

व्याख्या : हे व्याघ्रचर्म! तुम सोम की कान्तिवाले हो। इसलिए तुम्हारी जैसी ही मेरी भी कान्ति (दीप्ति) हो जाय। अग्नि की प्रसन्नता के लिए यह आहुति प्रदान करता हूँ। इसीप्रकार सोम, सर्वप्रेरकसविता, सरस्वती, पूषा, बृहस्पति, इन्द्र, शब्द करने वाले घोषदेवता, मनुष्यों द्वारा स्तुत्य तथा पूजित देव, पाप पुण्य के विभाजक देवता, ऐश्वर्य प्रदान करने वाले देवता तथा विश्व को व्याप्त करने वाले अर्यमा, इन सभी देवताओं के प्रसन्नता के लिए मैं यह आहुति प्रदान करता हूँ।

यहाँ पार्थसंज्ञक द्वादश मन्त्रों से होम का विधान है।

म॰ : 'व्याघ्रचर्मास्तृणाति सोमस्य त्विषिरिति' (का. 15। 5। 1)। मैत्रावरुणधिष्ण्याग्रासादितपालाशादिपात्रचतुष्टयस्य पुरस्ताद्याघ्रचर्मास्तृणाति। चर्मदेवत्यम्। हे चर्म, त्वं सोमस्य त्विषिर्दीप्तिरसि भवसि अतस्तवेव त्वत्सदृशी मे मम त्विषिः कान्तिर्भूयात् 'यत्र वै सोम इन्द्रमत्यपवते स यत्ततः शार्दूलः समभवत्तेन सोमस्य त्विषिः' (5। 6। 5। 3) इति श्रुतेः। 'पार्थानामग्रये स्वाहेति षट् जुहोति प्रतिमन्त्रम्' (का. 15। 5। 3) 'पार्थानामिन्द्राय

स्वाहेति षट् जुहोति प्रतिमन्त्रमिति' (का. 15। 5। 34)। पार्थसंज्ञानां द्वादशमन्त्राणां मध्येअग्नय इत्यादीनि षट्पार्थान्यभिषेकादौ जुहोति इन्द्रायेत्यादि षट् अभिषेकान्ते सकृदृहीताज्यैः। लिंगोक्तानि द्वादशयजूंषि अंगतीत्यग्निः। सुनोति सोमः। सूते सुवति प्रेरयति वा सविता। सरः शब्दप्रवाहो यस्याः सा सरस्वती। पुष्णाति पूषा। बृहतां साम्नां पतिर्बृहस्पतिः। इन्दति ईष्टे इन्द्रः। घुष्यति शब्दं करोति घोषः। श्लोक्यते कीर्त्यते जनैरिति श्लोकः। अंशयति विभाजयति पुण्यपापे तत्फलदानेनेति अंशः। 'अंश विभाजने' धातुः। भज्यते सेव्यते स भगः। इयर्ति व्याप्नोति विश्वमित्यर्यमा। एतेभ्यः सुहुतमस्तु ॥5॥

षष्ठी

पवित्रे॑ स्थो वैष्ण॒व्यौ॑ सवि॒तुर्वः॑ प्रस॒व उत्पु॑ना॒म्यच्छि॑द्रेण प॒वित्रे॑ण सूर्य॑स्य र॒श्मिभिः॑। अनि॑भृष्टमसि वा॒चो बन्धु॑स्तपो॒जाः सोम॑स्य दा॒त्रम॑सि स्वाहा॑ राज॒स्वः॑ ॥६॥

अन्वय : हे पवित्रे! युवाम् वैष्णव्यौ स्थ। सवितुः प्रसवे अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः वः उत्पुनामि। हे आपः! अनिभृष्टमसि वाचो बन्धुः तपोजाः सोमस्य दात्रमसि स्वाहा राजस्वः।

व्याख्या : हे कुशद्वयनिर्मित पवित्र (युवाम्) तुम दोनों यज्ञ के अंग हो। हे जल! सर्वप्रेरक सवितादेवता की प्रेरणा से छिद्ररहित पवित्र से तथा सूर्य की किरणों से तुम्हें पवित्र करता हूँ। हे जल! तुम राक्षसों द्वारा अपराभूत हो, वाणी के बन्धु हो क्योंकि शरीर में जल के रहने से ही वाग उच्चरित होता है। यही बन्धुता है तथा तुम अग्नि से उत्पन्न होने वाले हो। हे जल! तुम सोम को प्रदान करनेवाले तथा स्वाहाकार द्वारा पवित्र होकर सामर्थ्यशील व्यक्ति को राजा बनाते हो।

म० : 'पवित्रे कृत्वा हिरण्यमेनयोः प्रवयतीति' (का. 15। 5। 4)। प्रकृतिवत्पवित्रे स्थ इति पवित्रे कृत्वा तयोः स्वर्णं बध्नाति। पवित्रे स्थः व्याख्यातम् (अध्या. 1 क. 12)। 'ताभ्यामुत्पुनात्यपः सवितुर्व इति' (का. 15। 5। 5)। सहिरण्याभ्यां दर्भपवित्राभ्यां मैत्रावरुणधिष्ण्याग्रासादिता औदुम्बरपात्रस्थाः अभिषेकार्था अप उत्पुनाति सवितुरित्यादिना राजस्व इत्यन्तेन मन्त्रेण। अब्देवत्यम्। सवितुः सर्वप्रेरकस्य परमेश्वरस्य प्रसवेऽनुज्ञायां स्थितोऽहम् अच्छिद्रेण छिद्ररहितेन समीचीनेन पवित्रेण सूर्यस्य किरणैश्चोत्पुनामि

हे आपः, वो युष्मान् उत्पवनं करोमि। अनिभृष्टमसि। आपोऽत्राभिधेयाः अतोऽत्रैकवचनान्ता मन्त्रावयवाः श्रुत्या बहुवचनान्ता व्याख्याताः अतः श्रुत्यनुसारेण व्याख्यायते। हे आपः, यूयमनिभृष्टा स्थ। 'भ्रस्ज पाके' अयं धातुर्धृष्ट्यर्थे व्याख्यातः। अनिधृष्टाः न नितरां घृष्टाः अपराभूताः रक्षोभिः। वाचो बन्धुः वाण्या बन्धुभूताः 'यावद्वै प्राणेष्वापो भवन्ति तावद्वाचा वदति' (5।3।4।16) इति श्रुतेः, 'आपोमयी वाक्' इति सामश्रुतेश्च। तथा तपोजाः तपःशब्देनात्राग्निरुच्यते तपसोऽग्नेर्जातास्तपोजाः। 'अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद्‌दृष्टिग्नेर्वा एता जायन्ते तस्मादाह तपोजाः' (5। 3। 5। 17) इति श्रुतेः 'वायोरग्निरग्नेरापः' (तैत्ति. आर. 7। 1) इति श्रुत्यन्तरात् सोमस्य दात्रमसि सोमस्य दात्र्यो दानकर्त्र्यो भवथ 'यदा वा एनमेताभिरभिपुण्वन्त्य- थाहुतिर्भवति' (5। 3। 5। 18) इति श्रुतेः सोमदात्र्य आपः। स्वाहा राजस्वो स्वाहाकारेण पूताः सत्यः राजखो जनस्य राजानं सुवते जनयन्तीति राजस्वो राजजनिका भवथ ॥6॥

सप्तमी

सधमादों द्युम्निनीराप॑ऽए॒ताऽअना॑धृष्टा अप॒स्यो॒ वसा॑नाः।
प॒स्त्या॒सु चक्रे॒ वरु॑णः स॒धस्थ॑म॒पाᳪ᳖शिशु॑र्मा॒तृत॑मास्व॒न्तः ॥७॥

अन्वय : या एताः सधमादः द्युम्निनीः आपो वर्तन्ते ताः अनाधृष्टाः अपस्यः वसानाः पस्त्यासु मातृतमासु अन्तः अपां शिशुः वरुणइव सधस्थं चक्रे (कृतवान्)।

व्याख्या : ये जल विविध औदुम्बर पलाश आदि यज्ञीय काष्ठ पात्रों में अभिषेक के लिए एकत्रित किये गये हैं, जो प्रसन्नता को प्रदान करने वाले, बलप्रद शुभकर्मों के साधक, राक्षसों द्वारा अनभिभूत तथा पात्रों को आच्छादित करने वाले हैं। जो जल गृहाकृतिरुप (आश्रयरूप) होकर सभी को धारण करने वाले, माता के समान स्वस्थ शरीर का निर्माण करने वाले, जैसे जल के मध्य में वरुण शिशुरुप में निवास करते हैं। ऐसे जल हमारा कल्याण सम्पादन करें।

म० : 'अभिषेचनीयेष्वेनां व्यानयति सधमाद इति' (का. 15। 5। 6)। उत्पूता अभिषेकार्था आपोऽभिषेकार्थेषु पालाशौदुम्बरवाटाश्वत्थेषु पात्रेषु पूर्वासादितेषु चतुर्धा विभज्य निनयति। वरुणदेवत्या त्रिष्टुप्। या एता

आपो वर्तन्ते। कीदृश्य:। सधमादः सह एकस्मिन् पात्रे माद्यन्ति हृष्यन्ति मादयन्ते प्रीणयन्ति वा ताः सधमाद:। सहपूर्वान्मादयतेः क्विप् 'सधमादस्थयो-श्छन्दसि' (पा. 6। 3। 96) इति सहस्य सधादेश:। द्युम्रिनीः द्युम्रं वीर्यमस्ति यासां ता द्युम्निन्यः पूर्वसवर्णदीर्घ:। 'द्युम्रं द्योततेर्यशो वात्रं वा' (नि. 5। 5) इति यास्क:। अनाधृष्टाः रक्षोभिरनाभिभूता:। अपस्य:। अप इति कर्मनाम। अपसि कर्मणि साध्व्यः अपस्य:। 'तत्र साधु:' (पा. 4। 4। 98) इति यत् 'सुपां सुलुक्' (पा. 7। 1। 39) इति जसः सुरादेश:। वसानाः 'वस आच्छादने' वसते आच्छादयन्ति पात्राणीति वसाना:। या एवंविधा आपस्तासु अन्तर्मध्ये वरुणो देवः सधस्थं सहस्थानं चक्रे कृतवान्। सह स्थीयते यस्मिन् तत् सधस्थम्। किंभूतो वरुण:। अपां शिशुः बालक:। 'अपां वा एष शिशुर्भवति यो राजसूयेन यजते' (5। 3। 5। 19) इति श्रुतेः वरुणो राजसूययाजित्वादपां शिशु:। किंभूतास्वप्सु । पस्त्यासु पस्त्यमिति गृहनामसु पठितम्। सर्वेषामाधारत्वात् तथा मातृतमासु अतिशयेन जगन्निर्मात्रीषु ।।7।।

अष्टमी

क्षत्रस्योल्बमसि क्षत्रस्य जराय्वसि क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसीन्द्रस्य वार्त्रघ्नमसि मित्रस्यासि वरुणस्यासि त्वयायं वृत्रं वधेत्। दृबासि रुजासि क्षुमासि। पातैनं प्राञ्चम्प्रत्यञ्चम्पातैनं तिर्यञ्चं दिग्भ्यः पात ।।८।।

अन्वय : (हे क्षौमवस्त्र!) त्वं क्षत्रस्य उल्बम् असि, क्षत्रस्य जरायुः असि क्षत्रस्य योनिः असि, क्षत्रस्य नाभिरसि इन्द्रस्य वार्तघ्नमसि। (हे धनु) त्वं मित्रस्य सम्बन्धी असि वरुणस्य सम्बन्धी असि। त्वया अयं वृत्रं वधेत्। हे इषो! त्वं दृबासि रुजासि क्षुमासि। (हे बाणा) यूयं प्राञ्चं प्रत्यञ्चं तिर्यञ्चं एनं यजमानं पात। दिग्भ्यः सकाशात् एनं पात (रक्षत)।

व्याख्या : हे क्षौमवस्त्र! (रेशमीवस्त्र) तुम इस क्षत्रिय यजमान को राजत्व प्रदान करने वाले हो। इसे आवेष्टित कराने वाले उस जरायु के समान हो जो गर्भ को आवेष्टित करता है। अर्थात् हे क्षत्रिय तुम राजा की पूर्वस्थिति में हो। यहाँ राजा गर्भस्थानीय है। हे अधीवास (पगड़ी) तुम इसके उत्पत्ति स्थान हो। इसे राजा बनाने वाले हो। हे उष्णीष! तुम

इस यजमान के केन्द्र (मध्य) स्थान हो। हे धनुष! तुम इन्द्रदेवता के समान वृत्रनाशक हो। हे धुनषकोटियों! तुम मित्र एवं वरुणदेवता से सम्बन्धित हो। यह राजा यजमान तुम्हारी सहायता से विध्नकारीशत्रुओं का वध करें। हे बाणों! तुम शत्रुओं के विदारक तथा उनके दर्प को भंग करने वाले अर्थात् उनको भयभीत करने वाले हो। तुम इस राजा यजमान की पूर्वादि चारों दिशाओं में रक्षा करो।

यहाँ उल्ब का अर्थ अप्रत्यक्ष होने से है। अर्थात् कुछ ही समय में वह इन साधनों से सम्पन्न होकर राज्य को प्राप्त करेगा। राजा हो जायेगा। अतः उल्व शब्द का लक्षणया अर्थ करना चाहिए।

म० : 'तार्प्यप्रभृतीनि क्षत्रस्येति प्रतिमन्त्रम्' (का. 15। 5। 5) 'तार्प्यं परिधापयतीति' (15। 5। 7)। तार्प्यपाण्ड्वाधीवासोष्णीषाणि क्रमेण चतुर्भिर्यजुर्भिः परिधत्ते। तार्प्यक्षौमं वल्कलं घृताक्तवस्त्रं वा तार्प्यदैवतम्। हे तार्प्य, त्वं क्षत्रस्य यजमानस्य उल्वं गर्भाधारभूतमुदकमसि। यजमानो गर्भस्थानीयः। 'पाण्डुं निवस्त इति' (का. 15। 5। 12)। रक्तकम्बलं परिधत्ते। पाण्डुदैवतम्। क्षत्रस्य गर्भस्थानीयस्य यजमानस्य जरायु गर्भवेष्टनचर्म हे पाण्डु, त्वमसि। 'अधीवासं प्रतिमुच्येति' (का. 15। 5। 13) क्रमुकं गले बध्नाति। अधीवासदैवतम्। हे अधीवास, त्वं क्षत्रस्य योनिरसि गर्भसंभवस्थानं योनिः। 'उष्णीषंसंवेष्ट्य निवीतेऽवगूहते नाभिदेशे परिहरते वेति' (का. 15। 5। 13) शिरोवेष्टनं शिरसि संवेष्ट्य तत्प्रान्तौ परिहितवासो नीव्यां गोपयति नाभिदेशे वेष्टयति वा। उष्णीषदैवतम्। हे उष्णीष, त्वं क्षत्रस्य नाभिर्गर्भबन्धनस्थानमसि नाभ्या सन्नद्धा) गर्भं जायन्त इत्याहुः। 'इन्द्रस्य वार्त्रघ्नमिति धनुरातनोतीति' (का. 15। 5। 17) अध्वर्युधनुरधिज्यं करोति। धनुर्दैवतम्। हे धनुः, त्वमिन्द्रस्य संबन्धि वार्त्रध्नं वृत्रोऽनेन हन्यत इति वार्त्रघ्रं वृत्रनाशकं धनुरसि। तदातनोमीति शेषः। 'मित्रस्य वरुणस्येत्यस्य बाहू विमार्ष्टीति' (का. 15। 5। 18)। मित्रस्य वरुणस्येति मन्त्राभ्यामस्य धनुषो बाहू प्रान्तौ करेण प्रत्येकं विमार्ष्टि। बाहुदैवते यजुषी। हे दक्षिणकोटे, त्वं मित्रसंबन्धी भवसि। हे बामबाहो, त्वं वरुणसंबन्धी भवसि। 'धनुः प्रयच्छति त्वयायमिति' (का. 15। 5। 19)। यजमानाय धनुर्ददाति। धनुदैवतम्। हे धनुः, अयं यजमानस्त्वया धनुषा कृत्वा वृत्रं शत्रुं वधेत् हन्यात्। 'दृबासीति प्रतिमन्त्रमादाय तिस्त्रइषूः प्रयच्छति पातैनमिति प्रतिमन्त्रमिति'

(का. 15। 5। 20)। दूवासीत्यादिमन्त्रत्रयेण वाणत्रयमादाय पातैनमित्यादिमन्त्र-त्रयेण प्रत्येकं यजमानाय ददाति। षड्यजूंषि इषुदेवत्यानि। हे इषो, त्वं रुजासि 'रुजो भगे' रुजति शत्रून्भनक्ति रुजा। हे इषो, त्वं क्षुमासि 'क्ष्मायी विधूनने' क्ष्मायाति शत्रून् कम्पयतीति क्षुमा। यजमानाय ददाति। हे इषवः, प्राञ्चं प्रत्यगञ्चनं पूर्वदिशयवस्थितमेनं यजमानं यूयं पात पालयत। प्रत्यञ्चं प्रत्यगवनं पश्चिमदिश्यवस्थितमेनं यजमानं पात। तिर्यञ्चं तिर्यगञ्चमितस्त-तोऽवस्थितमेनं यजमानं पात। दिग्भ्योऽन्याभ्योऽपि दिग्भ्यः सकाशादेनं पात रक्षत ।।8।।

नवमी

आ॒विर्म॑र्या॒ आवि॑त्तो अ॒ग्निर्गृ॒हप॑ति॒रावि॑त्त॒ इन्द्रो॑ वृ॒द्धश्र॑वा॒ऽआवि॑त्तौ मि॒त्रावरु॑णौ धृ॒तव्र॑ता॒वावि॑त्तः पू॒षा वि॒श्ववे॑दा॒ आवि॑त्ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी वि॒श्वशं॑भुवा॒वावि॒त्तादि॑तिरु॒रुश॑र्मा ।।९।।

अन्वय : (हे ऋत्विजः) मर्या (मनुष्यरूपा) यूयम् आविः प्रकटा भवथ। अग्निः आवृत्तः (आवेदितः) वृद्धश्रवा (इन्द्रः) आवृतः। धृतव्रतौ मित्रावरुणौ आवित्तौ। विश्ववेदा पूषा आवित्तः विश्वशम्भुवौ द्यावापृथिवी आवित्ते। उरुशर्मा अदितिः। (आवित्ता)

व्याख्या : हे ऋत्विजों! आप लोग प्रकट हों। आप कर्मानुष्ठान विधिपूर्वक करें। गृहपति अग्नि इस यजमानराजा को अपना समझें। इसी प्रकार कीर्तियुक्तइन्द्रदेवता, कर्मों के धारण करने वाले (कर्मपरायण) मित्रावरुण, सर्वज्ञपूषा, संसार का कल्याण करने वाले द्यावापृथिवी तथा सभी को शरण देने वाली अदिति, भी इस यजमान राजा को अपना समझे। यह राजा उपर्युक्त इन सभी देवताओं से परिचित हो। अर्थात् ये देवता इसका कल्याण सम्पादन करें।

म० : आविर्मैर्या इति वाचयतीति' (का. 15। 5। 21)। इषुसमर्पणानन्तरमाविर्मर्या इत्यादीन् सप्त मन्त्रानाविस्संज्ञान् यजमानं वाचयति। प्रजापतिदैवतम्। मर्या इति मनुष्यनामसु पठितम्। हे मर्या मनुष्या ऋत्विजः, यूयमाविः प्रकटा भवथेति शेषः। सम्यक्कर्मानुतिष्ठतेत्यर्थः। यद्वा हे मर्याः ऋत्विजः, अयं यजमानः आदिः। प्रकटो युष्मत्समक्षं कथ्यत इति शेषः। आवितो अग्निर्गृहपतिः। श्रुत्युक्तैर्विभक्तिव्यत्ययैर्व्याख्यायते गृहपालकायाग्नयेऽयं

यजमान आवित्तः। व्रतमिति कर्मनाम। धृतं व्रतं कर्म याभ्यां तो धृतव्रतौ ताभ्यां धारितकर्मभ्यां मित्रावरुणाभ्यामावित्तौ। आवित्तः आवेदित'। विश्ववेदसे सर्वज्ञाय पूष्णेऽयमावित्तः। विश्वस्य सर्वस्य शं सुखं भवति याभ्यां ते विश्वशंभुवौ ताभ्यां द्यावापृथिवीभ्यामावित्ते। वचनलिंगव्यत्ययः आवित्तः। उरु महत् शर्म शरणं सुखं वा यस्याः सा उरुशर्मा तस्मै अदितये आवित्ता आवितोऽयं यजमानः। यद्वा यथाश्रुतमेव व्याख्या। गृहपतिरग्निरावित्त आवेदितो यजमानमिति शेषः। एवग्रेऽपि ।।9।।

दशमी

अवेष्टा दन्दशूकाः प्राचीमारोह गायत्री त्वावतु रथन्तरꣳसाम त्रिवृत्स्तोमो वसन्त ऋतुर्ब्रह्मद्रविणम् ।।१०।।

अन्वय : दन्दशूकाः अवेष्टा प्राचीम् आरोह। गायत्री छन्दः रथनतरं साम त्रिवृत्स्तोमः वसन्तऋतुः ब्रह्मऋतुः ब्रह्मद्रविणं त्वा (त्वाम्) अवतु।

व्याख्या : अत्यन्तदशनशील (मनुष्यादि को काटने (दंश प्रदान करने वाले) वाले सर्प आदि) आदि जीवों से इसकी (यजमान की) रक्षा हो। हे यजमान। तुम पूर्वदिशा में चलो। तुम्हारी गायत्री छन्द रथन्तरनामकसाम स्तोमों के मध्य में त्रिवृत् (नामक) स्तोम, तुम्हारी रक्षा करे। ऋत्रुओं में सर्वश्रेष्ठ वसन्तऋतु तथा वेद या ब्राह्मणजाति तुम्हारी रक्षा करें।

म० : 'अवेष्टा इति लोहायमाविध्यति केशवास्ये सदोऽन्तरुपविष्टा-येति' (का. 15। 5। 22)। सदःसमीपोवविष्टस्य दीर्घकेशनस्य मुखे ताम्रं क्षिपति। मृत्युनाशनं यजुः। अवपूर्वो यजिर्नाशनार्थः। दन्दशूका अत्यर्थं दशनशीला मृत्युहेतवः सर्पसदृशा यज्ञविघ्नकारिणो राक्षसादयोऽवेष्टाः नाशिता भवन्त्विति शेषः। 'तद्यो मृत्युर्यो वधस्तमेवैतदतिनयति' (5। 4। 1। 1) इति श्रुतिः 'सुन्वन्तमाक्रमयन् दिशः प्राचीमारोहेति वाचयति प्रतिमन्त्रं प्रतिदिशं यथालिंगमिति' (का. 15। 5। 23)। यजमानं यथलिंगं प्रतिमन्त्रं प्रतिदिशं दिश आक्रमयन् वाचयति। पञ्च यजूंषि यजमानदेवत्यानि। हे यजमान, त्वं प्राचीं दिशमारोह आक्रमस्व। तथाविधां त्वां छन्दसां मध्ये गायत्री छन्दोऽवतु रक्षतु। साम्नां मध्ये अभि त्वा शूर नोनुम् इत्यस्यामृच्युत्पत्रं

रथन्तरं साम। (छ. सं. 1। 3। 1। 41) त्वां रक्षतु। स्तोमानां मध्ये त्रिवृत्स्तोमोऽवतु। ऋतूनां मध्ये वसन्त ऋतुरवतु। ब्रह्म ब्राह्मणजातिस्त्वदीयं द्रविणं धनं रक्षतु। यद्वा धनरूपा ब्राह्मणजातिस्त्वामवतु। ब्राह्मणादीनां धनसाधनत्वाद्धनत्मुच्यते। त्रिवृत्सोमस्य स्वरूपं सामब्राह्मणे (25 तमे ब्रा. 2। 1) आम्नातम्। 'तिसृभ्यो हिंकरोति स प्रथमया तिसृभ्यो हिंकरोति स मध्यमया तिसृभ्यो हिंकरोति स उत्तमयोद्यतौ त्रिवृतौ विष्टुतिरिरिति'। अस्यायमर्थः। उपास्मै गायतेत्यादीनि (का. सं. 6। 7। 36) तृचात्मकानि त्रीणि सूक्तानि सन्ति तेषु तिसृभिर्ऋग्भिर्गायेत्। काभिस्तिसृभिः। प्रथमया त्रिष्वपि सूक्तेषु या प्रथमा तया स उद्‌गता गायेत्। तथा सति तिसृभिर्गीतं भवति सोऽयं प्रथमपर्यायः। द्वितीये पर्याये सूक्तत्रयगतयोत्तमा गायेत्। अनेन प्रकारेण त्रिवृत्स्तोमसंबन्धिनी विशिष्टाः स्तुतिः संपद्यते सेयं स्तुतिरुद्यतीति नाम्रा संपद्यतः इत्यर्थः ॥10॥

एकादशी

दक्षिंणामारोह त्रिष्टुप्त्वांवतु बृहत्सामं पञ्चदुशस्तोमौं ग्रीष्म ऋतुः क्षुत्रं द्रविंणम् ॥११॥

अन्वय : (हे यजमान!) (त्वम्) दक्षिणामारोह, त्रिष्टुप, (छन्दः) बृहत्साम, पञ्चदशस्तोमः ग्रीष्मऋतु, क्षत्रं द्रविणम् त्वाम् अवतु।

व्याख्या : हे राजन्! (यजमान) तुम दक्षिण दिशा में चलो। त्रिष्टुपछन्द बृहत्साम्, पञ्चदशस्तोम, ग्रीष्मऋतु तथा क्षत्रियजाति तुम्हारी रक्षा करें।

म० : अथ द्वितीयो मन्त्रः। हे यजमान, त्वं दक्षिणां दिशमाक्रम। त्रिष्टुप् छन्दः। त्वामिद्धि हवामहे इत्यस्यामृच्युत्पन्नं बृहत्साम (छ. सं. 1। 3। 1। 1। 5)। पञ्चदश स्तोमः। ग्रीष्म ऋतुः। द्रविणरूपं क्षत्रं क्षत्रियजातिः एते त्वामवन्तु। क्षत्रं तव द्रविणमवत्विति वा। पञ्चदशस्तोमस्वेववम्नातः (25 तमब्रा. 2। 4) 'पञ्चभ्यो हिंकरोति स तिसृभिः स एकया पञ्चभ्यो हिंकरोति स एकया स तिसृभिः स एकया पञ्चभ्यो हिंकरोति स एकया स एकया स तिसृभिः पञ्चपञ्चिनी पञ्चदशस्य विष्टुतिरिरिति'। पूर्वोक्तस्त्रिवृत्स्तोम एक एव सूक्तत्रयनिष्पाद्यः। अन्ये तु स्तोमा एकेनैव तृचात्मकेन सूक्तेन निष्पाद्यन्ते। तत्रायं क्रमः। प्रथमपर्याये आवृत्तिः पञ्चभिस्तत्रादौ

तिसृभिर्ऋग्भिर्गायेत् इतरे द्वे सकृत्सकृद्गायेत्। द्वितीयर्प्याये प्रथमां सकृत् मध्यमां तिसृभिः तृतीयां सकृत्। तृतीयपर्याये आद्ये द्वे सकृत तृतीयां तिसृभिरिति पञ्चदशस्तोमसंबन्धिनी विष्टुतिः पञ्चपञ्चिनीत्यभीघीयत इत्यर्थः ।।11।।

द्वादशी

प्रतीचीमारोह जगती त्वावतु वैरूपꣳसाम सप्तदशस्तोमो वर्षाऽऋतुर्विडद्रविणम् ।।१२।।

अन्वय : (हे यजमान) प्रतीचीम् दिशम् आरोह। जगती (छन्दः) सप्तदशस्तोमः वैरुपं साम, वर्षाऋतुः विड्द्रविणम् त्वाम् अवतु।

व्याख्या : (हे यजमान!) तुम पश्चिमदिशा में बढ़ों। जगती छन्दः सप्तदशस्तोम, वैरुपसाम, वर्षाऋतु और वैश्यजाति तुम्हारी रक्षा करें।

म० : अथ तृतीयो मन्त्रः। हे यजमान, त्वं प्रतीचीं दिशमारोह। जगती छन्दः त्वामवतु। यक्ष्याव इन्द्र ते शतमित्यस्यामृच्युत्पत्रं वैरूपं साम (छ. सं. 1। 3। 2। 4)। सप्तदशः स्तोमः। वर्षा ऋतुः। विट् वैश्यजातिलक्षणं द्रविणम्। एते त्वामवन्तु। यद्वा वैश्यजातिस्ते द्रविणमवतु। सप्तदशस्तोमस्त्वे-वमाम्नातः (25 तमब्रा. 2। 7) 'पञ्चभ्यो हिंकरोति स तिसृभिः स एकया पञ्चभ्यो हिंकरोति स एकया स तिसृभिः स तिसृभिर्दशसप्ता सप्तदशस्य विष्टुतिरिति'। प्रथमपर्याये प्रथमां त्रिर्गायेत् मध्यमोत्तमे सकृत्। द्वितीयपर्याय प्रथमोत्तमे सकृन्मध्यमां त्रिर्गायेत्। तृतीयपर्याये प्रथमां संकृद्गायेन्मध्यमोत्तमे त्रिरिति सप्तदशस्तोमस्य विविधास्तुतिर्दशसप्तेत्यभिधीयत इत्यर्थः ।।12।।

त्रयोदशी

उदीचीमारोहानुष्टुत्वावतु वैराजꣳसामैकविꣳशस्तोमः शरदृतुः फलं द्रविणम् ।।१३।।

अन्वय : (हे यजमान!) उदीचीम् दिशम् आरोह, अनुष्टुप् (छन्दः) वैराजं साम, एकविंशस्तोमः शरदऋतु फलं द्रविणं (त्वाम्) अवतु।

व्याख्याः हे यजमान! तुम उत्तरदिशा में बढ़ो। अनुष्टुप्छन्द

वैराजसाम एकविंशस्तोम, शरदऋतु तथा यज्ञफलरुपधन ये सभी तुम्हारी रक्षा करे।

म० : अथ चतुर्थो मन्त्रः। हे यजमान, त्वमुदीचीं दिशमारोह। अनुष्टुप् छन्दः। पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा एतस्यामृच्युत्पन्नं वैराजं साम (छ. सं. 1। 5। 1) एकविंशः स्तोमः। शरदृतुः। फलं यज्ञफलक्षणं द्रविणं धनम्। एते त्वामवन्तु। एकविंशस्तोमस्तेवमाम्नातः (25 तम. ब्रा. 2। 14) 'सप्तभ्यो हिंकरोति स तिसृभिः स तिसृभिः स एकया सप्तभ्यो हिंकरोति स एकया स तिसृभिः सप्तसप्तिन्येकविंशस्य विष्टुतिरिति'। प्रथमपर्याये प्रथममध्यमे त्रिर्गायेदुत्तमां सकृत्। द्वितीयपर्याये प्रथमां सकृद्गायेन्मध्यमोत्तमेत्रिः। तृतीयपर्याये मध्यमां सकृद्गायेत् प्रथमोत्तमे त्रिरित्येकविंशस्तोमस्य विष्टुतिः सप्तसप्तिनीत्युच्यत इत्यर्थः ।।13।।

चतुर्दशी

ऊ॒र्ध्वामारो॑ह प॒ङ्क्तिस्त्वा॑वतु शाक्वरैव॒ते साम॑नी त्रिणवत्रय॒स्त्रि॒ꣳशौ स्तोमौ॑ हेमन्तशिशि॒रावृ॒तू व्वर्चो॒ द्रवि॑णं॒ प्रत्य॑स्तं॒ नमु॑चे॒ः शिर॑ः ।।१४।।

अन्वय : हे यजमान! (त्वम्) ऊर्ध्वाम् दिशम् आरोह पक्तिछन्दः शाक्वररैवते सामनी त्रिनवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ, हेमन्त शिशिरौ ऋतू वर्चः द्रविणम् (त्वाम्) अवतु! नमुचेः शिरः प्रत्यस्तम्।

व्याख्या : हे यजमान! तुम ऊपर की ओर बढ़ो। पंड्क्तछन्द शाक्वर तथा रैवत ये दोनों साम, त्रिणव तथा त्रयस्त्रिंश ये दोनों स्तोम, हेमन्त एव शिशिर ऋतुएँ तथा ब्रह्मतेजरुपधन ये सब तुम्हारी रक्षा करें। नमुचि नामक असुर का शिर दूर फेंक दिया गया।

यहाँ नमुचि का वध इन्द्र ने समुद्र के फेन (झाग) से वज्र बनाकर किया था। यह पौराणिक आख्यान इसी संहिता के–19-7। वें मन्त्र में तथा श. ब्रा. (1-7.3-1-3) में भी देखा जाता है।

म० : अथ पञ्चमो मन्त्रः। हे यजमान, ऊर्ध्वादिशमारोह। पङ्क्तिश्छन्द। प्रोष्वस्मै पुरोरथमित्येतस्यामृच्युत्पन्नं शाकरं साम (छ. सं. 2। 9। 1। 14। 1) रेवतीर्नः सधमाद इत्येतस्यामृच्युत्पन्नं साम रैवतम् (छ. सं. 1। 2। 2। 1। 9-2)। त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ। हेमन्तशिशिरावृतू।

वर्चस्तेजो ब्रह्मवर्चसं वा द्रविणम्। एते त्वामवन्तु। यद्वा वर्चस्तेजोऽभिमानी देवस्ते धनं रक्षतु। त्रिणवः स्तोम एवमाम्नातः (प. ब्रा. 3। 1) 'नवभ्यो हिंकरोति स तिसृभिः स पञ्चभिः स एकया नवभ्यो हिंकरोति स एकया स तिसृभिः स पञ्चभिर्नवभ्यो हिंकरोति स पञ्चभिः स एकया स तिसृभिर्वज्रो वै त्रिणव इति'। प्रथमपर्याये प्रथमां त्रिर्गायेन्मध्यमां पञ्चकृत्वः उत्तमां सकृत्। द्वितीयपर्याये प्रथमां सकृद्गायेन्मध्यमां त्रिरुत्तमां पञ्चकृत्वः। तृतीयपर्याये प्रथमां पञ्चकृत्वो मध्यमां संकृदुत्तमां त्रिर्गायेत् सोऽयं त्रिरावृत्तनवसंख्योपेतत्वात्त्रिणवनामको वज्रसमानः स्तोमः। त्रयस्त्रिंशः स्तोम एवमाम्नातः (प. ब्रा. 3। 3) 'एकादशभ्यो हिंकरोति स तिसृभिः स सप्तभिः एकयैकादशभ्यो हिंकरोति स एकया स तिसृभिः स सप्तभिरेकादशभ्यो हिंकरोति स सप्तभिः स एकया स तिसृभिरन्तो वै त्रयस्त्रिंश इति'। प्रथमपर्याये प्रथमां त्रिर्गायेन्मध्यमां त्रिरुत्तमां सप्तकृत्वः। तृतीयपर्याये प्रथमां सप्तकृत्वो मध्यमां सकृदुत्तमां त्रिर्गायेत्। सोऽयं त्रयस्त्रिंशः स्तोमः सर्वेषां स्तोमानामन्तः। 'आक्रम्य पादेन सीसं निरस्यति प्रत्यस्तमिति' (का. 15। 5। 24)। व्याघ्रचर्मपश्चाखागे निहितं सीसमाक्रम्य पादेन क्षिपेत्। असुरदेवत्यम्। नमुचेरसुरस्य शिरो मस्तकं प्रत्यस्तम्। 'असु क्षेपणे' प्रतिगृह्य क्षिप्तं सीसरूपेण ।।14।।

पञ्चदशी

सोम॑स्य॒ त्विषि॑रसि॒ तवे॑व मे॒ त्विषि॑र्भूयात्। मृ॒त्योः पा॒ह्योजो॑ऽसि॒ सहो॑ऽस्य॒मृत॑मसि ।।१५।।

अन्वय : (हे व्याघ्रचर्म) (त्वम्) सोमस्य त्विषिः (दीप्तिः) असि, मे त्विषिः तव इव भूयात्। (हे हिरण्यशकल!) त्वं मृत्योः पाहि (त्वम्) ओजः असि, सहः असि अमृतम् असि।

व्याख्या : हे व्याघ्रचर्म! तुम सोम (चन्द्रमा) की कान्ति के समान हो। मेरी भी कान्ति तुम्हारी जैसी हो जाय। हे सुवर्णखण्ड! मृत्यु से मेरी रक्षा करो, तुम ओजरूप, साहसरूप तथा विनाशहित हो।

म० : 'व्याघ्रचर्मारोहयति सोमस्य त्विषिरिति' (का. 15। 5। 25)। अभिषेकार्थं राजानं व्याघ्रचर्मणि स्थापयेत्। चर्मदेवत्यं व्याख्यातम् (क. 5)। 'रुक्ममधः पदं कुरुते मृत्योरिति' (का. 15। 5। 26)। पादतले हिरण्यं कुर्यात्। रुक्मदैवतम्। हे सुवर्ण, मृत्योः सकाशान्मां पाहि पालय।

'शिरसि च नवतर्द्मथ्ं शततर्द्म वौजोऽसीति' (का. 15। 5। 27)। नवच्छिद्रं शतच्छिद्रं वा सौवर्णमण्डलं यजमानशिरसि कुर्यात्। रुक्मदैवतम्। हे हिरण्य, त्वमोजोऽसि अमुं जेष्यामीति मनोवृत्तिरोजः तद्रूपं त्वमसि। शारीरं बलं सहस्तद्रूपमसि। अमृतं विनाशरहितं त्वमसि ॥15॥

षोडशी

हिरण्यरूपाऽउषसौ विरोक उभाविन्द्राऽउदिथः सूर्यश्च। आरोहतं वरुण मित्र गर्तन्ततश्चक्षाथामदितिं दितिं च मित्रोऽसि वरुणोऽसि ॥१६॥

अन्वय : (हे मित्रावरुणौ) (युवाम्) हिरण्यरुपौ, इन्द्रौ सूर्यश्च उषसः विरोके रात्रेः समाप्तौ उदिथः। (हे) वरुण मित्र! गर्तम् आरोहतम्। तम् अदितिम् दितिं च चक्षाथाम्। हे वामबाहो! त्वं मित्रोऽसि। हे दक्षिणबाहो वरुणोऽसि।

व्याख्या : हे मित्रावरुण! तुम दोनों सुवर्ण के समान गौरवर्ण वाले तथा सामर्थ्य से युक्त हो। रात्रि के समाप्ति पर उदित होते हो। हे वरुण एवं मित्र! तुम दोनों रथ के उपर स्थितगर्त में विराजमान होओ। वहाँ से तुम दोनों अनुग्रह एवं निग्रह की दृष्टि से देखते हो। (अर्थात्-यह पापी है, और यह पुण्यात्मा है। इसका विवेक आपको है। हे वामबाहु! तुम मित्र हो, तथा हे दक्षिणबाहु! तुम वरुण हो।

म० : 'बाहू उद्गृह्णाति हिरण्यरूपा इति' (का. 15। 5। 28)। यजमानबाहू ऊर्ध्वौ करोति। मित्रावरुणदेवत्या त्रिष्टुप् यजुरन्ता मित्रोऽसीति यजुः। हे वरुण शत्रुनिवारक, दक्षिणबाहो, हे मित्र सखिवत्पालक वामबाहो, तौ युवां गर्तं पुरुषमारोहत मारोहणं कुरुतम्। 'बाहू वै मित्रावरुणौ पुरुषो गर्तः' (5। 4। 1। 15) इति श्रुतिरध्यात्मविषयं व्याचष्टे। पुरुषारोहणानन्तर-मदितिमखण्डितां स्वसेनां दितिं खण्डितां परसेनां चक्षाथां क्रमेणानुग्रहदृष्टया समीक्षेथाम्। तौ कौ। यौ युवामुभौ द्वौ उषसो विरोके रात्रेः समाप्तौ उदिथः उदयं कुरुथः। एतेर्लटि मध्यमद्विवचने इथ इति रूपम्। सूर्योदयानन्तरं स्वस्वव्यापारे प्रवर्तेथे इत्यर्थः। सूर्यश्च उदेतिययोर्युवयोः कार्यसंपादनायेत्यर्थः। किंभूतौ युवाम्। हिरण्यरूपौ हिरण्यवद्रूपं ययोस्तौ सुवर्णखचितकटकाद्यलंकारेण हिरण्यवभासभानौ। तथा इन्द्रौ सामर्थ्योपेतौ। एवमध्यात्ममर्थः। अधिदैवं

त्वयमर्थः। हे वरुण, हे मित्र मित्रवरुणौ देवविशेषौ, युवां गर्तं रथोपरिभागं गर्तसदृशमारोहतम्। परबाणेभ्यो रक्षितुं चर्मकीलकादिभिराच्छादितो रथस्योपरिभागे गर्तसदृशो भवति। रथोऽपि गर्त उच्यते 'गृणातेः स्तुतिकर्मणः' (नि. 3। 5) इति यास्कोक्तेर्गर्तो रथः। यौ युवामुषसो विरोके उषःकालानन्तरम् उदिथः उद्गच्छथः सूर्यश्चेत्तदा उदेति। किंभूतौ। हिरण्यरूपौ अतितेजस्विनौ। इन्द्रौ परमेश्वरौ। ततो रथारोहणानन्तरमदितिं दितिं च युवां चक्षाथाम् अदितिमदीनं विहितानुष्ठातारं दितिं दीनं नास्तिकवृत्तं च पश्यतम्। अयं पापी अयं पुण्यवानिति युवां पश्यतमित्यर्थः। अमुमर्थं श्रुतिराह 'ततः पश्यतस्वं चारणं चेत्येवैतदाहेति' (5। 4। 1। 15) 'मित्रोसि वरुणोऽसीति वा' (का. 15। 5। 29)। अनेन मन्त्रेण वा बाहू उदृह्णाति। हे वामवाहो, मित्रोऽसि। हे दक्षिणवाहो, त्वं वरुणोऽसि त्वं वरुणोऽसि ।।16।।

सप्तदशी

सोम॑स्य त्वा द्युम्नेना॒भिषि॑ञ्चाम्य॒ग्नेर्भ्राज॑सा॒ सूर्य॑स्य॒ वर्च॒सेन्द्र॑-स्येन्द्रि॒येण॑। क्ष॒त्राणां॑ क्ष॒त्रप॑तिरे॒ध्यति॑ दि॒द्यून्पा॑हि ।।१७।।

अन्वय : (हे यजमान!) सोमस्य द्युम्नेन त्वा अभिषिञ्चामि, अग्नेः भ्राजसा सूर्यस्य वर्चसः (त्वाम् अभिषिञ्चामि) इन्द्रस्य इन्द्रियेण त्वाम् अभिषिञ्चामि। (हे यजमान!) (त्वम्) क्षत्राणां क्षत्रपतिः एधि, दिद्यून् अति पाहि।

व्याख्या : हे यजमान! सोम के प्रकाश से या चन्द्रमा के यश से मैं तुम्हें अभिषिञ्चित करता हूँ। अग्नि के तेज से सूर्य के प्रखरप्रताप से इन्द्र के ऐश्वर्य तथा पराक्रम से तुम्हें अभिषिक्त करता हूँ। हे अभिषिक्तराजन। तुम क्षत्रियों के अधिपति (राजाधिराज) होकर वृद्धि को प्राप्त करो। शत्रु प्रेरित संकटों का अतिक्रमण करके प्रजा की रक्षा करो। उपर्युक्त सभी देवताओं का सामर्थ्य तुम्हें प्राप्त हो।

म० : 'स्थितं प्राञ्चमभिषिंचति पुरोहितोऽध्वर्युर्वा पुरस्तात्पालाशेन प्रथमं पश्चादितरे द्वितीयेन स्वस्तृतीयेनामित्र्यो राजन्यो वैश्यश्चतुर्थेन सोमस्य त्वां द्युम्रेनेति प्रतिमन्त्रमभिषिञ्चामीति सर्वत्र साकाक्षात्वात् क्षत्राणं क्षत्रपतिरेधीति चेममुष्येति च प्रथमो देवसूवदिति' (का. 15। 5। 30-33)। अस्यार्थः। रुक्मसहितव्याघ्रचर्मणि प्राङ्मुखमवस्थितं राजानं पुरोहितादयः पुरस्तादवस्थाया-

भिषिञ्वेयुः। पालाशौदुबरन्यग्रोधाश्वत्थानि चतुर्विधान्यभिषेकजलपात्रणि स्थापितानि। तत्र पालाशापात्रेण पुराहिताध्वर्वोरन्यतरः प्रथममभिषिञ्चेत्। इतरे स्वादयः पश्चादवस्थिता अभिषिंचेयुः। तानेवाह। स्वो राज्ञो भ्राता द्वितीयेनौदुम्बर- पात्रेण मित्रभूतः कश्चित् क्षत्रियस्तृतीयेन वटपत्रेण वैश्यश्चतुर्थेनाश्वत्थपात्रेणा- भिषिंचति। चतुर्णामभिषेतृणां क्रमेण सोमस्याग्नेः सूर्यस्येन्द्रस्य ते चत्वारो मन्त्रः। अभिषिञ्चामीति पदमग्निमेषु त्रिषु मन्त्रेष्वनुवर्तते। क्षत्रणमित्यवयवोऽपि प्रथमादिमन्त्रेषु योज्यः। इमममुष्येति मन्त्रं प्रथमः पुरोहितोऽध्वर्युर्वा देवसूहविः ष्विव नामग्रहणयुक्तं पठति। प्रथमग्रहणादन्येषामिम- ममुष्येति मन्त्रशेषो न भवति ब्राह्मणानांराजेति मन्त्रलिंगादिति सूत्रार्थः। चतुर्णा मन्त्रणां यजमानो देवता। हे यजमान, सोमस्य द्युम्रेन चन्द्रस्य यशसा त्वा त्वामभिषिंचामि तेनाभिषिक्तः सन् क्षत्राणां क्षत्रपतिरेधि क्षत्रियाणां सर्वेषां मध्ये क्षत्रपतिः क्षत्रियेश्वर एधि भव। अति दिद्यून् पाहि। 'दो अवखण्डने' द्यन्ति खण्डयन्ति दिद्यवो बाणा। 'इषवो वै दिद्यव इषुवध ामेवैनमेतदतिनयति' (5। 4। 2। 2।) इति श्रुतेः तानतिक्रम्य शत्रुप्रयुक्तानिष्वादीनपसार्य इमं यजमानं हे सोम, त्वं पाहि पालय ।।17।।

अष्टादशी

इमन्देवाऽअसपत्नथ्ं सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्येष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एषऽवोऽमी राजा सोमोऽस्माकंब्राह्मणानाथ्ं राजा ।।१८।।

अन्वय : (हे देवाः) इमं महते क्षत्राय, महते ज्यैष्ठ्याय, महते जानराज्याय इन्द्रस्य इन्द्रियाय असपत्नं सुवध्वम्। प्रेरयध्वम् इमम् अमुष्य पुत्रम् अस्यै विशे अमी एष वः राजा अस्माकं ब्राह्मणनां राजा सोमः (अस्ति)।

व्याख्या : हे सोमादि देवो! आप इस यजमान को, महानबल, सर्व, ज्येष्ठभाव से सम्पन्न करें तथा महान् इन्द्र के समान ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए शत्रुरहित (इसे) राज्यपद पर प्रतिष्ठित करें। यह अमुक का पुत्र तथा अमुकी माता का पुत्र है। प्रजा की रक्षा के लिए ही इसका अभिषेक हुआ। हे अमुक देश के प्रतिनिधि जनों! अब से यह तुम्हारा राजा है। हम ब्राह्मणों के राजा सोम हैं। इस मन्त्र को पढ़कर अध्वुर्य

यजमान का अभिषेक करता है।

म० : इमं देवाः। व्याख्यातापि व्याख्यायते। हे देवाः सोमादयः, दशरथस्य पुत्रं कौशल्यायाः पुत्रं कोशलायै विशेप्रजायै तिष्ठन्तमिमं राममसपत्नं शत्रुरहितं कृत्वा महते क्षत्राय महते ज्येष्ठत्वाय महते जानराज्यायेन्द्रस्यैश्वर्याय यूयं सुवध्वं प्रेरयध्वम्। हे अमी कौशलाः, एष रामो वो युष्माकं राजा अस्माकं ब्राह्मणानां तु सोमो राजा। एतावन्तं मन्त्रं पठित्वा पुरोहितोऽध्वर्युर्वाभि-षिञ्चेत्। राजभ्रातुर्मन्त्रमाह। अग्नेर्भ्राजसाभिषिञ्चामि क्षत्राणमित्यादि इन्द्रस्येन्द्रिया-येत्यन्तो मन्त्रः। हे यजमान, अग्नेर्वैश्वानरस्य भ्राजसा तेजसा त्वामभिषिञ्चामि। क्षत्राणामित्यादेः पूर्ववद्याख्या। राजमित्रमन्त्रमाह। सूर्यस्य वर्चसामिषियामि। क्षत्राणामित्यादि पूर्ववत्। हे यजमान, सूर्यस्य तेजसा त्वामभिषिञ्चामि। अन्यत्पूर्ववत्। वैश्यमन्त्रमाह। इन्द्रस्येन्द्रियेणाभि- षिश्चामि। अन्यत्पूर्ववत्। वैश्यमन्त्रमाह। इन्द्रस्येन्द्रियेणाभिषिंचामि क्षत्राणामित्यादि पूर्ववत्। हे यजमान, इन्द्रस्य वीर्येण त्वामभिषिंचामि क्षत्राणामित्यादि पूर्ववत्। श्रुत्या तु द्युम्नादिशब्दै-वीर्याण्येव व्याख्यातानि ॥18॥

एकोनविंशी

प्र पर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठान्नावश्चरन्ति स्वसिच इयानाः। ता आववृत्रन्नधरागुदक्ताऽअहिर्बुध्न्यमनु रीयमाणाः। विष्णोर्विक्रमणमसि विष्णोर्विक्रान्तमसि विष्णोः क्रान्तमसि ॥१९॥

अन्वय : वृषभस्य पर्वतस्य पृष्ठात् इयानाः नावः स्वसिचः प्रचरन्ति। ता उदकाः अहिंर्बुध्न्यम् अनुरीयमाणाः अधराग् आववृत्रन्। (हे प्रथम प्रक्रम) त्वं विष्णोः विक्रमणम् असि, विष्णोः विक्रान्तमसि, विष्णोः क्रान्तमसि।

व्याख्या : यहाँ अभिषेक के समय राजा के सिर से अभिषेक-जल की बूदें नीचे प्रवाहित हो रही है, उसी का वर्णन उपमाओं के साथ दिया गया है। मेघ के पृष्ठभाग से निकलने वाली प्रभूतजल से पूर्ण सरितायें अपने क्षेत्रों को सींचती हुई प्रवाहमान होती है। अथवा जो जल पर्वतपृष्ठ से आदित्यमण्डल की ओर प्रस्थान करते है। वे जल यजमान का सिंञ्चन करते हुए नीचे की ओर आ रहे हैं। दूसरा अर्थ यह है कि यहाँ पर्व शब्द अमावस्या पूर्णिमा आदि के बोधक है। अतः इन पर्वों पर

पूजित होने वाले कामनाओं के फल प्रदाता अग्निदेव के पृष्ठभाग से उठकर विश्व का सिंचन करने वाले आहुति परिणामभूत जलधाराये अदित्यमण्डल की ओर गमन करती है पुनः वे ही उपर गमन करके अन्तरिक्ष में मेघ का अनुसरण करती हुई नीचे की ओर प्रवाहित हो रही है।

इसी तत्व को आचार्य मनु ने–

अग्नौप्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिः। वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः। नूयन्ते स्तूयन्ते स्तोत्रशस्त्र मन्त्रैरितिनावः।

मन्त्र में प्रयुक्त नावः शब्द का अर्थ यहाँ नौका नहीं है, अपितु नुदन्ति प्रेरयन्ति फलप्राप्त्यैता नावः आहुति परिणामभूता आपः प्रचरन्ति गच्छन्ति आदित्य मण्डल प्रति। इसी तरह पर्वाणि पौ़र्णमास्यामा मावास्यांचातुर्मास्यादीनि विद्यन्ते यस्य स पर्वतः तस्य पर्वतस्य (विशेष अर्थ भाष्य में देखा जा सकता है।) मन्त्रार्थ–हे मेरे प्रथम प्रक्रम तुम विष्णु द्वारा विजित भूलोक, द्वितीय पाद प्रक्षेप रूप से अन्तरिक्ष तथा तृतीयपादप्रक्षेप रुप से द्युलोक रूप हो। यहाँ व्याघ्रचर्म पर यजमान का तीन बार पाद प्रक्षेप–कराया जाता है।

म॰ : 'कण्डूयन्याभिषेकेण प्रतिलिम्पते प्र पर्वतस्येति' (का. 15। 6। 8)। यजमानः कृष्णविषाणया कृत्वाभिषेकोदकेन स्वांगलग्नेन स्वांगं लिम्पति। अब्देवत्या त्रिष्टुप्। प्रेत्युपसर्गश्चरन्तीति पदेन संबध्यते। नावः प्रचरन्ति। नूयन्ते स्तूयन्ते स्तोत्रशस्त्रमन्त्रैरिति नावः। यद्वा नुदन्ति प्रेरयन्ति फलप्राप्त्यै ता नावः। आहुतिपरिणामभूता आपः प्रचरन्ति गच्छन्ति आदित्यमण्डलं प्रति। 'ग्लानुदिभ्यां डौः' (उ. 2। 64) इति नुदतेर्डौप्रत्ययः। किं कृत्वा। वृषभस्य वर्षितुरग्नेः पृष्ठात् पृष्ठप्रदेशात् उत्थायेति शेषः। किंभूतस्य वृषभस्य। पर्वतस्य पर्वाणि पौर्णमास्यमावास्याचातुर्मास्यादीनि विद्यन्ते यस्य स पर्वतस्तस्य 'तप्पर्वमरुद्भ्यां' इति तप्रत्ययः। किंभूता नावः। स्वसिचः स्वेनैवात्मनैव सिंचन्ति विश्वमभिषिंञ्चन्ति स्वसिचः। तथा इयानाः यन्तीत्येवंशीला इयानाः। एतेः 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्' (पा. 3। 2। 129) इति चानश्प्रत्ययः चित्वादन्तोदातं पदम्। गमनशीलाः ता हि आदित्यमण्डलं प्राप्य मध्यस्थानात्पृथिवीम्। तदुक्तम्। 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः

सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याजयते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः' (म. 3। 76) इति। ता आहुतिपरिणामभूता आप आदित्यमण्डलं प्राप्याधराक् आववृत्रन् अधस्तादावर्तन्ते। वृतेर्णिजन्तालुङि रगागमश्छान्दसः। किंभूतास्ताः। उदक्ताः ऊर्ध्वमक्ताः। 'अञ्चु गति पूजनयोः'। ऊर्ध्वं गताः सत्यः अहिं मेधमनुरीयमाणः मेघमनुसरन्त्यः। रियतिर्गत्यर्थः। किंभूतमहिम्। बुध्न्यं बुध्नमन्तरिक्षं तत्र भवो बुध्न्यः। अन्तरिक्षे वर्तमानम्। यद्वायमर्थः। पर्वतशब्देनादित्य उच्यते। वृषभस्य वर्षितुः पर्वतस्यादित्यस्य पृष्ठादियानाः निर्गच्छन्त्यो नावः स्तुत्या आपः प्रचरन्ति सर्वतो गच्छन्ति। किंभूताः। स्वसिचः स्वयं शेक्यः आदित्योपरिष्टादापो नाव्या उच्यन्ते। तथा च श्रुतिः 'नाव्या आप एव यजुष्मत्य इष्टकाः' (10। 5। 6। 14) इत्युपक्रम्य 'षष्टिश्च वै त्रीणि च शतान्यादित्यं नाव्या अभिक्षरन्तीत्याह'। ता उदक्ता व्यक्ताः सत्यः बुधयमन्तरिक्षस्थमहिं मेघमनुरीयमाणा अनुप्रविश्य गच्छन्त्यः सत्यः प्रावृट्काले अधराक् अधास्ताद्भूमिं प्रति आववृत्रन् आवर्तन्ते आगच्छन्ति। यद्वायमर्थ ऋचोऽस्याः। वृषभस्य वर्षणसमर्थस्य पर्वतस्य हिमद्विन्ध्याद्रेः पृष्ठादियाना गच्छन्त्यो बहन्त्यो नावो नौतार्या महानद्यो गजाद्याः प्रचरन्ति स्वसिचः स्वमात्मीयं यजमानक्षेत्रं सिञ्चन्ति ताः ता एव नावोऽधराक् अध्रस्तात् आववृत्रन् राजसूययाजिनोऽर्था वर्तन्ते। किंभूताः। उदक्ता अभिषेकपात्रेषु उत्क्षिप्ताः प्रक्षिताः। तथा बुध्न्यं बुध्रशब्देन मूलमुच्यते तत्र भवं बुध्न्यं प्रधानमित्यर्थः। अहिमहन्तारं शत्रूणां यजमानमनुरीयमाणाः यजमानं प्रति सिच्यमानाः। 'चर्मणि त्रिर्विक्रमयति विष्णोरिति प्रतिमन्त्रमिति' (का. 15। 6। 9)। अध्वर्युर्यजमानेन व्याघ्रचर्मणि त्रिभिर्मन्त्रैस्त्रिवारं पादप्रक्षेपं पादप्रक्षेपं कारयेत्। त्रीणि यजूंषि यजमानदेवत्यानि। हे मदीय प्रथमप्रकम, त्वं विष्णोर्व्यापनीशीलस्य यज्ञपुरुषस्य जगदीश्वरस्य त्रिविकमावतारस्य विक्रमणं प्रथमपादप्रक्षेपेण जितो भूलोकोऽसि। हे द्वितीयप्रक्रम, त्वं विष्णोः क्रान्तं तृतीयपादप्रक्षेपण जितं त्रिविष्टपमसि। इदं मन्त्रत्रयं लोकत्रयजयहेतुभूतं तित्तिरिराह 'विष्णुक्रमान्क्रमते विष्णुरेव भूत्वेमांलोकानभिजयतीति'। 'इमे वै लोका विष्णोर्विक्रान्तं विष्णोर्विक्रमणं विष्णोः क्रान्तम्' (5। 4। 2। 6) इति श्रुतेः ।।19।।

विंशी

प्रजा॑पते॒ न त्वदे॒तान्य॒न्यो विश्वा॑ रू॒पाणि॒ परि॒ता ब॑भूव।

यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नौ अस्त्वयममुष्य पितासावस्य पिता वयथं स्याम पतयो रयीणाथं स्वाहा। रुद्र यत्ते क्रिवि परं नाम तस्मिन्हुतमस्यमेष्टमसि स्वाहा ।।२०।।

अन्वय : (हे) प्रजापते! एतानि ताः विश्वारुपाणि परि त्वद् (परिभवितुं समर्थो)अन्यः न बभूव। यत्कामाः ते जुहुमः तत् फलं, नः अस्तु। अयम् अमुष्य पिता असौ यस्य पिता वयं रयीणां पतयः स्याम स्वाहा। हे रुद्र! यत् ते क्रिवि परं नाम तस्मिन् हुतम् असि। अमा गृहे मदीये इष्टमसि दत्तमसि स्वाहा।

व्याख्या : हे प्रजापति! इस दृश्यमान विविधरुपों वाले भुवनों के उपर आपसे अन्य और कोई देवता विशेष नहीं है जो सृष्टि आदि कर्म करने में समर्थ हो। अतः जिस कामना या मनोरथ को लेकर हम आपके लिए होम करते हैं वह मेरी अभिलाषा पूर्ण हो। यह राजा अमुक का पिता, हमारे प्रजाजनों के भी पालक (पिता) बने। प्रजापति की तथा इस राजा की कृपा से हम ऐश्वर्यदि से सम्पन्न हों। हे रुद्रदेवता! आपका ''दुष्टों के विनाशक' यह प्रसिद्ध नाम है, इसी नाम के निमित्त यह हवि आपको प्रदान की जाती है। हमारे घर में हमारे मनोरथों को आपने पूर्ण किया है जिसके लिए यह आहुति आपको समर्पित है।

म॰ : 'शालाद्वार्ये जुहोति पुत्रेऽन्वारब्धो प्रजापत इति' (का. 15। 6। 11)। ततः सदसः शालासमागत्य पुत्रेऽन्वारब्धाशालाद्वार्येऽग्नौ जुहोति। प्रजापतिदेवत्या त्रिष्टुप् यजुर्मध्या तृतीयचतुर्थपादमध्येऽयममुष्येति यजुर्युक्ता। हे प्रजापते, त्वत्वत्तः अन्यो देवताविशेषः तानि एतानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि रूपाणि नानाजातीयानि वर्तमानभूतभविष्यत्कालविषयाणि न परिबभूव परिभवितुं समर्थो नाभूत। परिभवः सुष्टेरप्युपलक्षणम्। त्वदन्यो देव एतानि भूतानि स्त्रष्टुं संहर्तु चाप्यशक्त इत्यर्थः। अतो वयं यत्कामास्ते जुहुमः यः कामो येषां ते यत्कामाः येन कामेन त्वां जुहुमः तत्कामरूपं फलं नोऽस्माकमस्तु। यजुर्व्याख्यायते। अयममुष्य पिता। असावस्य पितेति यथायथमेव नामग्रहः। यथा असौ दशरथोऽस्य रामस्य पिता। असावस्य पितेति यथायथमेव नामग्रहः। यथा असौ दशरथोऽस्य रामस्य पितेति। सर्वथा सपुत्रा वयं रयीणां धनानां पतयः स्याम भवेम। 'आग्नीध्रीये पालाशेन

शेषान् जुहोति रुद्र यत्त इत्युत्तरार्थ इति'। 'पालाशेनाभिषेकपात्रेणाभिषेकादक-शेषानाग्नीध्रीयाग्रेरुत्तरभागे जुहोति' (का. 15। 6। 12)। रुद्रदेवत्यम्। हे रुद्र, यत्ते तव क्रिवि कर्तृ हिंसितृ वा परमुत्कृष्टं नामास्ति। 'किवि हिंसाकरणयोः' इप्रत्ययः। एवं रुद्रं संबोध्य होमद्रव्यमाह। हे हविः, तस्मिन् रुद्रनाम्नि त्वं हुतमसि अमेष्टं चासि। अमाशब्दो गृहवाची। मदीये गृहे इष्टं दत्तमसि स्वाहा सुहुतमस्तु ।।20।।

एकविंशी

इन्द्रस्य वज्रोऽसि मित्रावरुणयोस्त्वा प्रशास्त्रोः प्रशिषा युनज्मि। अव्यथायै त्वा स्वधायै त्वारिष्टोऽअर्जुनो मरुतां प्रसवेन जयापाम मनसा समिन्द्रियेण ।।२१।।

अन्वय : हे रथ! त्वम् इन्द्रस्य वज्रोऽसि। (हे अश्वाः) प्रशास्त्रोः मित्रावरुणयोः प्रशिषा प्रशासनेन त्वाम् युनज्मि। अरिष्टः अर्जुनः अव्यथायै स्वधायै त्वा (आरोहयामि)। मरुतां प्रसवेन जय। हे अश्व! मनसा अपाम इन्द्रियेण सम्। (संगताः स्मः)

व्याख्या : हे रथ! तुम इन्द्रदेव के वज्र हो, जगत्शासक मित्रावरुण देवों के आदेश से तुम्हें जोड़ता (युक्त) करता हूँ। शत्रुओं से अनुपहिंसित (अपराजित) इन्द्र के समान मैं (यजमान) अपने राष्ट्र (देश) को निर्भय करने के लिए तथा धनादि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए तुम पर आरोहण करता हूँ। हे अश्व! मरुतों के आदेश से विजय को प्राप्त करो। हमलोग अत्यन्त मनोयोग पूर्वक कार्य किये है अतः अब पराक्रम से भी सम्पन्न हैं।

म० : 'वाजपेयवद्रथमवहृत्य दक्षिणस्यां वेदिश्रोणौ युनक्ति पूर्ववन्मित्रावरुणयोरिति चतुर्भिरिति' (का. 15। 6। 15)। वाजपेये इव रथवाहणाद्रथमिन्द्रस्य वज्रोऽसीति मन्त्रेण भूमाववतार्य मित्रवरुणयोरिति मन्त्रेण चतुर्भिरश्वैर्वाजपेयवदेवयुनक्ति। प्रत्यश्वं मन्त्रः इन्द्रस्य वज्रोऽसीत्येव मन्त्रो न वाजपेयसंबन्धी सर्वः। तावन्मात्रस्यैवात्र पाठात्। पूर्ववदिति धूर्गृहीतं दक्षिणश्रोणिदेशे वेद्यामानीय युनक्ति पूर्व दक्षिणं तत उत्तरं ततो दक्षिणाप्रष्टिं ततः सव्याप्रष्ठिम्। अनिर्देषात्त्रयाणां योजने प्राप्ते चतुर्भिरित्युक्तमिति सूत्रार्थः। रथदेवत्यम्। हे रथ, त्वमिन्द्रस्य वज्रोऽसि। युनक्ति। रथदेवत्यम्। हे रथ,

त्वमिन्द्रस्य वज्रोऽसि। युनक्ति। रथदेवत्यम् । प्रशास्त्रो मित्रावरुणयोः देवयोः प्रशिषा प्रशासनेन हे रथ, त्वां युनज्मि योजयामि। 'अव्यथायै त्वेति सुन्वन्नारोहतीति' (का. 15। 6। 17) यजमानश्चात्चालदेशस्थः रथमारोहति। रथदेवत्यम्। अरिष्टोऽनुपहिंसितः अर्जुनोऽर्जुनतुल्य इन्द्र इत्यर्थः । 'अर्जुनो ह वै नामेन्द्रः' (5। 4। 3। 7) इति श्रुतेः। एवंभूतोऽहं हे रथ, त्वा त्वामव्यथायै। 'व्यथ भयचलयोः'। अभयाय अचलनाय वा। स्वधायै अन्नरसाय च त्वामधितिष्ठामि। 'मरुतामिति दक्षिणधुर्य प्राजतीति' (का. 15। 6। 18)। यजमानेन सहारूढो यन्ता दक्षिणाश्वं कशया प्रेरयेत्। धुर्यदेवत्यम्। हे धुर्य, मरुतां देवानां प्रसवेनाज्ञया त्वं जय शत्रूनिति शेषः। 'गत्वां मध्ये स्थापयत्त्रयपामेति' (का. 15। 6। 19)। पूर्वमेवाहवनीयोत्तरतः स्थापितानां गवां मध्ये तं रथं स्थापयेत्। यजमानदेवत्यम्। वयं मनसा सह अपामप्राप्तवन्तो यदुपक्रान्तं तत्कर्म 'धानुरात्यौँपस्पृशति गां यजमानः समिन्द्रियेणेति' (का. 15। 6। 20)। धनुः कोटया गां स्पृशेत्। यजमानदेवत्यम्। वयमिन्द्रियेण वीर्येण सङ्गताः स्मः ।।21।।

द्वाविंशी

मा तं इन्द्र ते वयं तुराषाडयुंक्तासो अब्रह्मता विदंसाम।
तिष्ठा रथमधि यं वंज्रहस्ता रश्मीन्देव यमसे स्वश्वांन् ।।२२।।

अन्वय : (हे) वज्रहस्त देवइन्द्र! यं रथम् अधितिष्ठ, (अधितिष्ठसि) यस्य च स्वश्वान् रश्मीन् आयमसे (आयच्छसि) (हे) तुराषाड् इन्द्र! ते वयं ते तव अयुक्तासः मा उपक्षीणा मा भवाम। विदसाम आ ब्रह्मते मा (विदसाम)।

व्याख्या : हॉथ में वज्रधारण करने वाले हे इन्द्र! आप जिस रथ में बैठते हैं और-जिस उत्तमघोड़ों की लगाम सम्भालते हैं, हे शत्रुपराभवकारी इन्द्र। आपके भक्त, हमलोग आपके रथ से भिन्न (अलग) होकर उपक्षीण (नष्ट) न हों, क्योंकि ब्रह्मभाव से अतिरिक्त वस्तु क्षीण हो जाती है। अतः आप हमें भिन्न (अलग) न करें। ब्रह्म भाव को प्राप्त करना ही जीवन की पूर्णता है। अतः इससे भिन्न न होने की प्रार्थना की गई है। यह जीव ब्रह्मभाव को प्राप्त कर स्वयं ब्रह्मरूप हो जाता है। इसीलिए अहं ब्रह्मास्मि कहा गया है।

म॰ : 'तावखूयो वा गोस्वामिने दत्त्वा पूर्वेण यूपं परीत्यान्तः-पात्यदेशे स्थापयति मा त इति' (का. 15। 6। 22)। स्थापितगवां पतये स्वभ्रात्रे तावत् शतमधिकं वान्यद्दत्त्वा यूपात् पूर्वदिशि परीत्यान्तःपात्यदेशे रथं स्थापयेत्। इन्द्रदेवत्या त्रिष्टुप् संवरणदृष्टा। हे वज्रहस्त, वज्रं हस्ते यस्य तत्संबुद्धिः हे देव दीप्यमान, त्वं यं रथमधितिष्ठ लडर्थे लोट्। अधितिष्ठसि। 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा. 6। 3। 135) इति दीर्घः। यस्य च रश्मीन्प्रग्रहानायमसे आयच्छसि। किंभूतान् रश्मीन्। स्वश्वान् शोभना अश्वा येषु तान्। हे तुराषाट्, तूर्णं सहते शत्रूनभिभवतीति तुराषाट् हे इन्द्र ऐश्वर्ययुक्त, ते त्वदीया वयं ते तव तस्मिन् रथे आयुक्ताः तस्माखिन्नाः सन्तो मा विदमास 'दसु उपक्षये' विविधमुपक्षीणा मा भवाम। तत्र हष्टान्तः। अब्रह्मतां लुप्तोपमानम्। अब्रह्मतेव ब्रह्म विज्ञानानन्दस्वभावमनश्वरम् तस्य भावो ब्रह्मता न ब्रह्मता अब्रहता यथा ब्रह्मभावादन्यद्वस्तु विदस्येदेवं वयं मा विदस्येमहीत्यर्थः ।।22।।

त्रयोविंशी

अ॒ग्नये॑ गृ॒हप॑तये॒ स्वाहा॒ सोमा॑य॒ व॒नस्प॑तये॒ स्वाहा॑ म॒रु॒ता॒मोज॑से॒ स्वाहेन्द्र॑स्येन्द्रि॒या॒य॒ स्वाहा॑। पृथि॑वि मा॒त॒र्मा मा॑ हिꣳसी॒र्मो॑ऽअ॒हं त्वाम् ।।२३।।

अन्वय : गृहपतये अग्नये स्वाहा, वनस्पतये सोमाय स्वाहा, मरुताम् ओजसे स्वाहा, इन्द्रस्य इन्द्रियाय स्वाहा! हे मातः पृथिवि! मा मां हिंसीः। अहं त्वां मा हिंसिषम्।

व्याख्या : गृहस्थाश्रम के पालक हे अग्निदेव तथा वनस्पतिरुप सोमदेव आपके लिए यह आहुति समर्पित है। इसी प्रकार मरुद्‌गणों को बल तथा इन्द्र को इन्द्रियसम्बन्धी सामर्थ्य प्रदान के लिए यह आहुति समर्पित करता हूँ। हे माता पृथिवी तुम मेरी हिंसा न करो, मैं भी तुम्हारी हिंसा न करुँ।

म॰ : 'अग्नये गृहपतय इति चत्वारि रथविमोचनीयानि जुहोति प्रतिमन्त्रमिति (का. 15। 6। 23)। रथविमोचनीयसंज्ञाश्चतिस्त्र आहुतीर्जुहोति। चत्वारि यजूंषि लिंगोक्तदेवत्यानि। गृहाश्रमपालकायाग्नये स्वाहा सुहुतमस्तु। वनस्पतिरूपिणे सोमाय हविर्दत्तमस्तु। इन्द्रस्येन्द्रसंबन्धिने इन्द्रियाय वीर्याय

स्वाहा। मरुतां संबन्धिने ओजसे बलाय हविर्दत्तमस्तु। 'भूमिमवेक्षते पृथिवि मातारिति' (का. 15। 6। 24)। रथस्थएव यजमानो भूमिं पश्येत्। भूमिदेवत्यम्। हे मातर्जगन्निर्मात्रि, हे पृथिवि भूमे, त्वं मा मा मां हिंसीः हिंसां मा कार्षीं। अहमपि त्वां पृथिवी मो मा उ हिंसिषम् ।।23।।

चतुर्विंशी

हृ॒ꣳसः शु॑चि॒षद्व॒सु॑रन्तरिक्ष॒सद्धोता॑ व्वेदि॒षदति॑थिर्दुरोण॒सत्। नृ॒षद्व॑र॒सदृ॑त॒सद्व्यो॑म॒सद॒ब्जा गो॒जाऽऋ॑त॒जा अ॑द्रि॒जाऽऋ॒तं बृ॒हत् ।।२४।।

अन्वय : (यश्च) हंसः शुचिषद् वसुः अन्तरिक्षसद् होता वेदिषत्, अतिथिः दुरोणसद्, नृषद, वरसद्, ऋतसद् व्योमसद्, अब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा बृहत् ऋतम् (स एवास्माकं यज्ञं सम्पादयेत्)।

व्याख्या : जो परमात्मा अहंकार को नष्ट करने वाले आदित्य के रुप में स्थित हैं, जो अन्तरिक्ष में वायुरुप से स्थित हैं। अग्निरुप से वेदि पर स्थित रहने वाले, अतिथि के रुप में सभी के पूज्य, मनुष्यों में प्राणरुप से होकर अवस्थित है। यज्ञगृह में आहवनीय के रुप में विराजमान रहने वाले, सभी पदार्थों में तद्विभूति के रुप में विराजमान आकाश मण्डल में व्याप्त रहने वाले हैं। वही प्रभु जल में मत्स्यादि के रुप में उत्पन्न होते हैं। इस पृथिवी पर चारों प्रकार के जीवों के रुप में उत्पन्न होते हैं। सत्य के रुप में भी वहीं है, अर्थात् सत्यस्वरुप है। पाषाणों में, अग्नि के रुप में सर्वत्र वही भासित होते हैं। ऐसे परब्रह्म हंस को रथ से उतारता हूँ।

म० : 'ऽवरोहति हंसः शुचिषदिति' (का. 15। 6। 25)। यजमानो रथादवरोहति। सप्रपंचपरब्रह्माभिधायिनी सूर्यदेवत्यातिजगती वामदेवदृष्टा। हन्त्यहंकारमिति हंसोभगवानादित्य एवंविधः त्वं प्रत्यवतरामीति वाक्यशेषः। किंभूतो हंसः। शुचिषत् शुचौ दीप्तौ सीदतीति शुचिषत् आदित्यरूपेण। तथा वसुर्वासयिता नराणां प्रवर्तकः। अन्तरिक्षे सीदतीत्यन्तरिक्षसत् वायुरूपेण। होता आह्वाता देवानाम। वेदिसीदतीति वेदिषत् अग्निरूपेण। अतिथिःसर्वेषां पूज्यः। दुरोणे यज्ञगृहे सीदतीति दुरोणसत् आहवनीयादिरूपेण।नृषु मनुष्येषु प्राणभावेन सीदतीति नृषत्। वरेषु उत्कृष्टेषु स्थानेषु सीदतीति वरसत्। ऋतौ यज्ञे सीदतीति ऋतसत्। व्योम्निआकाशे

मण्डलरूपेण सीदतीति व्योमसत्। एवं सर्वत्र स्थिततत्वेन स्तुत्वा सर्वत्रोत्पत्तिद्वारेण स्तौति। यः अब्जाः अप्सु उदकेषु जायतेमत्स्यादिरूपेणेत्यब्जाः। गवि पृथिव्यां जायते चतुर्विधभूतग्रामरूपेणेति गोजाः। ऋते सत्ये जायत इति ऋतजाः। अद्रौ पाषाणे अग्निरूपेण जायत इत्याद्रिजाः। अद्रिर्मेषो वा अद्रौ मेघे जलरूपेण जायत इति वा। ऋतम् 'ऋ गतौ' सर्वत्र गतम्। बृहत् महत्परिवृद्धमपर्यन्तं परब्रह्मरूपो यो हंसस्तं प्रति रथादवतरामीति भावः। यद्वा हंसब्रह्मरूपो रथ उच्यते। हन्ति पृथिवीमिति हंसः रथः। बृहत् महत् प्रौढमृतं यज्ञं संपादयत्विति शेषः। किंभूतो हंसः। शुचिषत् शुचौ देवयजने रथवाहने वा सीदतीति। वसुः स्वस्योपरि यजमानं वासयतीति। अन्तरिक्षसत् वृक्षगुल्माद्यनवरुद्धेऽतरिक्षे यजमानं वासयतीति। अन्तरिक्षसत् वृक्षगुल्माद्यनवरुद्धेऽन्तरिक्षे सीदतीति। होता होतृसमानः। तदेव कथमित्यत आहवेदिषत् वेद्यां सीदतीति। अतिथिः अतिथिवत्पूज्याः। दुरोणसत् ऋते यज्ञे, वाजपेयादौ सीदतीति व्योमसत्। सूर्य बोढुं व्योमन्याकाशे सीदतीति। अब्जाः 'अप्सुयोनिर्वा अश्व'इति श्रुतेरज्यो जातैरश्वैरुपेतत्वादब्जाः। गोजाः गोशब्दवाच्याद्व्रजाजायत इति गोजाः। इन्द्रोवृत्राय वज्रं प्राहरत् स त्रेधा व्यभवत्तस्य स्"स्तृतीयंरथस्तृतीयं यूपस्तृतीयम्' इति तैतित्तरीयश्रुतेः ऋतजा+ ऋतं यज्ञमुद्दिश्यजातत्वाहजतजाः। अद्रिजाः अद्रिभ्यः पाषाणसदृशकाष्ठेभ्यो जात्वाद्रिजाः ।।24।।

पञ्चविंशी

इयंदुस्यायुंरुस्यायुर्मयिं धेहि युङ्ङंसि वर्चोऽसि वर्चो मयिं धेह्यूर्गस्यूर्जम्मयिं धेहि। इन्द्रंस्य वां वीर्यकृतों बाहू अंभ्युपावंहरामि ।।२५।।

अन्वय : (हे रुक्म!) त्वम् इयदसि, आयुरसि, मयि आयुं धेहि। युङ्असि वर्चः असि, मयि वर्चो धेहि। हे औदुम्बरि शाखे ऊर्गसि मयिऊर्जं धेहि। वीर्यकृतः इन्द्रस्य बाहू अभ्युपावहरामि।

व्याख्या : हे रुक्म (सुवर्णाभूषण) तुम सौरत्ती परिमाणवाले हो। आयु रुप हो अतः मुझे दीर्घजीवन प्रदान करो। तुम सभी कार्यों के योजक हो, तेजोरुप हो अतः मुझे भी तेज प्रदान करो। हे औदुम्बर शाखे! तुम अन्नरुप हो अतः हमें अन्न प्रदान करो। हे यजमान की भुजाओं। तुम वीर कर्म करने वाले इन्द्ररुप यजमान की भुजा हो। मैं तुम दोनों को मैत्रावारुणी जल में झुकाता हूँ। नीचे करता हूँ।

म॰ : 'उपस्पृशति शतमानावियदसीति' (का. 15। 6। 29)। शालादक्षिणभागे स्थापितस्य रथवाहनस्य दक्षिणचक्रे बद्धौ शतमानौ शतरक्तिकानिर्मितौ सौवर्णौ मणी यजमानः स्पृशति। द्वादशाक्षरे यजुषी शतमानदेवत्ये। हे रुक्म, त्वमियदसि एतावत्परिमाणं शतरक्तिकापरिमितमसि। आयुरसि जीवनमसि तस्मादायुः शताब्दपरिमितं मयि धेहि। यो हि यदात्मकः स तद्दातुमुत्सहते। यतस्त्वं शतमानमसि ततः शताब्दपरिमितमायुर्मयि रोपय। युङसि युनक्ति यज्ञं संभारनिचयेन दक्षिणादानेन वेति युङ् वर्चस्तेजस्वी भवसि। अतो मे मम वर्चः तेजो धेहि। 'तौ ब्रह्मणे दत्त्वोर्गसीति शाखामुपस्पृशतीति' (का. 15। 6। 30)। तौ शतमानौ ब्रह्मणे दत्त्वा पूर्वोक्तरथवाहने एवोपगूहितारमौदुम्बरीं शाखामुपस्पृशेत्। शाखादेवत्वम्। हेऔदुम्बरि शाखै, त्वमूर्गसि अन्नरूपा भवसि। तत ऊर्जमन्नं मयि धेहि स्थापय। 'इन्द्रस्य वामित्यवहरते बाहू, अहं वां युवामुपावहरामि मैत्रावरुणीपयस्यां प्रति नीचौ करोमि ।।25।।

षड्विंशी

स्योनासि सुषदासि क्षत्रस्य योनिरसि। स्योनामासीद सुषदामासीद क्षत्रस्य योनिमासीद ।।२६।।

अन्वय : (हे आसन्दि!) त्वं स्योनाअसि, सुखदा असि, क्षत्रस्य योनिः असि। (हे यजमान!) स्योनाम् आसीद्, सुखदाम् आसीद्, क्षत्रस्य योनिमासीद।

व्याख्या : हे आसन्दी! तुम सुखकारी हो। सुखपूर्वक उपवेशन के योग्य हो। हे अधीवास! (आसन्दी के उपरः विछाये जाने वाले वस्त्र) तुम इस (क्षात्रधर्म सम्पन्न) राजा को धारण करने वाले हो। हे यजमान तुम इस आसन्दी पर सूखपूर्वक बैठो। तथा क्षत्रियराजा के इस स्थान पर विराजमान होओ।

म॰ : 'प्राक् स्विष्टकृतः खादिरीमासन्दीं रज्जुं तां व्याघ्रचर्मदेशे निदधाति स्योनासीति' (का. 15। 6। 33-7)। पयस्यायाः स्विष्टकृद्धोमात्प्राक् रज्जुभिर्व्यूतां खादिरीमंचिकां व्याघ्रचर्मदेशे मैत्रावरुणधिष्ण्यस्य पुरो निदधाति। आसन्दीदेवत्यम्। हेआसन्दि, त्वं स्योना सुखरूपासि सुखकरी भवसि। सुषदासि सुखेन सीदन्ति यस्यां सा सुषदासुखेनोपवेष्टुं योग्यासि।

'अधीवासमस्यामास्तृणाति क्षत्रस्य योनिरिति' (का. 15। 7। 2)। आसन्द्यां वस्त्रमाच्छादयति। अधीवासदैवतम्। हे अधीवास, त्वं क्षत्रस्य क्षत्रिस्य योनिर्मातृवद्धारकत्वेन कारणमसि। 'सुन्वन्तमस्यामुपवेशयति स्योनामासीदेति' (का. 15। 7। 3)। आसन्द्यां यजमानं स्थापयेत्। यजमानदेवत्यम् हे यजमान, स्योनां सुखकरीमासन्दीमासीद आरोह। सुषदांसुखोपवपेशन-योग्यामासीद। क्षत्रस्य योनि स्थानमासन्दीमासीदत् ।।26।।

सप्तविंशी

निषंसाद धृतव्रंतो व्वरुंणः पुस्त्यास्वा। साम्रांज्याय सुक्रतुंः ।।२७।।

अन्वय : धृतव्रतः वरुणः सुक्रतुः साम्रज्याय पस्त्यासु आनिषसाद।

व्याख्या : यज्ञरुप कर्म को स्वीकार करने वाले राज्यों पर आनेवाले अनिष्टों का निवारण करने वाले, सत्यसङ्कल्पवाले, तथा राजकार्य को यथोचित न्यायरुप से पालन करने वाले राजा ही इस पद पर अभिषिक्त होकर विराजमान होते हैं। यहाँ वरुण शब्द का अर्थ अनिष्टनिवारक है। वारयत्यनिष्टमिति वरुणः।

म० : 'निषसादेत्युरोऽस्यालभत इति' (का. 17। 4। 8)। अध्वर्युर्यज-मानहृदयं स्पृशति।वरुणदेवत्या गायत्री शुनः शेपदृष्टाः अष्टषट्सप्तवर्णपादत्वा-द्वर्धमाना गायत्री। असौ यजमानः पस्त्यासु विशु प्रजासु आ निषसाद। 'विशो वै पस्त्याः' (5। 4। 4। 5) इति श्रुतेः। आधिपत्येनोपविवेश। यदासन्द्यां निषण्णः स प्रजास्वेव निषण्ण इत्यर्थः। 'व्यवहिताश्च' (पा. 1। 4। 82) इति आङ् उपसर्गस्य क्रियापदेन व्यवस्थानम्। किंभूतो यजमानः। धृतव्रत धृतं व्रतं यज्ञलक्षणं कर्म येन स्वीकृतयज्ञः। वारयति अनिष्टमिति वरुणः। तथा सुक्रतुः शोभन संकल्पः शोभनप्रज्ञो वा। किमर्थं निषसाद। साम्राज्याय सम्राजो भावः साम्राज्यम्।: सम्राट्भावाय राज्याय' (5। 4। 4। 5) इति श्रुतेः ।। 27।।

अष्टाविंशी

अभिभूरंस्येतास्ते पञ्च दिशंः कल्पन्तां ब्रह्मंस्त्वं ब्रह्मासिं सवितासिं सत्यप्रंसवो वरुंणोऽसि सत्यौजाऽइन्द्रोंऽसि विशौंजा रुद्रोऽसि

सुशेवः। बहुंकार श्रेयंस्कर भूयंस्करेन्द्रंस्य वज्रोऽसि तेनं मे रध्य ॥२८॥

अन्वय : (हे राजन!) त्वम् अभिभूरसि। एताः पञ्चदिशाः ते कल्पन्ताम्। हे ब्रहान्। त्वं ब्रह्मा असि, त्वं सविता असि, सत्यप्रसवः वरुणः असि, सत्यौजा विशौजा इन्द्रोऽसि। सुशेवः रुद्रोऽसि। हे बहुकार! श्रेयस्कर! भूयस्कर! त्वम् इन्द्रस्य वज्रोऽसि। (हे स्फ्य!) तेन मे रध्य।

व्याख्या : हे यजमान। तू (अपने गोपनीय दूतों द्वारा) सभी पूर्वादिदिशाओं में व्याप्त रहने वाले हो। अर्थात् पूर्व पश्चिम, उत्तर, दक्षिण तथा ऊपर (ऊर्ध्व इन पाँचों दिशाओं में तुम्हारा सदा नियत्रंण रहे। ब्रह्मा (ऋत्विक्) कहता है—हे यजमान! तुम्हीं प्रजाओं में तेजरुप हो। तुम्हीं रुद्ररुप में दुष्टों को रुलाने वाले, तथा भक्तों को सुख प्रदान करने वाले हो। हे यजमान! तुम अनेककार्यो को करने वाले सर्वविध कल्याण के प्रदाता तुम ही हो। तुम यहाँ आओ। हे कल्याण नाम वाले। हम तुम्हारा आह्वान करते हैं। हे स्फ्य! तुम इन्द्रदेव के वज्र के समान हो अतः मेरे यजमान के कार्य को निर्विघ्न सम्पन्न करो। अथवा मेरे लिए राष्ट्र को वश में करो।

म० : 'अभिभूरित्यस्मै पञ्चाक्षान्पाणावाधायेति' (का. 15। 7। 5)। यजमानहस्ते द्यूतसाधनभूतान् पंचाक्षान् सौवर्णकपर्दान्निदध्यात्। अक्षा यजमानो वा देवता। चतुर्णामक्षाणां कृतसंज्ञा पंचमस्य कलिरिति। यदा पञ्चाप्यक्षा एकरूपाः पतन्ति उत्ताना अवाधो वा तदा देवितुर्जयः। तत्र कलिः सर्वानक्षानभिभवति तं प्रत्युच्यते, त्वमभिभूरसि अभिभविता अभितो व्याप्तोसि। एताः कपर्दिकोपलक्षिताः पंच दिशः पूर्वादयश्चतस्त्र ऊर्ध्वा चेति पंच दिशः ते त्वदर्थं कल्पन्तां त्वत्प्रयोजनसमर्था भवन्तु। कलेः सर्वाक्षाभिभावकत्वासुन्वतोऽपि जयापेक्षित्वात् पंचाक्षव्यापकत्वमिति भावः। 'वरं वृत्वा ब्रह्मन्नित्यामन्त्रयते पञ्चकृत्वः प्रत्याह व्यत्याससविता वरुण इन्द्रो रुद्र इति त्वां ब्रह्मासीत्यादिभिसदिनैवान्त्यमिति' (का. 15। 7। 7। 9) यजमानो राज्यं मेऽस्त्वित्यादि द्रव्यं संप्रार्थ्य पंचवारं ब्रह्मान्निति मन्त्रेण ब्रह्माणमामन्त्रयते। एवमाभिमन्त्रितो ब्रह्मा त्वं ब्रह्मसत्यादिभिः सवितासि वरुणोऽसि इन्द्रोऽसि रुद्रोऽसीत्श्येतैन्त्रैर्व्यत्यासं यजमानं प्रत्याह। तेन चतुर्णामपि

मन्त्राणामादौ त्वं ब्रह्मासीत्यादिभिः प्रयोगः। व्यत्यासमित्यादौ यजमानो ब्रह्मन्नित्यामन्त्रयते। ब्रह्मा त्वं ब्रह्मासि सवितासि सत्यप्रसव इति प्रत्याह।पुनर्यजमानो ब्रह्मान्निति सवितासि सत्यप्रसव इति प्रत्याह। पुनर्यजमानो ब्रह्मन्निति ब्रह्माणमामन्त्रयते। ब्रह्मा त्वं ब्रह्मासि वरुणोऽसि सत्यौजा इति प्रत्याह। पुनर्यजमानो ब्रह्मन्निति ब्रह्माणमामन्त्रयते ब्रह्मा त्वं ब्रह्मासि इन्द्रोऽसि विशौजा इत्याह। पुनर्यजमानो ब्रह्मन्निति ब्रह्माणमामन्त्रयते। ब्रह्मा त्वं ब्रह्मासि रुद्रोऽसि सुशेव इत्याह। अन्त्यं च पंचमं प्रतिवचमादिनैव त्वं ब्रह्मन्निति ब्रह्माणमामन्त्रयते कार्य ब्रह्मणेति सूत्रार्थः। ब्रह्मन् ब्रह्मदेवत्यम्। यजमानः प्रथमं ब्रह्माणमामन्त्रयते। हे ब्रह्मन्, ऋत्विक्, त्वाममन्त्रय इति शेषः। त्वं ब्रह्मासि। पंच यजूंषि यजमानदेवत्यानि। ब्रह्मामन्त्रितो यजमानं प्रत्याह हे यजमान, त्वं ब्रह्मासि महान् भवसि सविता प्रेरकश्चासि। सत्यप्रसवः सत्यः प्रसवोऽनुज्ञा यस्य। द्वितीयं प्रत्याह त्वं ब्रह्मासि वरुणोऽनिष्टनिवारकोऽसि। सत्यौजाः सत्यमोजो यस्य अमोघवीर्योऽसि सत्यो वा ओजो यस्य। तृतीयं प्रत्याह त्वं ब्रह्मासि इन्द्रोऽसि ऐश्वर्यवानसि विशौजाः विक्षु प्रजास्वोजस्तेजो यस्य विडौजा इति प्राप्ते विशौजा इति छान्दसम्। अतएव पदकारो नावग्रहं चकार। चतुर्थंप्रत्याह। त्वं ब्रह्मासि रुद्रोऽसिहे राजन्, त्वं रुद्ररूपोऽसि शत्रूणां रोदनाद्रावणाय। सुशेवः शेव इति सुखनाम। शोभनं शेवः सुखं यस्मात् शोभनं सुखयिता। त्वं ब्रह्मासीत्येतावदेव पंचमं प्रतिवचनम्। 'बहुकारेति च ह्वयत्येवं नामानमिति' (का. 15। 7। 10)। यजमानं बहुकारेत्यादि सुमंगलनामानं नरमाकारयति।लिंगोक्तदैवतम्। हे बहुकार, बहु कार्य करोतीति बहुकारः श्रेयः करोतीति श्रेयस्करः भूयो बहुतरं करोतीति भूयस्करः तेषां संबोधनानि हे बहुकारेत्यादि।कल्याणनामन्, त्वामाह्वय इति शेषः। 'स्फ्यमस्मै प्रयच्छति पुरोहितोऽध्वर्युर्वैन्द्रस्य वज्र इति' (का. 15। 7। 11)। अस्मै यजमानाय स्फ्यं ददाति द्यूतभूमिकरणाय। स्फ्यदेवत्यम्। हे स्फ्य, इन्द्रस्य वज्रस्त्वमसि। 'इन्द्रो ह यत्र वृत्रय वज्रं प्रजहार' इत्यादि 'तस्य स्फ्यस्तृतीयम्' (1। 2। 4। 1) इति श्रुतेः। तेन हेतुना मे मम यजमानं रध्य।रध्यतिर्वशगमने वै स बलीयान्भवति' (5। 4। 4। 15) इति श्रुतेः। यद्वातेन में रध्यं यस्मात्यं वज्ररूपस्तेन कारणेन मम रध्यं द्यूतभूमौ परिलेखनरूपं कार्य साध य ।।28।।

एकोनत्रिंशी

अ॒ग्निः पृ॑थु॒र्धर्म॑ण॒स्पति॑र्जु॒षा॒णो अ॒ग्निः पृ॑थु॒र्धर्म॑ण॒ स्पति॒राज्य॑स्य वे॒तु स्वाहा॒ स्वाहा॑कृ॒ताः सूर्य॑स्य र॒श्मिभि॑र्यतध्वꣳ स॒जा॒तानां॑ मध्य॒मेष्ठ्या॑य ।।२९।।

अन्वय : अग्निः पृथुः धर्मणः पतिः जुषाणः (प्रीयमाणः) पृथुः धर्मणस्पतिः अग्निः आज्यस्य आज्यं वेत्तु (घृतं पिबतु) स्वाहा। हे अक्षाः यूयं स्वाहा कृताः सूर्यस्य रश्मिभिः यतध्वम् सजातानां मध्यमेष्ठ्याय। यत्नंकुरुत।

व्याख्या : अग्निदेव, देवों में प्रथम होने से महान हैं, संसार को धारणकरने वाले, यज्ञादिधर्मों के पालक तथा हमारे यज्ञ का सेवन करते हुए अग्निदेव हमारी दी हुई आज्याहुति को स्वीकार करें। यह आहुति सुहुत हो। स्वहाकार से तृप्त हुई ये अग्नियाँ सूर्य की किरणों से स्पर्धा करने में सचेष्ट हों। तुम्हारी कृपा से मैं (यजमान) अपने बन्धुबान्धवों में श्रेष्ठ बनूँ।

म० : 'द्यूतभूमौ हिरण्यं निधायाभिजुहोति चर्तुगृहीतेनाग्निः पृथुरिति' (15। 7। 16)। एवं कृतायां द्यूतभूमौ कनकं निधाय तदुपरि चतुर्गृहीताज्यं जुहुयात्। अग्निदेवत्यम्। अग्निः आज्यस्य वेतु। कर्मणि षष्ठी। घृतं पिबतु स्वाहा सुहुतमस्तु। किंभूतोऽग्निः। पृथुः देवानां प्रथमत्वाद्विशालः। तथा धर्मणस्पतिः धारणं धर्म जगतो प्रथमत्वाद्विशालः। तथा धर्मणस्पतिः धारणं धर्म जगतो धारणस्य धर्मस्य वा स्वामी। जुषाणः प्रीयमाणः हूयमानं हविः सेवमानो वा। अग्निःपृथुर्धर्मैणस्पतिरिति पुनःपाठ आदरार्थः। 'अक्षान्निवपति स्वाहाकृता इति' (का. 15। 7। 16)। पूर्वोक्तपंचाक्षान्द्यूतभूमौ क्षिपति। अक्षदेवत्यम्। हे अक्षाः, यूयं स्वाहाकृताः स्वाहाकारपूर्विकयाहुत्या तर्पिताः सन्तः सूर्यस्य रश्मिभिः।किरणैर्यतध्वं स्पर्धां कुरुत। सजातानां समानजन्मनां भ्रातृणां क्षत्रियाणां मध्यमेष्ठ्या मध्यमप्रदेशे यजमानावस्थानाय च यतध्वं यत्नं कुरुत। यजमानं सर्वक्षत्रियश्रेष्ठं कुरुतेत्यर्थः। मध्ये भवो मध्यमः मध्यमे प्रदेशे तिष्ठतीति मध्यमेष्ठः तस्य भावो मध्यमेष्ठ्यं तस्मै ।।29।।

त्रिंशी

स॒वि॒त्रा प्र॑सवि॒त्रा सर॑स्वत्या वा॒चा त्वष्ट्रा॑ रू॒पैः पू॒ष्णा प॒शुभि॒रि-

न्द्रेणास्मे बृहस्पतिना ब्रह्मणा व्वरुणेनौजसाग्निना तेजसा सोमेन राज्ञा विष्णुना दशम्या देवतया प्रसूतः प्रसर्पामि ।।३०।।

अन्वय : देवतया प्रसूतः (अहं यजमानः) प्रसर्पामि। प्रसवित्रा सवित्रा, वाचा सरस्वत्या, रुपैः त्वष्टा पशुभिः पूष्णा, अस्मे इन्द्रेण, ब्रह्मणा बृहस्पतिना, ओजसा वरुणेन, तेजसा अग्निना, सोमेन राज्ञा, दशम्या विष्णुना (प्रसूतः) प्रसर्पामि)।

व्याख्या : मैं, सभी पुनीत कर्मों के प्रेरक सूर्य से, वाणी से विभूषित सरस्वती से, रुपों के निर्माता त्वष्टा से, पशुओं से सेवित पूषा से, इन्द्र देवता से, वृहस्पति से, ओज से् संयुक्त वरुण से, तेजोमण्डित अग्नि से औषधियों तथा नक्षत्रों के राजा चन्द्रमा से, दशावतार धारण करने वाले यज्ञाधिष्ठातृदेव विष्णु से, आज्ञा प्राप्त कर मैं यजमान आगे के मार्ग पर चलता हूँ।

म॰ : 'पितामहदशगण सोमपाना संख्याय सर्पण सवित्रेति वानुवाकमुक्त्वेति' (का. 15। 8। 15-16)। पित्रादयः पूर्वजाः पितामहशब्देनोच्यन्ते। ऋत्विजोऽन्ये विप्राश्च मिलिताः शतसंख्याः सन्तो दशपेयमागे सौत्येऽहनि प्रतिसवनं सर्पणात्प्राक् स्वं स्वं सोमयाजिनां पित्रादीनां दशानां गणं गणयित्वा अमुकः प्रथमः सोमपः असौ द्वितीयोऽसौ तृतीय इत्यादिदशमपर्यन्तान् सोमयाजिनो गणयित्वा विभूरसीत्यादिसर्पणं धिष्ण्योपस्थानं कुर्वन्ति। सर्पणं भक्षणकाले सदःप्रवेशो वा। पक्षान्तरमाह सवित्रेति। यद्वा सवित्रा प्रसवित्रेत्येककण्डिकात्मकमनुवाकं पठित्वा शतं विप्राः सर्पणं कुर्वन्ति। दशानां सोमयाजिमनामसंभवादयमेव पक्षः श्रेयानिति सूत्रार्थः सवित्रादिदेवत्यात्यष्ठिः एताभिर्दशभिर्देवताभिः प्रसूत आज्ञप्तोऽहं प्रसर्पामि सर्पणं करोमि। प्रत्येकपाठादेवैकवचनं सर्पामीति। काभिर्दशभिः प्रसूत इत्यत आह। प्रसवित्रा भ्यनुज्ञानकारिणा सवित्रा सूर्येण। वाचा वाग्रूपया सरस्वत्या। रूपैरुपलक्षितेन त्वष्ट्रा देवेन। 'त्वष्टा रूपाणामधिपतिः' इत्युक्तेः। पशुभिरुपलक्षितेन पूष्णा देवेन। अस्मै अनेन इन्द्रेण। विभक्तेःशेआदेशः ब्रह्मणा देवयागे ब्रह्मत्वंकर्त्रा बृहस्पतिना। ओजसा ओजस्विना वरुणेन। तेजसा तेजस्विना अग्निना। राज्ञा ओषधिविप्राधिपेन दीप्यमानेन वा सोमेन चन्द्रेण। दशम्या दशसंख्यापूरिकया। विष्णुना। देवतया यज्ञाधिष्ठाना विष्णुरूपेण

देवेन। एतैराज्ञप्तः प्रसर्पामीत्यर्थः ।।30।।

एकत्रिंशी

अश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व। वायुः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ्क्सोमोऽअतिस्रुतः। इन्द्रस्य युज्यः सखा ।।३१।।

अन्वय : हे व्रीहि (धान्य)! अश्विभ्यां पच्यस्व, सरस्वत्यै पच्यस्व, सुत्राम्णे इन्द्राय पच्यस्व। वायुः पूतः पवित्रेण पूतः इन्द्रस्य युज्यः सखा सोमः प्रत्यङ्. अति स्रुतः।

व्याख्या : हे व्रीहि (धान्य!) अश्विनी कुमारों की प्रसन्नता के लिए पको। सरस्वती के लिए, संसार की रक्षा करने वाले इन्द्र के लिए पको। वायु स्वयं पवित्र हैं सोम वायु द्वारा पवित्र होकर कुशमय पवित्रीद्वारा शुद्ध हुआ, इन्द्र के प्रियमित्र सोम अधोमुख पात्र में पीने के लिए निर्गत हो रहा है।

म॰ : अथ राजसूयगतचरकसौत्रामणीमन्त्रा उच्यन्ते। राजसूयप्रान्ते विहिता सौत्रामणी चरकसौत्रामणीत्युच्यते तन्मन्त्राणामश्विनावृषी। 'पक्त्वौदनं विरूढाश्रूणींकृत्वाश्विभ्यां पच्यस्वेति संसृजतीति' (का. 15। 9। 25)। विरूढा जाताङ्कुरा अजातांकुराश्च वीहयः क्षौमे बद्धाः सन्ति तन्मध्ये आजातांकुराणां व्रीहीणामोदनं पक्त्वा विरूढाव्रीहीन चूर्णीकृत्यौदनेन मिश्रयति। त्रीणि यजूंषि सुरादेवत्यानि। हे सुरे, त्वमश्विभ्यां पच्यस्व अश्विनोरर्थाय पाकं कुरु। पाको नाम विपरिणामश्रेष्ठता। सरस्वत्यै देव्यै पच्यस्व। सुष्टु त्रायत इति सुत्रामा तस्मै इन्द्राय पच्यस्व। यतः सौत्रामण्येन्द्रस्य भैषज्यं कर्तव्यमस्ति। 'वपामार्जनान्ते कुशैः परिस्त्रुतं पुनाति वायुः पूत इति' (का. 15। 10। 10)। पशूनां वपामार्जनान्ते कर्मणि कृते दर्भैः सुरां कस्मिंश्चित्चत्पात्रे पुनाति। सोमदेवत्या गायत्री। वायुः 'सुपां सुलुक्' (पा. 7। 1। 39) इत्यादिना तृतीयैकवचनस्य सु आदेशः। सोमो वायुः वायुना पूतः शोषितः पवित्रेण कुशमयेन पूतः सन् प्रत्यङ् नीचेरधोमुखः सन् अतिस्त्रुतः अतिक्रम्य गतः। किंभूतः। इन्द्रस्य युज्यो योगार्हः सखा सखिभूतः। 'सोमः पूर्व पूतिगन्धोऽभूततो देवैर्वायुरुक्तस्त्वं सोमं सुगन्धं कुर्विति ततो वायुना सोमो दुर्गन्धमपहृत्य सुगन्धः कृतः' (12। 7। 3) इति श्रुत्योक्तं तदयं मन्त्रो

वदतीत्यर्थः ।।31।।

द्वात्रिंशी

कुविदुङ्ग यवंमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यंनुपूर्वं वियूयं। इहेहैंषां कृणुहि भोजंनानि ये बर्हिषो नमंउक्तिं यजंन्ति ।। उपयामगृंहीतोऽस्यश्विभ्यांन्त्वा सरंस्वत्यै त्वेन्द्रांय त्वा सुत्राम्णें ।।३२।।

अन्वय : हे सोम! यथा यवमन्तः कुविद् बहुलं यवं चित् अनुपूर्वं वियूय (पृथक्कृत्य) अंगं (क्षिप्रं) दान्ति लुनन्ति, (तथैव) इह एषां भोजनानि कृणुहि। ये बर्हिषः नम उक्तिं यजन्ति सुत्राम्णे। उपयाम गृहीतोऽसि-अश्विभ्यां, सरस्वत्यै इन्द्राय सुत्राम्णे त्वा (त्वाम्) गृह्णामि।

व्याख्या : हे सोम! जिस प्रकार कृषकगण विवेक पूर्वक यवयुक्त सस्य को उन्हें अलग अलग करके तेजी से काट लेते हैं ऐसे ही तुम यज्ञ करने वालों को तथा न करने वालों को पृथक करते हुए सभी स्थानों में उनके लिए भोग्य वस्तुओं को प्रदान करो जो यजमान बर्हि के ऊपर स्थित होकर हविष्यान्न को लेकर'' इन्द्राय स्वाहा'' आदि देवतोद्देश्यत्यागपूर्वक याग करते हैं उन्हें मनोभिलषित पदार्थ प्राप्त कराते हो।

हे सोम! तुम संसार की रक्षा करने वाले इन्द्र के लिए उपयाम ग्रहपात्र द्वारा गृहीत हो। मैं तुम्हें अश्विनीकुमारों, सरस्वती तथा इन्द्रदेवता के लिए ग्रहण करता हूँ।

म० : 'ग्रहं गृह्णाति कुविदंगेति त्रीन् वा प्रतिदेवतमेतयैवेति' (का. 15। 10। 12)। पूतायां सुरायां बदरीफलचूर्णंप्रक्षिप्य कुविदंगेत्येकं गृह्णाति। यथा। यद्वा कुविदंगेत्यृचैव त्रीन् ग्रहान्प्रतिदेवतं गृह्णाति। यथा। कुविदंग. उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यांत्वेति प्रथमम्। कुविदंगउपयामगृहीतोऽसि सरस्वत्यै त्वेति द्वितीयम्। कुविदंगउपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वां सुत्राम्ण इति तृतीयम्। तृचंकांक्षीवतसुकीर्तिदृष्टम्। आद्या सोमदेवत्याऽनिरुक्ता त्रिष्टुप्। कुविदिति-बहुनाम। 'अंगेति क्षिप्रनाम' (नि. 5। 17) चिदिति वितर्के। हे सोम, यथा यवमन्तः। यवा विद्यन्ते येषां ते यवमन्तः। 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' (पा. 8। 2। 9) इति यवादीनां निषेधान्मतोर्मकारस्य वकाराभावः। बहुयवसंपन्नाः कृषीवलाः। कुवित् बहुलं यवं सर्वं यवमयं सस्यं चित्

विचार्य अनुपूर्वमानुपूर्व्येण वियूय पृथक्कृत्य अंग क्षिप्रं दान्ति लुनन्ति। 'दाप् लवने' लट्। तथा एषां यजमानानां संबन्धीनि भोजनानि भोज्यानि वस्तूनि। इह अस्मिनेवयजमाने कुणुहि कुरु। एषां केषाम्। ये यजमाना बर्हिष उपरि स्थिता नमऽक्तिं यजन्ति। नम इत्यन्नाम। उक्तिर्वचनम्। हविर्लक्षणमन्नमादाय उक्तिं याज्यामभिधाय यजन्ति यागं कुर्वन्ति। हे सोम, त्वमुपयामेन गृहीतोऽसि अश्विभ्यां त्वा त्वां गृह्णामि सुत्राम्णे रक्षकायेन्द्राय त्वां गृह्णामि ।।32।।

त्रयस्त्रिंशी

युवꣳ सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा। विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्मस्वावतम् ।।३३।।

अन्वय : हे अश्विनौ! युवां नमुचौ आसुरे नमुचि संज्ञे असुरदैत्यै सुरामं सोमं सचा विपिपानौ शुभस्पती युवाम् कर्मसु इन्द्रम् अवतम्।

व्याख्याः हे अश्विनौ! आप दोनों नमुचि नामक दैत्य के पास स्थित सोम को मिलकर एक साथ पीने वाले हैं तथा शुभ कर्मों के रक्षक हैं। आप उन उन संग्रामों में इन्द्र की रक्षा की। इन्द्र को कष्टों से बचाया।

म॰ : 'ग्रहाणां युवसुरामं पुत्रामिवेति' (का. 15। 6। 8)। युवं सुरामं पुत्रमिवेति द्वे ऋचौ सुराग्रहाणां याज्यानुवाक्ये प्रथमनुवाक्या पुत्रमिवेति याज्या अनुष्टुप् अश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्या। हे अश्विना अश्विनौ, युवं युवां कर्मसु निमित्तेषु इन्द्रमावतमपालवतं स्वकर्मक्षममकुरुतमित्यर्थः। अवतेर्लङ्- मध्यमद्विवचनम्। किंभूतौ युवाम्। असुर एव आसुरस्तस्मिन्नमुचौ नमुचिंसंज्ञे आसुरे असुरेदैत्ये स्थितं सुरामं सुष्टु रमयतीति सुरामंसुष्ठं रमणीयंसोमं सचा सह एकीभूय विपिपाना विपिपानौ विविध पिबन्तौ विविधं पिबतस्तौ विपिपानौ। पिवतेर्व्यत्ययेंन ह्वादित्वे शानच्प्रत्यये रूपम्। तदर्थे श्रुतादितिहासः। (12। 3। 4। 1) नमुचिर्नामासुर इन्द्रस्य सखासीत्। स विश्वस्तस्येन्द्रस्य वीर्यं सुरया सोमेन सह पपौ। तत इन्द्रोऽश्विनौ सरस्वतीं चोवाचाऽहं नमुचिना पीतवीर्योऽस्मि ततोऽश्विनौ सरस्वती चापां फेनरूपं वज्रमिन्द्राय ददुः तेनेन्द्रो नमुचेः शिरविच्छेद ततो लोहितमिश्रः ससुरः सोमस्तदुदरादश्विभ्यां पीत्वा शुद्ध इन्द्रायार्पित इति तदर्पणेन्द्रमश्विनावर क्षतामित्यर्थः। पुनःकीदृशौ। शुभः पती शोभनं शुप् 'शुभ दीप्तौ' पती पालकौ। 'षष्ठयाः पतिपुत्र' (पा. 8। 3। 43) इत्यादिना पतिशब्दे परे विसर्गस्य सकारः ।।33।।

चतुस्त्रिंशी

पुत्रमिंव पितरांवश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दुꣳसनांभिः। यत्सुरामं व्यपिंबः शचींभिः सरंस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् ।।३४।।

अन्वय : हे इन्द्र! यथा पितरौ पुत्रम् पालयतः तथा इव उभौ अश्विनौ त्वां आवथुः (पालितवन्तौ) काव्यैः दंशनाभिः। हे मघवन्। यत् शचीभिः (कर्मभिः) सुरामं व्यपिबः सोमं (पीतवानसि)। सरस्वती त्वा अभिष्णक् (उपसेवते)।

व्याख्या : हे इन्द्र! जिस प्रकार माता पिता, पुत्र का पालन करते हैं। उसी तरह दोनों अश्विनीं कुमारों ने वैसे ही तुम्हारा पालनपोषण किया जिस प्रकार मत्रन्द्रष्टा ऋषियों ने मन्त्रों से यज्ञादि कर्मो की रक्षा की। हे ऐश्वर्यशाली इन्द्र! तुमने (नमुचिवधाादि) कर्मों को करके उत्तम आनन्ददायी सोम का पान किया। इसी कारण से सरस्वती देवी भी आपकी सेवा करती है।

म० : त्रिष्टुप् अश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्या। हे इन्द्र उभा अश्विना उभौ अश्विनौ त्वामावथुः। अवतेर्लिटि मध्यमद्विवचनं पुरुषव्यत्ययः। आवथुःपालितवन्तौ। कैः। काव्यैः कवीनांमन्त्रद्रष्टणां संबन्धिभिर्मन्त्रैः कवीनामिमे काव्यास्तेः। तथा दंसनाभिः। दंस इति कर्मनाम। दंससः करणं दंसना 'तत्करोति तदाचष्टे' (पा. 3। 1। 26) इति णिचि जाते 'ण्यासश्रन्थो युच्' (पा. 3। 3। 107) इति युच्प्रत्यये दंसनेति रूपम्। दृष्टान्तमाह। पुत्रमिव पितरौ यथा मातापितरौ पुत्रंपालयतस्तथाश्विनौ त्वामावथुः। अश्विनाविन्द्रस्य रक्षणं कृतवन्तावितिकथमवगम्यते तत्राह। यदिति। यद्यस्मात्कारणात् हे इन्द्र, त्वं शचीभिः कर्मभिः नमुचिवधादिकर्माणि कृत्वेत्यर्थः। सुरामं सुष्टु रमणीयं सोमं व्यपिवः विशेषेण पीतवानसि। पिबतेर्लडि मध्यमैकवचने रूपम्। हे मघवन् धनवन्निन्द्र, यस्माच सरस्वती देवी त्वा त्वामभिष्णक् उपसेवते त्वत्कृतसोमपानेन सरस्वतीकृतत्वत्सेवनेन च अश्विनौ त्वामावतुरिति ज्ञायत इत्यर्थः। 'भिष्णज् उपसेवायां' कण्डादिः अस्मालङि 'कण्डादिभ्यो यक्' (पा. 3। 1। 27) इति प्राप्तस्य यको व्यत्ययेन लुक् 'हल्ङयाब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्प्युक्तं हल्' (पा. 6। 1। 68) इति तिपो लुक् 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्यड्डुदात्तः (पा. 6। 4। 71) अडागमः

'वावसाने' (पा. 8। 4। 56) इति जकारस्य ककारः अभिष्णगिति रूपम् ।।34।।

श्रीमन्महीधरकृते वेददीपे मनोहरे।
अगमद्दशमोऽध्यायो राजसूयान्तवर्णनः ।।10।।

इति दशमोऽध्यायः पूर्णः

ऊँ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

इस प्रकार यहाँ शुक्लयजुर्वेदीयमाध्यन्दिनसंहिता के प्रथमअध्याय से लेकर दश अध्यायतक (430) मन्त्रों के अन्वय के साथ हिन्दी व्याख्या भगवत्कृपा से पूर्ण हुई।

"वेदपुरुषार्पणमस्तु"

गीताजयन्ती 30-11-17
गुरुवासर



श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ

(मानित विश्वविद्यालय)

नई दिल्ली-110016